महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

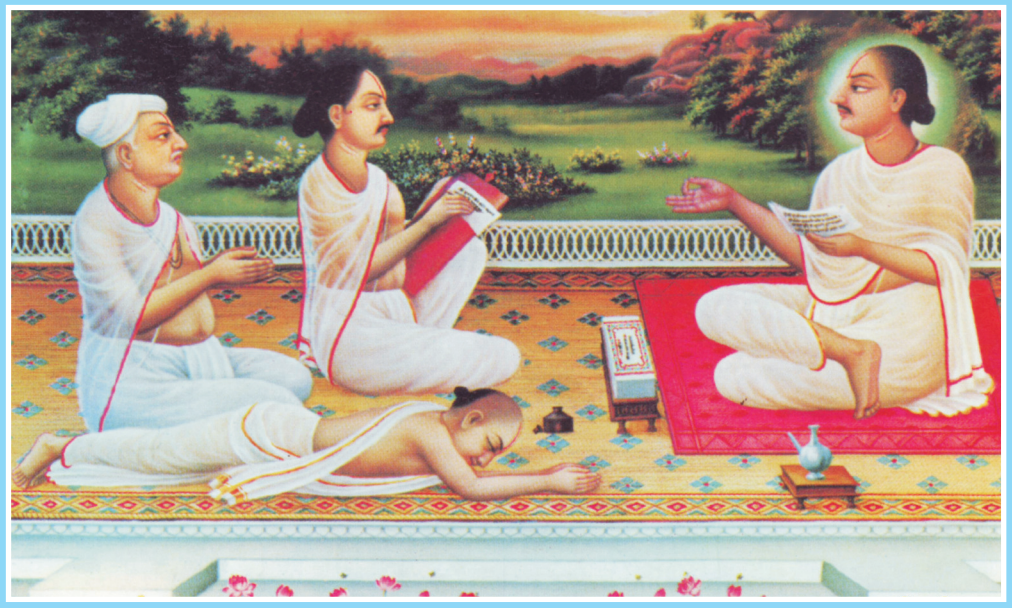

दशमस्कन्ध

सात्त्विक प्रमेय–साधन प्रकरण

(अध्याय ६१–७४)

खंड १३/क

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित श्रीभागवत विवृति

'सुबोधिनी'

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

सात्विक

प्रमेय–साधन–फल प्रकरण

(अध्याय ६१/६४–८१/८४)

हिन्दी भाषानुवाद

खंड १३

अनुवादक:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु(पुष्करणा), जोधपुर

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

... तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास (श्रवण–स्मरण–कीर्तन) से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय. यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमृ ही क्यृ न अटक जायें परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके अन्य किसी भी उपायसे अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध.२।६७, २४३, २५४).

जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये जमीनमृ खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

मुंह–हाथ–पांव आदि धोनेमृ प्रयुक्त गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमृ जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे अधम होते हैं दक्षिणा लेकर कथा करनेवाले ...आशय यह है कि गढ्ढेमृ भरे हुवे प्रक्षालनोच्छिष्ट गंदे जलकी तरह इन गानोपजीविअृका भाव सत्पुरुषृकेलिये ग्राह्य नहिं होता ... पौराणिकृके भावृका निरूपण करनेके बाद जो गायकृका निरूपण किया गया है वह यह दिखलानेकेलिए कि (आजीविकार्थ पुराणृका उपयोग करनेवाले) पौराणिक भी ऐसे गायकृके तुल्य नीच ही होते हैं.

(श्रीकल्याणरायविरचित जलभेदविवृति ५).

।। प्रासंगिक ।।

यह ज्ञापित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवतकी विवृति 'सुबोधिनी'के हिन्दी अनुवादका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है.

यह तो सुविदित है कि मूल संस्कृत सुबोधिनीका पुनः प्रकाशन पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीके सम्पादकत्वमें श्रीवल्लभविद्यापीठश्रीविट्ठलेश-प्रभुचरण आश्रम ट्रस्ट, कोल्हापुर द्वारा किया गया है.

सुबोधिनीके गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी, गो.वा.श्रीमग्नलाल शास्त्री तथा गो.वा.श्रीव्रजलाल सांकळीया आदि विद्वानों द्वारा लिखित गुर्जरभाषानुवादका पुनः प्रकाशन श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा किया जा चुका है.

इसी तरह श्रीरामानुजमतानुयायी किन्तु सुबोधिनीके परम प्रेमी श्रीटी. रामनन्ने सुबोधिनीका अंग्रेजी अनुवाद करके उसे सद्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा मूल संस्कृत सहित प्रसिद्ध करवाया है, जो २४ खंडोंमें उपलब्ध होता है. यह अंग्रेजी अनुवाद श्रीरामन्ने श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर द्वारा प्रकाशित, सम्प्रति अनुपलब्ध, सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका ही किया है. वे लिखते हैं:

> "I owe a deep debt of gratitude to Sri Subodhini Parakashan Mandal (Jodhpur). My traslation is, to a very large extent, based on this book and I am, indeed, very grateful for this Mandal".

सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका प्रकाशन ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल''(जोधपुर) नामकी संस्थाको स्थापित करके उसके द्वारा गो.वा. श्रीनन्दलालजी मानधना,जोधपुर ने करवाया था. इनको इस भगीरथ कार्यमें गो.वा.श्रीरामचन्द्र(नन्ददास) वर्मा का साथ मिला. इन दोनों महानुभावोंकी निष्ठा प्रेरणा उत्साह और समर्पण से पुष्टिमार्गके अनेक विद्वानोंने मिल-जुलकर सुबोधिनीका अनुवाद तैयार किया. इनमें उल्लेखनीय हैं:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु (जोधपुर)

दशमस्कन्धके नब्बे अध्यायोमेंसे चोहत्तर अध्याय;

तृतीय स्कन्धके १ से २१ अध्याय.

गो.वा.श्रीआनन्दीलालजी शास्त्री (श्रीनाथद्वारा)

प्रथम स्कन्धके १ से ९ अध्याय, दशमस्कन्धका चौथा अध्याय.

गो.वा.श्रीनारायणप्रसाद व्यास(कोटा)

प्रथमस्कन्धके १० से १९ अध्याय.

गो.वा.पं.गोरधनजी शास्त्री(कोटा)

दशमस्कन्धके चौदह अध्याय,

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी(नाथद्वारा)

द्वितीय स्कन्धके १ से ४ अध्याय. तृतीय स्कन्धके २२ से ३३ अध्याय .

गो.वा.श्रीरमानाथ शास्त्री(कांकरोली)

द्वितीय स्कन्धके ५ से १० अध्याय.

गो.वा.श्रीसबलकिशोर चतुर्वेदी (मथुरा)

दशमस्कन्धका तीसरा अध्याय.

इस अनुवादके संशोधन तथा सम्पादन कार्यमें पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला), गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी (श्रीनाथद्वारा) तथा गो.वा.श्रीरणछोड कलाधर भट्ट(मुम्बई) का भी योगदान रहा है. पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) तो ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर'' के संरक्षक भी हैं.

इस श्रीभागवत-सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादके पुनःप्रकाशनका एकमेव उद्देश्य यही है कि श्रीवल्लभवाङ्मय कभी भी किसी भी जिज्ञासुकेलिए अलभ्य न रहे. हमें विश्वास है कि इस पुनःप्रकाशनसे सुबोधिनीके अध्येताओंको अवश्य लाभ होगा.

अन्तमें सुबोधिनीके हिन्दी भाषानुवादके पूर्व प्रकाशक, अनुवादक, संशोधक, सम्पादक, द्रव्यसहायक आदि सभीके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा इस कार्यमें निःस्वार्थ भावसे सहयोग करनेवाले सभी वैष्णवोंका भी सादर स्मरण करते हैं.

सुबोधिनी स्वाध्याय मंडल

क्या आप पुष्टिमार्गी हैं?

एक बार श्रीवल्लभाचार्यके ये आदेश पढ़ें.

सोचें, क्या आप श्रीवल्लभके मार्ग पर चल रहे हैं?

परब्रह्म श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-रक्षक जानें. मन-वचन-कर्मसे अन्याश्रय कदापि न करें.

भगवानने पुष्टिजीवोंको अपनी स्वरूपसेवाकेलिये भूतल पर प्रकट किया है. कृष्णसेवा ही पुष्टिजीवका स्वधर्म है. अतः कृष्णसेवाको जो स्वधर्म समझता है वही पुष्टिजीव है और वही पुष्टमार्गमें प्रवेशके योग्य है.

भगवत् शास्त्रको अच्छी तरहसे समझकर, आत्मनिवेदित होकर अपने तन-धनसे अपने घरमें श्रीकृष्णकी सेवा करें.

घरमें बिराजते ठाकुरजीको ही अपना सर्वस्व समझें जो खास आप ही के उद्धारार्थ कृपा करके आपके घर पधारे हैं. उनको छोडकर अन्य ठाकुरजीके दर्शन-सेवा केलिये भटकना अपने सेव्यप्रभुका तिरस्कार है.

अपनी सभी वस्तु-व्यक्ति-व्यवहारका समर्पण अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें ही करें. वे ही उनके सच्चे स्वामी हैं.

अपने ठाकुरजीको सर्वस्व समर्पित करके उस समर्पित महाप्रसादसे ही खान-पान-दान आदि सभी लौकिक-शास्त्रीय कार्य करें. असमर्पित पदार्थके उपयोगका सर्वथा त्याग करें.

हवेली-मन्दिरोंमें भेंट-सामग्री देकर कराये जाते सेवा-मनोरथ पुष्टिसिद्धान्तके अनुसार सेवा-भक्ति है ही नहीं; वो न केवल सेवा-भक्तिके नामपर पाखंड है अपितु परम पवित्र भगवत्सेवाको धंधा बनानेवाले दुष्टोंको पोषित करना है.

भगवत्सेवा-मनोरथ-कीर्तनके निमित्त भेंट-सामग्री मांगना-स्वीकारना उनको व्यापार-धंधा बनाना है. ऐसा पाप करनेवालेका नर्कमें पात होता है.

अतः भगवत्सेवा–मनोरथ–कीर्तनके निमित्त किसीको कुछ भी न दृ.

अनजानेमें भी यदि कोई अवैष्णव सेव्य ठाकुरजीका दर्शन कर लेता है तो हमारी एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. ऐसा हो जाने पर श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिये.

भगवत्सेवा अपने ही घरमृ करृ. सार्वजनिक हवेली–मन्दिरमृ सेवा–मनोरथ करना पुष्टिसिद्धान्तके अत्यन्त विरुद्ध है.

दर्शनको कभी भक्ति न समझें. दर्शनका आग्रह उसीका रखें जो कृपा करके आपके घरमें आपकेलिये आपके माथेपर बिराज रहे हैं, जिनकी सेवा आप स्वयं कर रहे हैं.

मंदिर–हवेलियृामृ दिया जाता या वहांसे खरीदा जाता प्रसाद–पातल महापातकी देवद्रव्य होता है. ऐसा प्रसाद खानेवाला नर्कमृ ही जाता है.

प्रसादका नहीं किन्तु घरके ठाकुरजीने जो अङ्गीकार किया है उस समर्पित महाप्रसादको लेनेका आग्रह रखें.

भगवत्सेवाकी ही तरह भागवतका पाठ भी स्वयं ही करें. भक्तिभावकी वृद्धिके अलावा दूसरे किसी भी हेतुसे भागवतका पाठ न करें.

प्राण निकल जायें तो भले ही निकल जायें परन्तु दक्षिणा लेकर भागवतकी कथा–कीर्तन कभी भी न करें.

दक्षिणा लेकर कथा–कीर्तन करनेवालृाके मुखसे कथा–कीर्तन सुनना गटरका पानी पीनेके समान हीन कृत्य है. व्यावसायिक कथावक्ताओृके संगको दुष्टसंग समझकर उनका त्याग करो.

।। अनुक्रमणिका ।।

सात्विक प्रमेय–साधन–फलरूप उपप्रकरणकी मीमांसा
ले.:पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी(किशनगढ–पार्ला) १
भागवतार्थ निबन्ध दशमस्कन्धान्तर्गत सात्विक प्रकरण ४९
श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्र (सात्विक प्रकरणके नाम) ८६

दशम स्कन्ध

(सात्विक प्रमेय प्रकरण)

अध्याय ६१/६४. नृग राजाकी कथा १
अध्याय ६२/६५. श्रीबलरामजीका व्रजगमन ३३
अध्याय ६३/६६. पौण्ड्रक और काशीराज का उद्धार ५५
अध्याय ६४/६७. द्विविदका उद्धार ८२
अध्याय ६५/६८. कौरवों पर बलरामजीका कोप और साम्बका विवाह ९८
अध्याय ६६/६९. देवर्षि नारदजीका भगवानकी गृहचर्या देखना १३३
अध्याय ६७/७०. भगवान् श्रीकृष्णकी नित्यचर्या और उनके पास जरासन्धके कैदी राजाओंके दूतका आना १६१

(सात्विक साधन प्रकरण)

अध्याय ६८/७१. भगवान् श्रीकृष्णका इन्द्रप्रस्थ पधारना १९७
अध्याय ६९/७२. पाण्डवोंके राजसूय यज्ञका आयोजन और जरासन्धका उद्धार २२४
अध्याय ७०/७३. जरासन्धके बन्दीगृहसे छूटे हुए राजाओंकी विदाई और भगवानका इन्द्रप्रस्थ लौट आना २५३
अध्याय ७१/७४. भगवानकी अग्र पूजा और शिशुपालका उद्धार २७४
अध्याय ७२/७५. राजसूय यज्ञकी पूर्ति और दुर्योधनका अपमान ३०९
अध्याय ७३/७६. शाल्वके साथ यादवोंका युद्ध ३३२

अध्याय ७४/७७. शाल्व उद्धार ३४२ ३५०
(सात्विक फल प्रकरण)
अध्याय ७५/७८. दन्तवक्र और विदूरथका उद्धार
तथा बलरामजीके हाथसे सूतका वध ३७३
अध्याय ७६/७९. बल्वलका उद्धार और बलरामजीकी
तीर्थयात्रा ३९६
अध्याय ७७/८०. श्रीकृष्ण द्वारा सुदामाजीका स्वागत ४११
अध्याय ७८/८१. सुदामाजीको ऐश्वर्यकी प्राप्ति ४४१
अध्याय ७९/८२. भगवान् श्रीकृष्ण व बलरामसे गोप–
गोपियोंकी भेंट ४६६
अध्याय ८०/८३. भगवान्‌की पटरानियोंके साथ द्रौपदीकी
बातचीत ४९६
अध्याय ८१/८४. वसुदेवजीका यज्ञोत्सव ५२४

अनुवादक
गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु, जोधपुर

श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुरके मन्त्री तथा श्रीसुबोधिनी टीकाके अनुवादक प.भ.पं. श्रीफतहचन्दजी वासु(पुष्करणा) शास्त्री, विद्याभूषण आप मूल निवासी हैदराबाद(सिन्ध)के थे. आपका ब्रह्मसम्बन्ध पू.पा. नित्यलीलास्थ गो.श्रीअनिरुलालजी महाराज, नाडियादवालों द्वारा हुआ था. आप उच्च विचार-भावनाओंसे ओतप्रोत थे. रहते, परन्तु, साधारण पोशाकमें थे, इसके कारण कोई जान नहीं सकता था कि आप श्रीमहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके परम कृपापात्र एवं पुष्टिमार्गके एक श्रेष्ठ विद्वान् हैं. अभिमानने तो आपका स्पर्श ही नहीं किया था. देश-विभाजनके समय निज स्थानका परित्याग कर आप जोधपुरमें आ बसे थे. जोधपुरमें एक पाठशालामें आप प्राध्यापक पद पर नियुक्त किए गए. तत्पश्चात् सन् १९६१में अवकाश प्राप्त कर मुझ(नन्ददास-रामचन्द्र)से मिले और कहने लगे कि श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्यचरणकी मैने दीक्षा प्राप्त की है. इसलिए मेरे ऊपर आपश्रीका ऋण है. परन्तु अभी तक मैं स्वमार्गकी कुछ भी सेवा नही कर सका हूं, अतः कोई साहित्यिक सेवा हो तो मैं करना चाहता हूं. इस तरह श्रीमहाप्रभुजीकी कृपासे इस संस्थाका कार्य प्रारम्भ हुआ और आपने अनुवादका कार्य लगनके साथ किया. दशम स्कन्धके ७२ अध्याय, एकादश स्कन्धके ४ अध्याय, तृतीय स्कन्धके २४ अध्याय का तथा भागवतार्थ प्रकरणके दशम स्कन्धका अनुवाद आपने किया. शिक्षापत्रका अनुवाद इन्दौरमें खड़ी बोलीमें

किया है तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थ प्रकरणकी 'मनोरमा' टीका भी लिखी है. सिन्धी भाषामें श्रीमदल्लभाचार्यचरणका जीवनचरित्र आपने लिखा तथा कतिपय ग्रन्थोंकी स्वतन्त्र रचना भी की है, जिनका मुद्रण भी हुआ है.

दिसम्बर मासके अन्तिम सप्ताहमें ८५ वर्षकी वयमें आपने नश्वर देहका त्याग कर गोलोक गमन किया. श्रीव्रजेशनन्दन आपको निजसेवामें रखें.

नन्ददास (रामचन्द्र), जोधपुर.

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

गुणातीतकी त्रिगुणात्मिका लीला

पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी

(किशनगढ–पार्ला)

(विषयवाक्य)

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्।
सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वम् आप्नोति सर्वशः।।
इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा।
सप्तधा नवधा चैव पुनश्च एकादशः स्मृतः।।
शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः।
आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः तस्मै।
मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्।।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्।
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते।
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि अनादी उभावपि।।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।
कार्य–कारण–कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिर् उच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुर् उच्यते।।
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगो अस्य सदसद्योनिजन्मसु।।
उपद्रष्टा अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहे अस्मिन् पुरुषः परः।।
यावत् सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्र–क्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ।।
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

विनश्यत्सु अविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।
कार्य–कारण–कर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः।।

(छान्दो.उप.७।२६।२. भग.गीता.१३।१७–२७.भाग.पुरा.२।५।१९).

उसके दर्शन पानेवालेको न तो मृत्यु दिखलायी देती है, न कोई रोग और न कोई दुःख. वह सब कुछ देखने समर्थ हो पाता है और सब कुछ पाने भी समर्थ हो जाता है. वह एक तरहका, तीन तरहका, पांच तरहका, सात तरहका, नौ तरहका, ग्यारह तरहका, एक सौ दस तरहका, एक हजार बीस तरहका भी बन जाता है. आहारशुद्धि होनेपर सत्त्व शुद्ध होता है सत्त्वके शुद्ध होनेपर ध्रुवा स्मृति प्रकट हो जाती है. ऐसी स्मृतिके लाभ होते ही सारी ग्रन्थियां अपने–आप खुल जाती हैं. अपने सारे कषायोंको इस तरह निःशेष करनेवालेको भगवान् तमस्के पार जो अवस्थित है उसका साक्षात्कार करवा देते हैं.

ज्ञान और ज्ञेय ज्ञानगम्य बन कर सभीके हृदयमें अवस्थित रहते हैं. इस तरह क्षेत्र और उसके ज्ञान का ज्ञेयके रूपमें संक्षेपमें निरूपण किया. मेरा भक्त जब इन्हें जान लेता है तो वह मेरे साथ अपना तादात्म्य अनुभव करने समर्थ हो जाता है. प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि होते है. जो भी विकार(कार्य) और गुण हैं, वे सभी प्रकृतिसे प्रकट होते हैं. कार्य कारण और कर्ता के होनेमें (पुरुषसंयुक्त) प्रकृति हेतुभूत कही जाती है. सुख–दुःखके भोक्ता बननेमें (प्रकृतिसंयुक्त) पुरुष हेतुभूत कहा जाता है. पुरुष प्रकृतिमें अवस्थित हो कर प्रकृतिके गुणोंका भोग करता है. और इस तरह प्राकृत गुणोंके संगके कारण पुरुषको अच्छी या बुरी योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है. 'उपद्रष्टा' 'अनुमन्ता' 'भर्ता' 'भोक्ता' 'महेश्वर' और 'परमात्मा' कहा जानेवाला एक और परपुरुष भी इसी देहमें रहता है. क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के परस्पर संयोगके कारण, स्थावर और जंगम सभी तरहके सत्त्व जन्मग्रहण करते हैं. इन सभी विनाशी रूपोंके भीतर समानरूपेण अवस्थित अविनाशी परमेश्वरको जो देख पाता है, वही सच्चा देख पानेवाला होता है.

कुछ कार्य कुछ कारण और किसीके कर्ता होनेकी अनुभूति द्रव्य ज्ञान और क्रिया में आश्रित गुणोंकी उपाधिके वश होती है; और, अतएव इन्हें अनुभव करनेवाला नित्यमुक्त मायी पुरुष भी बंध सा जाता है

(उपक्रम)

महाप्रभुके अनुसार दशम स्कन्धका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय न तो आश्रयतत्त्व है और न ही असुरसंहाररूपा निरोधलीला. महाप्रभु नवमस्कन्ध और दशमस्कन्ध की पूर्वोत्तरभावताके आधारपर दशमस्कन्धके प्रमुख प्रतिपाद्य विषयका स्वरूप निर्धारित करना चाहते हैं. भूतलपर परमात्माकी अवतारलीला और भक्तजीवात्माओंकी उस अवतीर्ण होनेवाले भगवान्के प्रति भक्तिकी कथा नवमस्कन्धमें निरूपित हुयी है. इस भक्तिके कारण परमात्मा और जीवात्माओं के बीच एक विलक्षण घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट होता है. इस सम्बन्धको घनिष्ठतर बनानेको परब्रह्म परमात्मा भगवान् स्वयं कभी त्रिगुणात्मक प्रपञ्चमें प्रकट होते हैं; और, त्रिगुणोंके अन्तर्गत किसी न किसी गुणके तरतमभाववाले भक्तोंके बीच उनके स्वभावानुरूप लीलाविहारद्वारा भगवान् पहले उन्हें स्वयंमें अनन्यासक्त बना लेते हैं, किसी साधनाचरणकी अपेक्षा रखे बिना. बादमें भगवान् अपने भक्तको शनैः–शनैः स्वयंके मौलिक निर्गुणस्वभावके अनुरूप अन्ततोगत्वा ढाल ही लेते हैं. यह दशमस्कन्धका प्रमुख प्रतिपाद्य–विषय है.

यहां 'निर्गुण' पदका तात्पर्य यह नहीं है कि परब्रह्म परमात्मा भगवान्, या उनके भूतलपर अवतीर्ण स्वरूपोंमें भी, किसी भी तरहके गुण होते ही नहीं. वैसे तो महाप्रभुने ब्रह्मके मूलभूत सहज एकत्वकी मीमांसा करते हुवे यह समझाया ही है कि मूलमें तो वह एकमात्र होता है, पश्चात् स्वयंके अनेकभावापन्न होनेके अप्रतिहत संकल्प और सामर्थ्य के कारण सृष्टिरूप भेदको वह अपने भीतर प्रकट करता है. अतएव उसके गुण गुणिरूप होते हैं और वह गुणी अनन्त गुणरूप होनेसे दोनों अखण्डैकरस होते हैं. अर्थात् गुणीसे पृथग्भूत गुण मूलतया पूर्वमें न होनेके कारण ही ब्रह्मको 'निर्गुण' कहा जाता है. गुणोंका वहां अत्यन्ताभाव नहीं होता. इस सन्दर्भमें महाप्रभुने एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी कह रखी है कि श्रुत्यादिप्रमाणमूलक ब्रह्मवादमें 'अभाव'नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ मान्य नहीं ''**'सत्'शब्देन 'असत्'शब्देन च ब्रह्मैव उच्यते. 'यो अस्मात्**

परस्मात् परः' इति 'पर'शब्देनापि न कालादिः उच्यते. तस्मात् पूर्वम् अहमेव (ब्रह्मैव) इति सिद्धम्. अभावास्तु अस्मन् मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति'' (सुबो. २।९।३२) अतः अत्यन्ततिरोभावके ही अर्थमें अत्यन्ताभाव स्वीकारा जाता होनेके कारण नव्यन्यायकी शैलीमें कुछ कहना हो तो कहा जा सकता है कि ब्रह्मका निर्गुणत्व भी मूलतया 'प्राकृतगुणवदवृत्तिधर्मवत्त्व'रूप होता है. गुणोंका, अतएव, त्रैकालिक अत्यन्त तिरोभाव अभिप्रेत नहीं है. क्योंकि उपर्युद्धृत श्रुति–गीता–भागवतके विषयवाक्योंकी भलीभांति समीक्षा करनेपर स्वयं प्राकृत गुण भी परब्रह्म परमात्मा भगवान् में प्रकट हुवे होनेके कारण ब्रह्मात्मक पारमात्मिक या भगवदात्मक ही होते हैं. ब्रह्मवादी प्रक्रियाके इस निगूढ़ रहस्यको अनावृत करते हुवे महाप्रभु यह भी कहते हैं कि जब सकल सृष्टि भगवान्द्वारा भगवान्के भीतर भगवदात्मक ही उत्पन्न मानी जाती हो तो काल कर्म स्वभाव प्रकृति या पुरुष सभी कुछ भगवदवतारारूप ही होते हैं. अतः ऐसी स्थितिमें प्राकृत गुणों अथवा प्राकृत गुणोंवाले नाम–रूप–कर्मोंको भगवदवतारतया अमान्य करनेकी कोई तुक ही नहीं रह जाती. फिरभी ''न गृहं 'गृहम्' इति आहुः गृहिणी गृहम् उच्यते'' न्यायके अनुसार भगवान्के दिव्य सामर्थ्यके तिरोधान बिना प्रकट होनेवाले भगवान्के अवतार जो 'लीलावतार' माने जाते हैं, उन्हें ही विशेष माहात्म्यके द्योतनार्थ 'अवतार' कहा जाता है ''**यद्यपि भगवत्सृष्टौ सर्वमेव अवताररूपम् इति मुख्यः पक्षः**'' (सुबो.२।६।४५). अतः उत्पत्तिसे पूर्व जैसे सुवर्ण आभरणात्मक नहीं होता प्रत्युत सुवर्णरूप उपादानमें प्रकट होनेवाले कुण्डल आदि आभरण उपादानस्वरूप होनेकी नियतिके वश सुवर्णात्मक ही उत्पन्न होते हैं. यों कार्यावस्थापन्न हो जानेपर सुवर्ण भी अन्ततोगत्वा तो आभरणात्मक बन जाता है. वैसे ही मूलतत्त्व भी स्वयं प्राकृत गुणात्मक न हो कर प्राकृत गुण ही सच्चिदानन्द ब्रह्ममेंसे प्रकट हुवे होनेके कारण ब्रह्मात्मक होते हैं. फलतः उपादानद्रव्यसे निर्गत=व्युच्चरित (द्रष्ट. : ''**स यथा ऊर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेद्, यथा अग्नेः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति, एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वेप्राणाः सर्वेलोकाः सर्वेदेवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति**''–बृह.उप.२।१।२०) होनेके अर्थमें ही मूलतत्त्वका निर्गुण होना अभिप्रेत है.

अतएव महाप्रभु कहते हैं :

''**अपनी दुर्विभाव्य शक्तिओंके साथ प्रपञ्चमें श्रीहरिकी**

क्रीड़ा दशमस्कन्धप्रतिपाद्य निरोध मानी जाती है...

जिस तरहके भक्तॄका निर्देश नवमस्कन्धमॄ किया गया, उन्हॄ मुक्त करनेको इस स्कन्धमॄ उनका निरोध दरसाना अभिप्रेत है. क्यॄकि कृष्णमॄ निरुद्ध हो पानेके कारण भक्त मुक्त हो जाते हैं. भक्तिकी शुद्धिके लिये भी ऐसे जीवॄको प्रपञ्चसे मुक्त करना उचित होता है. सब व्रजवासिओॄके तामसभावको दूर कर भगवान् हरि यदि अन्यत्र पधारॄगे तो निःसन्देह वे सभी व्रजवासी राजस बन जायॄगे. आगे चल कर ये तामसभाववाले व्रजवासी और जो मूलतः राजस भाववाले थे वे दोनॄ ही सात्त्विक भाववाले भी बन जायॄगे. उसके बाद तीनॄ ही निर्गुण भी. मुक्तिके प्रकरणमॄ ऐसे ही निरुद्धात्माओॄका निरूपण मुक्तात्मा हो जानेके रूपमॄ अभिप्रेत है''

(त.दी.नि.३।१०।१४-१७, १२६-१२७).

अतः प्रापञ्चिक भक्तोंके स्वभावोंके अनुरूप जब भगवान् अपने स्वरूप और लीला प्रपञ्चमें प्रकट करते हैं, तो वह साधनात्मक निरोध है. इसके फलरूपेण भक्त, निजस्वरूपके नाशके बिना भी, भगवान्के स्वभाव और लीलाओं के अनुरूप निर्गुण बन जाते हैं. यही तो निरोधकथामें फलरूपेण अभिप्रेत है. उस प्रक्रियाकी उपाक्त्य कड़ीके निरूपणार्थ प्रस्तुत सात्त्विक प्रकरण दशमस्कन्धमें योजित हुवा है.

(सत्त्वादि गुणत्रयीमूलक 'सात्त्विक'पदकी व्युत्पत्ति)

यहां 'सात्त्विक' पदका घटक 'सत्त्व'पदार्थ अतएव अब मीमांस्य बनता है.

'सत्त्व'पदकी व्युत्पत्ति दो तरहसे दिखलायी जा सकती है: [१]''अस्=भुवि'' धातुके साथ 'शतृ' प्रत्यय जोड़कर पहले 'सत्' तथा सत् होनेके अर्थमें 'सत्त्व' पद बनता है;

अथवा,

[२]''षद्लृ=विशरण-गति-अवसादनेषु'' धातुके साथ औणादिक 'त्वन्'प्रत्यय जोड़ कर भी पहले 'सत्' तथा वैसा सत् होनेके अर्थमें भी 'सत्त्व'पद निष्पन्न हो सकता है.

द्वितीय व्युत्पत्तिके अन्तर्गत यह दरसाया जा सकता है कि लिंग संख्या

आकृति गुण धर्मभूतसत्ता आदि जिसे अपना आधारद्रव्य बना कर अन्वित होते हों वह 'सत्' कहलाता है. और वैसा सत् होना 'सत्त्व'पदके अर्थतया अभिप्रेत हो पाता है. प्रयोगान्वितिमें इसे, परन्तु , अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता हम पाते हैं. जैसे कि मेदनीकारने अनेक अर्थोंकी परिगणना की है. यथा

''सत्त्वं' १.गुणे २.पिशाचादौ ३.बले ४.द्रव्य–
५.स्वभावयोः ६.आत्मत्व ७.व्यवसाय ८.असु–९.चित्तेषु
१०.जन्तुषु''(अम.को.रामा. ३।३।२१३).

प्रस्तुत सात्त्विक प्रकरणके अभिधानमें जो 'सत्त्व'पदाभिप्रेत अर्थ है, वह तो गुण या स्वभाव रूपोंमें ही है.

(सत्त्वादि गुणत्रयीके विविध आयाम)

यहां गुणार्थक या स्वभावार्थक 'सत्त्व' पदके सन्दर्भमें कैसे गुण या स्वभाव को 'सत्त्व'पदवाच्य मानना उसकी मीमांसा करनी हो तो

१.तत्त्वविज्ञान
२.देवविज्ञान
२.धर्मविज्ञान
४.मनोविज्ञान
५.समाजविज्ञान

आदि अनेक सन्दर्भ प्रासंगिक बन जाते हैं.

इनके स्वरूपनिर्धारणार्थ आकरस्थलोंमें उपलब्ध होते वचनोंके संकलनपर दृष्टिपात कर लेना गुणोंके शास्त्राभिप्रेत स्वरूपके अवबोधार्थ उपकारी होगा :

१.<u>तत्त्वविज्ञानमें सत्त्वगुणका स्वरूप</u>

ॐआसीद् ज्ञानम् अथोहि अर्थः एकमेव अविकल्पितम्।
तद् मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं।
वाङ्मनोगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत्।।
तयोः एकतरोहि अर्थः प्रकृतिः सा उभयात्मिका।
ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः 'पुरुषः' सो अभिधीयते।।
तमो रजः सत्त्वम् इति प्रकृतेः अभवन् गुणाः।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च।।

(भाग.पुरा.११।२४।२–५)

[ख] द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् ! नच अन्यो अर्थोअस्ति तत्त्वतः।।
तस्यापि द्रष्टुः ईशस्य कूटस्थस्य अखिलात्मनः।
सृज्यं सृजामि सृष्टो अहम् ईक्षयैव अभिचोदितः।।
सत्त्वं रजः तमः इति निर्गुणस्य गुणाः त्रयः।
स्थिति-सर्ग-निरोधेषु गृहीताः मायया विभोः।।
(भाग.पुरा.२।५।१४-१८)

[ग] सत्त्वं रजः तमः इति त्रिवृद् एकम् आदौ
सूत्रं महान् अहम् इति प्रवदन्ति जीवम्।
ज्ञान-क्रिया-अर्थ-फल-रूप-तया उरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्।।
(भाग.पुरा.११।३।३७)

[घ] सएष भगवान् लिंगैः त्रिभिः एभिः अधोक्षजः।
कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया।।
आत्मनि यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुः उपाददे।
कालाद् गुणव्यतिकरः, परिणामः स्वभावतः।।
कर्मणो जन्म महतो पुरुषाधिष्ठिताद् अभूत्।
महतस्तु विकुर्वाणाद् रजस्सत्त्वोपबृंहितात्।।
तमःप्रधानस्तु अभवद् द्रव्य-ज्ञान-क्रियात्मकः।।
सो अहंकार इति प्रोक्तः विकुर्वन् समभूत् त्रिधा।
वैकारिकः तैजसश्च तामसश्च इति यद्भिदा।।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिः ज्ञानशक्तिः इति प्रभोः।
तामसादपि भूतादेः विकुर्वाणाद् अभूद् नभः।।
नभसो अथ विकुर्वाणाद् अभूत् स्पर्शगुणो अनिलः।
(भाग.पुरा.२।५।२०-२६)

[ङ] परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ।
पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथावक्तुः विवक्षितम्।।
एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानि इतराणि च।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः।।
पुरुषेश्वरयोः अत्र न वैलक्षण्यम् अण्वपि।
तदन्यकल्पना अपार्था ज्ञानं च प्रकृतेः गुणः।

प्रकृतिः गुणसाम्यं वै प्रकृतेः न आत्मनो गुणाः।।
सत्त्वं रजः तमः इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः।
सत्त्वं ज्ञानं, रजः कर्म, तमो अज्ञानम् इह उच्यते।।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च।
पुरुषः प्रकृतिः व्यक्तम् अहंकारो नभो अनिलः।।
ज्योतिः आपः क्षितिः इति तत्त्वानि उक्तानि मे नव।

(भाग.पुरा.११।२२।७-१४)

२.देवविज्ञानमें सत्त्वगुणका स्वरूप

[क]सत्त्वं रजः तमः इति प्रकृतेः गुणाः
तैः युक्तः परः पुरुषः एक इह अस्य धत्ते।
स्थित्यादये 'हरि'-'विरिञ्चि'-'हर' इति संज्ञा
भूतैः यदा पञ्चभिः आत्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः 'पुरुषा'भिधानम् अवाप नारायण आदिदेवः।।
यत्काय एष भुवनत्रयसंनिवेशो
यस्य इन्द्रियैः तनुभृताम् उभयेन्द्रियाणि।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलम् ओज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता।।
आदौ अभूत् शतधृती रजसा अस्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिः द्विजधर्मसेतुः।
रुद्रोऽपि अयाय तमसा पुरुषः स आद्य
इति उद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु।।

(भाग.पुरा.१।२।२३,११।४।३-५)

[ख]सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः।
वेद-क्रिया-योग-तपः-समाधिभिः तव अर्हणं येन जनः समीहते।।
सत्त्वं न चेद् धातः इदं निजं भवेद् विज्ञानम् अज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैः अनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः।।

(भाग.पुरा.१०।२।३४-३५)

३.धर्मविज्ञानमें सत्त्वगुणका स्वरूप

[क]कार्य-कारण-कर्तृत्वे द्रव्य-ज्ञान-क्रियाश्रयाः।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः।।

(भाग.पुरा.२।५।१९)

[ख] कुशलाकुशलाः मिश्राः कर्मणां गतयस्तु इमाः
सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुरनृनारकाः।।
(भाग.पुरा.२।१०।४०)

[ग] सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते।।
धर्मोरजस्तमो हन्यात् सत्त्वं वृद्धिर् अनुत्तमः।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्मः उभये हते।।
(भाग.पुरा.११।१३।२-३)

[घ] तस्माद् एकेन मनसा भगवान् सात्त्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा।।
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्याद् महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्।।
श्रुण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृदि अन्तस्थोहि अभद्राणि विधुनोति सृहृत् सताम्।
नष्टप्रायेषु अभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।।
भगवति उत्तमश्लोके भक्तिः भवति नैष्ठिकी।
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयः च ये।।
चेतः एतैः अनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति।
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते।
भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।।
क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि दृष्टएव आत्मनि ईश्वरे।
(भाग.पुरा.१।२।१४-२१)

[ङ] प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे।
स्वधर्मेच अनुतिष्ठेत गुणानां समितिः हि सा।।
पुरुषं सत्त्वसंयुक्तम् अनुमीयात् शमादिभिः।
कामादिभिः रजोयुक्तं क्रोधाद्यैः तमसा युतम्।।
यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा।।
यदा आशिष आशास्य भां भजेत स्वकर्मभिः।
तं रजःप्रकृतिं विद्याद् हिंसाम् आशास्य तामसम्।।
(भाग.पुरा.११।२५।८-११)

[च] सत्त्वं रजः तमः इति गुणाः बुद्धेः नच आत्मनः।
सत्त्वेन अन्यतमो हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि।।
सत्त्वाद् धर्मोभवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः।
(भाग.पुरा.११।१३।१-२)

[छ] सतु आत्मयोनिः अतिविस्मितः आस्थितो
अब्जं कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः।
त्वाम् आत्मनि ईश भुवि गन्धमिव अतिसूक्ष्मं
भूते न्द्रि या श य म ये वि त तं द द र्श।।
एवं सहस्र-वदन-अंघ्रि-शिरः-कर-उरु-नासा-आस्य-
क र्ण-न य न-आ भ र ण-आ यु धा ढ्य म्।
मा या म यं स दु प ल क्षि त सं नि वे शं
दृष्ट्वा महापुरुषम् आप मुदं विरिञ्चः।।
तस्मै भवान् हयशिरः तनुवं च बिभ्रद्
वेदद्रुहौ अतिबलौ 'मधुकैटभा'ख्यौ।
हत्वा अनयत् श्रुतिगणांस्तु रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुम् आमनन्ति।।
(भाग.पुरा.७।९।३५-३७)

[ज] सात्त्विकी आध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामसी अधर्मेया श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा।।
(भाग.पुरा.११।२५।२७)

४.मनोविज्ञानमें सत्त्वगुणका स्वरूप

[क] गुणानाम् असमिश्राणां पुमान् येन यथा भवेत्।
शमो दमः तितिक्षा ईक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः।
तुष्टिः त्यागो अस्पृहा श्रद्धा ह्रीः दयादिः स्वनिर्वृतिः।।[१]
कामः ईहा मदः तृष्णा स्तम्भः आशीः भिदा सुखम्।
मदोत्साहो यशः प्रीतिः हास्यं वीर्यं बलोद्यमः।।[२]
क्रोधो लोभो अनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः।
शोकमाहौ विषादार्ती निद्राशा भीः अनुद्यमः।।[३]
[१]सत्त्वस्य [२]रजसः च एताः [३]तमसः च अनुपूर्वशः।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः संनिपातम् अथो शृणु।।

संनिपातस्तु 'अहम्'इति 'मम'इति... या मतिः।
व्यवहारः संनिपातः मनोमात्रेन्द्रियासुभिः।।
धर्मेच अर्थेच कामे च यदा असौ परिनिष्ठितः।
(भाग.पुरा.११।२५।१-७)

[ख] सत्त्वाद् जागरणं विद्यात् रजसा स्वप्नम् आदिशेत्।
प्रस्वापं तमसा जन्तोः तुरीयं त्रिषु संततम्।।
कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्।।
सात्त्विकं सुखम् आत्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्।।
(भाग.पुरा.११।२५।२०-२९)

५.<u>समाजविज्ञानमें सत्त्वगुणका स्वरूप</u>

[क] आगमो अपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रो अथ संस्कारो दश एते गुणहेतवः।।
तत्तत् सात्त्विकमेव एषां यद्यद् वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तद् उपेक्षितम्।।
सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मः ततो ज्ञानं यावत्-स्मृतिर्-अपोहनम्।।
वेणुसंघर्षजो वह्निः दग्ध्वा शाम्यति तद् वनम्।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः।।
(भाग.पुरा.११।१३।४-७)

[ख] उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणाः जनाः।
तमसा अधोध आमुख्याद् रजसा आन्तरचारिणः।।
मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्मकृत्।
राजसं फलसंकल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्।।
वनन्तु सात्त्विको वासः ग्रामो राजसः उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्।।
सात्त्विकः कारको असंगी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदापाश्रयः।।
(भाग.पुरा.११।२५।२१-२६)

ये बहोत सारे वचन भागवत एकादश स्कन्धमें से उद्धृत किये गये हैं.

यहीं एक निष्कर्षवचन भी उपलब्ध होता है

''द्रव्य देश फल काल ज्ञान कर्म और कारक श्रद्धा अवस्था आकृति निष्ठा सभी कुछ त्रिगुणात्मक है. पुरुष और अव्यक्त प्रकृति मृ अधिष्ठित जितने भी भाव हैं नेत्रदृष्ट कर्णश्रुत बुद्ध्यनुध्यात सभी गुणमय होते हैं... गुण–कर्मोंसे प्रयुक्त ये संसृतिरूप पुरुषके लिये सिद्ध होते हैं, जो जीव इन चित्तज गुणृको जीत पाता है, वह भक्तियोगद्वारा भगवान्मृ सन्निष्ठ होकर भगवद्भावापन्न हो जाता है'' (भाग.पुरा.११।२५।३०–३३).

इस बड़ी लंबी वचनावलीमें कुछ वचनांशोंके अपवादको छोड़कर प्रायः सभी वचन सृष्टिलीलाके अन्तर्गत आती सत्त्वादिगुणत्रयीका ही निरूपण करते हैं.

(प्राकृत सत्त्वादि गुणत्रयीसे पृथक् अप्राकृत सत्त्व)

हम इन्हीं वचनोंमें देख सकते हैं कि भूतलपर अपने प्रकट होनेके समय भगवान् जिस सत्त्वगुणको अपने प्रकटविग्रहके रूपमें धारण करते हैं, वह अप्राकृत शुद्ध (रजोगुण और तमोगुण से अमिश्रित) सत्त्व होता है. उसकी, अतएव, प्राकृत सत्त्वादि गुणत्रयीके अन्तर्गत परिगणना नहीं की गयी है. इस विशुद्ध सत्त्वका कोई भौतिक सृष्टिमें पर्यायसदृश कुछ उपलब्ध होता हो तो, वह केवल एकमात्र अन्तःकरणान्तर्गत महत् तत्त्वका व्यष्टिरूप चित्त जैसा कुछ सोचा जा सकता है. अतएव चित्तके बारेमें भागवतमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया हैः

''विशुद्ध सत्त्व 'वसुदेव'शब्दसे वाच्य होता है, क्यृाकि वहीं उस पुरुषका आवरणरहित अनुभव होता है'',''विशुद्ध सत्त्व आपका श्रीविग्रह है और आपका प्रमेयरूप शरीर प्रमाणरूप वेदादि शास्त्रृाद्वारा ही जाना जा सकता है''

(भाग.पुरा.४।३।२३, १०।८५।४२).

पूर्वोदाहृत इन वचनोंमें हमने देख लिया कि ब्रह्मप्रतिपादक वेदादि शास्त्र कैसे सत्त्वरूप प्रमाण हैं, अनवतारकालमें इसी तरह भूतलपर अवतीर्ण रूप विशुद्ध सत्त्वको अपने शरीरतया धारणकर प्रकट होते हैं. महाप्रभु इस विशुद्ध सत्त्वका परिचय इन शब्दोंमें प्रदान करते हैं:

''जैसे मकड़ी जाला बुननेको अपने भीतरसे एक तार निकालती है उसी तरह भगवान् भी तीन तरहकी सृष्टि प्रकट करनेको

अपने भीतरसे तीन गुणॄको बाहर प्रकट करते हैं. इनके सूत्ररूप होनेके कारण इन्हॄ 'गुण' कहा जाता है. जो सद्रूपेण निर्गत होता है उसे 'सत्त्व' कहा जाता है. केवल चिद्रूपेण जो निर्गत होता है उसमॄ क्रियाशक्तिके प्रधान होनेके कारण और सदानन्दांशॄके न होनेके कारण 'रज' कहा जाता है. और आनन्दांशसे तमगुण प्रकट होता है. इन्हॄ भगवान्ने अपने स्वरूपतया प्रकट किया होता है. ये पहले भगवत्स्वरूपमॄ पृथग्भूत नहीं होते. वैसे होते तो ये भगवदात्मक नहीं हो पातेः, जैसे पहले जो रुई थी वह बादमॄ ही सूत बनती है, वैसे ही भगवान् निर्गुण हैं. इन गुणॄको भगवान् जगत्के स्थिति सर्ग और निरोध के हेतु धारण कर लेते हैं. ये ग्रहण भी अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा करते हैं. यही माया जगत्की कर्त्री बनती है. इसे व्यामोहिका नहीं मान लेना चाहिये. सर्वसमर्थ जगत्कर्ताकी शक्तिरूपा यह माया है. यह भगवान्की शक्ति सर्वरूप भगवान्से जुड़ी हुयी होनेके कारण वस्तुमात्रकी प्रतिकृतिरूपा होती है. इसे जगत्को उत्पन्न करनेमॄ भगवान् अपने करणके रूपमॄ उपयोग लेते हैं. अतः करणांश भगवान्का होनेके कारण सत्त्वादि गुण करणरूपेण ही निर्गत होते हैं... अतः भगवान्का अंश जो कोई जीव इस मायामॄ रमण करना चाहता है, अथवा इस मायाके कार्यरूप पदार्थोंमॄ, उन्हॄ ये गुण बांध लेते हैं''.

(सुबो.२।५।१९)

इस प्रतिपादनमें विशेषतः अवधेय तथ्य यही है कि अखण्डानन्दात्मक ब्रह्मतत्त्वको 'भगवत्'पदवाच्य बनानेवाले ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य धर्म ब्रह्ममें सहज एवं सनातन आविर्भूत रहते हैं. ब्रह्मके धर्मिभूततया आनन्दांशके तिरोहित होनेपर चिदंश जीवके रूपमें प्रकट होता है. अतः इन दिव्य सहज गुणोंका धर्मी न रह पानेके कारण जीवमें ये धर्म उसके क्षुद्रांशमें क्षुद्रधर्मोंके रूपमें प्रकट होते हैं. इसी तरह चिदानन्दांशोंके तिरोहित होनेपर सदंश जड़के रूपमें नाम-रूप-कर्मोंके साथ प्रकट होते हैं. अन्यथा दोनों ही जड़-जीवोंमें से प्रथम जड़ केवल ज्ञान-क्रियाका वैषयिक अधिकरणमात्र रह जाता है और द्वितीय जीव केवल चैतन्यरूप रह जाता है, ज्ञानवान् नहीं.

इसका प्रतिपादन विष्णुपुराण भागवतपुराण और ब्रह्मसूत्राणुभाष्य में मिलते वचनोंके भावानुवादमें देखना हो तो:

''वह जो अव्यक्त अजर अचिक्त्य अज अव्यय, अनिर्देश्य अरूप और कर–चरण–रहित विभु सर्वगत नित्य भूतयोनि अकारण हो... उस ब्रह्म परमात्मा के शब्दगोचर न होनेपर भी उसकी केवल पूज्यता जतानेको ही उसे 'भगवत्'पदसे वाच्य माना जाता है... समग्र ऐश्वर्य धर्म यश श्री ज्ञान और वैराग्य को भी 'भग' कहा जाता है. जिस अविनाशी अखिलात्मा भूतात्मा के भीतर अशेष भूतोंका वास हो यह जतानेको उसके बारेमें 'व'कारका प्रयोग किया जाता है. इस तरह ये 'भगवान्' और 'पूज्य' शब्द परमब्रह्मके रूप वासुदेवके बारेमें तो अपने मूल अभिप्रायके अनुसार अपनी परिभाषाके साथ सार्थक हो जाते हैं, जबकि अन्यके बारेमें केवल औपचारिक प्रयोगवश ही... क्योंकि जो उत्पत्ति–प्रलय भूतोंके सृष्टिमें आवागमन और उनमें निमित्तभूत विद्या और अविद्या को जानता हो उसे सचमुचमें 'भगवान्' कहा जाता है''.

''अन्यत्र 'भग'पदसे वाच्य ऐश्वर्यादि गुण सनातन नहीं होते परन्तु भगवान्में वे स्वरूपात्मक सनातन होते हैं. क्योंकि वह भगवान् अपने ही धाममें सदा रमण करनेवाले ईश्वर हैं''.

''परमात्मा सृष्टिलीलाका आनन्द जीवात्माओंके साथ लेते हों तो उन्हें दुःख–मोह–शोककी अनुभूति होनी नहीं चाहिये थी. फिरभी जो होती है उसमें निजानन्दका अनुभव विविधताके साथ करने भगवान्ने अपने आनन्दांशको तिरोहित कर रखा होता है. अतएव परमात्मा विविध जीवात्माओंके रूपमें कुछ विविधताका आनन्द लेते हैं; और, जीवात्मगण परमात्माकी विविधता (=भगवत्स्वरूपानन्द और लीलानन्द के अन्तर्गत आत्मानन्द या विषयानन्द के रूपोंमें)**का आनन्द लेते हैं. अतएव ईश्वरेच्छावश भगवद्धर्म जीवोंमें तिरोहित होते हैं. भगवान्के ऐश्वर्यगुणके तिरोधानवश जीवमें पराधीनता आती है. वीर्यगुणके तिरोधानवश दुःखसहिष्णुता. यशोगुणके तिरोधानवश हीनता. श्रीगुणके तिरोधानवश अनेकविध आपदाओंमें ग्रस्तता. ज्ञानगुणके**

तिरोधानवश देहेन्द्रियादिमृ अहंकार अन्य भी विपरीतज्ञान. वैराग्यगुणके तिरोधानवश विषयासक्ति... ये सब धर्मिरूप आनन्दांशके तिरोहित होनेके फलस्वरूप होता है. अतएव जीव मिथ्याकामनाओसे ग्रस्त हो जाता है. क्योंकि आनन्द तो, अन्यथा, अकामरूप ही होता है, (कामकी उत्पत्ति और पूर्ति मे निमित्ततया निहित होनेसे)''.

(विष्णु.पुरा.६।५।६६-७८, भाग.पुरा.२।९।१६, ब्र.सू.अ.भा.३।२।५)

इसके आधारपर यह सिद्ध होता है कि भगवान्के ऐश्वर्यादि गुण अप्राकृत होते हैं. क्योंकि स्वयं त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके भी सत्त्वादि गुण अपने मौलिक स्वरूपमें तो कारणात्मक ब्रह्मरूप विशुद्ध ही होते हैं. प्रकृति और उसके कार्यरूप विकारोंमें आनन्दांशके तिरोधानवश ऐश्वर्यादि छह गुण भी पश्चात् औपाधिक एवं नश्वर रूपोंमें प्रकट होते हैं. अतएव ब्रह्मके चिदंशरूप जीवचेतनाका ज्ञानवान् होना भी, ऊपर उद्धृत वचनोक्त, ब्रह्मकी अन्यतम शक्तिरूपा अविद्याके साथ लिप्त होनेके कारण शक्य बन पाता है. सो भी उस अविद्याके विविध पर्व अन्तःकरणाध्यास प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यास एवं देहाध्यास की कृत्रिम उपाधियोंके वश असहजतया ही एवं देश-काल-वस्तुकी मर्यादाओंमें ही वहां ज्ञानशक्ति प्रकट होती है.

इनमें भागवतके तृतीयस्कन्धान्तर्गत कपिलगीताके अनुसार केवल अन्तःकरणको ही ले कर चलें तब भी इनमें चित्त सत्त्वगुणप्रधान होता है. अहंकारके पुनः त्रिविध प्रभेद सात्त्विक राजस और तामस निरूपित हुवे हैं. इसी तरह मनके भी. इस तरह बुद्धि तत्त्वकी पंचविध वृत्तियोंमें भी संशयात्मिका वृत्ति राजसी होती है विपर्यासात्मिका तामसी निश्चयात्मिका सात्त्विकी होती है. महाप्रभु द्वितीय स्कन्ध (२।६।१२-१३)की सुबोधिनीमें यह भी स्पष्ट करते हैं कि भगवान्के गुणावतारूप ब्रह्मादि देवत्रयी, मुनिगण, सुरासुरनगगण, नाग-खग-मृग-सरी-सृपगण, गन्धर्व-अप्सरागण, यक्षो-रक्षो-भूत-उरगगण, पशुगण, पितृगण, सिद्ध-विद्याधर-चारणगण, द्रुमगण, ये सभी भगवान्के विविध अवतार हैं. इनका समुदाय तो, फिरभी, स्वयं मूल भगवान् ही हैं. प्रत्येक ये चाहें स्वदृष्ट्या या अब्राह्मिकदृष्ट्या ब्रह्मतया अवभासित होते हों या नहीं. इनमें कुछ मुनिगणसदृश शुद्धसत्त्वजनित होते हैं, कुछ सुरगण मिश्रसत्त्वजनित, असुरगण

मिश्रितरजोजनित होते हैं, नगादिगण मिश्रिततमोगुणजनित होते हैं, नागादिगण शुद्ध तमोगुणजनित होते हैं, गन्धर्वाप्सरादि मिश्रितरजोगुणजनित होते हैं, यक्षादिगण मिश्रिततमोगुणजनित होते हैं, पशुगण मिश्रितसत्त्वगुणजनित होते हैं, अन्तरिक्षसंचारी सिद्धादिगण सत्त्वादिगुणप्रधान होते हैं; और, द्रुमगण तमोगुणप्रधान होते हैं.

(सत्त्वादिगुणतारतम्य और अवतार–विभूति–आदिके स्वरूपमृ भगवल्लीला)

अतः सृष्टिलीलाके अन्तर्गत ऐसी सत्त्वादिगुणत्रयीका तारतम्येन वितरण और लीलावतारी भगवत्स्वरूप और लीलापरिकर में गुणोंके प्राकट्यका भी तारतम्य कुछ विस्तृत विमर्शकी अपेक्षा रखता है: देश–काल–स्वरूपतः अनादि–अनन्त, अखिलभूतयोनि और अखिलभूतात्मा ब्रह्ममें देश–काल–स्वरूपके परिच्छेदोंमें घिरे अखिलभूतोंके साथ प्रभेदकी मीमांसा करनी हो तो बृहदारण्यकोपनिषद्(१।४।१–७)में मिलता निरूपण नितान्त अवधेय है.

वहां यह कहा गया है कि परमात्मा पुरुषविध होनेपर भी मूलरूपमें सर्वथा एकाकी अव्याकृत था. उसे अपने पुरुषविध स्वरूपके व्याकरण–विस्तारकी कामना हुयी. अतः उसने अपने–आपका असंख्य नामों रूपों एवं कर्मोंमें आत्मविस्तार किया. और इन असंख्य नामों रूपों और कर्मों के भीतर वह, कटार जैसे म्यानके भीतर रखी जाती है वैसे, प्रविष्ट हो गया. अतएव वह पुरुषविध होनेके बजाय वस्तुतः पुरुषरूप ही बन गया. यहीं आगे चलकर एक यह बात और समझायी गयी है कि अपने भीतर प्रकट होनेवाले नाम रूप और कर्म, जिन्हें प्रकटकर ब्रह्म उनके भीतर प्रविष्ट हो जाता होनेके कारण और उन्हें धारण भी करता होनेसे, ये तीन होनेपर भी ब्रह्मात्मना एक होते हैं. इसी तरह इनका आधारोपादानभूत ब्रह्म स्वरूपेण एकमेवाद्वितीय होनेपर भी नाम–रूप–कर्मात्मना तीन बन जाता है (वहीं १।६।१–३).

इस दृष्टिसे ब्रह्मको निहारनेपर सृष्टिमें प्रकट होनेवाले निखिल नाम–रूप–कर्मोका ब्रह्म धर्मी सिद्ध होता है. इस धर्मरूपताको महर्षि बादरायणने अपने ब्रह्मसूत्र(३।२।२८)में एक सूर्य और उसकी असंख्य किरणोंकी उपमाद्वारा समझाया है.

इसे एक समुद्र और उसकी अनेकविध लहरोंकी उपमाके आधारपर भी समझा जा सकता है. क्योंकि तत्त्वतः लहरें समुद्रसे भिन्न तो नहीं होती फिरभी

समुद्रमें उभरती-मिटती छोटी-बड़ी अनेकविध लहरें समुद्रकी तुलनामें देश-काल-स्वरूपेण परिच्छिन्न तो होती ही हैं. जबकि अपनी किसी भी उभरती या मिटती विकाररूप लहरोंके कारण समुद्र उत्पन्न होता या नष्ट होता अनुभूत नहीं होता. वह तो अविकारी ही रहता है. लहरोंको प्रकट करनेवाला समुद्र अपने धर्मिभूत तात्त्विक या औपादानिक स्वरूपका त्याग किये बिना ही धर्मोंके रूपमें उन्हें प्रकट करता है. अतः समुद्र-तरंगोंके दृष्टिगोचर होते प्रभेदमें मौलिक या औपादानिक एकत्वका अनुसंधान शक्य है. शान्त समुद्र और उसकी लहरोंमें से चुल्लू भर जलको चखनेमात्रसे वह सुलभ हो जाता है.

इसी तरहके ब्राह्म्यैक्यके अनुसन्धानार्थ ईशावास्य और तैत्तिरीय उपनिषद्में भी कुछ और महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं.

ईशावास्योपनिषद्(७)में यह कहा गया है कि एक आत्मतत्त्वको दृष्टिगत करनेपर सारे भूत आत्मतया ही अवभासित होने लगते हैं. भूतोंकी ऐसी अनेकताका कोई आत्मैकत्वमें अनुदर्शन कर पाता हो तो वह सारे शोक-मोहोंसे मुक्त हो जाता है.

साथ ही साथ तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मवल्ली और भृगुवल्ली की पूर्वापरभावसंगतिपर भी थोड़ा सा लक्ष्यपात करनेपर एक मननीय तथ्य उद्घाटित होता है: ब्रह्मवल्लीमें, सर्वप्रथम, ब्रह्मको सत्य-ज्ञान-अनन्ततया परिभाषित कर, ऐसे ब्रह्मको स्वयं अपनी हृदयगुहामें जान पानेवालेके सारे मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं, ऐसा निरूपण किया गया है. बादमें भृगुवल्लीमें ऐसे ब्रह्मके अध्यापनकी प्रार्थना, महर्षि भृगुने जब अपने पिता वरुणके सामने प्रस्तुत की तब उन्होंने, सबसे पहले अन्न प्राण चक्षु श्रोत्र मन और वाणी को ब्रह्मतया निहारनेका उपदेश दिया. एतदर्थ सर्वप्रथम ब्रह्मकी परिभाषा — जिसमेंसे निखिल भूतोंकी उत्पत्ति होती है, जिसमें स्थिति होती है और जिसमें प्रयाण और प्रलय होते हैं, उसे ब्रह्म जानना चाहिये — इस तरह दी. निखिल भूतोंके अन्नमय कोशरूप शरीर प्राणव्यापारपर आश्रित रहते हैं. प्राणमय कोश मनोव्यापारपर, मनोमय कोश विज्ञानपर और विज्ञानमय कोश आनन्दमयपर आश्रित रहते हैं. इन सभीमें यथापरिभाषित ब्रह्मके लक्षणका अनुगम भी दरसाया ही है. एतावता सिद्ध हो जाता है कि ये यदि अब्रह्मात्मक हों तब तो ब्रह्मकी परिभाषा अतिव्याप्ति दोषसे ग्रस्त सिद्ध होगी. उपासनार्थ ब्रह्मतया भावना माना जा सकता था यदि इनकी उत्पत्ति ब्रह्ममेंसे न

दिखलायी गयी होती और इनके भीतर ब्रह्मको अन्तर्निगूढ़ न माना गया होता **''द्विपद चतुष्पद प्राणियोंके पुरोंको बनाकर पक्षिरूप बनकर वही एक पुरुष उन पुरोंमें प्रविष्ट हो गया''** (बृह.उप.२।५।१८). इस वचनमें हम देख सकते हैं कि इन अन्नमयादि पुरोंका निर्माता उपादान और अन्तराविष्ट नियन्ता वही है. यह निरूपण उपासनार्थ कल्पित धर्मके आरोपकी बातको अनुपपन्न कर देता है. अतः यदि औपनिषद लक्षणको निर्दोष मानना हो तो, अन्न प्राण मन विज्ञान और आनन्द सभीको ब्रह्मात्मक माने बिना कोई चारा बच नहीं जाता.

इस प्रतिपादनशैलीकी विशेषता यह है कि उपक्रमतया पहले

> **''[१]ब्रह्म [२]विद् [३]आप्नोति परम्. तद् एषा अभ्युक्ता : [१]सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, [२]यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सो [३]अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता''**
>
> (तैत्ति.उप.२।१)

ऐसे उद्बोधनके बाद, इस ब्रह्मवल्लीमें एरिस्टोटॅलिअन् सिलोजिज़्म् की तरह पहले मेजर प्रिमाइस्में **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्''** (छान्दो.उप.६।८।७) जैसी प्रतिज्ञा की गयी है. अर्थात् परिदृश्यमान वस्तुमात्रकी ब्रह्मात्मकताका प्रतिपादन किया गया. इसके बाद अगली भृगुवल्लीमें **''तत् त्वम् असि''** (वहीं) वचनकी तरह निखिल दृश्यजातके द्रष्टाकी माईनर प्रिमाइस्के जैसी ब्रह्मात्मकता प्रतिपादित की. और अन्तमें निष्कर्षतया यह कहा गया है कि जो ऊपर आकाशमें स्थित आदित्यके भीतर है वही नीचे भूतलपर आदित्योपजीवी पुरुषके भीतर भी अवस्थित है. ऐसा भलीभांति जान लेनेके बाद अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशमें, प्राणमय कोशसे मनोमय कोशमें, मनोमय कोशसे विज्ञानमय कोशमें; और, विज्ञानमय कोशसे आनन्दमय कोशमें प्रत्यावर्तन करनेवाला ज्ञानवान् जीव यह समझ पाता है कि कैसे वह कामोपभोग करनेवाला कामरूपी बन कर इन अनेक कोशोंमें आवागमन कर पाया. और तब तो हर्षातिरेकवश वह सामगान करता सा हो जाता है. क्योंकि वह स्वयं ही अन्न भी बना और अन्नभोजी भी. अतः जो काम्य अन्न उसे खा रहा था उसे ही वह भी खाता होनेकी अनुभूति होने लगती है. क्योंकि सारे ये कोशात्मक भुवन भी वह स्वयं बना है और इनमें संचरण करनेवाला और रहनेवाला भी वह स्वयं ही बना है. यह एक ऐसी सुनहरी ज्योति है जिसे कोई विरल ज्ञानवान् ही जान पाता है !

(भगवत्स्वरूप–भगवल्लीलाके आनन्दके भोक्ता और भोग्य का स्वरूप)

यद्यपि ब्रह्मसूत्र(१।२।९)में मृत्यु–प्रलयके ही सन्दर्भमें ब्रह्मका भोक्तृत्व निरूपित है फिरभी इस भोक्तृत्वको यदि उत्पत्ति और पालन लीलाओंके भी उपलक्षणतया मान कर चलें, तो यह समझना आसान हो जाता है कि कैसे आत्मरति आत्मक्रीड परमात्मा अपने निजानन्दके उपभोगार्थ ही समग्र सृष्टिका निर्माण पालन और उपसंहरण करता है. वही परमात्मा जब भूतलपर भगवान्के रूपमें अवतीर्ण होते हैं तो उनकी लीलाके माध्यमसे यह दिव्य रहस्य अनावृत हो पाता है कि उस सर्वभोक्ता भूमानन्दका उपभोक्ता जीवात्मा भी बन सकता है ! अन्न और अन्नाद के परस्परात्मक ऐसे औत्सर्गिक स्वरूप हैं. जीवकृत त्रिगुणात्मक कर्मफलोंके अभोक्ता साक्षिरूप परमात्माकी निजानन्दके विस्तार करनेकी सृष्टिलीलामें पुंभाववान् या भोक्ता होना प्रकटलीला है. जबकि भगवदवतारूपमें स्त्रीभावरूपा भोग्यरूपता गूढ़लीला भक्तादिगम्य हो कर ही प्रकट होती है, ऐसा महाप्रभुने दरसाया है. स्वाभाविकतया त्रिगुणात्मक निजकर्मफलोंके भोक्ता जीवात्माको उसके त्रिगुणात्मक फलोंके उपभोगमें बंधी हुयी बुद्धिके पाशसे वह छुड़ाता है. ऐसा अवतीर्ण भगवद्रूप स्त्रीभावात्मक अर्थात् उपभोग्यभावरूप स्वरूपानन्द और लीलानन्द की अनुभूति जीवोंको प्रदान करता है. यों वह जीवात्माओंके भीतर निगूढ़ गूढ़पुंभावात्मक उपभोक्तृभावको प्रकट होनेका अवसर प्रदान करता है. ब्रह्मात्मक भोग्य–भोक्ताके बीच रहे अक्षुण्ण तादात्म्यकी यह गवाही देता है. इसे ही यहां 'सुवर्नज्योति'रूपमें बिरदाया जा रहा है. इस विषयमें आगे चल कर भी कुछ अधिक विवेचनीय है.

अवतारलीलाके द्वारा अनावृत इस पारस्परिक भोक्तृभोग्यभावका विपर्यास पुष्टिभक्तिभावका चरमोत्कर्षरूप माना गया है. यह महाप्रभुके वचनोंके आधारपर समझना हो तो:

> **''पुष्टिः स्वार्था(जीवार्था) परार्था(भगवदर्था) तु भक्तिः ... अतः सृष्टिस्तु निखिला कृष्णार्था... तस्मात् सिद्ध्यन्ति कार्याणि भक्त्यैव आश्रयणाद् हरेः''. ''कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिः उच्यते''** (त.दी.नि.३।६। १३–९९ , ३।५।२६)
>
> तथा
>
> **''भजनस्यैव सिद्ध्यर्थं 'तत् त्वम् असि' आदिकं तथा''**
>
> (त.दी.नि.१।४१)

इन विरुद्धधर्माश्रयताके निरूपक वचनोंका निगूढ़ाशय यही है. अर्थात् वैसे तो निखिल सृष्टि कृष्णार्थ होनेसे सृष्टिमें जनमनेवाले भक्तोंकी भक्ति भी कृष्णार्थ ही होनी चाहिये, स्वयं जीवकी भोगस्पृहा या मोक्षस्पृहा को पूर्ण करनेके प्रयोजनवश नहीं. फिरभी भगवान्की पुष्टि, विशेषतः भूतलपर अवतीर्ण स्वरूपद्वारा प्रकट भगवत्कृपारूपा पुष्टि, निरुपाधिकतया जीवार्थ ही होती है. अतः ऐसी पुष्टिके वश जीवके भीतर पनपनेवाली भक्तिके वश जीव भगवान् श्रीकृष्णके आधीन रहनेके बजाय स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको भक्ताधीन बना लेता है. अतः भोग्य-भोक्तृभावमें परिवर्तन हो जाता है. सृष्टिलीलाका भोक्ता परमात्मा सृष्टिलीलामें भोग्य जीवात्माका भोग्य बन कर उसे अपने अवतारित स्वरूप-लीलानन्दके भोक्ताकी पदवीपर जीवोंको अभिषिक्त कर देता है.

भोक्ता परमात्मा, भोग्य जीवात्मा और पुष्टिप्रेरक भगवान्के त्रैविध्यका निरूपण हम "**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मम् एतत्**" (श्वेता.उप.१।१२) इस श्रुतिवचनमें भी पाते हैं.

अतः इन वल्लियोंमें प्रतिपाद्य बह्मके स्वरूपकी संगति तथाकथित महावाक्य "**स य एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, स आत्मा, तत् त्वम् असि**" (छान्दो.उप.६।७।७) के साथ भी सावधानतया तुलनीय है.

(ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं... तत् त्वम् असि)

केवलाद्वैती वेदान्त, यद्यपि, विभिन्न अंशोंको अवयोजित करके ही व्याख्या करना चाहता है किन्तु शुद्धाद्वैती वेदान्तकी प्रक्रिया अलग है. शांकर वेदान्तमें जड़ और ब्रह्म का ऐक्य "*'यश्चौरः स स्थाणु'रूप बाधितार्थ-सामानाधिकरण्य*"न्यायेन अभिप्रेत माना गया है. जबकि जीव और ब्रह्म का ऐक्य "*'सोऽयं'प्रत्यभिज्ञा*" न्यायेन जहदजहल्लक्षणाद्वारा अभिप्रेत माना गया है. शुद्धाद्वैत वेदान्तमें, परन्तु , ऐसी गौणी वृत्तिपर अवलम्बित व्याख्या अभिप्रेत नहीं है. क्योंकि सर्वभूतों और निजात्मा की अनेकताका ब्रह्मात्म्यैक्यमें अनुसन्धान करनेकी प्रक्रियामें प्रकारोंमें भेद होनेपर भी वे प्रभेद ऐक्यानुभूतिके बाधक नहीं बन पाते. फिरभी इतना सा प्रक्रियाभेद अवश्य है कि जड़ और ब्रह्म के तादात्म्यको, जड़के उत्पत्ति-नाशवान् होनेके कारण, उपादानोपादेयभावात्मक तादात्म्यके रूपमें निहारा गया है. जबकि चिदंशके अनादि-अविनाशी अंश होनेके कारण जीव और ब्रह्म के तादात्म्यको अंशांशिभावात्मक तादात्म्यके रूपमें.

यह तादात्म्यमूलक एकत्व या अद्वैत भावात्मक होता है: नाम–रूप–कर्मोंके त्रित्वका सहिष्णु, अप्राकृत सत्त्व–रजस्–तमोरूप त्रित्वका सहिष्णु, प्राकृत सत्त्व–रजस्–तमोरूप त्रित्वका सहिष्णु तथा इनके विविध संयोजनोंसे आरब्ध प्राकृत या पौरुष रूपी वैविध्योंका भी सहिष्णु. अर्थात् इनके मिथ्या हुवे बिना भी यह एकत्व अक्षुण्ण रह पाता है. जबकि अभावात्मक एकत्व या अद्वैत अपने अलावा किसी दूसरेके सत्य होनेपर खण्डित हो जाता है. अर्थात् यह ''स्वयंसे इतर किसीके न होनेका'' एकत्व नहीं प्रत्युत ''किन्हीं दो धर्मोंवाले या रूपोंवाले जैसोंमें किसी एकमात्र धर्मीके होनेका'' एकत्व है. अतएव न यहां सजातीय और न विजातीय भेदवाली कोई वस्तु सम्भव है. और न धर्म–धर्मिभावमूलक स्वगत भेदकी आपत्ति भी. क्योंकि धर्म भी धर्मिरूप होता है और धर्मी भी धर्मरूप, फिरभी सूर्य और सौरप्रकाश की तरह दोनोंमें धर्मधर्मिभाव भी निभता ही है. धर्मी धर्मरूप न होता तो अपनी स्वरूपगत अखण्डैकरसताके निर्वाहके साथ प्रकट होते धर्म–धर्मिभावपर स्वगतभेदका आरोप प्रसक्त हो पाता. निषेधात्मक एकत्व या अद्वैत, जबकि, अपनेसे अन्य होनेके रूपमें किसी भी तरहके द्वैत या अनेकत्व को अपनेपर मिथ्या आरोपके रूपमें, अर्थात् केवल व्यावहारिक या प्रातिभासिक आभास होनेके अर्थमें, उस द्वैत या अनेकत्व का अपलाप किये बिना उपपन्न ही नहीं हो पाता.

(सृष्टिरूपा भगवल्लीला और सृष्टिमृ भगवल्लीला)

इस तरहके भावात्मक एकत्व या अद्वैत की आधारभूमिपर सहज ही दो प्रकारोंकी लीला प्रकट हो पाती हैं. अर्थात्:

१.सच्चिदानन्द ब्रह्मके स्वरूपमृ अनेकविध नाम–रूप–कर्मोंके प्रादुर्भावकी एक सृष्टिलीला.

और

क.इस सृष्टिलीलाके भीतर क परमात्माके अन्तर्यामितया उन नाम–रूप–कर्मोंमृ प्रविष्ट होकर उन्हृ धारण करनेकी लीला.

ख.भूतलपर भगवान्के विविध अवतीर्णरूपोंमृ साक्षात् स्वरूपात्मना की जाती लीला.

ग.चतुर्विध व्यूहात्मना प्रकट होनेकी लीला.

घ.अवतीर्ण हुवे बिना भी अपनी विशेष सामर्थ्यको

भगवद्गीतोक्तरीत्या विभूतिरूपेण अथवा पांचरात्रतन्त्रोक्तरीत्या विभवरूपेण प्रकट करनेकी लीला.

ङ.अपने भक्तृके भक्तिभावृके आलम्बनविभाव बननेको आराध्य भगवन्मूर्तिके रूपमृ प्रकट होनेकी लीला.

(उत्पत्ति–स्थिति–प्रलयके बाह्याभ्यन्तर षड्विध प्रभेद)

यहां एक विशेषतः उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि भगवान् आधिभौतिक आध्यात्मिक एवं आधिदैविक अर्थात् १.बाह्यतम २.बाह्यतर ३.बाह्य और ४.आभ्यन्तर ५.आभ्यन्तरतर ६.आभ्यन्तरतम यों छहों रूपोंमें सृष्टिका उत्पादन पालन और संहरण करते हैं.

१.बाह्यतम रूपेण आकाश–वायु–अग्नि–आप्–पृथिवी रूपी पंच–महाभूत एकमेंसे दूसरे प्रादुर्भूत होते वर्णित हुवे हैं, ब्रह्मकी कार्यकारण–भावात्मिका शक्तिके अनुस्यूत होनेके कारण ही (द्रष्ट.: तैत्ति.उप.२।२।१).

२.इनके भीतर भरी हुयी कर्म–स्वभाव–कालरूपा शक्तियां द्रव्यान्तः–श्लिष्टतया बाह्यतर रूपमें कारण बनती हैं, शक्तिमान् सृष्टिकर्ता भगवान्के प्रकट न होनेपर भी (द्रष्ट.: भाग.पुरा.२।५।२१–२२).

३.बाह्यरूपेण जड़–चेतनका द्वैत जो अनुभूत होता है, वह तो सच्चिदानन्द ब्रह्मके चिदानन्दांशके तिरोभाववश जड़के रूपमें और आनन्दांशके तिरोभाववश जीवके रूपमें. यों ब्रह्मके प्रकट न होनेपर भी जड़द्रव्यात्मना और अद्रव्यजीवात्मना होता तो प्रकट ब्रह्म ही है (द्रष्ट.: ''आनन्त्येऽपि कार्याणां गणभेदो द्विधा मतः समष्टि–व्यष्टिभेदेन केवले जडजीवता=केवलप्रकारेण विभागे क्रियमाणे जडो जीवः च भवति नतु ततो अतिरिक्तं किञ्चित्'' (त.दी.नि.प्र. २।११८).

४.इन व्यष्टिरूप जड़ पदार्थोंकी समष्टिका आपेक्षिक मौलिक स्वरूप आन्तर अव्यक्त प्रकृतिरूप होता है. इसी तरह व्यष्टिरूप जीव पदार्थोंकी समष्टिका आपेक्षिक मौलिक स्वरूप पुरुष होता है. इन दोनों प्रकृति–पुरुषके स्वरूपोंका प्राकट्य एवं परस्पर अन्योन्याश्रित होना भी स्वीकारा गया है (द्रष्ट.: भाग.पुरा. ११।२२।२६–३३). एतदर्थ महाप्रभु यह प्रतिपादित करते हैं कि सभी कुछ यहां त्रिगुणात्मक होनेके कारण तीन प्रभेद सिद्ध होते हैं. जिस रूपको धारण कर ब्रह्म अधिष्ठाता बनता है, उस स्वतन्त्र अधिष्ठाता देवरूपको 'आधिदैविक' कहा जाता

है. जिस रूपमें ब्रह्म अभिमन्ता बनता है, उसे 'आध्यात्मिक' कहा जाता है. इन दोनोंके बीचमें जो अभिसम्भूत होता है, उसे 'आधिभौतिक' कहा जाता है. इन प्रभेदोंके रहते हुवे भी इनके मौलिक स्वरूपके अभेदका अनुसन्धान करनेको यह भी जान रखना आवश्यक है कि देह जीव और ईश के इन रूपोंको वह ब्रह्म अपने निज अखण्डैकरस सच्चिदानन्दरूपेण ही धारण करता होनेसे अभेदानुसन्धान शक्य बना देता है. क्योंकि कारणस्वरूप सत् चिद् आनन्द ब्रह्मका सत् ही अधिभूत बनता है, चित् अध्यात्म और आनन्द अधिदैव. कार्यस्वरूप ब्रह्ममें भी, अतएव, देह अधिभूत, जीव अध्यात्मा और अन्तर्यामी ईश अधिदैव बनता है(द्रष्ट.ः त.दी.नि.२।११९-१२०). अतएव हम देख सकते हैं कि एकत्वानु-सन्धानकी प्रस्तुत प्रक्रियामें बहुत्व/त्रित्वका मिथ्या या निरसनीय होना स्वीकारा नहीं गया. और न ऐसे त्रित्वके वास्तविक होनेके कारण एकत्वका अपवाद होना भी आवश्यक रह जाता है. आभ्यन्तर रूपमें यह पुनः अखण्डैकरस सच्चिदानन्द ब्रह्मके भीतर शुद्ध सत्त्व शुद्ध रजस् और शुद्ध तमस् आन्तरिक विभाजनद्वारा घटित होता है (द्रष्ट.ः भाग.पुरा.२।१०।४१-४५).

५.आभ्यन्तरतर रूपमें रजस्सत्त्वतमोगुणोंके अधिष्ठातृदेवरूपतया ब्रह्म-विष्णु-रुद्र आधिदैविक रूपोंके कारण सम्पन्न होता है

(द्रष्ट.ः भाग.पुरा.१।२। २३).

६.आभ्यन्तरतम रूपमें ब्रह्ममें प्रकट हुयी सृष्टिके भीतर अन्तर्यामी परमात्माकी उपनिषद्वर्णित प्रवेशरूपा यह लीला है (द्रष्ट.ः तैत्ति.उप.२।६).

अतएव महाप्रभुका यह विधान नितान्त अवधेय है कि सृष्टिके उत्पादनमें भगवान् अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाको करण बनाते हैं

(सुबो.२।१०। ४३).

(सर्वभवनसामर्थ्य तथा सर्वकरणसामर्थ्य का प्रभेद)

वैसे ग्रन्थोंमें प्रायः कर्तृत्वौपयिक सर्वसामर्थ्यकी परिभाषा कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य के रूपमें दी जाती है. महाप्रभुके वचनोंका, किन्तु, भलीभांति अवगाहन करनेवालोंके समक्ष यह तथ्य छिप नहीं सकता कि सर्वभवनसामर्थ्यको भी महाप्रभु भवितुम् अभवितुम् अन्यथाभवितुं सामर्थ्य के रूपमें ही स्वीकारना चाहते हैं, अन्यथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धके मंगलाचरणमें भगवान्की देश-कालातीत, देश-कालावच्छिन्न और अदेशवर्ति-अकालवर्ती

त्रिविधलीलाके निरूपणकी अन्य कोई उपपत्ति सामने नहीं आ पाती है. अतः सर्वभवनसामर्थ्यको सर्वभावनसामर्थ्य या सर्वकर्तृत्वसामर्थ्य के साथ जोड़ना उचित नहीं. क्योंकि प्रथम सामर्थ्य ब्रह्मसूत्रके समन्वयाधिकरणका सिद्धान्त है जबकि द्वितीय सामर्थ्य तो उससे भी पूर्ववर्ती जन्माद्यधिकरणोक्त ही सिद्धान्त है:

''यहां शंका होती है कि ब्रह्मको जगत्कर्ताके रूपमॄ कारण मानना उचित हो तब भी समवायिकारण कैसे माना जा सकता है ? क्यॄकि ऐसा माननेपर सर्वप्रथम ब्रह्मको विकारी मानना पड़ेगा. और कार्यके तो अनर्थरूप होनेके कारण ब्रह्मको कार्यरूप मानना अयुक्त भी है ही. ऐसी आशंका करना, परन्तु, उचित नहीं है. सूत्रकार, क्यॄकि, सभी उपनिषद्वचनॄके समाधानार्थं प्रवृत्त हुवे हैं. अतः सूत्रकार यदि ब्रह्मके समवायिकारण होनेका प्रतिपादन न करते ह्यॄ तो उपनिषद्के न जाने कितने वचन निरर्थक हो जायॄगे. उदाहरणतया 'इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा'... 'स आत्मानं स्वयम् अकुरुत' आदि श्रुतिवचनॄको देखा जा सकता है. यदि इन श्रुतिवचनॄसे ही निःसन्देह सिद्ध हो जाता हो तो भी सूत्रनिर्माण किसीको निरर्थक लग सकता है. पर इस बारेमॄ समाधान यह है कि ब्रह्मके जगद्रूपात्मना प्रकट होनेके विधानकी तरह उपनिषद्मॄ जगत् और उसके धर्मों से नितान्त विलक्षणताके प्रतिपादक 'अस्थूला'दि वाक्य भी कहां मिलते नहीं हैं ! अतः अन्योन्यसे विरुद्ध विधान करनेवाले वचनॄमॄ किसी एक वचनके मुख्यार्थको बाधित मानकर ही आगे बढ़ना पड़ेगा. तब तो ब्रह्मके स्वरूपकी तुलनामॄ ब्रह्मके कार्यको गौण मानकर प्रपञ्चरूपके प्रतिपादक वचनॄका गौण प्रामाण्य मानना ही पड़ेगा. ऐसा कोई न करे एतदर्थ 'जन्मादि' सूत्रकी तरह 'समन्वय'सूत्र भी आवश्यक हो ही जाता है. यॄ अस्थूलादि गुणॄवाला अविकारी ब्रह्म ही स्वयंको स्थूलादि गुणॄवाले जगत्के रूपमॄ प्रकट करता है, ऐसा माननेको बाधित होना ही पड़ेगा. अविकारी विकाररूप कैसे हो सकता है ? ऐसा विरोधाभास खोजना भी अनावश्यक है क्यॄकि यही तो ऐसे परस्पर विरुद्ध अनेकविध धर्मोंके आश्रयरूप ब्रह्मकी आभूषणरूपा शोभा ही है''. (ब्र.सू.अ.भा.१।१।३).

अर्थात् ब्रह्मका सर्वोपादानरूप होना स्वयं सृष्ट्यात्मना उत्पन्न होनेके कारण स्थूलदृष्टिमें सृष्टितया ही प्रकट हो जाना है, सृष्टिबाह्यतया नहीं. जबकि ब्रह्मका सर्वकर्तृरूप होना सृष्टिसे बहिर्भूततया उत्पादक होनेकी कथा है. इस और ऐसी ही विरुद्धधर्माश्रयताका ही उल्लेख ''**यच्च किञ्चिद् जगति अस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा अन्तर् बहिः च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः**'' (नारा.उप.११।६) श्रुतिवचनमें भी मिलता ही है.

सृष्ट्यन्तर्गत प्रकट होकर सृष्टिका पालन भगवान् अपनी अवतारलीला द्वारा करते हैं (सुबो.२।१०।४३). यह पालनप्रक्रिया सत्त्वमूर्ति विष्णुकी सृष्टिसे बाह्यवर्तितया सृष्टिको पालन करनेकी प्रक्रियासे भिन्न है.

इसी तरह सृष्ट्यन्तर्गत और सृष्टिबाह्यतया रहकर सृष्टिसंहरणकी प्रक्रिया भी काल और रुद्र के रूपोंमें भगवान् सम्पन्न करते हैं. अतएव महाप्रभु कहते हैं कि ''**संहारे कालः करणम्**''(सुबो.२।१०।४३).

(''परं ब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्ततइति त्रयो भेदाः'')

यहां विशेषतः अवधेय महाप्रभुद्वारा प्रस्तुत परब्रह्मके तीन प्रभेद हैं, नामशः, १.कृष्ण २.अक्षरब्रह्म और ३.अन्तर्यामी. इन्हें बोधसौकर्यार्थ हम जगत्के कर्ता उपादान और नियन्ता के रूपमें सोच सकते हैं.

इनमें सृष्टिकर्ताके पुनः तीन प्रभेद [१/क]ब्रह्मा [१/ख]विष्णु और [१/ग]रुद्र हैं.

इसी तरह [२]जगदुपादानरूप अक्षरब्रह्मके भी [२/क]कर्म [२/ख]स्वभाव और [२/ग]काल तीन प्रभेद समझाये गये हैं.

तथा [३]अन्तर्यामीके मूलमें दो अवान्तर प्रभेद होते हैं यथा [३/क]व्यष्टि [१/ख]समष्टि. अर्थात् प्रत्येक जीवनियन्ता तथा जीवाजीव सकलसमुदायका नियन्ता.

इनमें समष्टिनियन्ता जीवसंघका बाह्यवर्तितया नियमन करता है तथा व्यष्टिनियन्ता प्रत्येक तत्तद्-जीवका आन्तरिकतया नियमन करता है. यह नियमन अनुभूति न हो पानेकी स्थितिमें प्रमेयरूप होता है जबकि अनुभूतिकी झलक मिलते ही फलरूप लगने लगता है (द्रष्ट.: ''**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां एकः सन् बहुधा विचारः... अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा... अन्तः प्रविष्टं कर्तारम् एतं त्वष्टारं रूपाणि विकुर्वन्तं विपश्चिम. अमृतस्य प्राणं यज्ञम् एतं... देवानां बन्धु निहितं गुहासु. इन्द्रस्य आत्मा निहितः पञ्चहोता अमृतं देवानाम् आयुः प्रजानाम्**''.

तैत्ति.आर.३।११।१-३).

अतः परब्रह्मके अक्षर और अन्तर्यामी रूपोंके तुलनात्मक स्वरूपविमर्श आवश्यक है.

सृष्टिकी उत्पत्तिमें अक्षरब्रह्म स्वयं विश्वात्मक रूप धारण कर लेता है जबकि सृष्टिप्रलयमें वही अक्षरब्रह्म अपने विश्वातीत मूलरूपमें पुनः लयाधारतया अवस्थित हो जाता है. साथ ही साथ अक्षरब्रह्म अपनेमें अवस्थित सृष्टिका कूटस्थ आधार होनेपर भी स्वयंमेंसे उद्‌गत व्यष्टि-समष्टि-अन्तर्यामी रूपोंके द्वारा स्थितिनियमन भी करता है. अतएव कहा गया कि ''**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने... सूर्याचन्द्रमसौ... द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः**''(बृह.उप.३।८।९). एतावता समझा जा सकता है कि उत्पादन पालन और संहरण के इन अप्राकृत ब्राह्मिक स्तरों एवं स्वरूपों के सन्दर्भमें तो कमसे कम प्राकृत रजस्सत्त्वतमोगुणत्रयीका कोई प्रदान या उपादेयता है नहीं.

(भगवल्लीलामृ सात्त्विकादि गुणत्रयी)

प्रकृतके अनुसन्धानार्थ: यों भगवान् अपनी अवतारावस्थाद्वारा चार तरहके कार्य सम्पन्न करते हैं: १.भूभारहरण २.साधुरक्षण ३.दुष्टनिराकरण और ४.भक्तिप्रवर्तन.

इस विषयमें महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण भी दिया है कि अवतारलीलामें इन चारों कार्योंकी समप्रधानता है, नकि अंगांगिभाव. इनमें भूभारहरण भगवान्‌की राजसलीलारूप कार्य, साधुरक्षण सात्त्विकलीलारूप कार्य, दुष्टोंका निग्रह तामसलीलारूप कार्य और भक्तिप्रवर्तन निर्गुणलीलारूप कार्य है(द्रष्ट.: सुबो.१०।४७।९-१०).

इस विधानकी, 'पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद' ग्रन्थमें महाप्रभुने एक महत्त्वपूर्ण आधारभूत संगति जिस तरह समझायी, उससे तुलना करनी चाहिये:

> ''**अब पुष्टिमार्गमृ फलके स्वरूपके निरूपणार्थ यह ज्ञातव्य है कि यहां अपने गुणृ अथवा स्वरूप के प्रभेदृको प्रकट करनेको मनचाहे रूपृमृ भगवान्, भूतलपर, जैसे भी प्रकट होते ह्यृ उन्हृ फलतया माना जाता है.**
>
> **कभी अपने किसी भक्तकी अन्यत्र आसक्ति या अहंकार को सुधारनेके लिये उसे भगवान् भूतलपर जन्मग्रहणार्थ शाप भी**

दिलवा देते हैं; अथवा भूलोकमॄ अपनी भक्तिके आदर्शस्वरूपके प्रवर्तनार्थ भी कभी अपने भक्तपरिकरके साथ अवतीर्ण हो जाते हैं.

ऐसे भक्तगण भूतलपर जन्मग्रहण करनेके बावजूद कभी भजनविरोधी आध्यात्मिक पाषण्डके शिकार नहीं बनते और न भजनार्थ उन्हॄ आधिभौतिक रोगादिके उपद्रव ही सताते हैं. ऐसे भक्तजीवॄमॄ भक्तिभावका परम आधिदैविक अनुभाव सदा झलकता ही रहता है. ऐसॄका शुद्ध होना शास्त्रोक्त सदाचारपे निर्भर नहीं होता, फिरभी अपनी शास्त्रोक्त शुद्धताका निर्वाह ऐसे भक्त प्रायः सहज स्वभावके रूपमॄ ही करते रहते हैं.

भगवान्के अवतीर्ण स्वरूपॊमॄ तारतम्यके अनुरूप इनमॄ भी कभी तारतम्य झलक सकता है. अतः इनके आचरणॊमॄ लौकिकता (राजसता/तामसता) या वैदिकता (राजसता/ सात्त्विकता) केवल लोकसंग्रहार्थ एक धार्मिक कापट्य लिये हुवे होती है.

इस धार्मिक कापट्यको कपटार्थ धर्माचरण नहीं प्रत्युत धर्मार्थ कपटाचरणके रूपमॄ जानना चाहिये. क्यॊकि इनके भीतर वैष्णवता निश्छल निष्कपट सहजस्वभावानुगत रहती है.''

(पु.प्र.म.१६-२०)

यह रहस्यकथा भगवल्लीलासामयिक भगवान्के अवतीर्ण रूपके परिकरकी ही नहीं प्रत्युत भगवल्लीलाके किसी भी गुणप्रभेदमूलक विवेचनमें सदा बुद्धिगत रखनी अत्यन्त आवश्यक है.

(उपपत्ति और उत्पत्ति पक्षॊके अनुसार गुणातीततत्त्वकी सगुणलीलाका उपपादन)

पूर्वोक्त ''**प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात् पूर्ववद् वा प्रतिषेधात् च**''(ब्र.सू.३।२।२८-३०) इस त्रिसूत्री अधिकरणमें भाष्यकारने ब्रह्मके अनेकानेक धर्म ब्रह्मस्वरूपात्मक होते हैं अथवा ब्रह्मके कार्यरूप ? इस संशयकी घटक दोनों कोटियोंमें किसी भी एक कोटिको निरसनीय नहीं माना है. अतः सूर्य और सौररश्मि की तरह धर्मीरूप देशसे बाह्यदेशमें भी अवस्थित धर्म्यात्मिका धर्मरूपताका उपपत्तिपक्ष सर्वप्रथम प्रस्तुत किया है. साथ ही साथ इससे पूर्व ही ''**प्रकृतिश्च...**'' (ब्र.सू.१।४।२३) षट्सूत्री अधिकरणमें कहे गये

''**'उस सृष्टाने अपने-आपको सृष्टिरूपेण प्रकट किया' अतः**

जगन्निर्माणकी क्रियाका कर्म और कर्ता दोनू वही है. इसे 'सुकृत' भी कहा गया होनेसे अलौकिक कर्तृत्व और अलौकिक कर्मत्व भी द्योतित होता है... अपने सोना होनेके स्वरूपको छोड़े बिना सोना जैसे आभूषण बन जाता है'' (ब्र.सू.अ.भा. १।४।२६)

यों सुवर्ण और सौवर्ण कुण्डल की तरह अविकृतपरिणामवादके आधारपर उत्पत्तिपक्ष भी स्वीकारा ही गया है.

ठीक इसी तरह भागवतदशमस्कन्धान्तर्गत रासपञ्चाध्यायीकी सुबोधिनी (१०।२६।१६)में महाप्रभु एवं प्रभुचरण ने भूतलपर प्रकट होनेवाली भगवल्लीलामें भी सगुणता या निर्गुणता के दो परस्पर विरोधी कल्पोंमें उपपत्तिपक्ष और उत्पत्तिपक्ष जैसे दोनों परस्परविरोधी समाधान प्रदान किये हैं. इन दोनों तरहके समाधानोंमें प्रकट होता विरोधाभास ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रयी होनेके कारण कोई समस्या खड़ी नहीं करता. क्योंकि उत्सर्गरूपेण धर्मोंका धर्मीमें ही केवल होना जैसे अनुभूतिसिद्ध तथ्य है, वैसे ही धर्मीके देशसे अधिकदेशमें भी. सूर्य और सौरप्रकाश के जैसे धर्म-धर्मी भी एक नहीं अनेक मिलते हैं. इसी तरह कार्यरूपेण प्रकट होनेपर कारणरूपका त्याग जैसे दूध-दहीके उदाहरणमें अनुभूतिसिद्ध है, वैसे ही सोना और उससे बने आभूषण के उदाहरणमें अविकृत-परिणाम भी प्रसिद्ध ही है. इन उदाहरणोंके बलपर गुणातीत परमात्माकी सगुणलीला और सगुणलीलापरिकर के अंगीकारमें भी कोई आपत्तिजनक बात नहीं है.

(गुणातीतकी सगुणलीला: उपपत्तिपक्ष)

सर्वप्रथम महाप्रभुद्वारा प्रदत्त समाधानमें यह कहा गया है कि सृष्टिमें अन्तर्निगूढ़ स्रष्टाका साक्षात् अनुभव प्राप्त करना हो तो ज्ञान और भक्ति रूपी दो प्रमाणोपाय हैं. इन दोनों प्रमाणोपायोंके औत्सर्गिक नियमको निरपवाद नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि भगवान् निजेच्छाके वश भूतलपर स्वयं प्रकट होना चाहते हों तो उनके प्रतिपादक शास्त्रवचन स्वयं भगवान्पर तो प्रतिबन्ध लाद नहीं सकते कि जो जीव ज्ञानी या भक्त न हों उन्हें भगवान् दिखलायी नहीं पड़ने चाहिये ! अतः भगवान्के अनवतारकालके औत्सर्गिक नियमोंका अवतारकालमें अपवाद प्रकट करनेकी भगवल्लीला मूलमें भगवान्के निरंकुश सामर्थ्यकी कथा है. अतएव –

''जो ब्रह्मको असत् मानता है वह स्वयंको भी सत् नहीं मान

पायेगा... ऐसे ब्रह्ममृ जो अपने-आपको निहार पाता है वह पूर्णतया निर्भय हो जाता है. जो बुद्धिमान् , किन्तु , स्वयंको ब्रह्मके भीतर निहार नहीं पाता, उसे स्वयं ब्रह्म ही बड़ा भयानक लगने लगता है !'' (तैत्ति.उप.२।६-७).

ऐसे प्रमाणवचनोंके आधारपर भूतलपर भगवान्को रोका नहीं जा सकता कि अमुक व्यक्ति भगवान्को मानता ही नहीं अतः उसे भगवान् भी निर्भयपद प्रदान नहीं कर सकते ! बहोत सारी अवतारकथायें भगवान्के प्रमाणवचनोक्त औत्सर्गिक नियमोंके अपवादकी ही हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु रावण-कुम्भकर्ण शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि भगवान्को न माननेवाले असुरोंके उद्धारकी कथा हैं. मूलमें इनका द्वारपाल होना तथा शापवश भूतलपर आसुरयोनिको प्राप्त करनेकी कथाद्वारा इनके मुक्त होनेकी कथामें मुक्तियोग्यताका निकष मूलस्वरूपको मानकर भगवान्को किसी शापनियतिके आधीन माने जानेपर भगवान्का केवल कर्तुंसामर्थ्य ही सिद्ध हो पायेगा अकर्तुंसामर्थ्य या अन्यथाकर्तुंसामर्थ्य नहीं. ऐसी स्थितिमें शापित द्वारपालोंके भूमिपर पतनकी कथाके साथ अशापित भगवान्के इनके उद्धारार्थ भूमिपर अवतारलीलाको प्रकट दिखानेकी कोई व्याख्या उपपन्न नहीं हो पायेगी. अतएव अवतारलीलाके समुचित व्याख्यानार्थ भगवान्की निरंकुश सर्वोद्धारकता स्वीकारनी सर्वथा अपरिहार्य है. अन्यान्य धर्मोंमें धर्मप्रवर्तक और उपदिष्ट धर्मों में श्रद्धा रखनेवालोंके उद्धारकी तो नियति घोषित रहती है, इसके विपरीत वैदिक-पौराणिक धर्म तो न माननेवालोंके उद्धारकी भी निरंकुश सामर्थ्य भगवान्में निरूपित करना चाहता है. अतएव भगवान्के साथ द्वेष करना भगवत्प्राप्तिमें अनवतारकालमें दोषरूप प्रतिबन्धक होनेपर भी अवतीर्ण भगवान् जब जिसे चाहें उसे मिल सकते हैं और निर्भयता भी प्रदान कर सकते हैं. भगवान् तो हमारे मनोबुद्धि-अहंकार-चित्त ही नहीं प्रत्युत देहेन्द्रियप्राणों के भी प्रेरक होनेके कारण स्वयं ही किसीके भीतर अपने बारेमें द्वेष जगा कर भी उसका उद्धार कर सकते हैं. यह सुबोधिनीमें महाप्रभुद्वारा प्रदत्त समाधान उपपत्तिपक्ष जैसा है.

(गुणातीतकी सगुणलीला: उत्पत्तिपक्ष)

यहीं प्रभुचरणने उत्पत्तिपक्ष जैसा भगवान्का लीलापरिकर मूलतः निर्गुण होनेपर भी निज निरंकुश सामर्थ्य और निजके प्रति निरुपाधिक भावकी महिमाके प्रकाशनार्थ शास्त्रीय साधनाचरणकी अपेक्षा न रखनेवाली लीलाओंद्वारा अपने

गुणातीत भक्तोंमें भी प्राकृत गुणोंका आधान करनेकी लीलाके रूपमें समाधान प्रदान किया है. प्रभुचरण यह भी स्पष्टीकरण देते हैं कि प्राकृत गुणत्रयीमें बंधे जीवात्माओंके लिये शुद्धसत्त्वात्मक वेदादि शास्त्रवचनोंपर अवलम्बित साधनाओंका अधिकारी प्राकृत सात्त्विक गुणोंकी प्रधानतावाला होता है. अतएव ''**सत्त्वगुणसे ज्ञान पैदा होता है**''(भग.गीता.१४।१७) वचन मिलता है. परन्तु ''**यह आत्मा न प्रवचनसे न मेधासे न बहुत सारा श्रवण करनेसे मिलती है. यह जिसे चाहे उसे ही मिलती है और उसके सम्मुख अपना स्वरूप दरसाती है**''(कठोप.१।२।२३, मुण्ड.उप.३।२।३) औपनिषद सूत्रकी व्याख्योपम भगवद्गीतामें दिये

> ''**जो जिस तरह मेरे सामने प्रपन्न होता है मैं उसी तरह उसे भजता हुं**'',''**जो भी सात्त्विक राजस या तामस भाव दिखलायी देते हैं, उन्हे मेरे कारण ही दिखलायी देते जानना चाहिये... इन तीन गुणमय नश्वर भावोंसे यह सारा जगत् मोहित है. अतः मुझे इनसे पर अनश्वर जान नहीं पाता, क्योंकि मेरी गुणमयी दैवी मायाका पार पाना मुश्किल है परन्तु जो मेरी शरणागति लेते हैं वे तैरकर पार पहुंच सकते हैं**'' (भग.गीता.४।११ , ७।१२-१४)

अपने इन उपदेशोंको प्रकट लीलामें क्रियान्वित कर दिखानेको भगवान् जैसे स्वयं अप्राकृत होनेपर भी प्राकृत वपु धारण कर सकते हैं, वैसे ही भक्तोंको भी, वे निर्गुण भी हों, पर सगुण बना सकते हैं. अर्थात् उनमें प्राकृत गुण उत्पन्न कर सकते हैं. यों उत्पत्तिपक्ष जैसी विचाररीति यहां अपनायी गयी है. अन्यथा या तो शास्त्रोक्त मर्यादाओंके अनुसरण करनेपर ही किसीका उद्धार हो पायेगा अथवा भगवान्के अवतारकालमें ही शास्त्रमर्यादाओंकी परवाह किये बिना विरल लीलापरिकर मुख्याधिकारी जीवोंका ही भगवान् उद्धार कर पाते हैं, ऐसा फलित हो जायेगा. ऐसी स्थितिमें

> ''**मैं सभी भूतोंके लिये समान हुं न मुझे कोई प्रिय है और न मेरेलिये कोई द्वेष्य ही. फिरभी जो मेरा भजन भक्तिभावके साथ करते हैं मैं उनके लिये और वे मेरेलिये बन जाते हैं**''
>
> (भग.गीता.९।२९)

इस अपने दिये वचनकी क्रियान्विति कभी शक्य न रह जायेगी. अतः तीसरे कल्पमें गौण अधिकारियोंके भीतर भी भक्तिभाव जगानेवाली लीलाके रूपमें

ऐसी लीलाओंको निहारना चाहिये.

(गुणातीतमॄ तन्मय होनेपर त्रैगुण्याधीन भी गुणातीत हो जाते हैं)

सभी कुछ भगवदवतारॅप हो तो प्राकृत तामस राजस या सात्त्विक गुणोंके साथ प्रकट होनेवाले रूप–नाम–कर्म, अथवा इनके कारणभूत अप्राकृत शुद्धसत्त्व शुद्धरजस् या शुद्धतमस् गुणोंके साथ प्रकट होनेवाले रूप–नाम–कर्म, अथवा तो अखण्डसच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मके मूलस्वरूपात्मक रूप–नाम–कर्म हों; इन सभीका प्रभेद या तारतम्य अन्ततोगत्वा परब्रह्म परमात्मा भगवान् के केवल लीलासंकल्पके वश ही प्रकट होता है. अर्थात् ये प्रभेद दिव्य होनेपर भी कृत्रिम प्रभेद हैं तात्त्विक नहीं. अतएव एकमेवाद्वितीय मूलतत्त्वके स्वरूपाभिमुख हो कर जो तामस राजस अथवा सात्त्विक अनन्यभाव निभा पाते हों, उन्हें अपनी वैसी भावप्रवणताके कारण तामसी राजसी या सात्त्विकी तन्मयता ही त्रिगुणातीत भी बना पाती है. लीलया परिगृहीत अनेकतामें रमणके भी अतएव चार–पांच प्रकार प्रकट होते हैं:

१.''प्रकृतिके द्वारा प्रकट सर्वशः किये जाते गुणॄ और कर्मॄ के कारण अहंकारसे विमूढ़ बना अपने–आपको 'मैं कर्ता हुं' ऐसा मान लेता है...प्रकृतिके गुणॄसे प्रकट होनेवाले सम्मोहके वश वह उन्हीं गुणॄ और कर्मोंमॄ उलझ जाता है'' (भग.गीता.३।२७–२९)

वचनोक्त यह एकमेवाद्वितीयकी अनेकताकी लीलामें त्रिगुणात्मिका मायासे मोहित जीवात्माओंके रमणका प्रथम प्रकार है.

२.''सर्वत्र अनभिस्नेहके कारण शुभ कुछ पा कर जो न तो अभिनन्दन करता हो और न अशुभ पा कर द्वेष ही करता हो उसमॄ प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है'',''जो तत्त्ववेत्ता होता है वह... गुणकर्म–विभागमॄ उलझता नहीं. उसे तो यही लगता है कि गुण तो गुणॄमॄ उलझायॄगे पर मुझे उनमॄ उलझना आवश्यक नहीं''

(भग.गीता.२।५७, ३।२८)

वचनोक्त एकमेवाद्वितीयकी अनेकताकी लीला में मायामोहसे रहित स्थितप्रज्ञ जीवात्माके रमणका यह दूसरा प्रकार है.

३.''सभी नश्वर भूतॄमॄ समानरूपेण अवस्थित अविनाशी परमेश्वरको जो देख पाता है वही सच्चा द्रष्टा है... विविध भूतॄकी

पृथक्ता किसी एक तत्त्वमॄ अनुदृष्ट बनते ही हर वस्तुका ब्राह्मिक विस्तार प्रकट हो जाता है. यह अव्यय परमात्मा अनादि तथा निर्गुण होनेके कारण शरीरमॄ रहता होनेपर भी... न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है'' , ''जो द्रष्टा मूलकर्ताको गुणॄसे भिन्न भी नहीं और गुणॄसे अतीत भी देख पाता हो वह भगवद्भावको प्राप्त हो जाता है'' (भग.गीता.१३।२७-३२ , १४।१९)

वचनोक्त यह एकमेवाद्वितीयकी अनेकताकी लीलामें ब्रह्मात्म्यैक्यके अनुद्रष्टा जीवात्माकी रमणकी तीसरी रीति है.

४.''प्रकाश हो या प्रवृत्ति हो या फिर मोह हो ... कुछ भी सामने आनेपर जो न द्वेष करता हो और निवृत्त हो जानेपर पुनः प्राप्तिकी कामना भी जो न करता हो, उदासीनकी तरह बैठा हुवा जो गुणॄसे विचलित न होता हो, और गुण तो उनका काम करॄगे ही ऐसा सोच कर कुछ इंगित ही न करता हो... अर्थात् किसी भी तरहकी चेष्टा स्वतः न प्रकट करता हो वह गुणातीत हो जाता है. साथ ही साथ मेरा भी अव्यभिचारी भक्तियोगसे जो सेवन करता हो वह सभी गुणॄसे ऊपर उठकर ब्रह्मभूय हो जाता है''

(भग.गीता.१४।२२-२६)

वचनोक्त एकमेवाद्वितीयकी अनेकताकी लीलामें गुणातीत परमात्मामें जिसे प्रमाणबलसे भक्तियोग सिद्ध हो गया हो ऐसे जीवात्माका रमणप्रकार है.

५.''भगवान् तो सभी भूतॄके लिये सम प्रिय और सुहृद् होते हैं... अतः न तो उन्हॄ सुरगणॄसे कोई स्वार्थ सिद्ध करना होता है और न असुरॄके साथ विद्वेष ही. भगवान् गुणातीत होते हैं अतः किसीके कारण कोई उद्वेग भी उन्हॄ नही हो सकता... यह तो सच है कि भगवान् निर्गुण अज अव्यक्त और प्रकृतिसे पर होते हैं फिरभी वे अपनी मायाके गुणॄमॄ आविष्ट होकर स्वयं ही बाध्य(मरनेवाले) भी बनते हैं और स्वयं ही बाधक(मारनेवाले) भी. सत्त्व रजस् तमस् ये प्रकृतिके गुण होते हैं आत्माके नहीं. फिरभी भगवान् इन्हॄ तत्तत् समयपर अपनाते रहते हैं... जैसे व्यापक अग्नि अलग-अलग इंधनॄमॄ अलग-अलग नहीं होती फिरभी जब जलाओ तो प्रकट होती है अन्यथा नहीं. वैसे ही भगवान् भी देहादिके संघातॄमॄ

अलग–अलग नहीं रहते सभीके भीतर एकरूपेण रहते हैं. फिरभी आत्ममन्थनद्वारा कोई तत्त्ववेत्ता उन्हृ भीतर प्रकट कर पाता है तो दूसरा नहीं. अपनी पुररूप सृष्टिको उसने जब प्रकट करना चाहा तब अपनेसे पृथक् रजोगुणका निर्माण अपनी मायासे किया. उन पुरृके ईश्वर बनकर जब रमण करना चाहा तब सत्त्वगुणका, जब विश्राम करना चाहा तब तमोगुणका प्रवर्तन कर दिया... अतः उन अनन्त स्थानृमृ से किसी एक स्थानपर रहते होनेका अखिलात्मा भगवान्के भीतर अभिमान नहीं पनपता सर्वत्र उनके ही एकमात्र विद्यमान होनेके कारण... अतः वैर ठानकर या निर्वैरभावसे, भयसे या स्नेहसे; अथवा, कामसे भगवान्के साथ जुड़ जाना चाहिये... किसी भी उपायको अपनाकर अपना मन श्रीकृष्णमृ लगा लेना चाहिये'' (भाग.पुरा.७।१।१–३१)

वचनोक्त यह एकमेवाद्वितीय गुणातीत परमात्माके प्रमेयबलसे अनेक प्राकृतगुणोंवाली लीलामें त्रिगुणात्मिका सृष्टिमें प्रकट होनेवाले निजलीलापरिकर जीवोंके प्राकृत गुणकर्मोंके अनुरूप रमणका प्रकार है.

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत की यह सिद्धान्तोक्ति विश्वभरके एकेश्वरवादमें मान्य हो या नहीं पर ब्रह्माद्वैतावलम्बी धर्मोंके इतिहासमें एक अद्भुत दिव्य रहस्यका अनावरण है कि भगवान् सुरासुर पुण्यात्मा–पापात्मा ज्ञानी–अज्ञानी मुक्त–संसारी सजीवाजीव सभी तरहके पुरोंके भीतर समानात्मा होकर अवस्थित हैं !

अतएव दशमस्कन्धमें इसे पुनः यह सुस्पष्ट किया गया है:

''**शिशुपालको भगवान् हृषीकेशके साथ द्वेष करनेके बावजूद मुक्ति मिल सकी तो ऐसे भगवान्को सच्चे स्नेह या कामभाव से चाहनेवाली गोपिकाओंका उद्धार होना कौन सी अनहोनी बात है ! अव्यय गुणातीत गुणरूप भगवान्का प्राकट्य सभीके निःश्रेयस् सिद्ध करनेको होता है. अतः काम क्रोध भय स्नेह ऐक्यभाव सौहृद् किसी भी मनोभाववश श्रीहरिके साथ अविचलित रूपेण जुड़ पानेवाला तन्मय हो जाता है**''

(भाग.पुरा.१०।२६।१३–१५)

इस निरूपणमें मूलतः तीन तरहकी मनोवृत्तियां दिखलायी गयी हैं:

१.रागात्मिका काम सौहृद और स्नेह रूपा राजसी मनोवृत्तियां २.द्वेषात्मिका भय क्रोध रूपा तामसी मनोवृत्तियां तथा ३.रागद्वेषरहित ऐक्यभावनावाली सात्त्विकी मनोवृत्ति. ये वृत्तियां जीवात्माको परमात्माके साथ सञ्चारिभावतया नहीं परन्तु स्थायिभावतया जोड़ पाती हों तो उद्धार शक्य माना गया है. यह तो ठीक ही है कि अनवतारकालमें द्वेषात्मिका मनोवृत्तिका स्थायिभावरूप होना अशक्य न भी हो पर दुःशक तो होता ही है. फिरभी अपवादरूपेण किसी जीवात्माके भीतर निभ पाती हों तो शास्त्रीय साधनाचरणोंके नियमका अनवतारकालमें भी अपवाद शक्य हो पाता है !

(पुष्टिलीला, पुष्टिभक्ति और पुष्टिभक्तिसम्प्रदाय)

यह तो भगवान्‌की पुष्टिलीलाके अतीव विस्तृत ऊंचे–नीचे भूभागकी कथा है ! ऐसी लीलामें भगवान् भक्त और अभक्त का पार्थक्य प्रकट नहीं करते हैं. फिरभी जो जीव रागात्मिका औपाधिकी मनोवृत्तिओंके वश भगवान्‌के अवतीर्ण स्वरूपमे अनुरक्त हो जाते हैं उन्हें निजाश्रित मुक्ति प्रदान करना या निजभक्ति प्रदान करना यह भगवान्‌की कृपा या इच्छा के आधीन ही होता है. यदि ऐसे जीवकी सोपाधिका रागात्मिका मनोवृत्तिओंका भक्तिमें उदात्तीकरण हो जाता हो तो उसमें हेतु उनकी रागात्मिका मनोवृत्ति नहीं प्रत्युत पुष्टि या कृपा ही हेतु होती है. ऐसी भक्तिको 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है. ऐसे पुष्टिभक्तोंको जैसा कि प्रह्लाद और भगवान् के बीच संवादके रूपमें पुराणमें समझाया गया है –

''कुर्वतः ते प्रसन्नो अहं भक्तिम् अव्यभिचारिणीं यथा
अभिलषितो मत्तः प्रह्लाद ! व्रियतां वरः... या प्रीतिः अविवेकानां
विषयेषु अनपायिनी त्वाम् अनुस्मरतां सा मे हृदयाद् मा अपसर्पतु''

(विष्णु.पुरा.१।२०।१७–१९)

इस न्यायसे ऐन्द्रियक विषयोंमें अनपायिनी जो जीवात्माओंकी आसक्ति स्वभावसिद्ध होती है उसे निरुपाधिकतया भगवदभिमुख बनाना अशक्य न भी हो पर अतिशय दुःशक तो होता ही है. अतएव महाप्रभुने अपने सम्प्रदायमें अपने आधिदैविक–आध्यात्मिक सर्वेक्षणद्वारा केवल रागात्मिका उसमें लोकवेदमें अनिन्दित मनोभावोंको पुष्टिभक्तिके रूपमें मार्गायित करना चाहा है. इसमें अन्तर यही स्वीकारा गया है कि लीलावतारकालमें किसी तामस राजस या सात्त्विक अचञ्चल मनोभावको तन्मयताके द्वारा निर्गुणतामें संवारनेका स्वयं अवतीर्ण

भगवत्स्वरूपका एकाधिकार है. जबकि अनवतारकालमें ऐसे मनोभावोंको प्रमुखता प्रदान नहीं की जा सकती. क्योंकि इन तामस राजस सात्त्विक गुणोंवाली लीलामें आराध्य भगवद्विग्रहका आराधकके भावोंके अनुरूप होना ध्रुव निश्चित नहीं है. अतः आराधकको अपने आराध्यके अनुरूप होनेके लिये आराध्यका तात्त्विक माहात्म्य, निखिल रूप–नाम–कर्मोंके द्वैतका आधारभूत एकमेवाद्वितीय तत्त्व होनेका बोध भक्तिभावका पूर्वांग माना गया है. साथ ही साथ सृष्टिके अन्तर्गत तामस राजस या सात्त्विक गुण–कर्मोंके तामसी राजसी या सात्त्विकी रतिओंके भी एकमेवाद्वितीय आलम्बनविभाव तथा उद्दीपनविभाव होनेका भान भक्तिके उत्तरांगतया मान्य किया गया है. एतदर्थ तृतीयस्कन्धके बत्तीसवें अध्यायकी महाप्रभुकी सुबोधिनीके कुछ वचनोंके भावार्थका मनन अपेक्षित लगता है:

१. ''भगवान्‌के गुणोंपर अवलम्बित होनेवाली भक्तिके साथ सर्वभावसे भगवान्‌का भजन करना चाहिये... देहसे लेकर ईश्वरपर्यन्त जितने भी ऐहिक या पारलौकिक भजनसाधनभूत रूप हो सकते हैं उन सभीरूपोंके बारेमें जो भी हमारे भाव हों उन्हें भगवान्‌के साथ जोड़ पायें ऐसी रीतिसे भगवद्‌भजन करना चाहिये... अन्यथा पूर्वसिद्ध सांसारिक संस्कारोंके प्रबल होनेके कारण शास्त्रीय ज्ञान और प्रकृति–पुरुषके अविवेकवश पनपे हमारे कर्तृत्वको भी हम निकम्मा मानकर चलेंगे तो कदापि हमारा अहंकार शिथिल हो नहीं पाता है. अतः सभी कुछ करते–धरते भगवान् ही हैं फिरभी भजन न करनेपर कुछ भी नहीं करेंगे अतः भजन अवश्य करना चाहिये. इस तरह की जाती भगवद्‌भक्तिकी सचाईकी परख अपने अहंकारको शिथिल बनाकर सब कुछ भगवान् ही बने हैं ऐसी मानसिकता और अन्ततः अनुभूति भी होनेपर, ज्ञान प्रकट होता है. इसे उसके सच्चे माहात्म्यज्ञानके रूपमें पनपा तभी माना जा सकता है जब यह सृष्टि भगवान्‌ने स्वयं अपनी क्रीड़ाके लिये निर्मित की है ऐसा लगे. मेरेलिये नहीं प्रकट की है ऐसा वैराग्य हृदयमें जागे तो भगवान्‌के ज्ञान–वैराग्यरूप दो गुणोंके कारण भगवान् भी हृदयमें प्रकट हो गये ऐसा लगने लगेगा. इस तथ्यकी सचाईकी परख भी तभी होती है जब निखिल प्रापञ्चिक

पदार्थोंके बारेमें स्वयं अपनी इन्द्रियोंकी रागद्वेषात्मिका वृत्तियां निःशेष हो जाती हैं.(सुबो.३।३२।२२-२४).

२.''बाह्य जगत्‌में प्रिय या द्वेष्य पदार्थोंके विद्यमान रहते आन्तर जगत्‌में रागद्वेषात्मिका मानसिकता वस्तुतः कैसे निःशेष हो सकती है ? अतः इस बारेमें जो वास्तविकता है वह तो यही कि मूलतः तो बाह्य सृष्टि और उसकी बाह्यता दोनों ही ज्ञानात्मिका हैं. यहां 'ज्ञान' पदका अर्थ हमारे मस्तिष्कमें प्रकट होनेवाले इन्द्रिय-मनो-बुद्धि-अहंकार-चित्तोपाधिक ज्ञान अभिप्रेत नहीं है. केवल उपनिषदेकगम्य अनन्त नाम-रूप-कर्मात्मना नित्याविर्भूत सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मचैतन्य ही अभिप्रेत है. वह अपनी इच्छासे बाहर प्रकट होता है तो उसे 'ईश्वर' कहा जाता है. इस ईश्वररूपके साथ अपना तादात्म्य अनुभूत होनेपर साधारण पुरुषको भी स्वयं अपने भीतर भी सारा जगत् समाहित सा लगने लगता है. तब उसे ईश्वररूपता और ब्रह्मरूपता दोनोंका भास होने लगता है. वही ज्ञान जब हमारे भीतर प्रकट होता हो तो वह ब्रह्म 'परमात्म'शब्दवाच्य निजात्मतया अवभासित होने लगता है. कभी बाह्यतर दृष्टिवशात् सर्वनियामक 'काल'शब्दवाच्य ईश्वर भी लगता है. उपास्य होनेके रूपमें उसका अवभास होनेपर वही पुरुषविध भी लगने लगता है. अतः अपने मूलरूपमें वह जब प्रकट होता है तब कुछ भी असंगत नहीं रह जाता. जैसे हमारे भीतर रही औपाधिक ज्ञानशक्ति भी आंख नाक कान आदि इन्द्रियोंके प्रभेद अनेक रूपोंमें कहां प्रकट नहीं होती ! एक ही व्यक्ति किसीके भाव और सम्बन्धवाचक शब्दके प्रयोगानुसार पिता पुत्र भाई पति आदि रूपोंमें अवभासित होता है. जिसके भीतर जैसा उत्पन्न होता हो उसके प्रति वैसा रूप प्रकट भी हो ही जाता है. अतः एक ही तत्त्व अनेकधा अवभासित होता है.(सुबो.३।३२।२६).

३.प्रमाणकी दृष्टिसे ज्ञान-वैराग्यकी उपादेयता देखनेके बाद अब प्रमेयके विचारसे भी समझना हो तो — एकमेवाद्वितीय निर्गुण ब्रह्मात्मक ज्ञान ही द्वैतकामनावश बादमें प्रकट होनेवाली इन्द्रियोंके कारण शब्द आदि धर्मिओंके कारण ज्ञेयार्थतया भात होने

लगता है. उसे अर्थतया भात होनेके कारण ज्ञानरूप न मानना केवल भ्रान्ति ही है. क्यूंकि बोधके अन्वय–व्यतिरेकवश ज्ञेयार्थका ज्ञानरूप होना नियत ही है. समुद्रकी तरंगोंका (या तरंगोंमें उभरनेवाली फेनोंका) समुद्रतया भान न होना एक भ्रान्ति ही होती है (निखिल ज्ञेयार्थ अतः ज्ञानसमुद्रकी तरंग या फेन के जैसे ही होते हैं). मूलमें पदार्थके एकदेश गृहीत होनेपर अथवा तो अपने स्वभावके अनुसार गृहीत होनेपर यथार्थ रूप भी अन्यथा भासित होने लगता है. किसी भी पदार्थका उसकी सम्पूर्णतामें अनवभास अर्थात् एकदेशका ही अवभास होनेपर या थोड़ा–बहोत अन्यथाभास होनेपर तन्मूलक पदार्थके सम्पूर्ण स्वरूपकी परिकल्पना भी भ्रान्तिकी तरह ही प्रस्तुत होती है... उदाहरणतया एक महत् तत्त्व अहंकारके रूपमें प्रकट होनेपर मनो–बुद्धि–इन्द्रियोंका रूप धारण करनेपर अन्तमें रूप–रस–गन्ध आदि पांच तन्मात्रा और पांच महाभूतों के रूपोंमें भी प्रकट होने लगता है... अतः भगवान्के बारेमें होते ज्ञान और निर्गुणा भक्ति दोनों ही भग(=ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य)वान्के ज्ञेय और भजनीय दो रूप अवभासित होनेके बावजूद एक ही होते हैं. जैसे एक किसी अर्थका रूप आंखोंसे गन्ध घ्राणेन्द्रियसे स्पर्श त्वचासे गृहीत भिन्न–भिन्न होनेपर भी अर्थ तो अविभक्त ही रहता है. इसी तरह विभिन्न शास्त्र जो कहीं स्वरूप तो कहीं कोई विशेष गुणधर्मके प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त होनेके कारण भिन्न–भिन्न तत्त्वोंके प्रतिपादक लगते होनेपर भी एक ही परमतत्त्वका प्रतिपादन करना चाहते हैं.(सुबो.३।३२।२८–३३).

एतावता यह सुबोध हो जाता है कि त्रिगुणात्मक स्वरूप लीला तत्परिकर या भाव अथवा त्रिगुणातीत स्वरूप लीला तत्परिकर या भाव एकमेवाद्वितीय परमतत्त्वकी अनेकताका ही निरूपण कर रहे हैं. फिरभी सगुण भजन करनेपर भगवान्के भावात्मक स्वरूप और लीला भी सगुणात्मक होंगे. निर्गुण भजन करनेपर भगवान्के स्वरूप और लीला भी गुणातीततया प्रकट हो कर भजनकर्ताको अन्तमें गुणोंसे ऊपर उठानेवाली बन जायेंगी. यही बात **''अव्यभिचारी भक्तियोगके साथ जो मेरा भजन करता है वह गुणोंसे ऊपर उठकर**

ब्रह्मभूयस् बन जाता है'' (भग.गीता.१४।२६) वचनमें कही गई है.

(अव्यभिचारिणी भक्तिकी स्वरूपमीमांसा)

सर्वोपादानतया सर्वान्तर्यामितया सर्वलयाधारतया सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अपने सत्ता चैतन्य और आनन्दके धर्मभूत ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य आदि स्वरूपगुणोंके साथ सृष्टिमें प्रकट होनेवाले आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक निखिल नाम-रूप-कर्मोंमें अनुस्यूत हैं. ऐसी स्थितिमें सर्वव्यापी ब्रह्मतादात्म्यका कहीं व्यभिचार माने बिना 'भक्ति'पदके साथ 'अव्यभिचारिणी' विशेषणकी सार्थकता प्रकट नहीं हो पाती. क्योंकि भजनीय स्वरूपका तादात्म्य कहीं-किसी नाम-रूप-कर्ममें न हो, अर्थात् तादात्म्याभाव हो तभी उस विशेष नाम-रूप-कर्मके भजन करनेपर भक्तिको व्यभिचारिणी माना जा सकता है.

इस उलझनको सुलझानेसे पहले जिन कुछ आधारभूत सिद्धान्तवचनोंपर लक्ष्यपात कर लेना अतिशय आवश्यक लगता है, वे यों हैं:

> १.''**जिसमृ जो भी सात्त्विक राजस या तामस भाव हैं वे मेरे कारण प्रकट होते हैं, मेरेमृ वे प्रकट होते हैं पर मैं उनमृ प्रकट नहीं होता. इन तीन गुणरूप भावृासे सारा जगत् मोहित हो जाता होनेके कारण मैं इनसे परे होता हुं यह भी समझ नहीं पाता**''
>
> (भग.गीता.७।१२-१३).
>
> २.''**(इन गुणृके तारतम्यवश) होनेवाली स्मृति ज्ञान और ज्ञानापोहन भी, मैं सभीके हृदयमृ संनिविष्ट हुं सो मेरे कारण ही होता है**''(भग.गीता.१५।१५).
>
> ३.''**मैं सभी आत्माओृके भीतर आत्मतया, सभी प्रिय पदार्थोंके भीतर प्रेष्ठ=प्रियतमतया अवस्थित हुं ! देहआदि सभीके बारेमृ पनपते प्रेमका हेतुभूत मैं ही हुं ऐसी समझके साथ मुझे प्रेम करना चाहिये**''(भाग.पुरा.३।९।४२).

यहां अन्तिम भागवतवचनकी सुबोधिनीमें महाप्रभुने यह शंका-समाधान किये हैं कि सभी आत्माओंकी आत्मा यदि भगवान् हों तो ऐसा कहनेसे क्या फलित होता है ? सभी अपूर्ण और किसी न किसी तरहके क्लेशसे ग्रस्त आत्माओंकी आत्मा होनेपर या तो भगवान्को भी अपूर्ण और क्लेश सहनेवाला

मानना पड़ेगा. ऐसा तथ्य जान लेनेके बाद भी जीवात्माओंके अपूर्ण होनेके क्लेशका कोई उपचार भी तो नहीं होता. जो स्वयं क्लेशनिवारक या वरदाता न हो उसे जान लेनेसे वह क्लेशनिवारक या वरदाता नहीं बन जाता ! परन्तु यहां जो समझाना चाहते हैं वह यह है कि सभी प्राणियोंकी अपने-अपने देह आदिमें रति तो स्वतःसिद्ध ही है पर वे प्रिय इसलिये लगते हैं कि सभीको अपनी आत्मा प्रिय लगती है. वह आत्मा भी प्रिय इसलिये लगती है कि परमप्रिय परमात्मा सभी आत्माओंके भीतर अवस्थित होता है. यह जानकारी प्राप्त होनेपर प्रेम कुछ नया प्रकट नहीं होता परन्तु प्रेमका सच्चा आलम्बन क्या या कौन है उसकी पहचान मिल जाती है. अन्यथा भगवान् तो ज्ञाततया या अज्ञाततया सभीके बुद्धिप्रेरक एवं प्रिय ही होते हैं, सो जिसे जैसा जो जानना हो या चाहना हो वैसे ज्ञान और प्रेम के द्वारा सभीके अज्ञान और क्लेश का निवारण करते हैं पर जीवात्मा उन्हें स्वयं अपने ज्ञान और प्रेम के कारण सम्पन्न होता मान कर पुनः भ्रान्त हो जाता है. अतः जो सभीके सर्वदा स्वतःप्रिय हैं ऐसे भगवान्को भलीभांति जान और मान पानेपर सभी ज्ञान और प्रेम के प्रकारों और आलम्बन के रूपमें परमात्माको स्वीकार पाना शक्य बन जाता है. एतावता सर्वत्र परब्रह्म परमात्मा भगवान् का तादात्म्य जान एवं मान पाना भक्तिको अव्यभिचारिणी भक्ति बना देता है अन्यथा परमतत्त्वके सर्वत्र तादात्म्याभावकी बुद्धिके आग्रहके बिना ब्रह्मेतर किसी वस्तुको अपने ज्ञान या प्रेम के विषयतया जानना या चाहना शक्य नहीं. यों भक्ति अपने भजनीय विषयसे भिन्न विषयके बारेमें व्यभिचारिणी बन जाती है.

(भक्तिके पूर्वांग माहात्म्यज्ञान और उत्तरांग सुदृढ़सर्वतोधिक स्नेह के बीच पूर्वांगकी स्नेहानुकूलताका स्नेहमृ अन्तर्भावन सर्वात्मभाव)

भक्तिकी सर्वथा प्राथमिक कक्षामें यह ज्ञान न भी हो अथवा मध्यमकक्षाकी साधनावस्थामें ऐसा स्वीकार या समझ में आनेपर भी भान न होता हो पर उत्तमकक्षाकी फलावस्थामें भक्तिके सर्वात्मभावमें खिल उठनेपर ब्रह्मके सर्व नाम-रूप-कर्मोंके साथ रहे तादात्म्यके अनुरूप प्रकट होता सर्वात्मभाव भजनीयकी सम्पूर्णताके प्रति भक्तिरूप भक्तोंके अनुभावकी सम्पूर्णता ही होती है.

इसमें अवधेय यही है कि माहात्म्यज्ञान एवं सुदृढसर्वतोधिकस्नेह दो अंशोवाले भक्तिभावमें प्रथम अंशके वश सर्वत्र भगवद्भाव स्फुरित होता है. इसी

तरह द्वितीय अंशके वश भगवत्स्वरूपमें सब कुछ स्फुरित होता हो या न होता हो परन्तु सर्वतोमुखी प्रियता स्फुरित होती है. सर्वविध स्नेहतुष्टिका एकमात्र आलम्बनविभाव भगवत्स्वरूप ही लगने लगता है. इस विषयका विस्तृत विवेचन राजसप्रकरणसुबोधिनीकी भूमिकामें देखा जा सकता है. अतः उस विस्तारमें जाना यहां आवश्यक नहीं है. इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि इस अवस्थामें पहुंचकर भक्ति अपने दोनों १.माहात्म्यज्ञान और २.सुदृढ़सर्वतोधिक स्नेह अंगोंमें मौलिक निर्गुणता या गुणातीतता अभिव्यक्त करने सक्षम बन जाती है. अतएव पूर्वोक्त ''**ज्ञानयोगः च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणो द्वयोरपि एकएव अर्थो'भगवत्'शब्दलक्षणः**'' (भाग.पुरा.३।३२।३२) वचनका अभिप्रेतार्थ इस तरह सुस्पष्ट हो जाता है.

यह प्रक्रिया लीलापरिकरके तामस स्नेहभावसे राजस स्नेहभाव, राजस स्नेहभावसे सात्त्विक स्नेहभाव; और सात्त्विक स्नेहभावसे भगवत्स्नेहके निर्गुण स्नेहभावमें विकासकी रूपरेखा है. सर्वविध माहात्म्यशाली स्वरूपके अपरोक्ष प्राकट्यपूर्वक स्नेहके प्रकट होनेके उदाहरणोंमें भक्तिको अपने पूर्वांग माहात्म्यज्ञानकी अपेक्षा नहीं रहती. भगवत्स्नेहके परोक्ष भगवत्स्वरूपसे पहले प्रकट होनेके उदाहरणोंमें स्नेहके भक्तिभावमें फलित होनेको नियत पूर्वांगके रूपमें माहात्म्यज्ञान अपेक्षित रहता ही है. यह प्रभेद लीलावतारकालिक लीलात्मिका भक्ति और अनवतारकालिक साधनात्मिका भक्ति का प्रभेद है.

(प्रमेयरत्नार्णव ग्रन्थमृ प्रतिपादित लीलात्मक गुणत्रैविध्यका स्वरूप)

अतः प्रमेयरत्नार्णवकार श्रीलालूभट्टजीद्वारा प्रतिपादित लीलौपयिक गुणविवेचनाका सारात्मक भाव यहां समझ लेना प्रासंगिक बन जाता है.

लालूभट्टजीके अनुसार भगवल्लीलाकालमें सर्वप्रथम व्रजस्थ भक्तोंका तामसत्व तीन तरहका प्रतिपादित किया:

१.अविहित भक्तिरसानुभवमें साधनीभूत पारिभाषिक तामसत्व.

२.धर्मविशेषरूप.

३.भगवन्मायाकृत.

१.इस पारिभाषिक तामसत्वके कारण भक्तोंको अपने मनोरथके अनुकूल लोकमें प्रकट भगवान्की लोकसदृश लीलाओंमें ही रुचि होती है. तत्त्वतः भगवान्से कोई वियुक्त हो नहीं सकता परन्तु लोकप्रकट भगवत्स्वरूपका लोकमें

अनुभूत होता वियोग तामस स्वभावके कारण भक्त सहना नहीं चाहते. क्योंकि लोकमें जैसे तामस सभी हठीले होते हैं वैसे ही ये तामसभक्त भी हठीले होते हैं. अपनी हठके कारण इनमें मोह प्रबल होता है ज्ञान नहीं. ऐसा तामसत्व सभी व्रजवासिओंमें निरूपित हुवा है.

२.धर्मविशेषरूप तामसत्व जब-जब उभरता है तब-तब अपना प्रभाव भक्तोंके भाव भाषा और व्यवहार में प्रकट दिखलाता है. ऐसे ही राजसता और सात्त्विकता रूप विशेष धर्म भी तामस राजस या सात्त्विक तीनों प्रकरणोंमें बहुधा निरूपित हुवे हैं. ये तीनों ही शुद्ध और मिश्र रूपोंके प्रभेद नौं प्रकारके हो सकते हैं. ऐसे धर्मविशेषरूप तामसत्व राजस या सात्त्विक प्रकरणोंमें प्रतिपादित भक्तोंमें भी हो सकते हैं.

३.सृष्टिरूपा भगवल्लीलामें जीवात्माओंका व्यामोहन भगवान्की अविद्या-शक्तिरूपा दुःखप्रदायिनी व्यामोहिकाके कारण सम्पन्न होता है. परन्तु सृष्टिमें प्रकट होनेवाले भगवत्स्वरूपकी लीलामें साक्षात् लीलात्मक व्यामोहन भगवान् आनन्ददायिका योगमायाद्वारा सम्पन्न करते हैं. यह अविद्यात्मिका न हो कर भगवदानन्दात्मिका होती है. यह लीलौपयिक दोषनिवारिका या गुणाधायिका उभयविध हो सकती है. अतएव अवतारकालिक लीलापरिकर के दोष भी आनन्दात्मक होते हैं. अनवतारकालमें हमारे लोक-वेदप्रसिद्ध गुण भी कभी लीलामें व्यवधानरूप बन सकते हैं.

(प्रतिपाद्यार्थसंक्षेप)

निरोधलीलौपयिक मायाकार्यभूत तामसत्व राजसलीलामें निवृत्त हो जाता है. राजसत्व सात्त्विकलीलामें और सात्त्विकत्व निर्गुणलीलामें:

तद्वै प्रमाणं येन स्वं प्रमापयितुमिच्छति।
प्रमेयो भक्तभावात्मा तत्स्वभावानुरोधतः।।१।।
पुष्ट्यवान्तरव्यापारो यत् तत् किमपि साधनम्।।
लीलास्वरूपानन्दे हि निरोधोऽत्र फलं मतम्।।२।।
प्रमाणादिनिरोधेन भूमौ भूम्नोऽवतीर्णता।।
निःश्रेयसे हि जीवानां दशमस्कन्धवर्णिता।।३।।
भूमावप्रकटस्यापि तस्याधोक्षजस्य हि।।
भक्तिज्ञाने शास्त्रसिद्धे स्यातां प्राकट्यसाधने।।४।।

सामर्थ्यं तस्य कर्तुञ्चाकर्तुमेवान्यथापि वा।।
इति शास्त्रार्थसंक्षेपो ज्ञेयो ध्येयोऽनुवर्णितः।।५।।

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धीय भगवल्लीलाकी यह संक्षिप्त रूपरेखा लालूभट्टजीने सुविशदरूपेण उक्त ग्रन्थके पुष्टिमार्गीयफलविवेक प्रकरणमें समझायी है, जिसे अधिक जिज्ञासा होनेपर वहीं देख लेना उपकारक होगा.

(प्रस्तुत इक्कीस अध्यायवाले प्रकरणमें प्रतिपादित भगवान्की सात्त्विकी लीलाकी कथाका प्रारूप)

दशमस्कन्धकी आद्य अध्यायचतुष्टयी जन्मप्रकरण है. पांचवें अध्यायसे ले कर पेंतीसवें अध्यायोंवाला तामस प्रकरण है. इस प्रकरणमें तीन प्रक्षिप्त अध्याय हैं. बाकी सात-सात अध्यायोंके चार अवान्तर प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलप्रकरण हैं. इनमें तामस लीलापरिकरका लीलात्मिका तामसी प्रमाणादि चतुष्टयीमें निरोध वर्णित हुवा है. उसके बाद पुनः अट्ठाईस अध्यायोंवाले राजस प्रकरणमें तामस लीलापरिकरके राजसभावापन्न होने तथा राजस भाववाले लीला परिकरका लीलात्मिका राजसी प्रमाणादिचतुष्टयीमें निरोध वर्णित हुवा. यों साठ=तिरसठवें अध्यायसे इक्कीस अध्यायोंवाला सात्त्विक प्रकरण है. इस प्रकरणमें सात्त्विक लीलापरिकरको स्वयं सत्त्वात्मक होनेके कारण स्वरूपाति-रिक्त सत्त्वमूलक प्रमाण अनपेक्षित होनेके कारण लीलात्मक प्रमेय-साधन-फलमें निरोध ही पर्याप्त होनेसे सात अध्याय कम हैं.

'निरोध' एक साकांक्ष पद है. उन आकांक्षाओंका स्वरूप तथा प्रस्तुत सात्त्विक प्रकरणानुसारी आकांक्षापूर्ति इस तरह होती है:

आकांक्षा	आकांक्षापूर्ति
किसका निरोध ?	सात्त्विकभावापन्न तामस-राजस और स्वयं सात्त्विक लीलापरिकरका
किसमें निरोध ?	लीलावतीर्ण भगवान्के सात्त्विक स्वरूपानुभाव और लीलानुभाव में
कैसे या किस साधनसे ?	अपने स्वरूपानुभावों और लीलानुभावों द्वारा
कहांसे निरोध ?	लीलाधिकरणरूप प्रापञ्चिक विषयों तथा भावों से
किस प्रयोजनसे ?	त्रिविध लीलापरिकरको गुणातीत भगवत्स्वरूपके अनुरूप गुणातीत बनानेको

साकांक्ष 'निरोध'पदकी सात्त्विक आकांक्षापूर्तिकी सात्त्विक प्रकरणानुरोधी रीतिके अवलोकनके बाद प्रमेय साधन और फल रूप तीनों अवान्तर प्रकरणोंमें जो सात-सात अध्यायोंमें प्रत्येकमें ऐश्वर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य रूपी छह गुणधर्म और सातवें धर्मी स्वयं भगवान्का प्रतिपादन कैसे अभिप्रेत है यह भी देख लेना उचित होगा:

<u>सात्त्विक प्रमेयप्रकरण:</u>

जो सात्त्विक हैं उनके उद्धारका निरूपण प्रमेय साधन और फल लीलाद्वारा ही अभिप्रेत है. क्योंकि ज्ञानलभ्य सात्त्विकता इन्हें स्वतोलब्ध है. सात अध्यायोंवाले प्रमेयप्रकरणमें पहले छह अध्यायोंमें ऐश्वर्य आदि छह गुणों और सातवेंमें स्वयं भगवान्का वर्णन अभिप्रेत है.

यहां प्रथमाध्याय (आदितः ६१ वें) में भगवदाज्ञा और भगवदिच्छा जानकर ही जो कुछ कर्तव्य हो उसे निभाना चाहिये. धर्म आदिका भी अविचारित दुराग्रह नहीं रखना चाहिये. धर्मादि मार्गमें ब्राह्मणादिको क्षोभजनक हो ऐसा कुछ नहीं करना चाहिये. इन तीन बातोंको समझानेको पूर्वतन भक्त राजा नृग, जिसे भगवदभिप्राय भलीभांति अवगत नहीं था, ऐसेको केवल दानधर्मको निभानेके दुराग्रहके कारण ब्राह्मणक्षोभकर्ता होना पड़ा और ब्राह्मणस्वके अपहाररूप पापफलको भोगना पड़ रहा था, उसे कर्मक्षय न होनेपर भी भगवान्ने अपने प्रमेयबलरूप ऐश्वर्यसे मुक्त किया. अतः इस अध्यायमें भगवान्के ऐश्वर्य गुणका निरूपण किया गया है.

द्वितीयाध्याय (आदितः ६२वें) में अपने अग्रज श्रीबलराममें अपने गुणोंके आधान द्वारा व्रजगोपिकाओंके साथ रासलीलाके निरूपणमें वीर्यगुणका प्रतिपादन अभिप्रेत है. वैसे तो उद्धवद्वारा प्रेषित सन्देशके द्वारा ''भगवान् कृतघ्न हैं'' ऐसे गोपिकाओंकी भगवान्के बारेमें दोषबुद्धिका निवारण कर ही दिया था. फिरभी संस्काररूपेण भी कुछ शेष रह गयी हो तो श्रीबलरामके सान्त्वनाके वचनोंसे उनका निवारण किया है. अनुकल्प सर्वत्र सानुभावरूप होता है. अतः वरुणप्रेषित मधुधाराके उपयोगवश इस रासलीलामें भी देवताओंकी सम्मतिके कारण वैसी ही कान्ति और सम्मान द्योतित हुवा. जलक्रीडार्थ सूर्यदेवतनया यमुनाका आकर्षण भी भगवान्के वीर्यगुणकी महिमा दिखाना है.

तृतीयाध्याय (आदितः ६३वें) में मात्सर्यवश भगवान्का रूपधारण कर विचरनेवाला पौण्ड्रकके अपराधोंको क्षमा कर मुक्तिप्रदानकी कथा भगवान्के यशोरूप गुणका प्रतिपादन है. पौण्ड्रकके वधका बदला लेनेको उसके पुत्र सुदक्षिणद्वारा यज्ञकुण्डसे प्रकट होनेवाली कृत्या, जो किसी अब्रह्मण्यपर ही प्रभावशालिनी हो सकती थी, उसे भगवान्के मारणहेतु छोड़े जानेपर उसके विनाशद्वारा अपनी ब्रह्मण्यता सिद्ध की यह भी भगवान्के यशोरूप गुणका प्रतिपादन है.

चतुर्थ अध्याय (आदितः ६४वें) में श्रीबलरामके रमणमें भगवान्के श्रीरूप गुणकी कथा है. इसी तरह द्विविदके वधद्वारा ऋषि आदि सभीकी आपत्तिका निवारणका सामर्थ्य भी भगवान्की शोभा होनेके कारण श्रीगुणका प्रतिपादन है (चारों अध्यायोंके इस संक्षिप्त सारसे अतिरिक्त भी कुछ भागवतार्थनिबन्धानुसारि-अध्यायार्थकार श्रीगोकुलरायजीने समझाया है उनका अवलोकन वहीं कर लेना उचित होगा).

पञ्चम अध्याय (आदितः ६५वें) में साम्बने लक्ष्मणाका स्वयंवरमें से अपहरण किया यह कौरव-पाण्डवोंको अच्छा नहीं लगा और उन्हें यादवोंके बारेमें हीनभावना हृदयमें पनपी. इस हीनभावनाके निवारणार्थ श्रीबलरामके भीतर आविष्ट हो कर भगवान्ने उन सभीके भीतर अपने ज्ञानरूप गुणका जो आधान किया वह इस अध्यायका वर्ण्यविषय है.

षष्ठ अध्याय (आदितः ६६वें) में वैष्णवोंमें प्रमुख श्रीनारदका सन्देह दूर करनेको अपने सभी गृहोंमें लोकसंग्रहार्थ गृहस्थधर्मके पालनमें परायण होनेका दर्शन प्रदान कर भगवान्ने निर्लिप्तता जो दरसाई उस वैराग्य गुणका इस अध्यायमें निरूपण अभिप्रेत है.

सप्तम अध्याय (आदितः ६७वें) में उक्त छह गुणधर्मोंवाले धर्मिरूपका निरूपण अभिप्रेत है. क्योंकि अपनी रानियोंके भगवान्के बारेमें जो भी अन्यथाभाव थे उन्हें कृपापूर्वक स्वयं प्रभुने दूर किये.

सात्त्विक साधनप्रकरण:

साधनोंकी मर्यादा यहां दरसाई गयी होनेसे इसे साधनप्रकरण माना जाता है.

इस सात्त्विक साधनप्रकरणके प्रथमाध्याय (आदितः ६८ वें) में समर्थ और नीतिमान् युधिष्ठिर भगवदाज्ञा और साहाय्य पानेको भगवान्को आमन्त्रित कर वैदिक यज्ञकर्म सम्पन्न करना चाहा और भगवान्के आगमनपर उनका जो पूजन-सम्मान किया वह भगवान्के ऐश्वर्यरूप गुणके वर्णनार्थ है.

द्वितीय अध्याय (आदितः ६९ वें) में यज्ञानुष्ठानकी आज्ञा मिल जानेके बाद दिग्विजयार्थ भगवान्ने युधिष्ठिरके अनुजोंको सामर्थ्यशाली बनानेकी कथा भगवान्के वीर्यगुणके निरूपणार्थ है.

तृतीय अध्याय (आदितः ७० वें) में जरासन्धके कारागृहमें बन्द राजाओंको छुड़ा कर उन्हें अपना-अपना लौकिक-वैदिक धर्म निभानेकी आज्ञाप्रदान करने और उन राजाओंद्वारा की गयी भगवान्की प्रशंसा भगवान्के यशोरूप गुणके संकीर्तनार्थ है.

चतुर्थ अध्याय (आदितः ७१ वें) में भगवान्के श्रीरूप गुणका प्रतिपादन साधनप्रकरणान्तर्गत यज्ञरूपसाधन सिद्ध हो जानेपर वहां भगवान्के साथ द्वेषभाव रखनेवाले शिशुपाल आदिकी उपस्थिति और भगवन्निंदारूप अपराधको दूर करनेको शिशुपालका वध और उसे मुक्तिदान भगवान्के श्रीरूप गुणके प्रतिपादनपरक है.

पञ्चम अध्याय (आदितः ७२ वें)में युधिष्ठिरकी अलौकिक यज्ञरूप धर्मसम्पदा तथा अन्तःपुरसभारूप लौकिक सम्पदा देखकर मात्सर्यग्रस्त दुर्योधनकी भ्रमणा और भीम आदिके उपहासके प्रसंगमें भावी युद्धको जाननेवाले भगवान्का मौन भगवान्के ज्ञानरूप गुणके संकीर्तनार्थ है. इसी तरह दुर्योधनके अपमानजनक उपहासके समय श्रीबलराम कहीं सभी पाण्डवोंको खतम ही न कर दें इसकी सावधानी रखनेको भगवान्का भी वहां उपस्थित रहना ज्ञानलीलाका द्योतन है.

षष्ठ अध्याय (आदितः ७३ वें) में भगवदाज्ञाका उल्लंघन अनिष्टहेतु बन

जाता है, इसे दरसाने यह अध्याय योजित हुवा है. श्रीबलरामके द्वारकासे इन्द्रप्रस्थकी यात्रा करने जानेपर द्वारकामें शाल्वका उपद्रव होना, अपने पुत्र प्रद्युम्नके पराजित और मूर्च्छित होनेपर भी भगवान्का द्वारकासे अन्यत्र इन्द्रप्रस्थमें विद्यमान रहना, यों भगवान्के वैराग्यगुणके ख्यापनार्थ यह अध्याय योजित हुवा है.

सप्तम अध्याय (आदितः ७४ वें) में यह दरसाना अभिप्रेत है कि भगवदाज्ञा होनेपर लौकिक या वैदिक कर्म भी भगवत्प्राप्तिके साधन बन सकते हैं, भगवदाज्ञा न होनेपर नहीं. श्रीमहादेवसे वरदान प्राप्त करनेके बाद भी शाल्वके वधका वर्णन धर्मिरूप भगवत्सामर्थ्यके वर्णनार्थ यहां हुवा.

<u>सात्त्विक फलप्रकरण:</u>

इस फलप्रकरणमें दुःखाभावरूप फल प्रदान करनेको हस्तिनापुरसे लौट कर आ गये भगवान्ने तीनों तरहके दुष्टोंको मार कर द्वारिकापुरीमें प्रवेश किया.

इस प्रथम अध्याय (आदितः ७५ वें) में देव मानव मुनि गणोंद्वारा भगवान्का कुसुमवर्षासे स्वागत भगवान्के ऐश्वर्य गुणका बोधक है. भगवान्की शस्त्रग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञाके बावजूद यादवोंका भगवदाज्ञाकारी होना भी भगवान्के ऐश्वर्यगुणका द्योतन है. इसी तरह कलिकालदोषवशात् अवरकक्षाके वक्तासे पुराणकथाका श्रवण करनेका पाप श्रोताओंको न लगे, एतदर्थ श्रीबलरामद्वारा वध और मुनिजनोंके सन्तोषार्थ तथा लोकसंग्रहार्थ मुनिओंके द्वारा निर्दिष्ट कर्मका अनुष्ठान भी ऐश्वर्यगुणका ही प्रतिपादन है.

द्वितीय अध्याय (आदितः ७६ वें) मेंभगवान्द्वारा शस्त्रग्रहण न करनेपर भी पाण्डवोंमें अपने सामर्थ्यका आधान और सर्वविध सहाय्य भगवान्के वीर्यगुणके निरूपणार्थ है. त्रिविध दुष्टोंके संहारद्वारा गुणत्रयीकृत दोषोंकी निवृत्तिद्वारा यादवों और पाण्डवों के स्पष्टास्पष्ट सभी दुःखोंका निवारण, श्रीबलरामद्वारा किये गये, सूतवधद्वारा कालदोषका निवारण, बल्वलवध और तीर्थाभिषेक द्वारा देशदोषनिवारण, यज्ञ और ज्ञान द्वारा आत्मदोषोंका निवारण यह सभी वीर्यगुणका कार्य है.

तृतीय अध्याय (आदितः ७७ वें) में सुखके उत्कर्षका सम्पादन अपने

सहपाठी सुदामाके दारिद्रके निवारण और श्रीनिकेतन भगवान्द्वारा उसका सन्मान आदि भगवान्के यशोरूप गुणकी गाथा है.

चतुर्थ अध्याय (आदितः ७८ वें) में अपने भक्त सुदामाके मुट्ठीभर पोहें हठात् छीनकर आरोगनेके कारण सुदामाकी भार्याको सभी तरहकी समृद्धिका दान भगवान्के श्रीरूप गुणका संकीर्तन है.

पञ्चम अध्याय (आदितः ७९ वें) में भगवान्के सभी व्रज मथुरा द्वारका आदि स्थानोंमें बसे अपने जनोंसे अभिवांछित कुरुक्षेत्रमें मिल कर अपना सांनिध्य प्रदान करना, सभीके भीतर शुद्ध सात्त्विक भावोंका सम्पादन करना, देह-गेह आदि सभी जागतिक विषयोंके आकर्षणसे उन्हें उभार कर, यथाधिकार स्वरूपानन्दात्मक फल प्रदान करना, सभीका स्वयंमें निरोध कैसे करना इस उपायचातुरीके निरूपणके कारण यह भगवान्के ज्ञानरूप गुणकी महिमाके निरूपणार्थ है.

षष्ठ अध्याय (आदितः ८० वें) में सभी स्त्रियोंको भगवान् कितने अत्यधिक प्रियतम हैं यह निरूपण करनेको द्रौपदीकी जिज्ञासाके पूर्त्यर्थ सभी महिषियोंद्वारा लोक-वेदतः भगवान्के उत्कर्षका प्रतिपादन तथा साक्षाद् भगवत्सेवौपयिक देहसम्पत्त्यर्थ भगवान्के चरणरजकी नित्याभिलाषा तथा भगवान्के कामादि दोषोंसे रहित होनेका प्रतिपादन भगवान्के वैराग्यरूप गुणका ख्यापन है.

इस अध्याय (आदितः ८१ वें) में सभी तरहके साधनोंसे सम्पन्न ऋषियोंका भगवद्दर्शनार्थ समागमन, उनकी स्तुतिमें पितृगण ऋषिगण और देवगणों को अभिलषिततम फलतया स्वयं भगवान् हैं, वैसे तो सभी यादवगणोंके राजसगुणोंसे जन्य दोषोंका निवारण हो जानेपर भी केवल संस्कारात्मना ही अवशिष्ट दोषोंका उद्धवकी प्रश्ननीतिके आलम्बनवश प्रकट हुवे यादवोंके मनमें उभरे सन्देहका वारण श्रीवसुदेव और मुनिगणों के प्रश्नोत्तरद्वारा यादवोंकी पूर्णसात्त्विकता और भगवान्की पूर्णगुणातीतता, भगवान् सभी यज्ञोंके फलरूप हैं अतः यज्ञानुष्ठान भी भगवदर्थ श्रेयस्कर होता है. यह सब वर्णित सभी गुणधर्मोंके धर्मी भगवान्के स्वरूपका ही प्रतिपादनपरक है.

इस तरह गुणातीत भगवान्‌की त्रिगुणात्मिका लीला उसके परिकर और लीलापरिकरके विविध भावोंके अनुरूप भगवत्स्वरूपकी लीलाकथा यहां निरूपित करनेके बाद अब आगामी गुणप्रकरणमें भगवान्‌के अप्राकृत दिव्य गुणोंका आख्यान अवशिष्ट रहा. अन्तमें —

निरोधेऽधिकारो न जाने मदीयः
त्वदीयोऽस्मि मन्ये यथाहं तथैव।
प्रवाहे वहन् सार्धमेवागतेन
त्वया कुत्र यास्यामि किं चिन्तयामि !।।
अहं वाल्लभोऽस्मि दृढेयं मतिर्मे
भवेयं नवा वल्लभोऽहं त्वदीयः।
सदा वल्लभो भासि सान्योऽप्यनन्यः
अनन्याश्रितोऽहं नचान्यं भजामि।।

द्वितीयापाटोत्सव
वि.सं.२०६९

गोस्वामी श्याम मनोहर
पार्ले–मुंबई.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित तत्त्वार्थदीपनिबन्धका

।। भागवतार्थ प्रकरण ।।

सात्त्विक प्रकरण

(अध्याय ६१/६४ से ८१/८४)

सात्त्विक प्रमेय उप प्रकरण(अ.६१–६७)

'राजस प्रकरण' सम्पूर्ण करनेके अनन्तर 'सात्त्विक प्रकरण' सात–सात अध्यायोंवाले तीन अवान्तर प्रकरणोंसे प्रारम्भ करते हैं.

अतः परं सात्त्विकानां प्रक्रिया विनिरूप्यते।
नृगमोक्षादियज्ञान्ता वसुदेवस्य धीमतः।।३०५।।
प्रमाणानां बलं त्वत्र सात्त्विकानां न मृग्यते।
प्रक्रियात्रितयं त्वत्र प्रमेयादि निरूप्यते।।३०६।।

राजस प्रकरण पूर्णकर, यहां (नृगकी मुक्ति)से लेकर बुद्धिमान वसुदेवजी के यज्ञ होने तक सात्त्विक भक्तोंका प्रकरण कहलाता है।।३०५।।

सात्त्विकोंकी प्रमाण बलकी आवश्यकता नहीं होती है, इसलिये ही (यहां) प्रमेयादि तीन अवान्तर प्रकरण कहे जाते हैं।।३०६।।

व्याख्या : यह सात्त्विक प्रकरण २१ अध्यायोंका है क्योंकि इसमें प्रमेय साधन और फल ये तीन सात–सात अध्यायके अवान्तर हैं. इस सात्त्विक प्रकरणमें प्रमाण क्यों नहीं है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि सात्त्विक जनोंको स्वतः सहज ज्ञान होता है, जिससे उनको प्रमाण द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है, अतः प्रमाण बल ढूंढा नहीं जाता है, वे तो सात्त्विक होनेसे जानते ही हैं कि वासुदेव एवं नन्दनन्दन यह श्रीकृष्ण भगवान् ही परब्रह्म हैं।।३०५–३०६।।

स्नेहस्तेषां पूर्वसिद्ध आसक्तिश्चापि वै दृढा।
व्यसनेनाऽभवन् शुद्धा राजसाः किन्तु दोषतः।।३०७।।
संस्कारमात्रात् पुष्ट्या च सम्पत्त्या चोद्धृताः सदा।
अतो दोषनिवृत्तिर्हि सर्वेषाम् अत्र वर्ण्यते।।३०८।।

उनका भगवान्में स्नेह पहले ही सिद्ध हो चुका था, वैसे आसक्ति भी दृढ़ हो गई थी. व्यसनसे शुद्ध हुए, किन्तु केवल संस्कार मात्रसे दोष रह गये थे तथा भगवान्ने अनुग्रहसे प्राप्त सम्पत्तिके कारण गर्विष्ठ हो गये थे, इस प्रकारमें

सबके रहे हुए दोष मिटाते हैं, यों यहां वर्णन किया जाता है।।३०७-३०८।।

व्याख्या : यह कहना भले यों ही हो अर्थात् प्रमाणकी आवश्यकता नहीं, किन्तु सात्त्विक प्रकरणमें (भी) राजस-तामसोंका विषय (चरित्र) फिर क्यों हैं? वे समीर्णता प्रतिपादक हैं. इस शंकाको मिटाते हैं कि इनमें भगवान्के लिये स्नेह पहले ही सिद्ध हो चुका था तथा आसक्ति भी दृढ़ हो गई थी, केवल रजोगुणके संस्कारसे उनके मनमें विक्षेप मात्र कभी-कभी होता था, यह ही दोष रहा हुआ था, उस दोषको मिटानेके लिये ही इस प्रसङ्गमें उनका निरूपण है न कि उस राजस एवं तामस रूपसे उनका निरूपण है, अतः जब दोष निवृत्त हो गये, तब वे सात्त्विक हो गये, इसी तरह तामसोंका भी, इसलिये राजस तामसोंके निरूपणसे प्रसङ्गमें समरता दोष नहीं है।।३०७-३०८।।

नृगः पूर्वतनो भक्तः सात्त्विको धार्मिकस्तथा।
अतिदानेन दुःखं स प्राप्य कृष्णेन मोचितः।।३०९।।

नृग पहलेसे ही भक्त था तथा सतोगुणी एवं धर्मात्मा था. वह अति दानसे दुःखी हुआ, जिस दुःखसे उसको श्रीकृष्णने छुड़ाया।।३०९।।

व्याख्या : वैवस्वत मनुके पुत्र इक्ष्वाकुका पुत्र नृग पहलेसे भक्त था तथा सतोगुणवाला एवं धर्ममें ही आसक्त मनवाला था, जिससे अति (गणित मात्रामें) दान करने लगा, उस कारणसे कृकलासकी योनिको प्राप्तकर दुःखी होने लगा, श्रीकृष्णने प्रमेय बलसे नृगको इस दुःख (कृकलासकी योनि)से छुड़ाया, इस प्रकरणमें दोषके निवारणका प्रमेय बल साधन था, इससे इसका नाम प्रमेय उप-प्रकरण है।।३०९।।

आज्ञेच्छाऽभावतो दोषम् अभिमानात्तु केचन।
अत्यन्तम् आग्रहो धर्मे विचारादेरभावतः।।३१०।।
दुःखभोगाय भवति कृष्णाद् अन्यत्र सर्वथा।
भक्तियोगे तु भगवांस्तादृशं चापि मोचयेत्।।३११।।
तथा यथा न कुरुते तदर्थं तादृशं हरिः।
कृकलासं सर्ववध्यं सर्वक्षोभात् चकार ह।।३१२।।

आज्ञा तथा इच्छाके अभावसे, वा कित्ने ही कहते हैं कि अभिमानके कणर नृगको दोष लगा अथवा धर्म (कर्म) करनेमें असीम आग्रह, फिर विचार आदिका अभाव तथा श्रीकृष्णके सिवाय अन्य (धर्मादि)में अत्यन्त आग्रह सर्वथा

दुःखके भोगार्थ होता है, यदि ऐसे मनुष्यमें भक्ति होवे तो वैसेको भी भगवान् दुःखसे छुड़ाते हैं.

जैसा करना चाहिये, वैसा न कर मनमानी करनेवाले नृगको भगवान्ने सबको क्रोध उत्पन्न करनेवाले सर्व वध्य कृकलासकी योनि दी।।३१०-३१२।।

व्याख्या: एसे धर्मात्मामें ऐसा दोष कैसे उत्पन्न होने लगा? जिससे मन्वन्तरके पहले युगमें उत्पन्न हुएको २८ (अट्ठावीस) द्वापरके अन्त तक दुःख भोगना पड़ा. इसके उत्तरमें कहते हैं कि नृगको इस प्रअकार दान करनेमें आग्रही बननेकी न भगवान्की आज्ञा थी और न उनकी इच्छा ही थी. इस कारणसे नृग दोषवान् हुआ. इच्छा एवं आज्ञा जब नहीं है, तब मुझे यों करना चाहिये वा नहीं, एसे विचारके अभावसे धर्म(दान)में अत्यन्त आग्रह सर्वथा दुःख भोगके लिये होता है, ऐसा अत्यन्त आग्रह श्रीकृष्णमें ही होना चाहिये, वहां(श्रीकृष्णमें) न कर अत्यन्त दूसरे किसीमें करना अनुचित होनेसे दुःख भोगका कारण बनता है, भक्तजन भगवान्के सिवाय किसी भी धर्मादि कार्यमें अत्यन्त आग्रह नहीं करते हैं. नृगको जो कृकलासकी योनि मिली वह निकृष्ट थी, क्योंकि सबको क्षोम करनेवाली होनेसे सबके वध करने योग्य होती है. बृहदारण्यकके सप्तान्न ब्राह्मणमें कहा है कि ''प्राणभृत प्रमाणं न छिक्द्यादपि कृकलासस्य'' अर्थात् अमावस्याकी रात्रिमें किसी भी प्राणीके प्राणोंका नाश नहीं करना चाहिये, विशेष क्या कहा जाय? कृकलासके प्राण भी नष्ट किये जावे, वह (कृकलास) पापात्मा है, इसको देखना भी अमङ्गल कारक है, इसलिये ही स्वभावसे सकल प्राणी उनको मारते हैं, यों वहां इस श्रुतिका भावार्थ हैं, ऐसी योनि नृगको मिली।।३१०-३१२।।

यथैको ब्राह्मणः क्रुद्धः तथैवैकत्र कर्मणि।
यावन्तो योगमापन्नाः तावतां क्लेशदं तु तत्।।३१३।।
अतोऽन्यत्र व्यसनिनो धर्मादिषु यथायथम्।
दुःखभाजो भवन्त्येव तस्मात् कृष्णे तदाचरेत्।।३१४।।

जैसे एक कर्ममें एख ब्राह्मणको क्रोध उत्पन्न हो गया अर्थात् एक कर्मने एक ही ब्राह्मणमें क्रोध उत्पन्नकर उसको दुःखी किया, वैसे ही जितने भी व्यक्ति इस (कृकलास)के सम्बन्धमें आते हैं, उन सबको यह दुःखद है, अतः जो कृष्णके सिवाय अन्य किसी भी कर्मादिमें व्यसनी होत हैं, वे दुःखी होते हैं इस कारणसे मनुष्यको चाहिये कि कृष्णका ही व्यसनी बने।।३१३,३१४।।

व्याख्या : जब यहां सर्वको क्षोम हुआ तो फिर नृगके कृकलास योनि क्यों प्राप्त हुई? इस शंकाके निवारणार्थ 'यथैको' कारका कहती है, जिसमें ब्राह्मणके क्रोधका कारण एक ब्राह्मणकी गौ नृगने दूसरेको दे दी ऐसा बताया है, कृकलासको जो भी देखते हैं, वे सर्व दुःखी होते हैं, इसी तरह श्रीकृष्णके सिवाय अन्य धर्म-कर्मादिमें जो व्यसन करते हैं, वे दुःखी होते हैं. सारांश यह है कि श्रीकृष्णके सिवाय अन्य कर्ममें आसक्ति व व्यसन करनेसे ही नृगको कृकलास योनि प्राप्त हुई।।३१३-३१४।।

असङ्ख्यातत्वकथने दृष्टान्तत्रयमीरितम्।
तामसादिविभेदेन गुणाश्चाऽपि त्रिधा मताः।।३१५।।

नृगने असंख्य गायोंका दान किया था, यह दिखानेके लिये तामसादि भेदसे तीन दृष्टान्त दिये हैं, गुण भी तीन प्रकार माने गये हैं।।३१५।।

व्याख्या : नृगको यदि दान करनेका अभिमान नहीं था तो पृथ्वी पर जितने रजकण ह, आकाशमें जितने तारे हैं, वृष्टिकी जितनी धाराएं हैं, इसी प्रकारके तीन दृष्टान्त किसलिये दिये? ये तीन दृष्टान्त क्रमशः तामस, सात्त्विक तथा राजस हैं, इस पर आचार्य श्री कहते हैं कि ये दृष्टान्त अभिमान प्रदिर्शत करनेके लिये नहीं दिये हैं, किन्तु दान अगणितता दिखानेके लिये दिये हैं. 'ब्राह्मणस्य, वन्दान्वस्य, तव दासस्यं' इस श्लोकसे इस दानकी त्रिगुणता कही है, इसे स्पष्ट है कि उस (नृग)में अभिमान रूप दोष नहीं था, किन्तु जो व्यसन कृष्णमें होना चाहिये, वह व्यसन दानमें होना यह ही दोष था।।३१५।।

अतस्तामसधर्मेषु भ्रमस्तस्य फलिष्यति।
अतोऽत्र धर्मनिर्धारे दोषाभावो गुणः स्मृतः।।३१६।।
गुणस्तु दोष एव स्याद् इति दानं तथोदितम्।

इसी कारणसे तामस धर्मोमें उसको भ्रम ही फलेगा (होगा), इसीलिये धर्म निर्णयमें दोषाभाव (आग्रहका अभाव) गुण है, इसी प्रकारका गुण दोष रूप ही है, इसलिये यह दान रूप कहा है।।३१६॥।।

व्याख्या : यदि उसको उसमें भ्रम न होता है तो एक ही दास्य रूप गुण कहते न कि तीन. इससे जो फलितार्थ है, वह 'अतोऽत्र' कारिकासे कहा है, दोष (आग्रह) न होना ही धर्मके निर्धार करनेमें गुण हैं, किन्तु यहां वह दानरूप गुण, दोष कहा है अर्थात् बताया गया है, इस प्रकरणमें ऐश्वर्यका कार्य स्पष्ट है, यों

प्रथमाध्यायका विचार किया है।।३१६॥।।

धर्ममार्गे ब्राह्मणानां क्षोभं नैव समाचरेत्।।३१७।।
मुख्ये तु सर्वभूतानां न किञ्चित् तस्य नश्यति।
तथाऽर्थे बान्धवानां च कामे स्वात्मनि तत् तथा।।३१८।।
मोक्षे त्वीशस्य सततं चतुर्भिस्तद् निरूप्यते।
यथा नृगस्य धर्मो न यमुनायास्तथा निजः।।३१९।।
स्वार्थः सिद्धस्तथा कामः पौण्ड्रकस्य तथा गतिः।
द्विविदस्याऽपि नो सिद्धः तत्तन्मूलविरोधतः।।३२०।।
अनिरुद्धे द्वयोः कार्यं तेन कृष्णा बलस्तथा।
अन्तरान्तरभावेन भिन्नार्थविनिवारकौ।।३२१।।
यमुनाकर्षणं कार्यं पश्चाद् जाताश्च गोपिकाः।
श्रुतपूर्वाबलं दृष्ट्वा रेमिरे लौकिकास्तु ताः।।३२२।।

'धर्म' (कर्म) मार्गमें ऐसा कृत्य नहीं करना चाहिये, जिनसे ब्राह्मणोंको दुःख (क्षोभ) हो, मुख्य (भक्ति) मार्गमें भी इसी तरहका आरण नहीं करना चाहिये, जिससे सकल भूतोंको सन्ताप हो, उसको किसी प्रकारकी हानि नहीं होती है.

इसी तरह 'अर्थ' विषयमें बान्धव अप्रसन्न हों, यों नहीं करना चाहिये और 'काम'में अपने अन्दर रहे हुएको दुःखी नहीं करना, 'मोक्ष'में तो प्रभुको श्रमादि हो, ऐसा कर्म नहीं करना, इस विषयका चार अध्यायोंमें वर्णन किया गया है.

जैसे नृगने जो धर्म (गौ दान) किया, वह सफल न हुआ, यमुनाजीका मनोरथ पूर्ण न हुआ, पौण्ड्रकंका काम सिद्ध न हुआ, द्विविद वानरकी मुक्ति सिद्धि न हुई, कारण यह है कि कर्म करनेवालोंके पुरुषार्थका जो मूल है, उसको उनका विरोध था.

अनिरुद्धमें दोनोंका कार्य है, जिससे श्रीकृष्ण तथा कृष्णके आवेशवाले बलरामको पृथक्-पृथक् कार्यके लिये निवारक कहे गये हैं.

बलरामजीने श्रीयमुनाजीका आकर्षण किया, अनन्तर जिन्होंने भगवान्की रासलीला श्रवण की है, पश्चात उत्पन्न हुई उन गोपियोंने रामको देखकर उनसे रमण किया, वे गोपियां तो लौकिक थी।।३१७-३२२।।

व्याख्या : द्वितीय अध्यायका विचार करते हुए चार अध्यायोंसे सिद्ध निषेध्य अर्थको कहते हैं: 'धर्म मागे' कारिकामें ब्राह्मणोंको दुःख न देना, भक्ति

मार्गमें किसीको भी सन्ताप न देना, 'अर्थ' प्रसङ्गमें बान्दवोंको कष्ट न देना, 'काम'में भीतर स्थित आत्माको दुःखी न करना, 'मोक्ष'में ईशको श्रमादि हो; वैसे नहीं करना.

इस विषयको उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि ब्राह्मणके क्षोभ होनेके कारण नृगके धर्मकी सिद्धि न हुई, यमीने अपने भ्राता यमको स्वार्थ सिद्धिके लिये क्षुभित किया, जिससे श्रीयमुनाजीका अपना स्वार्थ (भगवान्‌की प्राप्ति) सिद्ध न हुआ.

पौण्ड्रकने अपनी आत्माको मात्सर्यसे क्षोभित किया, जिससे उसकी काम लोकमें प्रतिष्ठा है, वह सिद्ध न हुआ, श्रीबलरामजीको क्षुभित करनेसे द्वितीय वानरको मोक्ष प्राप्ति न हुई इन चारोंके निवारणके लिये ये चार अध्याय कहे गये हैं.

भगवान्‌की लीलामें बलदेव चरित्र क्यों कहा गया है? इस शंकाको मिटानेके लिये 'अनिरुद्धे द्वयोः कार्य' कारिका कही है.

अनिरुद्ध व्यूहमें समर्षण तथा अनिरुद्ध दोनों व्यूह हैं, जिससे यह दोनोंका मिश्रित कार्य है, कारण धर्म रक्षाका कार्य प्रतिपक्षी (विरुद्ध पक्षवाले अर्थात् शत्रु)के निग्रह किये बिना सिद्ध नहीं होता है, इसलिये धर्मरक्षा कार्य करनेवाले अनिरुद्ध व्यूहमें इस समय प्रतिपक्षियोंके निग्रहार्थ समर्षण व्यूहकी आवश्कता थी, इसलिये जैसे अनिरुद्धमें समर्षण व्यूह भी प्रविष्ट थे. इसी तरह कृष्ण व बलराम भी परस्पर मिले हुए थे, यहां दोनों व्यूहोंका कार्य समीर्णता समझानेके लिये कहा है. अध्यायार्थ 'यमुनाकर्षणं' कारिकासे कहा है. यह कार्य 'वीर्यकाय' है, ये गोपियां, लौकिकी है, जिसका भार्वा है कि ये गोपिकाएं ब्रह्मासे शापित वाणीके रूप हैं अथवा उनके समान हैं, यों भासता है।।३१७-३२२।।

सात्त्विकास्तु परं सङ्गाद् दोषस्तासां च नाश्यते।
गोपीनां कृष्णदेवस्य शिष्टानां सात्त्विकत्वतः।।३२३।।
सत्सङ्गात् सुखम् उत्पन्नं नित्यं कृष्णकथा यतः।
देवादीनां तु सम्मत्यै दैत्यानां देवरूपिणाम्।।३२४।।

वे गोपियां सङ्गके कारण सात्त्विक बन गई तथा जो दोष श्रीकृष्ण पर कृतघ्न आदि कहकर उन्होंने लगया था, वह दोष भी उनका नाश हो गया, शेष जो नन्दादि थे, वे सात्त्विक होनेसे सत्सङ्ग द्वारा सुखी हुए; क्योंकि वे नित्य श्रीकृष्णकी

कथा करते थे.

देवताओंकी इस लीलामें सम्मति है, यों दिखानेके लिये कहा है कि जैसे दोष रूपी दैत्योंने मधु धारा आदि दी, वैसे देवोंने वस्त्र आदि दिये।।३२३-३२४॥।।

व्याख्या : गोपियोंको यहां क्या प्राप्त हुआ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि श्रीबलदेवीजीके सङ्ग एवं उनके वाक्योंसे भगवत्मान होनेसे सात्त्विकी बनी तथा उन्होंने जो दोष श्रीकृष्णको कृतघ्न आदि कहकर दिया था, वह दोष भी उनका निवृत्त हो गया, इसी तरह नन्दादि भी बलरामके सङ्गसे सात्त्विक बन कृष्णगान करते रहनेसे सुखी हुए.

समुद्र-मन्थनेक समय जो वारुणी निकली, वह वृक्षोंकी अधिष्ठात्री देवता होनेसे वृक्षोंमें रहती है. उसने मधु स्त्रवितका वनको सुगन्धित किया, वह मधु धारा इस प्रकार बलरामको प्राप्त हुई तथा भगवानकी चतुर्थ शक्तिने बलरामको वस्त्रादि दिये. इस कार्यसे जाना जाता है कि इस कार्यमें देवताओंकी भी सम्मति थी, इसी तरह दूसरे अध्यायका विचार किया।।३२३-३२४॥।।

मधुधारादिकं प्रोक्तं वस्त्रदानादिकं तथा।
कामो लोके हि सन्मानं कृष्णत्वे तद्भवेद् ध्रुवम्।।३२५।।
पौण्ड्रकस्य ततो जातो मात्सर्यात् कृष्णरूपधृक्।
मूले कृत्वा विरोधं हि लोके नष्टस्तथाऽनुगः।।३२६।।

लोकमें सन्मानका होना ही काम है, यदि कृष्ण बन जावे तो वह निश्चित सन्मान है, इससे पौण्ड्रकने मत्सराके कारण श्रीकृष्णका रूप धारण किया, मूल रूपसे विरोध करनेके कारण स्वयंका तो नाश हो गया, किन्तु उसके पीछे चलनेवाला (काशिराज) उसकी तरह कृष्ण विरोधी होनेसे उसका भी नाश हुआ. किन्तु पहले (पौण्ड्रक)को प्रमेय बल द्वारा भगवान्ने मुक्त किया, परन्तु अनुयायीकी मुक्ति न हुई।।३२५-३२६॥।।

व्याख्या : अब तीसरे अध्यायका 'काम' इत्यादि कारिकासे विचार करते हैं. 'तत' अर्थात् पौण्ड्रक बालकोंके बहकाने पर अपनेको कृष्ण मानकर कृष्णमें मत्सरतासे विरोध करने लगा तथा उसका अनुयायी काशीराजस भी श्रीकृष्णका विरोधी बना, जिससे दोनोंका लोकमें सर्व प्रकारसे नाश हो गया, किन्तु पौण्ड्रककी भगवान्ने अपने प्रमेय बलसे मुक्त कर दी; क्योंकि सिद्धान्त है कि

किसी भी रीतिसे यदि भगवान्में जिसका सदैव चित्त लगा रहता है, उसकी मुक्ति होती है, पौण्ड्रककी इस प्रकारकी स्थिति थी, अतः उसकी प्रमेय बल द्वारा मुक्ति हुई काशीराज वैसा नहीं था, अतः उसका केवल नाश हुआ–मुकित नहीं हुई।।३२५–३२६॥।।

प्रमेयबलम् आसाद्य मुक्तः पूर्वो न चाऽपरः।
वाक्येनैव तु कर्त्तव्यम् अविरोधेन वा क्वचित्।।३२७।।

भगवान्का जो विरोधी हो, उसकी (सहायता) तब करनी चाहिये जब भगवान्की वैसी आज्ञा हो अथवा यदि कहीं यों भी किसीकी सहायता की जाय तो उसमें भगवान्का विरोध नहीं होना चाहिये. भक्त हो तो भी तीर्थोंके देव तथा तीर्थोंको भी उनकी सहायता तब ही करनी चाहिये, जब उस सहायतासे भगवान्का विरोध उत्पन्न न होवे।।३२७॥।।

व्याख्या : काशी नगरी तीर्थ है, उसका भी दाह हुआ, उससे जो उपदेश लेना चाहिये, वह इस कारिका द्वारा समझाते हैं, साधारण मनुष्योंकी तो बात नहीं, किन्तु तीर्थोंके देव और तीर्थ आदि भी, अपने भक्तोंकी भी तब सहायता आदि करें, जब भगवान्की वैसी आज्ञा प्राप्त हुई हो अथवा उस कार्यमें भगवान्से विरोध न हो जाय; अन्यथा नहीं. भगवान्के विरोधका पक्ष भगवदाज्ञाके बिना लिया जाय अथवा जिसमें उन (भगवान्)का विरोध हो तो ऐसेका सम्पूर्ण नाश होता है, अमृतमन्थनके समय देवोंने भगवद्विरोधी दैत्योंसे मिलाप भगवदाज्ञशसे किया तो उनका नाश न होकर लाभ हुआ.

इस लीलासे यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये कि भगवदाज्ञाके बिना उसके शत्रुसे मिलाप व उसको सहायता नहीं देनी चाहिये. यह यश कायं है, यों फल कथनसे जाना जाता है।।३२७॥।।

न त्वन्यथा तीर्थदेव–क्षेत्रैर्भक्त्यापि कुत्रचित्।
अतः काश्यपि निर्दग्धा महादेवोऽपि वारितः।।३२८।।
तथाऽन्यान्यपि रूपाणि प्रकटे मुरवैरिणि।

जब भगवान् मुरारी प्रकट थे, काशीका दहन हुआ, महादेवका पराभव हो गया, वैसे अन्यका रूप भी पराजित हो गए।।३२८॥।।

व्याख्या : भगवान्के प्रकट रूपसे बिराजते हुए उनकी आज्ञा भी न लेकर एवं विरोधका सम्भव होते हुए भी काशीतीर्थने काशीके राजपुत्र सुदर्शनका पक्ष

लिया, इसी कारणसे ही काशीका दाह हो गया तथा अग्नि रूप महादेवको भी पराजित होना पड़ा और दूसरे देवोंका भी पराभव हुआ. इस प्रकार इस प्रकरणमें की गई कथा श्रवण करनेसे मालूम होता है कि यह यश गुणका कार्य है।।३२८॥।।

दोषोत्पत्त्यैव ते त्याज्याः तेन नाऽत्रोक्तदूषणम्।।३२९।।
पाण्डवादिसमस्तानां दोषोऽप्यत्र निवार्यते।

कौरवोंमें अभिमान रूप दोषकी उत्पत्ति हुई, जिससे वे त्याज्य हुए, इससे इस विषयमें पहले कहा गया दोश इनमें नहीं है. इस प्रकरणमें पाण्डव आदि सबके दोष दूर किये जाते हैं।।३२९।।

व्याख्या : तृतीयाध्यायके अनन्तर चतुर्थाध्यायका विचार करना उचित था, किन्तु उस चतुर्थाध्यायमें केवल द्विविद वानरके मारनेके सिवाय अन्य कुछ वृवान्त नहीं है, उस (वानर)की केवल प्रमेय बलसे दोष निवृत्ति की गई है. इस अध्यायमें बलदेवकी क्रीड़ा 'श्री' गुणका कार्य स्पष्ट ही है, इसलिये विशेष कुछ न होनेसे उसका विचार नहीं किया गया है.

अब पञ्चमाध्यायका 'दोषोत्पत्त्या' कारिकासे विचार करते हैं. यहां इस प्रकरणमें गत दोषोंकी प्रसाद(कृपा) द्वारा निवृत्ति की, अतः वे दोष अब कौरवादिमें नहीं रहे हैं, किन्तु अभिमान रूप दोषकी उत्पत्ति हुई है, जिससे वे त्यागने योग्य थे, बलरामने कौरवोंके उस दोषको मिटानेके लिये हस्तिनापुरको गगामें खींचा, जिससे भयभीत कौरव अभिमान त्याग बलरामकी शरण गये, तब प्रसन्न होकर उनको अभयदान दिया, पाण्डवादि जो भी इसमें मिले हुए थे, उन समस्तों पर कृपाकर दोष निवृत्त किये.

कौरव निरोध्य नहीं हैं, इसलिये इनके दोषोंको मिटाना आवश्यक नहीं हैं, द्विविद भी वैसा ही था, इसलिये उसका दोष भी मिटाना आवश्यक था, यो नहीं कहना चाहिये ; क्योंकि वह जगतके व्यापारसे पृथक् प्रकारका था, पूर्व भक्त था, अतः उसके दोषकी निवृत्ति आवश्यक थी, किन्तु यहां तो बलरामने इन्द्र पाण्डवादि जो भी कौरवोंसे मिश्रित थे, उन सभीके दोष कृपाकर प्रमेय बलके कारण निवृत्त किये हैं ; यह ज्ञान कार्य है ; क्योंकि इससे ज्ञान उत्पन्न हुआ है।।३२९॥।।

तथा वैष्णवमुख्यस्य नारदस्य विरक्तये।।३३०।।

इसी तरह वैष्णवोंमें मुख्य नारदजीको वैराग्य हो, इसलिये उनको दोष भी मिटाया है।।३३०।।

व्याख्या : नारदमें यह दोष था कि उसमें वैराग्यका अभाव था, उस अभावको मिटानेके लिये भगवान्ने अपने वैराग्यका नारदको बोध कराकर उसका वह दोष मिटाया. मैं गृहस्थाश्रम करते हुए भी अनासक्रत होनेस वैराग्य गुणवान हूं, यह 'ब्रह्मन् धर्मस्य वक्तोऽहं' इस प्रकरणमें स्पष्ट होगा।।३३०।।

धर्मस्य कारणात् स्त्रीणां नीत्वा यादवभूभुजां।
एवं प्रमेयरूपो हि हरिर्दोषं न्यवारयत्।।३३१।।

धर्माचरणसे स्त्रियोंका, नीतिसे यादव राजाओंका, प्रमेय रूप हरिने इस प्रकार समस्तोंके दोष दूर किये।।३३१।।

व्याख्या : स्त्रियोंमें यह दोष था कि भगवान् जब अरुणोदय वेलामें जगदते थे, उस समय कुक्कुट ध्वनि होती थी, स्त्रियां समझती थी कि कुक्कुट ध्वनिकर हमारे प्रियको जगाकर हमको विरह दुःख देते हैं, इसलिये वे कुक्कुटोंको शाप देती थी. स्त्रियोंके इस दोषको धर्माचरणकर आपने मिटाया तथा यादव क्षत्रियोंका यह दोष था कि भगवान्को राजसूय यज्ञमें सहायता न कर पहले जरासन्धको जीदत उसके यहां बन्धनमें पड़े हुए राजाओंको छुड़ाना चाहिये था, ऐसा उनका मत इसलिये था कि वे नीतिज्ञ नहीं थे, ऐसे अनीतिके विचार दोषवाले यादवोंको उद्धव द्वारा नीति ज्ञान कराकर उनका दोष दूर किया. यहां श्लोकमें 'भृभुजाम्' पद राजाओंका वाचक नहीं है, किन्तु 'क्षत्रियं' वाचक है, इसी तरह प्रमेय बलसे इस सात्त्विक प्रमेय प्रकणरमें प्रभुने सर्वके दोष नष्ट किये हैं. इसी कारणसे यह प्रकरण 'प्रमेय' कहा गया है।।३३१।।

साधनप्रक्रियां वक्तुं साधनान्तरमुक्तये।
राज्याद् भ्रंशस्तथा दुःखं राज्ञाम् अत्र निरूप्यते।।३३२।।
साधने नारदो मुख्यः तस्यापि प्रार्थनोच्यते।

अन्य साधनोंसे मुक्त होनेके लिये साधनकी प्रक्रिया यहां कही है. वह प्रक्रिया यह है : यहां राजाओंका राज्यसे भ्रष्ट होना था दुःखी होना भी साधन है, साधन करनेमें नारद मुख्य हैं, अतः इस प्रकरणमें उनकी प्रार्थना भी कही जाती है।।३३२॥।।

व्याख्या : सप्ताध्यायीके फल कथनसे सुबोधिनीमें जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रतिपादनके लिये जो चतुःप्रकरणी पक्ष कहा है, वह त्रिप्रकरणी पक्षसे विरुद्ध नहीं हैं, केवल प्रकार तथा प्रयोजन भेदसे यों समझाया है.

दोषोंके अभाव वर्णनके प्रसङ्गमें राजाओंके दुःखका वर्णन क्यों? इसका समाधान करते हैं कि साधनोंकी प्रक्रिया बतानी है, उसके उपोद्घात रूपसे यह प्रसङ्ग कहा है एवं नारदकी प्रार्थना भी उपोद्घात रूप है, इसलिये यह कहना प्रकरणसे बाहर नहीं है. इस प्रकार २८॥ कारिकाओंसे प्रमेय प्रकरणका विचार किया गया है।।३३२॥।।

।। सात्त्विक प्रमेय प्रकरण सम्पूर्ण।।

सात्त्विक साधन उप प्रकरण

(अध्याय ६८ से ७४)

सामर्थ्ये विद्यमानेऽपि स्वयं ज्ञात्वाऽपि सर्वथा।।३३३।।
कृष्णाज्ञां वा सहायं वा लब्ध्वैवेष्टपरो भवेत्।
तदा तु हरिरागत्य हितं वक्ति करोति च।।३३४।।

सामर्थ्य अर्थात् कार्य करनेकी शक्ति भी विद्यमान हो तथा सर्व प्रकारसे यह ज्ञान भी हो कि यह कार्य कैसे करना चाहिये, फिर भी श्रीकृष्णकी आज्ञा व सहायता लेकर ही अपनको इच्छित कार्य प्रारम्भ करना चाहिये, यों करनेसे हरि प्रसन्न होकर स्वयं पधारकर हितका उपदेश देते हैं, और वह कार्य स्वयं पूर्ण करते हैं।।३३३-३३४।।

व्याख्या: प्रमेय प्रकरणका विचार करनेके अनन्तर साधन प्रकरणका विचार करते हैं जिसमें डेढ कारिकासे इस प्रकरणके साधन प्रकरण नामका बीज कहते हैं: यह प्रकरण, भगवान्के कहे हुए साधनोंका बोध कराता है तथा साधनोंकी मर्यादाका बोध कराता है, इसलिये इसका नाम साधन प्रकणण पड़ा है।।३३३-३३४।।

साधने सर्वथा नीतिः कर्तव्येति प्रबोधयन्।
उद्धवं मुग्धभावेन पृच्छति स्म करोचि च।।३३५।।

जब कोई भी साधन करना हो तब मनुष्यको नीतिके अनीसार चलना चाहिये, यह बात समझानेके लिये स्वयं भगवान्ने अपनेको अज्ञवत् बताकर उद्धवसे पूछा, कि मैं क्या करूं ज्यों उद्धवने कहा त्यों किया।।३३५।।

व्याख्या: जब भगवान् स्वयं सर्वज्ञ हैं तब उद्धवसे क्यों पूछा? एवं सर्व समर्थको सर्व साधनोंसे क्यों जाना जाता है? जिसका उत्तर देते हैं कि लोकमें जब

कोई साधन-कार्य करना पड़े तब नीति अपनानी चाहिये, मर्यादाका त्याग नहीं करना चाहिये, यह विषय नीतिसे अनभिज्ञ यादवोंको समझानेके लिये आपने मुग्ध (अज्ञ)का भाव दिखाते हुए उद्धवसे प्रश्न किया इस समय क्या करना चाहिये? उद्धवजीने जैसी सम्मति दी उसी प्रकार किया: यह साधनके उपोद्घातपनसे कहा जाता है इसलिये यह साधन प्रकरण कहा है. साधन प्रकरण ६८ से ७४ अध्याय तक हैं।।३३५।।

यावत् कर्तुं हि जीवानां शक्यं तावद् वदत्ययम्।
साहाय्यं वाऽत्र कुरुते तावद् येन भवेत् क्रिया।।३३६।।
इति बोधयितुं कृष्णः सम्भृत्या सर्वया गतः।

उद्धवजी उतना साधन करनेके लिये कहते हैं कि जितना जीवसे बन (हो) सकता है तथा जितनी सहायतासे कार्य पूर्ण हो जाता है, भगवान् भी उतनी सहायता देते हैं, यों जतानेके लिये श्रीकृष्ण सर्व साधन सहित इन्द्रप्रस्थ पधारे।।३३६॥।।

व्याख्या : उद्धव भगवान्के प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि जीवसे शक्ति पूर्वक जितना बन सके उसना कार्य करना चाहिये, भगवान् भी कार्यके प्रमाणानुसार सहायता करते हैं, अतः युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ जितने साधनोंसे सम्पूर्ण हो सके उतने साधन लेकर इन्द्रप्रस्थ पधारे थे, यह ऐश्वर्य लीला है इसी तरह पहलेका उपोद्घात प्रकार कहा।।३३६॥।।

सर्वभावेन पूजार्थं श्रद्धादीनां च वृद्धये।।३३७।।
शत्रूणां दृष्टिदोषाय भक्तमाहात्म्यसिद्धये।
क्वचिद् एकोऽपि वेषेण दृष्टादृष्टप्रकारतः।।३३८।।
यथा भीमस्य सामर्थ्यं दत्वा मृत्युश्च बोधितः।

पाण्डव सर्वभावसे पूजा करें और उनकी श्रद्धा आदि भाव बढ़ें इसलिये इन्द्रप्रस्थ पधारे।।३३७-३३८।।

शत्रुओंकी दृष्टिमें भगवान्के दोष देखनेमें आये तथा भक्तका माहात्म्य सिद्ध हो इसलिये किस समय एकाकी वेष बदलकर इसी तरह पधारते थे कि कोई पहचान सके वा कोई न भी पहचान सके, जैसे भीमसेनको अपना सामर्थ्य देकर, जरासन्धकी मृत्यु बताई.

व्याख्या : ऐश्वय लीलाके पश्चात् 'सर्वभावेन'से लेकर दो कारिकाओंसे

वीर्य तथा यज्ञकी दो लीलाएं कही हैं, वे दो लीलाएं भी प्रकरणमें उपोद्घातपनसे प्रवेश करती हैं. युधिष्ठिर भक्त था, उसका कार्य सिद्ध हो तो उसका यश (माहात्म्य) बढे इसलिये श्रीकृष्ण वेष बदलकर भीम एवं अर्जुनको अपने साथ लेकर जरासन्धके पास पधारे, जरासन्धने जान लिया कि यह कृत्य श्रीकृष्णका है अतः श्रीकृष्ण दोषी हैं, यों समझानेसे उसको साधारण क्षत्रिय तथा डरपोक समझा, उस समय भगवान्ने जरासन्धने द्वन्द्व युद्धकी याचना की, उसके पराजयका प्रकार जान वैसा किया, अदृष्ट प्रकार समझमें नहीं आया था अतः अब उदाहर देकर उसका स्पष्टीकरण करते हैं. भगवान्ने गुप्त रीतिसे अपना सामर्थ्य भीमको दिया और जरासन्धके मारनेका प्रकार भी बता दिया।।३३८॥।।

प्रथमे तु मनःप्रीतिः द्वितीये शत्रुमारणम्।।३३९।।
तेनैव यज्ञदेहानां बन्धनं विनिवारितम्।

पहले अध्यायमें युधिष्ठिरके मनकी प्रसन्नताका वर्णन है, दूसरे अध्यायमें शत्रुको मारनेका वर्णन है, जिससे यज्ञमें होमार्थ बन्धनमें पड़े हुए राजाओंको छुड़ानेकी कथा है।।३३९॥।।

व्याख्या : उपप्रकरण सात-सात अध्यायोंका होता है. अतः साधनका पहला अध्याय ६८वां जिसमें युधिष्ठिरके मनकी प्रसन्नताकी कथा है, दूसरे ६९वें अध्यायमें जरासन्धकी मृत्युकी कथा है एवं जरासन्धने जिन राजाओंको शंकरके यज्ञमें होमार्थ बन्धनमें डाला था, उनको छुड़ानेका वर्णन है।।३३९।।

ततो बोधनम् एकेषां लौकिकं चापि कारयन्।।३४०।।
साधनं कारयामास तथाऽन्यत्रागतस्तथा।

पश्चात् उन राजाओंको भगवान् ज्ञान देते हैं, एवं लौकिक कार्य करते हुए उनसे साधन भी कराते हैं, अनन्तर इन्द्रप्रस्थ पधारते हैं।।३४०॥।।

व्याख्या : तीसरे अध्यायका भावार्थ बताते हैं कि अनन्तर, भगवान् ७०वें अध्यायमें राजाओंको उपदेश देते हैं, पश्चात् उनके लौकिक कार्य व संस्कार कराके बादमें, उनसे भगवत्प्राप्तिके साधन करने लगे, इस प्रकार यह कार्य पूर्णकर स्वयं इन्द्रप्रस्थ पधारे।।३४०॥।।

ततस्तु यज्ञसंसिद्धिः तत्र दैत्यस्य सन्निधौ।।३४१।।
न निःशमं देवचर्याः तत्रोपायो हरेर्भजिः।
तदैव प्रकटा दैत्याः स्वात्मानं दर्शयन्ति हि।।३४२।।

दैत्यकी सन्निधि (उपस्थिति)में देवकार्य पूर्ण होना अशक्य है, क्योंकि नःशम होकर देवकार्य नहीं किया जा सकता, अतः इसका उपाय भगवान्की पूचा करना ही है, तब ही दैत्य प्रकट होकर अपना स्वरूप दिखाने लगे, यों कार्य करने पर यज्ञकी सिद्धि हुई।।३४१,३४२।।

व्याख्या : युधिष्ठिरके यज्ञमें, शिशुपाल दैत्य भी उपस्थित था, अतः दैत्योंके सामने देव कार्य निःशम होकर करनेकें नहीं आता अतः वह कार्य छूटसे करनेमें आवे उसका एक ही उपाय श्रीकृष्णकी अग्रपूजा था. इस पूजनसे दैत्य प्रकट होंगे यों करने पर शिशुपालने अपना दैत्य स्वरूप प्रकट किया।।३४१-३४२।।

अतः कृष्णस्य पूजायां शिशुपालो हतोऽसुरः।
मानभङ्गस्तथाऽन्येषां दुर्योधनहितैषिणाम्।।३४३।।

इस अवतार पर कृष्णकी पूजा होने पर शिशुपालने श्रीकृष्णकी निन्दाकर अपनेको स्वयं श्रीकृष्णके हस्तकमलोंसे मरवाया एवं दूसरे जो (दुर्योधन) पक्षपाती थे उनका भी मान भगं हुआ।।३४३।।

व्याख्या : यज्ञमें श्रीकृष्णकी अग्रपूजा होनेके कारण शिशुपाल मारा गया श्रीकृष्णमें सायुज्यका प्राप्त हुआ यह प्रमेय प्रासङ्गिक शिक्षार्थ है और दुर्योधनके हितकी जो इच्छा करनेवाले अन्य थेउनका मानभङ्ग हुआ, यह लीला अभक्तोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये, इस शिक्षाके लिये की है।।३४३।।

पूर्वं तु बलभद्रोऽत्र न यागार्थं समागतः।
प्रद्युम्नप्रमुखास्तत्र समायाता महारथाः।।३४४।
मुख्ये यागे निवृत्ते तु तान् प्रस्थाप्य कुशस्थलीम्।
पाण्डवानां प्रार्थनया कियत् कालं तथाऽवसत्।।३४५।।

बलरामजी यज्ञके लिये पहले नहीं आये थे केवल प्रद्युम्न जिनमें मुख्य था वे महारथी आये थे।।३४४।।

जब मुख्य यज्ञका कार्य सम्पूर्ण (समाप्त) हो गया तब प्रद्युम्नादिको द्वारका भेजकर स्वयं श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी प्रार्थनासे कितने ही समय तक वहां विराजे।।३४५।।

व्याख्या : जब द्वारकासे प्रद्युम्न आदिके लिये आए थे, तब बलभद्र नहीं पधारे थे, यज्ञ कार्य जब निपट गया तब भगवान्ने प्रद्युम्नादिको द्वारका भेद दिया, आप पाण्डवोंकी प्रार्थनासे इन्द्रप्रस्थमें कितने समय तक विराजे।।३४४-३४५।।

दुर्योधनादिमानस्य भङ्गे तत्र समागतः।
मिलितः कृष्णदेवेन रामो नोवाच किञ्चन।।३४६।।
अन्यथा पाण्डवान् सर्वान् हन्यादेवाऽविचारयन्।
एतदर्थं स्थितः कृष्णः प्रार्थनां जनयन् हृदि।।३४७।।

दुर्योधनादिकोंका मान भंग जानेके अनन्तर बलभद्र वहां पधारे और श्रीकृष्णसे मिले, श्रीकृष्णको कुछ भी नहीं कहा, यदि वहां श्रीकृष्ण न विराजे होते तो बिना विचार किये सर्व पाण्डवोंका नाश कर देते, इसलिये भी भगवान्ने पाण्डवोंके हृदयमें अपने विराजनेके लिये प्रार्थना प्रादुर्भूत की थी, जिस प्रार्थनासे आप वहां विराजे हुए थे।।३४६-३४७।।

व्याख्या : बलभद्रने इन्द्रप्रस्थ आकर दुर्योधानदिका मानभंग होना देखश और यह समझाकि यह भानभंग पाण्डवोंने कराया है, श्रीकृष्णसे मिले, किन्तु इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा, यदि श्रीकृष्ण वहां न विराज द्वारका पधार गये होते तो बिना विचार सकल पाण्डवोंका नाश कर देते. इस बातको जानकर ही श्रीकृष्णने अपने यहां विराजनेकी प्रार्थनाका विचार पाण्डवोंके हृदयमें उत्पन्न किया, जिससे उन्होंने प्रार्थना की और आप वहां विराजे, इसी कारणसे पाण्डवोंका नाश बलभद्र न कर सके, योजना करने 'प्रार्थना जनयन् हृदि' पदका आशय यह लिखा है कि भगवान्ने पाण्डवोंके हृदयमें यह भाव उत्पन्न किया कि बलभद्रको प्रार्थनाकर सन्तुष्ट करो, यज्ञकी सम्पूर्ण सिद्धि श्री गुणका कार्य है, दुर्योधनादिका मानभगं ज्ञान गुणका कार्य है, भू भार उतारनेकी इच्छासे युक्त है. पांच अध्यायोंसे भगवान्की आज्ञा युक्त परिकर सहित एक साधन दिखाया है।।३४६,३४७।।

महादेवाधिदैवस्तु शाल्वस्तत्र सहायवान्।
द्वारकायां यथा पूर्वं ददौ क्लेशं सुदुःसहम्।।३४८।।
यावत् तत्त्वानि पुरुष-व्यतिरिक्तान्यहानि हि।

शाल्वके अधिष्ठता देव महादेव थे वे (महादेव) उसकी (शाल्वकी) सहायता करते थे, पुरुषतत्वके सिवाय शेष जितने तत्व हैं उतने दिन शाल्वने द्वारकावासियोंको असह्य दुःख दिया।।३४८॥।।

व्याख्या : महादेवने शाल्वको सौभ विमान देकर सहायता की थी, पुरुष सहित २८ तत्व हैं, पुरुषके सिवाय २७ तत्व होते हैं इतने २७ दिन शाल्वने द्वारकावासियोंको असह्य दुःख दिये।।३४८॥।।

अत आज्ञां विना किञ्चिद् न कर्तव्यं कथञ्चन।।३४९।।
यतो रामे समायाते द्वारकात्यन्तपीडिता।
कालादेरनुरोधेन भगवांश्चाऽपि मन्यते।।३५०।।
आत्मानम् अन्यथाऽन्यत्र का शंका कार्यसाधने।

इसमें भगवदाज्ञश प्राप्त किये बिना कुछ भी कैसे भी कोई कार्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि भगवदाज्ञा लिये बिना राम इन्द्रप्रस्थ आए तो द्वारका अत्यन्त दुःखी हुई. भगवान् भी कालादिके अनुरोधसे, अपनेको अन्यथा मारने लगे, नहीं तो कार्य सिद्ध करनेमें भगवान्को किसी प्रकार शंका न होती।।३४९-३५०॥।।

व्याख्या : इस लीलासे यह शिक्षा दी है कि मेरी (भगवान्की) आज्ञा बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिये. जैसे बलभद्रने द्वारका रक्षणका कार्य छोड़, भगवदाज्ञा न लेकर इन्द्रप्रस्थ आये तो शाल्व द्वारकाको पीड़ित कर सका।।३४९-३५०॥।।

एवं सप्तभिरुद्दिष्टं साधनं यद् हरिर्वदेत्।।३५१।।
अन्यथा सेवनं तस्य कर्तव्यम् इति निश्चयः।

इसी तरह सात अध्यायोंसे दिखाये हुए, जो साधन हरिने कहे हैं वे करने चाहिये. यदि साधनकी आज्ञ न हो, तो भगवान्की सेवा करनी चाहिये, यों निश्चित सिद्धान्त है।।३५१।।

व्याख्या : भगवान्ी आज्ञाका पलन करना ही साधन है. यों इस सन्दर्भमें सिद्ध हुआ है. यह वृतान्त भी इस साधन प्रकरणके अन्तर्गत होनेसे इसे साधन प्रकरण ही माना जाना चाहिये. यह 'एवं' आदि कारिकासे सिद्ध है, भगवान्की आज्ञश जिस कार्यके लिये हो वह कार्य करना चाहिये, यदि आज्ञा न हो, तो भगवान् सेवादि करने चाहिये, साधन प्रकरणकी समाप्ति यहां होती है. इसका ज्ञान करानेके लिये ''अतः परं सात्त्विकानां फलं सप्तभि रुच्यते'' यह कारिका कही है. अतः परं सात्त्विकानां फलं सप्तभिरुच्यते।।३५२।।

इसके अनन्तर सात्त्विकोंके फलका वर्णन सात अध्यायोंसे किया जाता है।।३५२।।

व्याख्या : यहां पूर्वाध्यायकी समाप्तिके समय दन्तवक्रके आनेका प्रकार प्रारम्भमें दिखता है इसलिये यह प्रकरण भी साधनका शेष होनेसे, फिर यहांसे

दूसरे (फल) प्रकरणका आरम्भ कैसे कहा जाता है? ऐसी आकांक्षा पर उभयोः आदि कारिकाएं कहते हैं।।३५२।।

उभयोरैक्यसिद्ध्यर्थं कथाश्लेषो विधीयते।
प्रद्युम्नस्य जयस्मृत्या भगवत्स्मरणादपि।।३५३।।
शाल्वे प्रविष्टो रुद्रो हि तेन प्रद्युम्नमारणम्।

दोनोंकी एकता सिद्ध करनेके लिये कथाका परस्पर सम्बन्ध कहा है. प्रारम्भमें जो प्रद्युम्नका जयनाद दुःख था उसको स्मरणकर और भगवान् रुद्रके स्मरण करनेसे रुद्रने शाल्वमें प्रवेश किया जिससे प्रद्युम्नकी सेना मारी गई और प्रद्युम्न पराजित हुआ।।३५३॥।।

कामजेता यतः प्रोक्तः तेनाऽत्राप्यभवज्जयः।।३५४।।
द्युमत्यभूत् तदावेशः प्रद्युम्नस्याऽपकर्षणे।
अनेन तस्मिन् समये सर्वेषामेव रुद्रतः।।३५५।।

शंकर ही कामको जीतनेवाले हैं अतः यहां भी शंकरकी जय हुई है. प्रारम्भमें शंकरका आवेश था जिससे प्रद्युम्न रणसे हटाया गया, इससे यह ज्ञात हुआ कि सकल पाण्डवोंका पराजय शंकर द्वारा ही हुआ है।।३५४,३५५।।

व्याख्या : दोष भाव तथा फल दोनोंका परस्पर सम्बन्ध बतानेके लिये यों किया है, यहांसे फल प्रकरणका प्रारम्भ कहा गया है, किन्तु यह आरम्भ उपोद्घातसे है प्रारम्भ तो ६७ कारिकासे होता है. शाल्व वध प्रकरणका तात्पर्य अन्य पीछे देखिये।।३५४-३५५।।

पाण्डवानां यादवानां सर्वेषामेव कालतः।
फलं तदैव भगवान् प्रयच्छति यदाःखिलाः।।३५६।।
अत्यन्तं तापमायन्ति नोचेत् स्वादु फलं न हि।

जब सक, कालके कारण, अत्यन्त दुःखक्ष होते हैं, तब भगवान् कृपाकर यादव तथा पाण्डवोंको फलदान प्रदान करते हैं अन्यथा फल, रस (आनन्द) देनेवाला नहीं होता है।।३५६।।

व्याख्या : सप्तम् अध्यायका अर्थ कहते हैं 'पाण्डवानां' इत्यादि कारिकाओंसे, यहां धर्मी लीला स्पष्ट है, इस प्रसंभमें रुद्रसे पराजयका होना असम्भव था तो फिर हस्तसे शार्ङ्गपातादि कैसे हुए? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि पाण्डव आदिको दुःखी करनेके लिये यह लीला की, तथा फलको स्वादिष्ट

बनानेके लिये ऐसा न करते तो माहात्म्य ज्ञानका अंश विशेष हो जाता जिससे स्नेह न्यून हो जानेसे फलमें पूर्ण रसालता न आती.

यदि ऐसा है तो फिर अलौकिक अर्थ देखनेवाले ऋषिगण इसको मोह लीला कैसे गिनते हैं? और शुकदेव मनको दूषित कैसे करते हैं? इस पर 'इतिकेचिद्विचार्यात्र'....कारिका कही है. इस फलका, कृष्ण (परमात्मा)में रसालता सम्पादन ही अर्थ है यों विचारकर कहा है. स्वेच्छासे प्रकट रूप अथवा अपने शान्त स्वरूपमें वा शुद्ध सत्वमें अवतार लेना, अर्थात् साक्षात् स्वयंके प्राकट्यका अनुसंधान करनेके लिये यों किया है.

इति केचिद् विचार्यात्र कृष्णेऽपि परमात्मनि।।३५७।।
साक्षाद् उद्भूतरूपेऽपि प्राकृतत्वप्रतीतितः।
अवतारान्तरे यद्वत् तथा वक्तुं विचारणाम्।।३५८।।
कुर्वन्ति लोकमोहाय

इस प्रकारके चरित्रोंका विचारकर लोगोंको भुलावेमें डालेनेक लिये कितनों हीका कथन है कि साक्षात् प्रकट परमात्माके स्वरूप श्रीकृष्णमें प्राकृतपनकी प्रतीति होनेसे, अन्य अवतारोंकी तरह ये भी हैं।।३५७-३५८॥।।

व्याख्या: यदि श्रीकृष्ण साक्षात् स्वयं परब्रह्म होते तो, यादव दुःखी होवें, उनका पराजय हो, यों बन नहीं सकता है अतः श्रीकृष्ण भी अन्य अवतारोहके समान हैं उनमें प्राकृतत्व भी है, इस प्रकारका सिद्धन्त लोकके मोहार्थ कुछ व्यक्ति निश्चित करते हैं।।३५७,३५८॥।।

.....तदर्थं तन्मतं क्वचित्।
फलात् पूर्वं पूर्वपक्षरीत्योक्त्वा दूषयत्यतः।।३५९।।
शुकः परमतत्त्वज्ञः केचित् प्रक्षेपमूचिरे।
पूर्ववक्षकथायां तु मोहलीलेति निश्चयः।।३६०।।

किन्तु परमतत्वज्ञ श्रीशुकदेवजी फलसे पहले उस मतको पूर्व पक्षकी तरफ कह कर उसका दोष प्रकट करते हैं एवं कहते हैं कि कितने ही इस कथाको प्रक्षिप्त कहते हैं, पूर्व पक्षमें जो कुछ कहा है वह मोह लीला है, ऐसा निश्चय है।।३५९-३६०।।

व्याख्या: वह मत सत्य नहीं है यों सिद्ध करनेके लिये ही शुकदेवजीने उस मतको पूर्व पक्षमें कहनेके बाद उनके दोष बताये हैं जो तात्त्विक सिद्धान्तको

नहीं जानते हैं ऐसे जो माध्वादि हैं उनका मत बताते हैं– वे कहते हैं ये श्लोक प्रक्षिप्त (पीछे जोड़े हुए)हैं, फिर सिद्धान्त कहा है कि, यह लीला मोहार्थकी यह निश्चय है।।३५९–३६०।।

महादेवस्य तोषार्थं क्वचित् कल्पे तथाऽभवत्।
तत्स्मृतिर्योगधर्मेण तत आहुर्मुनीश्वराः।।३६१।।
तच्चाऽपि न शुको मेने भक्तियुक्ताच्च योगतः।
हृदिस्थदुष्यभावेन सहितं स्मरणं तथा।।३६२।।
न तु शुद्धेन योगेन तथा दृष्टमतो न हि।

महादेवजीको प्रसन्न करनेके लिये किसी कल्पमें यों हुआ, उसकी स्मृति योग धर्ममें होनेके कारण मुनियोंने इसी तरह कहा था, उसका भी भक्ति युक्त योगसे यह सिद्धान्त सत्य हैं यों शुकदेवजीने नहीं माना है. इस तरहका जो स्मरण मुनीश्वरोंको हुवा जिसका कारण उनके हृदयमें रहे हुए दुष्ट भाव थे, न कि शुद्ध योगसे ऐसा देखा था, इस कारणसे वह सत्य सिद्धान्त नहीं हैं।।३६१,३६२॥।।

व्याख्या : जिस कल्पमें भगवान्का पूणार्वतार नहीं हुआ था उसी कल्पमें महादेवको प्रसन्न करनेके लिये यों हुआ था, जिस चरित्रकी कथा मात्र स्मृति योगसे मुनियोंने जान कर कही थी किन्तु भक्तिहीन योगियोंको भगवान्की लीलाओंका तात्त्विक ज्ञान नहीं होता है फिर उन मुनियोंको हृदय दुष्ट भाव पूर्ण था, उस अशुद्ध हृदयमें जो स्मरण हुआ था वह पूर्ण नहीं था अतः श्रीशुकदेवजी भक्त योगी थे, इससे ''भक्त्त्या माम् अभिजानाति'' इसी श्रीभगवद् गीताके वाक्यानुसार ही सत्य सिद्धान्त शुकदेवजी ही जान सके, जिससे मतको दूषित माना और कहा कि इन मुनियोंने शुद्ध (भक्तियुक्त) योगसे नहीं देखा है, अतः जो देख कर कहा हैवा सत्य नहीं है यदि यों है तो यह कथा क्यों कही? जिसका उत्तर निम्न कारिकाओंसे देते हैं।।३६१–३६२॥।।

एतस्य कथनादेवं ज्ञापितं सर्वथा यदा।।३६३।।
कार्यांशेन वितनुते तदा मोहो भवेदिति।
तेन केनापि लीलाऽपि न कर्तव्या कथञ्चन।।३६४।।
तदाधिकारिणो देवा मन्यन्ते दुष्टभावनाम्।
सत्वावतारपक्षे हि भवेदेतन्न चान्यथा।।३६५।।
निर्गुणस्तु हरिः कृष्णः स्वयमाविर्बभूव ह।

सन्देहे तस्य भक्तैस्तु निर्णयो ज्ञायतां यथा।।३६६।
तं शस्त्रपूगैरित्यादि शुद्धं नान्यत् ततोऽधिकम्।

इसके कथनसे यों जताया है कि, जब कार्यमें सब प्रकारसे आसक्ति बढ़ जाती है तब मोह होता है, इसलिये मनुष्यको भगवान्की लीलाका अनुकरण कभी भी नहीं करना चाहिये.

ऐसे प्रसंगमें अर्थात् अनुकरण करनेके प्रसंगमें अधिकारवाले देव अनुकरण कर्त्ताकी भावना दोषवाली है यों विचारते हैं, कारण कि भगवान् जब सत्वमें स्थित हो प्रकट होते हैं तब यों बन सकता है अन्यथा (दूसरी स्थितिमें) नहीं बनता है. श्रीकृष्ण तो हरि होनेसे निर्गुण रूपसे प्रकट हुवे हैं.

सन्देह होने पर उनके भक्तोंको चाहिये कि, शस्त्रोंके समूहोंसे प्रहार करनेवाले शाल्वके चरित्रकी शिक्षा ग्रहण कर निर्णय करना चाहिये, श्रीकृष्ण ही शुद्ध परब्रह्म हैं, इससे अधिक उत्तम शुद्ध तत्त्व दूसरा कोई नहीं है।।३६६॥।।

व्याख्या : इस कथाको कह कर यह लीला कर यह बताया (शिक्षा दी) कि, जब कार्यमें आवेश (आसक्ति) बढ़ता है तब मोह उत्पन्न होता है. इस लीलामें आसक्ति होनेसे भगवान् हूं तो भी मुझे मोह हुवा है तो आप जीवोंको आसक्ति होनेसे मोह बढ़े जिसमें कोई आश्चर्य नहीं है अतः जीवोंको किसी कार्यमें आसक्ति नहीं करनी चाहिये, तथा यह भी शिक्षा दी है कि इस लीलाका अनुकरण भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि करनेसे अनिष्ट होता है.

अनुकरण करनेमें देवोंके हृदयमें दोष दृष्टि क्यों होती है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि ऐसी लीला सत्वावतारमें ही की जाती है भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं निर्गुण हैं उस स्वरूपसे ऐसी लीला नहीं होती है यदि कोई श्रीकृष्णने ऐसी लीला की है ऐसा विचारता है तो अधिकारी देव उस भावना (विचार)को दुष्ट भावना मानते हैं.

श्रीकृष्ण स्वयं निर्गुण रूप हैं और यों ही प्रकटे हैं यदि इसमें हो तो शाल्व चरित्रसे मिटा देना चाहिये. श्रीकृष्णसे विशेष कोई अन्य नहीं है. यों ३४॥ कारिकाओंसे सात्त्विक साधन प्रकरणका विचार किया है.

सात्त्विक फलप्रकरण

(अध्याय ७८ से ८४)

त्रिविधदुष्टानां वधोऽत्र विनिरूप्यते।।३६७।।

शाल्वस्य हरभक्तस्य दन्तवक्रस्य चात्मनः।

तद्भ्रातुश्च द्वितीयस्य राजसस्य वधः स्मृतः।।३६८।।

इस प्रकरणमें प्रारम्भमें तीन प्रकारके दुष्टोंका वध कहा जाता है: १. महादेवने भक्त शाल्वका, २. अपने (भगवद्) भक्त दन्तवक्रका और ३. उसके भ्राता राजस (विदूरथ)का।।३३७,३६८।।

व्याख्या : साधन उपप्रकरणके अनन्तर ५२॥ कारिकाओंसे फल उपप्रकरणका विचार करते हैं. कथाका जो शेष मिलाप यहां देखनेमें आता है, उसको 'आदौ' इत्यादि कारिकासे स्फुट करते हैं. 'आत्मना' पदका तात्पर्य है 'भक्तस्य' (भक्तका) 'राजसस्य' यह उस (दन्तवक्र)के दूसरे भाईका विशेषण है. शाल्वका वध अध्याय ८३,८४में कहा है. इन अध्यायोंको सात्त्विक-फलप्रकरणमें गिना गया है. शेष दन्तवक्र और विदूरथका वध इस अध्यायमें कहा है।।३६७-३६८।।

एवं दोषप्रणाशो हि फले पूर्वम् उदीरितः।

तेनैव यादवानं हि सर्वव्यसननाशतः।।३६९।।

कृष्णात्मकं फलं सिद्धं यत एवं करोति हि।

इसी तरह फलप्रकरणमें पहले दोष नाशका वर्णन है, जिससे ही सकल यादवोंके सर्व दुःख नाश हो जानेसे उनको श्रीकृष्ण रूप फल प्राप्त हुआ. इसलिये ही भगवान्ने इसी तरहकी लीला की।।३६९॥।।

व्याख्या : यादवोंको फलकी प्राप्ति हो, तदर्थ भगवान्ने तीनों दुष्टोंका नाश कर यादवोंका दुःख मिटाया।।३६९॥।।

ततः सर्वसुखार्थाय बलदेवविनिर्गमः।।३७०।।

तीर्थे स्वधर्मनाशाय दोषे याते सुखं स्वतः।

पश्चात् समस्तोंको सुखकी प्राप्ति हो, तदर्थ बलदेवजी तीर्थाटन करने गये. साथमें अपने धर्मके नाशार्थ अर्थात् अपने धर्मका त्याग करनेके लिये तीर्थो पर गये. दोष जाने पर सुख स्वतः प्राप्त होता है।।३७०॥।।

व्याख्या : श्रीबलदेदवी तीर्थ यात्रा करने गये, जिसके प्रयोजनकी सङ्गति बताते हैं. युद्ध करना क्षत्रियका धर्म हैं. बलरामने देखा कि पाण्डवों और कौरवोंका युद्ध होनेवला है, जिसका परिणाम सुन्दर नहीं है तथा श्रीकृष्ण पाण्डवोंके पक्षमें हैं, जो मैं नहीं चाहता हूं. यदि मैं यहां रहूंगा, तो युद्धमें शामिल होना पड़ेगा. श्रीकृष्णके विरुद्ध कौरवोंके पक्षमें जानेसे श्रीकृष्ण अप्रसन्न होंगे. अतः तब क्षात्र (वर्णाश्रम) धर्म युद्ध करनेका त्याग करनेसे दोष होगा. अतः तीर्थों पर चलना ही श्रेयस्कर हैं, यों करनेसे सबको सुख प्राप्त होगा सब दोष भी मिट जायेंगे।।३७०॥।।

स्वयं तु पाण्डवानां हि दुःखनाशं चकार ह।।३७१।।
एवं त्रिभिरिहाध्यायैः दुःखनाशो निरूप्यते।
स्पष्टास्पष्टविभेदेन त्रिविधानां विशेषतः।।३७२।।

स्वयं (भगवान्)ने पाण्डवोंका दुःख नाश किया. इसी तरह यहां प्रकरणमें तीन अध्यायोंसे स्पष्ट तथा अस्पष्ट भेदसे विशेष कर तीन प्रकारके जीवोंका दुःख नाश निरूपण किया है।।३७१,३७२।।

व्याख्या : भगवान्ने दुःखनाश इसी तरह किया, जैसे फिर दुःख उत्पन्न न होवे. तीन अध्यायोंसे अर्थात् साधनप्रकरणीय अध्यायों सहित शाल्वादिके नाशसे यादवोंका दुःख नाश स्पष्ट प्रकारसे जाननेमें आता है और पाण्डव तथा अन्योंका दुःख नाश स्पष्ट जाननेमें नहीं आता है कि किस प्रकार स्वयंने दुःख नाश किया।।३७१-३७२।।

कालदोषात्तु ऋषयो वक्तारं मेनिरेऽधमम्।
अतो ज्ञात्वैव रामेण सूतो धर्मार्थमाहतः।।३७३।।
सन्तोषार्थम् ऋषीणां च स्वावतारं विधाय हि।
तत्र तं स्थापयामास कार्यं भागवते स्थितम्।।३७४।।
शुकोक्तम् अन्यथा वाक्यं हृदयं न विशेत् क्वचित्।

ऋषियोंने जो अधम सूतको अपना ब्रह्मपन दे कर वक्ताके आसन पर बिठाया, यह दोष कालका था. श्रीरामने धर्ममर्यादा रक्षार्थ सूतका वध किया, फिर ऋषियोंके सन्तोषके लिये तथा अपना अवतार होनेका कारण विचार, उस साधन पर सूत पुत्रको स्थापित किया. जिसका प्रयोजन यह था कि भागवत् सुना जाय, जो यों नहीं करे, तो शुकदेवजीका कहा हुआ वाक्य कभी भी हृदयमें

प्रविष्ट नहीं होता।।३७३,३७४॥।।

व्याख्या : बलभद्रने तीर्थ यात्रा करते हुए नैमिषारण्यमें आ कर देखा कि यज्ञमें अधम सूत ऋषियोंको उपदेश दे रहा है. यह कार्य धर्म विरुद्ध जान कर सहसा सूतका वध कर दिया. तब ऋषियोंने रामको कहा कि यह वध जो आपने किया है, वह अनुचित किया है कारण कि हमने इसमें अपना ब्राह्मणत्व स्थापन कर इसको यह ब्रह्मासन दिया था. यह सुन कर श्रीरामने ऋषि सन्तोषार्थ तथा अपने अवतारका प्रयोजन विचार कर सूत पुत्र उग्रश्रवाको ब्रह्मासन दे कर कथा प्रारम्भ कराई. यदि बलराम यों न करते, तो उग्रश्रवासर्ज परीक्षित सभामें जा कर शुकदेवजीके मुखसे भागवतका श्रवण न कर सकते. जिसका परिणाम यह होता है कि भागवतका प्रचार होना बन्द हो जाता, यों साधारण दोषका नाश कहा. अब मुख्य दोषका नाश 'बल्वल' कारिकासे कहते हैं।।३७३-३७४॥।।

बल्वलस्य वधो मुख्यो दोषस्तेषां च नाशितः।।३७५।।
बल्वलो दोषसूतौ च त्रयोऽत्र विनिवारितः।
ज्ञानोपदेशो लीलार्थो यथा तीर्थाटनं तथा।।३७६।।

बल्वलका वध मुख्य है, ऋषियोंका दोष नाश हुआ है. १. बल्वल, २. ऋषियोंका दोष और ३. सूत इन तीनोंका नाश यहां कहा है. बलभद्रने जैसे लीलार्थ तीर्थाटन कियो, वैसे ही ऋषियोंको ज्ञानोपदेश लीलार्थ किया।।३७५-३७६।।

व्याख्या : बलभद्रने तीर्थाटन, ऋषियोंको ज्ञानोपदेश आदि सर्व लीलार्थ ही किया।।३७५-३७६।।

शुद्धिस्तीर्थैस्तथा यज्ञैः ज्ञानेनाऽपि भवेद् ध्रुवम्।
ऋषीणां त्रितयं सिद्धम् अग्रे मोहनिवृत्तये।।३७७।।
ज्ञानोपदेशोऽनन्यार्थो दोषा एवं विनाशिताः।
द्वाभ्यां पञ्चभिरग्रे तु गुणैर्दोषनिवारणम्।।३७८।।

तीर्थो, यज्ञों और ज्ञानसे भी निश्चयसे शुद्धि होती है. आगे मोहकी निवृत्तिके लिये ऋषियोंको ये तीन ही सिद्ध हैं. तदर्थ बलरामने ऋषियोंको उपदेश दिया, उस (उपदेश देने)का अन्य कोई प्रयोजन नहीं था. इस (दो अध्यायोंमें दिये हुए उपदेश)से दोषोंको दूर किया है और फिर पांच अध्यायोंसे तो गुणों द्वारा दोषोंका नाश करेंगे।।३७७-३७८।।

व्याख्या : दो अध्यायोंसे पहलेमें धर्मी लीला कही है और दूसरेमें ज्ञान लीला कही है अथवा क्रमानुसार आगेके पांच अध्यायोंसे दोष नाश तथा फलके होनेका प्रचार समझाया है. तीर्थ, यज्ञ करनेसे तथा ज्ञानसे अन्तःकरणादिकी शुद्धि होती है. बलरामजीके उपदेशसे इन (ऋषियों)को शुद्धिके तीनों ही साधन प्राप्त हो गये, जिनसे दोष नष्ट हुए।।३७७-३७८।।

दारिद्र्यनाशः सम्पत्त्या द्वाभ्यां तत्र निरूप्यते।
त्रिभिश्च त्रिविधानं च पूर्वोक्तानां च सर्वशः।।३७९।।

पांच अध्यायोंमेंसे दो अध्यायों (७७,७८)में सम्पत्ति दे कर दरिद्रता नाश की है. शेष तीन अध्यायों (७९-८१)से ऊपर कहे हुए तीन प्रकारके जीवोंके दोष सम्पूर्णतः नाश किये हैं।।३७९।।

व्याख्या : पांच अध्यायोंसे अवान्तरप्रकरणोंका विभाग कहते हैं. 'दारिद्र्य' इत्यादि दो अध्यायों (७७,७८)से सुदामाकी दरिद्रता नाश करनेके लिये सम्पत्ति देनेका वर्णन किया है. तीन अध्यायों (७९,८०,८१)से पूर्व जो त्रिविध तामस, राजस तथा सात्त्विक भक्त कहे हैं, उनका ही सर्व प्रकारसे दोष नाशपूर्वक फल कहा है और उसी तरह यहां जो द्विप्रकरण हैं, उनको सप्ताध्यायोंमें पूर्वमें कहे हुए सर्वत्र दोष निवारण है।।३७९।।

सुदामा ब्राह्मणः कश्चिद् अर्धं च ऋषिसम्मतः।
भार्या तु ब्राह्मणी तस्य नर्षी दारिद्र्यदर्शनात्।।३८०।।
विरुद्धम् उभयं कालात् तत्रैकस्य निवारणम्।

सुदामा नामवाला कोई ब्राह्मण था, वह आधा ऋषि समान था, उसकी पत्नी दरिद्रताके आभाससे ऋषित्वसे हीन थी. अतः दोनों समान भाववाले नहीं थे. काल बलसे एक (सुदामा)का ऋषिपन तिरोहित हो गया।।३८०॥।।

व्याख्या : उस ब्राह्मणका नाम 'सुदामा' है. यह अन्य पुराणमें कहा है. जिसको आधा ऋषि इसलिये कहा है कि स्वयं तो मैं दरिद्र हूं, हाय! मेरे पास धन नहीं है. ऐसे धनके अभावका प्रभाव नहीं पड़ा था. अतः स्वयं ऋषि था, किन्तु उसकी पत्नी पर दरिद्रताका पूर्ण प्रभाव था, धनके लिये उत्सुक थी. अतः उसमें ऋषिपन नहीं था. पति-पत्नी एक कहा जाता है, स्त्री अर्धाङ्गिनी है. उसमें ऋषित्व होनेस ही सुदामा अर्द्ध ऋषि माना गया. योजनामें कहते हैं कि सुदामा अर्द्ध ऋषि ग्रामवासी होनेसे होगा यों भासता है.

ऋषिपन तथा दरिद्रताका प्रभाव –ये परस्पर विरुद्ध हो गये हैं. कालके प्रभावसे स्त्रीके संसर्ग द्वार सुदामा भी धनार्थी बना, जिससे उसका ऋषित्व तिरोहित हो गया. भगवान्के पास याचना करनेके लिये स्त्रीके कहनेसे गया।।३८०॥।।

तत्र कृष्णः पुष्टिमार्गे स्त्रीणां चैव हिते रत।।।३८१।।
अतोऽर्धजरतीयं तं भक्तं चक्रे स्वसङ्गिनम्।

श्रीकृष्णने अनुग्रहमार्गमें स्थित होनेसे अर्धऋषि तथा अर्धसंसारी भक्तको अपना साथी बना लिया तथा आप स्त्रियोंके हितमें ही आसक्त हैं।।३८१॥।।

व्याख्या : सुदामा भगवान्का सखा एवं भक्त था ऋषि भी था, किन्तु कालने ऋषित्वका निवारण किया. यह ही प्रतिबन्ध था, यों होते हुए भी भगवान्ने सुदामाका पुष्टि (अनुग्रह) मार्गमें अङ्गीकार किया है और आप स्त्री हितकर्त्ता हैं. सुदामामें अब अर्द्ध जरतीय न्यायानुसार ऋषित्व तथा अऋषित्व दोनों धर्म हैं ऐसेको अपना बताया।।३८१।।

यथा हि भगवान् अत्र पूर्णकामोऽपि तिष्ठति।।३८२।।
तत्सङ्गिभिस्तथैवाऽत्र स्थेयम् इत्येव निश्चितम्।

इस लीलासे यह निश्चय किया है कि पूर्ण काम भगवान् आप स्वयं जिस प्रकार स्थिति करते हैं, उनके सङ्गियोंको भी उसी तरह यहां रहना चाहिये।।३८२॥।।

व्याख्या : इस कथानकसे यह निश्चित शिक्षा मिलती है कि पूर्णकाम भगवान् जब मूमि पर अवतार ले कर बिराजते हैं, उस समय जिस तरह स्थिति करते हैं, उसी तरह उनके सङ्गी मित्र व भक्तको भी अपनी स्थिति करनी चाहिये।।३८२॥।।

नाशो न कोऽपि भविता ऋषीणां चापि मोचकः।।३८३।।
अलौकिकं च प्रददौ न दूषणम् इहाण्वपि।

भगवान्ने सुदामाकी पत्नीको अलौकिक धन दिया, जिससे उस (सुदामा)को किसी प्रकारकी हानि न होगी, कारण कि प्रभु ऋषियोंकी मुक्ति करनेवाले हैं।।३८३॥।।

व्याख्या : मुक्तिकर्ता भगवान्ने मुक्तिमें बन्धन करनेवाला धन इस

(सुदामा)को कैस दिया? इस शंकाको मिटानेके लिये यह कारिका कही है, जिसमें कहा है कि यह धन सुदामाको न दे कर उसकी स्त्रीको दिया. अतः सुदामाको कोई हानि नहीं हुई न सुदामाका ऋषित्व नष्ट हुआ न ही परलोक बिगड़ा. कारण कि सुदामा भगवान्के पास वास्तवमें धनकी प्राप्ति की प्रार्थना करने नहीं गये थे, केवल स्त्रीके आग्रहसे वहां गये. किन्तु अन्तःकरणमें भगवद्दर्शन हो जायेंगे यह भावना रही थी. भगवान्ने प्रत्यक्षमें वहां धन नहीं दिया इससे प्रसन्न ही हुआ. लौटते समय मार्गमें धन न देनेसे भगवान्की कृपालुता मानने लगा. आनेके बाद वैभव देखा उसका उपभोग अनासक्त हो कर किया. पत्नीको सन्तुष्ट रखा यों करनेसे किसी प्रकार परलोककी भी हानि न हुई।।३८३॥।।

स्वतुल्यत्वाय तु कथा पूर्वजाता निरूपिता।।३८४।।
समक्षं भगवांस्तन्तु ऋषिमेवाकरोत् स्वतः।।
अतो न किञ्चित् प्रददौ भार्यायै तत्र दत्तवान्।।३८५।।

सुदामाको अपने समान दिखानेके लिये पहले हुई कथा कही. भगवान्ने उसको प्रत्यक्षमें (सामने) धन नहीं दिया; क्योंकि उसको अपने सामने स्वतः ऋषि ही कर रखा, इसलिये इसको कुछ भी नहीं दिया, परन्तु उसकी पत्नीको घर बैठे सर्व प्रकारकी सम्पत्ति दे दी।।३८४-३८५।।

व्याख्या: यह ही लीला बृहदारण्यकमें 'अत्रादौ वसुदान' श्रुति द्वारा सुनाई गई है. यदि दोष लेश भी नहीं है, तो फिर 'प्रायो गृहेषु' इत्यादि अनिष्टका अनुवाद कैसे किया? इस कर प्रयोजन इस (सुदामा)को अपने समान सिद्ध करनेका था. यदि यों हैं, तो समक्ष क्यों नहीं दिया? यदि समक्ष देते, तो सुदामा अप्रसन्न होता. इस प्रकारका उसका स्वभाव जान कर समक्ष नहीं दिया. धनकी चाहना स्त्रीको थी, इसको नहीं थी, यह धन उसके लिये नहीं आया था किन्तु दर्शनार्थ आया था, भगवद्दर्शन हो जानेसे मनोरथ पूर्ण हो गया जिससे भगवत्समक्ष पूर्ण ऋषि बन गया, धनेच्छाका अत्यन्ताभाव होनेसे धन नहीं दिया, धन न दे कर भगवान्ने अपना और उसका क्या अभिप्राय है, वह प्रकट कर दिखाया, अतः स्त्रीको घर बैठे दे कर उसकी कामना पूर्ण की।।३८४-३८५।।

अनभिप्रेत पक्षे हि दानाभावो विशिष्यते।
अतो दाने तस्य दोषो गच्छतो वर्ण्यते पथि।।३८६।।

लेनेवालेकी दान लेनेकी इच्छा न हो, तो दान नहीं देना उत्तम है. इसलिये ही अर्थात् दान न मिलनेसे सुदामाने मार्गमें जाते हुए सन्तोष वर्णन किया है।।३८६।।

व्याख्या : इस ७८वें अध्यायमें सुदामाने भगवान् द्वारा कुछ न मिलने पर सन्तोष प्रकट किया है।।३८६।।

सांसर्गिकस्य दोषस्य निवृत्त्यै भगवत्परः।
भक्तिमार्गानुसारेण विषयान् बुजुजे वशः।।३८७।।

सुदामाने अपना चित्त भगवान्में स्थिरकर, विषयोंके अधीन न हो कर क्तिमार्गानुसार अनासक्तिसे विषय भोग किया, वह भी इसलिये कि सांसर्गिक (संसर्गसे उत्पन्न) दोष मिट जावे।।३८७।।

व्याख्या : भगवान्ने सुदामाकी स्त्रीको सर्व प्रकारकी सम्पत्ति दान की, क्योंकि वह (पत्नी) उस सम्पत्तिका उपयोग कर आनन्द लेना चाहती थी, यद्यपि सुदामा भोगेच्छक नहीं था तो भी स्त्रीके सांसर्गिक दोषकी निवृत्तिके लिये, अनासक्त हो भगवान्में तत्पर होके स्त्रीकी राजपिपासा पूर्ण करनेके लिये विषयोंका भोग करने लगा, जिससे संसर्ग दोषका प्रभाव इस पर न पड़ा।।३८७।।

एवं ऋषित्वं भक्तत्वां धनं दारिद्र्यमेव च।
विरुद्धं स्थापयामास स्वकीयत्वप्रसिद्धये।।३८८।।

भगवान्ने सुदामामें अपनी स्वकीयता प्रसिद्ध करनेके लिये ऋषिपन व भक्तपन और धन दरिद्रता ये परस्पर विरुद्ध गुण स्थापित किये।।३८८।।

व्याख्या : सुदामामें अपना भक्तत्व स्थिर करने तथा उसके भक्तपनकी प्रसिद्धि हो, तदर्थ भगवान् स्वयं जैसे विरुद्धधर्माश्रयी हैं, वैसे ही अपना भक्त सुदामा भी विरुद्धधर्माश्रयी है, यह सिद्ध करनेके लिये उसमें ऋषिपन तथा भक्तपन दोनों विरुद्धधर्म स्थापित किये हैं तथा धन दरिद्रता भी परस्पर विरुद्ध धर्म हैं वे इसमें स्थापन किये हैं. ऋषिपन भक्तपनकी विरुद्धता यह है कि ऋषि वेदको ही, सबसे 'पर' प्रमाण मानते हैं भक्तजन भगवान्को 'पर' मानते हैं, धन जहां है वहां दरिद्रता नहीं, जहां दरिद्रता है वहां धन नहीं है, यह इनकी विरुद्धता स्पष्ट ही है. इसी तरह सुदामामें विरुद्ध धर्म स्थापित कर अपने भक्तपनकी प्रसिद्धि की है।।३८८।।

त्रिभिरग्रे तु भगवान् पूर्णं फलम् उदीर्यते।

द्वाभ्यां द्वाभ्यां त्रिभिश्चैव फलत्रयम् उदीरितम्।।३८९।।
दुःखाभावसुखोत्कर्षौ कृष्णश्च त्रिविधस्तथा।
सर्वेषां वाञ्छिताकारः स्त्रीणाम् अत्यन्तवल्लभः।।३९०।।
ऋषिदेवपितृणां च लौकिकालौकिकत्वतः।
फलदाता सर्वभावैः सर्वतोऽत्र निरूप्यते।।३९१।।

इसके आगेके ७९-८१ इस तीन आध्यायोसे भगवान् ही पूर्ण फल हैं यों कहा जाता है. दो-दो अध्यायोंसे और तीन अध्यायोंसे तीन फल कहे हैं १. दुःखका अभाव, २. सुखका उत्कर्ष और ३. कृष्ण तीन प्रकारके हैं; यों कहा है कि १. श्रीकृष्णका आकार (स्वरूप) सभीका इच्छित आकार है, २. स्त्रियोंको वह अत्यन्त प्रिय है तथा ३. ऋषि, देव एवं पितृगण सबको लौकिक-अलौकिक सर्व प्रकारसे सर्वतः फलतादा है यों यहां निरूपण किया जाता है।।३८९-३९१।।

व्याख्या: यों नवश्लोकोंसे दोनोंका अर्थ कहा अब आगेके तीनोंका भावार्थ कहनेके लिये उससे सिद्ध हुए फलके स्वरूपको 'त्रिभि...' तीन कारिका ओंसे कहते हैं. तीन प्रकरणोंसे सिद्ध फलका ज्ञान सरल रीतिसे हो इसलिये पहले 'द्वाभ्यां-द्वाभ्यां' पदोंसे समझाया है कि ७५,७६ अध्यायसे दुःख नाश रूप फल कहा है और दूसरे दो ७७,७८ अध्यायसे सुख रूप उत्तम फलका वर्णन किया है, तथा ७९- ८१तीन अध्यायोंसे श्रीकृष्णके त्रिविध स्वरूपका स्पष्टीकरण किया है, पहले ७९ अध्यायमें १. श्रीकृष्णका ऐसा सुन्दर स्वरूप है जिस स्वरूपके दर्शनकी सकल लोग इच्छा करते है, २. स्त्रियोंको अत्यन्त वल्लभ (प्रिय) है और ३. ऋषिदेव तथा पितर सबको लौकिक अलौकिक प्रकारसे सर्वभावसे पूर्ण फल देते हैं इसी तरह श्रीकृष्णके तीन स्वरूप सिद्ध किये हैं.

वाञ्छित सुन्दर आकार न होता तो उसके दर्शनसे आनन्द प्राप्ति नहीं होती यहां तो 'आसन्नच्युत सन्दर्श परमानन्दनिवृताः', उनके दर्शनसे परमानन्द मग्न हो गये हैं।।३८९-३९१।।

तत्कालस्थाः सर्व एव वर्णा एते च मानुषाः।
सर्वतस्ते समागत्य कृष्णसान्निध्यदर्शनैः।।३९२।।
शुद्धसात्त्विकभावं ते प्राप्ता रोधनम् आगताः।
देहादिकं जगत् सर्वं विस्मृत्य भगवत्पराः।।३९३।।
जाता इति फलं तेषां हरिरेव न संशयः।

अन्ते च गोपिकाः प्रोक्ताः शुद्धसत्त्वप्रसिद्धये।।३९४।।

उस कालमें जो ये मनुष्य स्थित थे, वे सब ही वर्णवाले थे. वे चारों ओरसे आका भगवान् कृष्णके सान्निध्यको प्राप्त हुए और दर्शन किये, जिससे शुद्ध सात्त्विक भावको प्राप्त कर निरुद्ध हो गये. इस (निरोध प्राप्त करनेके) कारणसे सर्व जगतको भूल गये एवं भगवत्परायण हो गये, यों उनका फल हरि ही है इसमें संशय नहीं. अध्यायके अन्तमें गोपियोंके शुद्ध सत्वके प्रसिद्ध्यर्थ गोपिकाओंकी कथा कही है।।३९२-३९४।।

व्याख्या : तामस भक्तोंको राजस भावकी प्राप्ति हुई यह पहले कहा गया है अब उनका सात्त्विकफल होनेका कहनेके लिये अन्तमें व्रजस्थोंकी कथा कही हैं जिसमें उनके शुद्धसत्वकी प्रसिद्धि की है. शुद्ध सत्वकी प्रसिद्धि इसलिये की है कि सत्व, ज्ञान उत्पन्न करनेवाला है, यदि वह सत्व शुद्ध है तो उससे भगवत्स्वरूपके याथात्म्यका ज्ञान हो जाता है।।३९२-३९४।।

निरोधश्चापि तासां हि सर्वभावेन रूपितः।
तदन्ताः सर्व एवैते तत्फला इति निश्चितम्।।३९५।।

उनका ही निरोध सर्व भावसे वर्णन किया गया है, तब तक वे सर्व उपाय जो भी किये जाते हैं, वे साधन हैं. जिनका फल श्रीकृष्णमें निरोध है।।३९५।।

व्याख्या : स्वरूपसे सम्बन्ध हो जाना रूप फल प्राप्तिकी अवधि ही निरोध है, यह निरोध गोपियोंका सर्वभावसे पहले सिद्ध हुआ है, फिर उनकी कथा कहनेकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'तदन्ताः' ये सर्व आदिसे ले कर ज्ञानोपदेश तक जो भी उपाय हैं वे सर्व वहां तक ही हैं, अर्थात् ज्ञान सहित सर्वभाव पूर्वक निरोध रूप फल जब तक नहीं मिला है, तथा पहले सर्वभाव होते हुए भी एवं परोक्ष उपदेशसे परोक्ष ज्ञान होने पर जब तक वह प्रत्यक्ष नहीं होता है, तब तक सर्वभावकी दृढ़ताके अभावके कारण पूर्ण रूपसे अच्छी तरह निरोध सिद्ध नहीं होती है क्योंकि, ऐसी दशामें सर्वभावके अनुभवका रहता है, इस कथाके कहनेसे यह निश्चय हो गया है कि गोपियोंको सर्वभावका अनुभव सिद्ध है जिससे पूर्ण निरोध सिद्ध हुई है।।३१५।।

संसारो भगवांश्चैव विरुद्धं द्वितयं फलम्।
उभयैर्यत् सुखं तद्धि तासां पुष्ट्याऽभवत् तदा।।३९६।।
तथैव प्रार्थितं ताभिः सम्मतं चाऽपि वै हरेः।

संसार और भगवान् ये दोनों फल परस्पर विरुद्ध हैं फिर भी दोनों फलों (संसार तथा भगवान्)से जो सुख होता है, वह सुख उन (गोपियों)को प्राप्त हुआ. जिसका कारण भगवान्का अनुग्रह है. अर्थात् भगवद्नुग्रहसे दोनों फल गोपियोंने भोगे. जिसका कारण गोपियोंने दोनों फलकी प्राप्ति की प्रार्थना की थी, जिससे भगवान् भी सम्मत हो गये थे।।३९६॥।।

व्याख्या: इसी तरह उसका विवेचन कर 'संसार...हरे' तकको डेढ कारिकासे समझाते हैं कि, संसार तथा भगवान् ये दोनों फल परस्पर विरुद्ध हैं अर्थात् जहां संसार होगा वहां भगवान् नहीं होंगे और जहां भगवान् होंगे वहां संसार नहीं होगा किन्तु गोपियोंको दोनों (संसार और भगवान्) फल साथमें ही प्राप्त हुए थे कारण कि भगवान्ने अनुग्रह कर ये दोनों फल उनके सिद्ध किये थे क्योंकि उन्होंने (गोपियोंने) ऐसी ही प्रार्थना ('आहुश्च ते नलिननाम्' श्लोकसे यह सिद्ध होता है) की थी, जिससे हरि भी सम्मत हुए थे. उस समय प्रभुने सर्वात्म स्वरूपसे अनुग्रह किया था जिससे गोपियां दोनों फल निर्विरोध भोग सकीं।।३९६॥।।

'न ज्ञानं न वैराग्यं' यतः प्राह हरिः स्वयम्।।३९७।।
'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं' यत् सर्वाणि चोक्तवान्।

'ज्ञान' तथा 'वैराग्य' कल्याकारक नहीं है, क्योंकि स्वयं भगवान्ने ऐसा कहा है. व्यक्त स्वरूप श्रीकृष्णको सर्व कर्म अर्पण कर जो भजते हैं, उनको सर्वोत्तम फल शीघ्र प्राप्त होता है।।३९७॥।।

व्याख्या: भगवान्ने एकादश स्कन्धमें कहा है कि जो मेरी कथामें श्रद्धावान् हैं, सर्व-कर्मोसे ऊब गया है, जानता है, कि दुःख रूप कामनाएं हैं, फिर भी उनको छोड़नेमें असमर्थ है ऐसी अवस्थामें दृढ़ निश्चयी हो, भक्ति, (प्रेमसे निरन्तर मन लगा कर मुझे भजता है उसकी सर्व कामनाएं जो भी हृदयमें स्थित हैं वे नष्ट हो जाती हैं क्योंकि मैं उसके हृदयमें विराजमान् हो गया हूं. अखिलों (सब)की आत्मा जो मैं हूं उसका उसने दर्शन कर लिया जिससे उसके हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सकल संशय मिट जाते हैं इसलियें जो मेरी भक्तिसे युक्त योगी है मेरेमें ही जिसकी आत्मा व अन्तःकरण है उनके लिये ज्ञान या वैराग्य बहुत करके श्रेयस् कर नहीं है, कारण कि, अखिलात्मक भगवान्के साक्षात्का रूप फलकी प्राप्ति हो जाने पर साधन रूप तथा वैराग्यका कोई प्रयोजन नहीं

रहनेसे उनको अश्रेयस्कर कहा है अर्थात् वे भक्तके लिये लाभदायी नहीं है. गीतामें भी अव्यक्तकी प्राप्ति दुःखसे होती है यों कह कर उस फलका अपकर्ष (हीनत्व) सिद्ध कर अपने व्यक्त स्वरूप फलकी प्राप्तिका उत्कर्ष एवं सुख साध्य बताया है अव्यक्तके उपासक भी चक्कर काट कर अन्तमें उत्कृष्ट अन्तिम फल जो मैं हूं उसको ही प्राप्त होत (पाता) है।।३९७॥।।

जीवतश्च स्थितिर्मृग्या तथा वृत्त्यादि सर्वथा।।३९८।।
स्वाभाविकं न दुःखाय परत्रेह च निश्चितम्।

देहधारीको जीतेजी अपनी स्थिति कि प्रकार रखनी चाहिये? इसको ढूंढना चाहिये तथा जीनेके साधन भी सिद्ध करने चाहिये. इसी तरह जो जीव (देह) धारी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त करता है, उसको लोक तथा परलोकमें दुःख नहीं होता है यह निश्चित है।।३९८॥।।

व्याख्या : जिनको कोश (लिङ्ग) देह नाश हो जाता है उसका फल विदेह कैवल्य है, कि निरोध? फिर गोपियोंका जब लिङ्ग देह नष्ट हो गया तो उनको विदेह कैवल्य होना चाहिये न कि निरोध? ऐसी दशामें निरोध क्यों? इस शंकाके निवारणार्थ 'जीवन' इत्यादि कारिका कही है, ''आहुश्चतेनलिननाम् ततः कार्यः पूर्यमाणः स व्रजः सहबान्धवः'' यहां तकके ग्रन्थसे उनके देहकी स्थितिका ज्ञान होता है कि ज्ञानियोंकी तरह इनकी स्थिति है इसलिये ये भक्तिमार्गीय भक्त हैं, जिनका फल निरोध रूप ही है, उनका लिङ्ग देह तो नाश हुआ किन्तु उस देहने आधिदैविक रूप धारण कर लिया इसलिये वे ज्ञानवित् विदेह नहीं, तथा ऐसे देहमें आधिदैविक सर्व शक्तिमान् रस स्वरूप परमात्मा प्रकट हो गये हैं जिससे उनको जीवन तक अपना देह स्थिर रखना है जिसके द्वारा प्रभु कृपासे दोनों फल साथ-साथ भोगते हैं यही ज्ञानमार्गसे भक्तिमार्गकी उत्कृष्टता (विशेता) है. संसार भोगत हुए भी भक्तजनोंको भगवान्में ही व्यसन बना रहता है, इसलिये ऐसी स्वाभाविक स्थितिके कारण लोक एवं परलोकमें दुःख नहीं, इसी तरह प्रथमाध्यायका विचार किया।।३९८॥।।

लोकद्वयेष्टदं तुल्यं हरेर्नान्यत् परं सुखम्।।३९९।।
विरोध्यन्योन्यम् अन्यत्र याचितं तेन तद्विधम्।

संसार तथा भगवान् दोनों इष्ट फल तब देते हैं, जब वे हरिसे प्राप्त किये जाते हैं, अन्यथा परस्पर विरुद्ध हैं. इसलिये गोपियोंके दोनों फल परस्पर विरुद्ध

न बनें, इस प्रकारसे मांगे थे।।३९९॥।।

व्याख्या: संसार और भगवान् दोनों फल हमकों साथमें हों, ऐसी इच्छाकी पूर्ति वे ही कर सकते हैं जो सर्व शक्तिमान् हों, वे श्रीकृष्ण ही हैं अतः गोपियोंने भगवान्से ऐसा ही फल मांगा, यद्यपि संसार और भगवान् एकत्र स्थित नहीं होते हैं; क्योंकि परस्पर दोनों फल विरुद्ध हैं, किन्तु भक्ति मार्गकी यही उत्कृष्टता है कि भक्तिमार्गमें दोनों विरोधी भी साथी बन जाते हैं. अतः भक्ति (पुष्टि) मार्गमें भक्त संसार (गृहस्थ)में रहते हुए भी भगवान्के चरणारविन्दमें मनको आसक्त रख, उनका मकरन्द रस पान करते रहते हैं।।३९९॥।।

अतिदेशार्थम् अन्येषां निकटे कथनं मतम्।।४००।।

स्त्रीणां स्वस्वपतौ स्नेहः सहजस्तन्निवृत्तये।

कृष्णस्त्रीणां विवाहानां कथा त्वत्र निरूप्यते।।४०१।।

अतिदेशार्थ अर्थात् जो अन्यभी मेरे निकट हैं, उनको भी इसके प्रभावका ज्ञान हो. इसलियेदू दूसरोंकी भी कथा कही है. स्त्रियोंको अपने-अपने पतिमें सहज प्रेम होता ही है, उसको मिटानेके लिये यहां कृष्णकी स्त्रियोंके विवाहकी कथा निरूपण की है।।४००,४०१।।

व्याख्या: द्वितीय अध्यायका विचार 'अतिदेशार्थ' आदि कारिकाओंसे अध्यायके प्रारम्भमें जो 'अर्थ' शब्द स्त्रियोंका भी अधिकाररानुसार निरोधका ज्ञान हो जाये. इसलिये अनुवादपूर्वक यह कथन है यों तात्पर्य हैं.

पूर्वाध्यायमें गोपियोंके निरोधकी कथा कही, वह कथा दूसरोंको भी हितप्रद (लाभदायक) हो, इसलिये दूसरे अध्यायमें युधिष्ठिर आदिके निरोधकी कथा कही गई है. कृष्णकी स्त्रियोंके विवाहोंकी कथासे स्त्रियोंका लौकिक पतिमें जो स्नेह था, उसकी निवृत्ति कराई गई है, जिससे लोक तथा वेदके दोषसे मुक्त हो जानेसे निरुद्ध हो गई. उनकी लोक, वेद, निरोध, दोष परिहारके लिये आगे 'लोकाद्भय' कारिका द्वारा समझाते हैं।।४००,४०१।।

लोकाद् भयं गोपिकाभिः पूर्वमेव निवारितम्।

पुरुषोत्तमभावेन वैदिकं च निवारितम्।।४०२।।

गोपियोंका लोकसे भय पहले ही मिटा दिया है. अब पुरुषोत्तमके भाव दृढ़ होनेसे वैदिक भय भी मिटा दिया है।।४०२।।

व्याख्या: भगवद्भक्ति करनेमें, लोग भय और लज्जा नहीं करनी

चाहिये, जैसे गोपियोंने भगवद्भक्ति करते हुए लोक भय पहले ही त्याग दिया था अब उनको यह ज्ञान भी हो गया कि श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम हैं इससे 'पर' अन्य कोई नहीं है वेदसे भी उत्कृष्ट 'पर' यही है जिससे गोपियोंका वेद भय भी मिट गया. अतः उन्होंने अपना सहज प्रेम पतियोंसे निकाल, भगवान्से किया पतियोंसे प्रेम न निकालनेमें लोक-वेद भय ही कारण हैं जो भय उनका नष्ट हो गया।।४०२।।

उत्कर्षे तु श्रुते स्त्रीणां पूर्वभावो विनश्यति।
पश्चात्तापश्च जायेत विवाहख्यापनं ततः।।४०३।।

स्त्रियोंने जब श्रीकृष्णका उत्कर्ष सुना व समझा, तब उनका पहला भाव नाश हो गया और यों पहले प्रकारके भाव करनेका पश्चाताप करने लगी. अतः विवाहका वर्णन किया गया है।।४०३।।

व्याख्या : जब भगवान्का उत्कर्ष सुना जाय तब उससे पूर्व जो भगवान्से प्रेम न करनेका भाव था यह नाश हो जाता है और पहले प्रकारके भाव करनेका पश्चाताप होता हैं अर्थात् हमने श्रीकृष्णसे अब तक प्रेम नहीं किया वह बहुत बुरा किया, इसलिये भगवान् (श्रीकृष्ण)का उत्कर्ष दिखानेके लिये ही उनकी पत्नियोंके विवाहोंकी कथा प्रसिद्ध की है।।४०३।।

कृष्णे कामाद्यभावाय दास्यं सर्वत्र वर्ण्यते।
सर्वभावेन सर्वासां विवाहकरणे क्षमः।।४०४।।
सुतरां भक्तियुक्तानां लक्ष्मणायाः कथा तता।

श्रीकृष्णमें कामादिका अभाव है, यों दिखानेके लिये सर्वत्र अपना दास भाव ही दिखाया है. सर्वभावसे सकल स्त्रियोंके साथ विवाह करनेमें श्रीकृष्ण मार्ग हैं. भक्तिवाली स्त्रियोंके साथ सुतरां (सुन्दर प्रकारसे) विवाह कराते हैं तथा लक्ष्मणाकी कथा विस्तार पूर्वक कहीं है।।४०४।।

व्याख्या : श्रीकृष्णमें कामादि दोषोंके अभावका प्रमाण (सबूत) विवाहके समय पत्नियोंकी प्रकट की हुई अपनी दास्याभावकी प्रार्थना है भगवान् सर्वभावसे सकल स्त्रियोंके भावानुरूप विवाह करनेमें समर्थ हैं. आचार्यश्रीने सुबोधिनीमें भगवान्की आठ पटरानियोंको आठ भक्तियोंका स्वरूप कहा है, उन भक्तिरूप आठ पटरानियोंसे श्रेष्ठ रीतिसे विवाह हुआ है. भौमासुरके यहांसे लाई हुई स्त्रियां आत्म निवेदन नवमी भक्तिके स्वरूप हैं, यो उनकी कथासे ज्ञात होता

हैं लक्ष्मणाके विवाहका वर्णन विस्तारसे किया है, इस विवाहसे भगवान्ने द्रौपदीका गर्व मिटाया है, यों आचार्य श्रीसुबोधिनीमें कहते हैं।।४०४॥।।

द्रौपदी पुष्टिमार्गस्था ततः पृच्छति यत्नतः।।४०५।।
तदुत्कण्ठापराः सर्वा रुक्मिण्याद्याश्च देवताः।
जाता इति पुरा प्रोक्तात् फलाद् एतद् विशिष्यते।।४०६।।

पुष्टिमार्गीय द्रोपदी प्रयत्नपूर्वक पूछती है कि ये विवाह कैसे हुए? अन्य सब उत्कण्ठित हो कर सुनती हैं. इन कथाओंके सुननेसे सब रुक्मिणी जैसी हो गई।।४०५,४०६।।

व्याख्या–आचार्यश्रीने सुबोधिनिमें इसका स्पष्टीकरण किया है कि इन कथाओंके श्रवणसे अन्योंका भी धीरे–धीरे भगवान्में रुक्मिणी जैसा प्रेम हो गया जिससे वे भी वैसी तन्मय हो गई।।४०५,४०६।।

विस्मयाविष्टचित्तानां भविष्यति तथा हरिः।
पूर्वोक्तानामपि तथा क्रमवृद्ध्या क्षणे क्षणे।।४०७।।
महिषीणां यथा भावस्तथा साधु भविष्यति।

पूर्व (पहले) कही हुई विस्मययुक्त चित्तवाली स्त्रियोंका भी हरि वैसे ही निरोधकर्त्ता होंगे, जिससे उनका भी हरिका प्रेम क्षण–क्षणमें बढ़ता रहेगा एवं वह प्रेम पटरानियोंके प्रेमके समान ही उत्तम प्रेम होगा।।४०७।।

व्याख्या : साधन न करने पर भी अन्योंका यह भाव कैसे हुआ? इस पर कहते हैं 'विस्मयाविष्ट.....भविष्यति' पटरानियोंके विवाहकी कथा सुनते हुए जो अन्य स्त्रियां विस्मय युक्त हो गई, उनका भी भगवान्ने कृपासे निरोध किया जिससे उनको भी भगवान्में वैसा ही उत्तम प्रेम धीरे–धीरे होने लगा जैसा पटरानियोंका था, यों आठ कारिकाओंसे दूसरे अध्यायका विचार किया।।४०७॥।।

लौकिकान् अखिलानेवं समुद्धृत्य मनीषया।।४०८।।
वैदिकान् ऋषिदेवांश्च पूर्वभावस्य सिद्धये।
ततः प्रभृति पूज्यन्त इति न्यायेन वै हरिः।।४०९।।
स्तोत्रं तेषां चकाराद्ये निरोधार्थं तु ते पुनः।
विपरीतं सर्वम् आहुः शास्त्रार्थोऽयं हि पुष्टितः।।४१०।।
सान्निध्यादेव सर्वेषां हृद्येवं समुपागतम्।

अनेनैवोपदेशोऽभूत् फलं चापि समं मतम्।।४११।।

सकल लौकिक पुरुषोंका इस प्रकार उद्धार कर अनन्तर वैदिक ऋषि तथा देवोंके, पूर्व भावकी सिद्धि हो, जिससे वे पूजनीय बने इस आशयसे हने प्रारम्भमें उनकी स्तुति की. वे तो अपने निरोधके लिये उससे जो विपरीत कहते हैं, वह शास्त्रोंका अर्थ (तात्पर्य) है. उस समय भगवान्का सान्निध्य था. अतः अनुग्रहसे यह समस्तोंके हृदयमें यों स्थिर हो गया अथवा समझमें आ गया।।४०८-४११।।

व्याख्या: तीसरा अध्याय 'लौकिका नखिलानेवं'...कारिकाओंसे विचारते हैं, वैदिक ऋषि तथा देवोंका आगेकी तरह फिर पूजनादि हो इसलिये भगवान्ने आदिमें ही इनकी बुद्धि पूर्वक स्तुति की है, यह न्याय भारत तथा पाद्म पुराणों आदिमें प्रसिद्ध है, अर्थात् भगवद्भक्ति करनेसे जिनमें भगवदावेश आ जाता है और फिर जिनका भगवान्ने सन्मान किया है वे जीव इस समयसे सकल लोगोंके पूज्य बताते हैं? इस कारिकामें 'तु' शब्द पूर्व पक्षके निरासार्थ दिया है यों कहनेका अभिप्राय 'ते पुनः'से कहते हैं: ऋषि लोग भगवत्स्तुतिसे प्रसन्न नहीं हुय कारण कि वे अपना भगवान्में निरोध चाहते थे, इसलिये इसके (भगवान्के वचनोंके) विरुद्ध कहने लगे, अर्थात् भगवान्के स्वरूपका वर्णन कर उनको प्रणाम कर उनके दर्शनोंसे अपनेको कृतकृत्य मानने लगे. ऋषि लोगोंने जो कहा वह ही शास्त्रोंका तात्पर्य है. अतः वह तात्पर्य वहां जो भी उस समय उपस्थित थे उनके हृदयमें वह स्थिर हो गया कारण कि भगवान् स्वयं वहां उस समय बिराजमान थे जिससे जाना जाता है कि इसमें भगवान्की भी सम्मति थी. इस चरित्र व लीलासे भगवान्ने दूसरा कार्य भी सिद्ध किया अर्थात् फलकी भी प्राप्ति करवाई इसी तरह सबको अधिकारानुसार निरोध सिद्ध हो गया।।४०८-४११।।

प्रमेयबलम् आसाद्य यादवानां फलं पुनः।
कृतं सन्देहजननात् प्रमाणेनोच्यते पुनः।।४१२।।

प्रमेय बल द्वारा जो फल यादवोंको प्राप्त करता था, इसमें सन्देह उत्पन्न होनेसे पुनः वह प्रमाणसे कहा जाता है।।४१२।।

व्याख्या: जब सबको पूर्ण फल मिलता तो फिर शेष क्या रहा था, जो वसुदेवजीके यज्ञकी कथा कहनेसे आई? ऐसी आकांक्षा होने पर उसका प्रयोजन कहनेके लिये पहले प्रश्न प्रयोजन 'प्रमेय...'कारिकासे कहते हैं कि इस सात्त्विक

प्रकरणके प्रमेय प्रकरणमें प्रमेय बलसे यादवोंको दोषाभाव रूप फल प्राप्त कराया, किन्तु नीतिसे उसमें सन्देह उत्पन्न हुआ उनको सदोष कहा, इसलिये फिर प्रमाणसे उनकी निर्दोषता सिद्ध की गई है. जिससे वसुसेवके यज्ञकी कथा कही है।।४१२।।

वसुदेवस्य सम्प्रश्नः ततो यागार्थम् उच्यते।
ईशलीलां सुदुर्बोधां मत्वा ते संशयं गताः।।४१३।।

यज्ञ होना चाहिये, इसलिये वसुदेवका प्रश्न कहा है. भगवान्की लीला समझनी कठिन है, यों मान कर वे संशयग्रस्त हुए।।४१३।।

व्याख्या : उस हेतुसे यज्ञके लिये वसुदेवका प्रश्न है. वे अर्थात् यादव भगवान्की दूर्बोध लीला न समझनेसे संशयको प्राप्त हुआ।।४१३।।

नारदः पूर्ववत् प्राह सर्वसन्देहवारकः।
सात्त्विकप्रक्रियायां हि प्रमाणं न हि दर्शितम्।।४१४।।
ततः कृष्णकृतं सर्वं लौकिकं मेनिरेऽखिलाः।

सकल सन्देहोंको मिटानेवाले नारद अब भी पहलेकी तरह कहते हैं अर्थात् सन्देह मिटा देते हैं सात्त्विक प्रकरणमें प्रमाण नहीं दिखाया है. इससे श्रीकृष्णके किये हुए कार्यों (लीलाओं)को सब लोग लौकिक मानते थे इस संशयको नारदने मिटा दिया।।४१४।।

व्याख्या : इतनेसे ही इस प्रकार संशय कैसे हुआ? इसका उत्तर 'सात्त्विक प्रक्रियायां' कारिकासे देते हैं कि, सात्त्विक प्रकरणमें प्रमाण नहीं दिखाया है इसलिये इनको (यादवोंको) संशय हुआ, कारण कि ये खल हैं जैसे कहा हैं कि 'यादवनितरामपि'।।४१४।।

अतो यागोत्सवो जातो लौकिकं वैदिकं तथा।।४१५।।
एकीभूयाभवद् भक्तौ तेन सर्वेऽभवन्समाः।
सर्वेषां सर्वभावो हि फलादपि हरिः फलम्।।४१६।।
सात्त्विकप्रक्रियायां हि सर्व एव निरूपिताः।
निर्गुणत्वं समापन्ना निरोधोऽत्रैव रूपितः।।४१७।।

इस कारणसे यज्ञोत्सव हुआ, लौकिक तथा वैदिक दोनों साथ ही सर्व भक्तिमें उपयोग हुए, जिससे सब समान बने, सभीका भगवान्में सर्व भाव दृढ़ हो गया और समझने लगे कि सर्व फलोंसे उत्तम फल हरि ही है. इसी तरह सात्त्विक

प्रकरणमें सब सात्त्विक बन गये, यों निरूपित है. सात्त्विक हो कर निर्गुणताको प्राप्त हुए, यहां ही निरोध बताता है।।४१५-४१७।।

व्याख्या: अब संशयकी निवृत्तिका प्रकार बताते हैं कि अतः अर्थात् इस संशय निवृत्यर्थसे ही लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकारसे यज्ञोत्सव सिद्ध हुआ, यह लौकिक वैदिक यज्ञका सर्वकार्य भक्तिके लिये हुआ था, जिससे भक्तिमें उपयोगी हुए इससे अर्थात् यज्ञ क्रिया, भक्तिसे उपयोगी होनेसे सब यादव जो राजस हुए वे भी अब चित्तकी विषमता दूर होनेसे समान हो गये अर्थात् सात्त्विक बन गये, राजसादिकोंका सात्त्विक बनना शेष था इसलिये इस कथाका अवतरण किया गया है, इसी तरह सबको पूर्ण फल निरूपणकर, उपसंहार करते हैं कि 'सर्वेषां हरिः फलम्' सबोंका भगवान्में सर्वभाव दृढ़ हो गया और समझ गये कि सकल फलोंसे उत्तम फल हरि ही हैं, इस प्रकार सात्त्विक प्रकरणमें सब 'सात्त्विक बने', अनन्तर ही निर्गुणताको प्राप्त कर निरोध-सिद्धिको प्राप्त हुए तब यहां स्कन्ध प्रतिपाद्य निरोध पूर्ण सिद्ध हुआ, यों अर्थ (तात्पर्य) है. इसी तरह ११३ कारिकाओंसे सात्त्विक प्रकरणका विचार किया है।।४१५-४१७।।

।। सात्त्विक फलप्रकरण समाप्त।।

।।सात्त्विक प्रकरण सम्पूर्ण।।

।। श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रम् ।।

दशमस्कन्धान्तर्गत सात्त्विक प्रकरणके नाम

नृगपाप प्रभेताच ब्रह्मस्वगुणदोषदृक् ।
विष्णुभक्तिविरोधैकब्रह्मस्वविनिवारकः ।।२१५।।

(९५६) नृगपाप प्रभेत्ता – नृगराजाके पापको दूर करनेवाले.

नृगराजा ब्राह्मणोंको बहुत ही दान देते थे. एक दिन ऐसा हुआ कि एक ब्राह्मणको शास्त्रविधिके प्रमाणसे गायोंका दान दिया. उन गायोंमेंसे एक गाय उस झुंडमेंसे निकल कर राजाकी गौशालामें फिरसे आ गई. अब उसी गायको राजाने दूसरे ब्राह्मणको दान कर दिया. अब पहला ब्राह्मण अपनी खोई हुई गायको ढूंढता हुआ वापिस आया तो उसने उस गायको दूसरे ब्राह्मणकी गायोंके झुंडमें देखा. और उस ब्राह्मणको कहा कि यह तो मेरी गाय है. अब दोनोंमें जब झगड़ा हुआ तो राजाने दोनोंको समझाकर कहा कि जिसको जितनी गाय चाहियें वो और ले लो और फैसला कर लो. पर दोनों ब्राह्मण नहीं माने. फलस्वरूप राजाका काल आया और उसे इसके फलस्वरूप गिरगिटकी योनि मिली. यादवोंके राजकुमार खेलते खेलते वहां आये और उनकी गेंद एक कुवेंमें गिर गई. जब गेंदको निकालनेके लिये उन्होंने कुएमें देखा तो उन्हें वह गिरगिट दिखाई दिया और उन्होंने उसे निकालनेके लिये बहुत प्रयास किया परन्तु वह गिरगिट नहीं निकला. तब उन्होंने भगवान्के पास आकर निवेदन किया और भगवान्ने वहां आकर अपने स्पर्शसे उस गिरगिटका उद्धार किया. अतएव नृगराजाको ब्रह्मस्व पापसे दूर करनेवाले प्रभु ऐसा कहा गया है.

(९५७) ब्रह्मस्वगुणदोषदृक्

ब्राह्मणोंके द्रव्यके गुण और दोषको देखनेवाले नृग राजाको ब्राह्मणके द्रव्य ग्रहणसे होनेवाले दोष और गुण अन्य पुरुषोंको बतानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

ब्राह्मण संबंधी कोई भी द्रव्य या वस्तुको ब्रह्मस्व कहा जाता है. इस ब्रह्मस्वको अजानपनेमें भी ग्रहण करनेसे पाप होता है तो जान बूझकर उसका हरण करे तो कितना अधिक पाप होगा? ऐसा आपने यदुराजकुमारोंको समझाया है. और ब्रह्मस्वमें एक महानगुण भी रहा हुआ है कि बारंबार अगणित दान ब्राह्मणोंको देनेसे भगवद्दर्शन रूप अतुल फलभी प्राप्त होता है. नृगराजाने

अजानपनेमें ब्रह्मस्व हरण किया तो सैंकड़ो वर्षोंतक गिरगिटकी योनिका कष्ट भोगा. परन्तु भलीप्रकारसे दान देनेसे भगवद्दर्शन रूप दिव्य फल भी प्राप्त किया है. प्रभुने ब्रह्मस्वके गुण और दोषोंका सबको ज्ञान हो उस हेतुसे ही यदुराजकुमारोंको यह उपदेश दिया है. अतएव ब्रह्मस्वके गुणदोषोंको बतानेवाले तथा दिखानेवाले प्रभु यह कहा गया है.

(९५८) विष्णुभक्तिविरोधैकब्रह्मस्वविनिवारकः

भगवान् विष्णुकी भक्तिमें विरोध प्रतिबन्ध करनेवाला ब्राह्मणका द्रव्य है इस दोषका निवारण करनेवाले द्वारकेश प्रभु श्रीकृष्ण.

बलभद्राहितगुणो गोकुलप्रीतिदायकः।
गोपीस्नेहैकनिलयो गोपीप्राणस्थितिप्रदः ॥२१६॥

(९५९) बलभद्राहितगुणः

बलभद्रजीमें शोकरहित अर्थात् आनन्दादि स्वभाव-गुणोंको स्थापित करनेवाले भगवान्.

(९६०) गोकुलप्रीतिदायकः

बलदेवजीके द्वारा गोकुलनिवासी नन्द-यशोदादिको आनन्द देनेवाले.

(९६१) गोपीस्नेहैकनिलयः गोपीजनोंके स्नेहके स्थानरूप.

(९६२) गोपीप्राणस्थितिप्रदः

गोपाङ्गनाओंके प्राणको स्थिति अर्पण करनेवाले अर्थात् बलदेवजीके द्वारा गोपीजनोंको शान्ति देनेवाले गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण भगवान्.

वाक्यातिगामियमुनाहलाकर्षणवैभवः।
पौण्ड्रकत्याजितस्पर्धः काशीराजविभेदनः ॥२१७॥

(९६३) वाक्यातिगामियमुनाहलाकर्षणवैभवः

बलदेवजीके वाक्यका उल्लंघन करनेवाली श्रीयमुनाजीको हलके द्वारा आकर्षित करनेमें जिनका महान् सामर्थ्य है ऐसे बलदेव संकर्षणरूप श्रीकृष्ण.

(९६४) पौण्ड्रकत्याजितस्पर्धः

पौण्ड्रक राजाकी स्पर्धाको छुड़ानेवाले. करुषदेशका अधिपति पौण्ड्रक श्रीकृष्णके जैसा सर्ववेश रखकर यह कहता था कि मैं ही कृष्ण हूं, वासुदेव हूं. ऐसे कहकर शंख, चक्र, गदा, पद्म गरुडका वाहन इत्यादि सब श्रीकृष्णके चिह्नोंको धारण करता था. आपकी स्पर्धा करता था. दूत द्वारा भी श्रीकृष्णको युद्धके लिये

ललकारा था. अतएव प्रभुने उसके नगरको घेरकर उसका नाश किया. अतएव यहां पौण्ड्रककी स्पर्धाको छुड़ानेवाले प्रभु ऐसा कहा गया है.

(९६५) काशीराजविभेदनः

मिथ्या वासुदेव पौण्ड्रकके मित्र काशीराजको मारनेवाले श्रीकृष्ण.

काशीनिदाहकरणः शिवभस्मप्रदायकः ।
द्विविदप्राणघाती च कौरवाखर्वगर्वनुत् ॥२१८॥

(९६६) काशीनिदाहकरणः

सुदर्शन चक्रको आज्ञा देकर काशी नगरीका दाह करानेवाले. काशीराजके पुत्र सुदक्षिणने अपने पिताको मारनेवाले श्रीकृष्णको मारनेके लिये ब्राह्मणोंद्वारा दक्षिणाग्निमें होम देकर कृत्याको द्वारिकापुरीको जलानेके लिये भेजा. जिसके कारण चक्र द्वारा अपने नगरकी रक्षा करी एवं चक्रको आज्ञा करके काशीनगरको जलाकर भस्मीभूत कर दिया. ऐसे भागवतके इस स्कन्धके अध्याय ६६में दर्शाया गया है. इस हेतुसे आपश्रीने यह नाम प्रकट किया है.

(९६७) शिवभस्मप्रदायकः

शिवजीको भस्म प्रदान करनेवाले. भस्मरूप आभूषणोंसे शोभायमान बने हुये शिवजीको आपने सकल काशीपुरको जलाकर शरीरको शृंगारित करनेकेलिये बहुत ही भस्म–विभूति अर्पण करी है. अर्थात् काशीनगर विश्वनाथ श्रीशिवजीको मनाया है. अपने कृपापात्र शिवजीके नगरको कैसे जला सकते हैं? फिर भी अपने जनकी अभिलाषा (शरीरको शोभायमान संबंधी) को पूर्ण करने तथा आसुरी जीवोंसे भरपूर अपवित्र बनी हुई काशीनगरीको पवित्र करनेके लिये भस्मावशेष करी है.

(९६८) द्विविदप्राणघाती

द्विविदवानरके प्राणका घात बलदेवजीके द्वारा करानेवाले भगवान्.

भौमासुर (नरकासुर)के परममित्र द्विविदवानरके प्राणोंका बलदेवजीके द्वारा आपने नाश करवाया है. ऐसे इस स्कन्धके ६७वें अध्यायमें कथा आती है.

(९६९) कौरवाखर्वगर्वनुत्

कौरवोंके महान् गर्वको बलदेवजीके द्वारा नाश करानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण. दुर्योधनादि सकल कौरवोंके अपूर्व गर्वको – लक्ष्मीके महान् मदको उतारनेकी यह कथा इस स्कन्धके ६८वें अध्यायमें आती है. श्रीकृष्णकी तृतीय पत्नी जांबबतीके पुत्र साम्बने अपने ऊपर आसक्त हुई कौरवराजकी राजकुमारी

लक्ष्मणाका हरण किया. इस कारण कोपयमान होकर सब कौरवोंने एक होकर साम्बका पराभव करके उसे बंदी बना लिया. इसे जानकर श्रीकृष्णादिने युद्ध करनेकी तैयारी करी परन्तु सम्बन्धियोंमें परस्पर कलह उत्पन्न न हो, इस कारण बलरामजी कौरवोंके मनका समाधान करने और साम्बको उसकी स्त्रीके साथ लानेके लिये हस्तिनापुर पधारे. कौरवोंने बलरामजीका महान् अपमान किया जिसके कारण क्रोधायमान बलदेवजीके द्वारा प्रभुने उनके महान अभिमानको उतार दिया जिसको आगेके नाममें कहते हैं.

लाङ्गलाकृष्टनगरी–संविग्नाखिलनागरः।
प्रपन्नाभयदः साम्ब–प्राप्तसन्मानभाजनम्. ।।२१९।।

(९७०) लाङ्गलाकृष्टनगरीसंविग्नाखिलनागरः

हलके अग्रभागसे आकृष्ट हुई नगरीके कारण उसमें निवास करनेवाले समस्त नागरिकजनोंको उद्विग्न करनेवाले बलदेवरूप श्रीकृष्ण. महामदोन्मत्त बने हुए दुर्योधनादि कौरवोंके मदको उतारनेके लिये महाबलवान बलदेवजीने अपने आयुध हलके अग्रभागसे हस्निापुर नगरको उखाड़कर गंगानदीमें डालना शुरु किया. जिससे कौरवोंका गर्वगलित हो गया. बलदेवजी द्वारा ऐसा प्रभावशील महत्त्वकर्म करनेवाले आप श्रीकृष्ण ही हैं. ऐसा समझना.

(९७१) प्रपन्नाभयदः

शरण आये हुए जनोंको अभय देनेवाले श्रीबलदेव प्रभु. अपनी नगरीको ऊपर कहे प्रमाणसे गंगाजीमें डलते देखकर तथा उसमें निवास करनेवाले नागरिकोंकी पीड़ाको देखकर, सर्व कौरव प्रभावसम्पन्न बलदेवजीकी शरणमें गये. भगवान् अपनी शरणमें आये हुओंको तो अभय प्रदान करते हैं. अतएव शरणमें आये हुये हस्तिनापुरवासियोंको अभय प्रदान करनेवाले ऐसे प्रभु कहा गया है. बलदेवजी द्वारा अभय प्रदान करनेवाले भी आप परमात्मा श्रीकृष्ण हैं.

(९७२) साम्बप्राप्तसन्मानभाजनम्

जाम्बवतीके पुत्र साम्बके कारण प्राप्त सत्कारपूर्वक सन्मान प्राप्त करनेवाले भगवान्. बलरामजीसे अभय पाकर दुर्योधनादि कौरवोंने वधुसहित साम्बको अनेक प्रकारकी उत्तम पहरावनी यादवोंको प्रदान करी हैं. अतएव यहां साम्बके कारण सन्मानको प्राप्तकरनेवाले प्रभु कहा गया है.

नारदान्विष्टचरणो भक्तविक्षेपनाशकः।

सदाचारैकनिलय: सुधर्माध्यासितासन: ।।२२०।।

(९७३) नारदान्विष्टचरण:

देवर्षि नारदजीने जिनके चरणोंकी वाञ्छनाकी है ऐसे भगवान्. श्रीकृष्ण प्रभुकी अनेक स्त्रियां हैं ऐसा जानकर उनके साथ अकेले एककालावछिन्न सब महलोंमें निवासकर विलासादि सर्व गृहस्थाश्रमके कर्म किस प्रकार करते हैं, यह नारदजीको संदेह हुआ. इस भगवल्लीलाका अनुभव करनेके लिये नारदजी भगवान्की पटरानियोंके अलग अलग निवास-स्थलोंमें गये और सर्वत्र प्रभुको नाना प्रकारके व्यवसायोंमें बिराजित देखा. ऐसा इस स्कन्धके ६९वें अध्यायमें दर्शाया गया है. अतएव यह नाम प्रकट हुआ है.

(९७४) भक्तविक्षेपनाशक:

भक्त नारदजीके चित्तमें उत्पन्न विक्षेपका नाश करनेवाले प्रभु. प्रत्येक भगवन्मंदिरमें प्रभुके विविध कर्मोंको देखकर, उनकी मायाके वैभवको, आपकी सामर्थ्यको अलौकिक अचिन्त्य समझकर नारदजीके अंत:करणमें कई कई तरंगे उठने लगी और आप आश्चर्य चकित हो गये. अतएव नारदजीके मनमें उत्पन्न हुई विक्षेपता-विकलताको आप प्रभुने कृपा करके दूर किया है. इस कारण भक्तके चित्तकी विक्षेपताका नाश करनेवाले प्रभु, ऐसा नाम कहा गया है.

(९७५) सदाचारैकनिलय:

सत्पुरुषोंके आचारके एकमात्र स्थानरूप भगवान् श्रीकृष्ण.

शिष्ट पुरुषोंका शास्त्रमें जैसा आचार मान्य करनेमें आया है जैसे कि ''ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय परब्रह्म विचिन्तयेत'' ''अहरह: सन्ध्यामुपासीत'' (ब्राह्म मुहूर्त्तमें उठकर परब्रह्मका चिन्तन ध्यान करना तथा निरंतर सन्धोपासन करना) इत्यादि सत्पुरुषोंके परम्पराप्राप्त आचारोंको मान्य करना चाहिये. आप प्रभु सर्वजगतके नियंता होते हुये भी लोकसंग्रहार्थ इन सर्व आचारोंका शास्त्र विधिसे पालन करते हैं. अतएव ऐसा नाम वर्णित किया गया है.

(९७६) सुधर्माध्यासितासन:

द्वारिकानगरीमें स्थापित सुधर्मा नामकी राजसभाके मध्यस्थानमें जिनका सिंहासन स्थापित किया है, ऐसे द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण.

जरासंधावरुद्धेनविज्ञापितनिजक्लम: ।
मन्त्र्युद्धवादिवाक्योक्तप्रकारैकपरायण: ।।२२१।।

(९७७) जरासंधावरुद्धेनविज्ञापितनिजक्लमः

जरासन्धने जिनको बन्दीखानेमें कैद किया था ऐसे राजाओंने अपना दु:ख भगवान्‌के प्रति निवेदन किया ऐसे भगवान्.

(९७८) मन्त्र्युद्धवादिवाक्योक्तप्रकारैकपरायणः

मंत्री उद्धवादिके वाक्योंमें कथन किया हुआ प्रकार ही आश्रय करने योग्य अर्थात् स्वीकार करने योग्य है यह माननेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

एक दिन श्रीकृष्ण सुधर्मासभामें बिराज रहे थे तब जरासंधके द्वारा बनाये गये बंदी राजाओंका एक एकान्त दूत आया; और उसके पीछे युधिष्ठिरकी राजसूय यज्ञ करनेकी इच्छाको बतानेके लिये देवर्षि नारद भी पधारे. उन दोनों कार्योंको किस प्रकार करना? इस प्रश्नको राजनीतिकुशल उद्धवजीसे पूछा गया. तब उनके बताये गये प्रकारसे ही आपने वर्तन किया है. यह इस स्कन्धके ७१वें अध्यायमें स्पष्ट है. अतएव यहां उद्धवजीके वाक्योंमें कहे गये प्रकारको माननेवाले ऐसे प्रभु श्रीकृष्ण हैं.

राजसूयादिमखकृत्संप्रार्थितसहायकृत्।
इन्द्रप्रस्थप्रयाणार्थमहत्संभारसंभृतिः ।।२२२।।

(९७९) राजसूयादिमखकृत् – राजसूयादि यज्ञको सम्पादन करनेवाले.

(९८०) संप्रार्थितसहायकृत्

पाण्डवोंकी प्रार्थनासे उनको सहायता करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

पाण्डवोंकी प्रार्थनासे ही महाबलवान जरासंधका वध करवानेका उपाय दर्शाकर आपने दिग्विजयमें सहायता करी है. अर्थात् प्रभुकी कृपादृष्टिसे ही सर्वत्र पाण्डवोंको दिग्विजय मिली है. अतएव यहां प्रार्थना करनेसे सहायता करनेवाले परमात्मा ऐसा उपदेश मिलता है.

(९८१) इन्द्रप्रस्थप्रयाणार्थमहत्संभारसंभृतिः

पाण्डवोंकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ नगरीमें प्रयाण करनेके लिये महाराजाओंके योग्य रत्नादि पदार्थोंका संग्रह करनेवाले श्रीद्वारिकाधीश प्रभु.

जरासंधवधव्याजमोचिताशेषभूमिपः।
सन्मार्गबोधको यज्ञक्षितिवारणतत्परः ।।२२३।।

(९८२) जरासंधवधव्याजमोचिताशेषभूमिपः

जरासंधके नाशको निमित्तकर उके बन्दीखानेमेंसे अनेक राजाओंकी रक्षा

करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

ब्राह्मणोंका वेश धारण करके भीमसेन और अर्जुनके साथ जरासंधके नगरमें प्रवेश करके उससे भिक्षामें द्वन्द्वयुद्ध मांगनेवाले और भीमसेनके द्वारा युक्तिपूर्वक उसका विनाश किया जिसके कारण बंदीवान् अनेक नृपति मुक्त होकर प्रभुकी स्तुति करने लगे. ऐसा स्कन्धके ७१वें अध्यायमें स्पष्ट किया गया है. अतएव जरासंधके वध द्वारा राजाओंको मुक्ति दिलानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(९८३) सन्मार्गबोधकः सन्मार्ग अर्थात् भक्तिमार्गका उपदेश देनेवाले भगवान्.

(९८४) यज्ञक्षितिवारणतत्परः

यज्ञमण्डपमें यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंके वरण करनेमें अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी कार्योंकी विविध योजना करनेमें तत्पर.

यज्ञोंमें अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं. जैसे कि द्रव्यके अभावके कारण अनेक दूषण आते हैं. उन सबको भली प्रकारसे सुधार कर द्रव्य पूर्ति करनी, ऐसे कार्यका सम्पादन करनेमें प्रभु ही समर्थ हैं. ऐसे महाकर्म साधनेके लिये प्रभुकी कृपा आवश्यक है. युधिष्ठिर राजाके राजसूययज्ञमें प्रभुकृपाके बलसे ही वो सारे कार्य सिद्ध हुये है, अतएव यह नाम बताया गया है.

शिशुपालहतिव्याजजयशापविमोचकः।
दुर्योधनाभिमानाब्धिशोषणबाणवृकोदरः ।।२२४।।

(९८५) शिशुपालहतिव्याजजयशापविमोचकः

शिशुपालके नाशका निमित्तकर विष्णुके पार्षद जयको श्रापसे मुक्ति दिलानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण. सनकादिक मुनियोंने भगवान् विष्णुके पार्षदों–द्वारपालोंको जयविजय नामसे प्रसिद्ध उनको श्राप दिया था. उनमें जय तीसरे जन्ममें शिशुपाल होकर प्रकट हुआ था. वो तो आपका भक्त ही है. अतएव उसके उद्धार करनेके लिये प्रभुने शिशुपालका वध किया है. ना कि उसके दुर्वचनोंसे आहत होकर क्रोधमें उसका नाश किया है. सर्वांतर्यामी प्रभु सर्वका सर्व स्थलोंमें कल्याण करते हैं. आपका किसीका भी अनिष्ट करनेका प्रयोजन तो होता ही नहीं है. तो भक्तका अनिष्ट आप क्यों करेंगे ?

(९८६) दुर्योधनाभिमानाब्धिशोषणबाणवृकोदरः

राजा दुर्योधनके अभिमानरूप समुद्रको अथवा दुर्योधनरूप अभिमानके सागरको शोषर करनेके लिये भीमसेन जिनके बाणरूप हैं. दुर्योधनको मयदानव

द्वारा दिव्य सभामें जलस्थानमें स्थलकी भ्रांति हुई, उसके कारण भीमसेन इत्यादिने उसको अंधपुत्र कहकर उसका उपहास किया. जिससे छत्रपति दुर्योधनको बहुत ही बुरा लगा. इस कथाको लक्ष्यमें रखकर यह नाम प्रकट किया गया है.

महादेवप्राप्तपुरशाल्वविनाशकः।
दन्तवक्रवधव्याजविजयाघौघनाशकः ।।२२५।।

(९८७) महादेवप्राप्तपुरशाल्वविनाशकः

महादेवजीके वरदानसे जिसने पुर अर्थात् शौभनामक विमानको प्राप्त किया है, ऐसे शाल्वराजाका नाश करनेवाले.

(९८८) दन्तवक्रवधव्याजविजयाघौघनाशकः

दन्तवक्र राजाके वध करनेके निमित्तसे विजय नामक वैकुण्ठके द्वारपालके पापोंका नाश करनेवाले. जय और विजय नामके द्वारपालोंमेंसे विजय नामका द्वारपाल अपने तीसरे जन्ममें दन्तवक्र हुआ था. यहां भी ब्राह्मणके शापरूप पापसमुदायको नाश करनेके हेतुसे दन्तवक्रका नाश किया है. अतएव उस निमित्तसे विजयके पापसमूहोंका नाश करनेवाले प्रभु श्रीकृष्ण.

विदूरणप्राणहर्ता न्यस्तशस्त्रास्त्रविग्रहः।
उपधर्मविलुप्ताङ्गसूतघाती वरप्रदः ।।२२६।।

(९८९) विदूरथप्राणहर्ता

दन्तवक्रके भाई विदूरथके प्राण हरण करनेवाले श्रीहरि.

(९९०) न्यस्तशस्त्रास्त्रविग्रहः

शस्त्र तथा अस्त्र द्वारा होनेवाले युद्धका त्याग करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण. विदूरथका नाश करे पीछे भगवान् श्रीकृष्णका किसीके साथ युद्ध करनेका प्रसंग नहीं आया है. अतएव शस्त्र अस्त्रसे युद्ध नहीं करनेका निश्चय प्रभुने किया है. अतएव यह नाम यहां लिया गया है.

(९९१) उपधर्मविलुप्ताङ्गसूतघाती

स्वधर्मसे रहित और गौण धर्मसे होनेवाले पाप द्वारा जिनका अङ्ग व्याप्त हुआ है ऐसे सूतपुराणीको मारनेवाले बलदेवरूप प्रभु.

अपना जो धर्म है उससे अन्य कोई धर्मका आश्रय करके उस प्रमाणसे वर्ताव करना उपधर्म कहा जाता है. यह उपधर्म मुख्य धर्मसे गौण माना जाता है. सूतपुराणी संकरजातिके कारण शूद्र होनेसे उसे ब्रह्मासन ऊपर बिराजकर वक्तृत्व

देनेका अधिकार नहीं होता. फिर भी ब्रह्मासनके बैठकर वक्ता बना है अतएव इसने उपधर्मका आचरण करके मर्यादाके विरुद्ध काम किया है. जब बलदेवजी वहां पधारे तो उनको देखकर भी उठकर सूतपुराणीने सत्कार नहीं किया. कारण कि वक्तृत्वके- ब्रह्मत्वके अभिमानमें वह बैठा रहा. उसके उस पापको जानकर भगवान्ने बलदेवजीके द्वारा उसका नाश करवाया है. इस कथाको उद्देशित करके इस नामकी रचना की गई है.

(९९२) वरप्रदः

वरदानको देनेवाले अर्थात् सूतपुराणीके मारनेके पश्चात् वक्ताके स्थानपर उसके पुत्रको स्थापन करनेवाले भगवान् बलदेवजी.

सूतपुराणीके नाशके बाद शौनकादि ऋषियोंने यज्ञकी समाप्ति करनेके लिये सूत पुराणीके बदले उस वक्तास्थानपर बलदेवजीने उसके पुत्रका स्थापन किया है. और चिरंजीवी रहनेका वरदान भी देकर पुराण कहनेका अधिकार प्रदान किया है. इस प्रकारका कार्य करनेवाले प्रभु ही हैं.

बल्वलप्राणहरणपालितार्षिश्रुतिक्रियः।
सर्वतीर्थघनाशार्थतीर्थयात्राविशारदः।।२२७।।

(९९३) बल्वलप्राणहरणपालितार्षिश्रुतिक्रियः

इल्वल दैत्यके पुत्र बल्वलदैत्यके प्राणका हरणकर ऋषियोंके वेद प्रतिपादित क्रियाओंका रक्षण करनेवाले भगवान् बलदेव रूप प्रभु.

(९९४) सर्वतीर्थघनाशार्थतीर्थयात्राविशारदः

सर्वतीर्थोंके पाप निवृत्त करनेके लिये तीर्थयात्रा करनेमें चतुर श्रीबलदेव रूप श्रीकृष्ण.

तीर्थोंमे अनेक पापीजन अपने पापोंको दूर करनेके लिये स्नानादिक क्रियायें करते हैं. अतएव बहुत समय तक ऐसी क्रियाओंके द्वारा तीर्थभी पापयुक्त हो जाते हैं. अतएव उन तीर्थोंके पापोंका विदारण करने, उन्हें पवित्र करनेके लिये आप प्रभु तीर्थयात्रा करते हैं. बलदेवजी द्वारा आप ही ने सर्व तीर्थाटन किया है. बलदेवजी संकर्षण परमात्माका ही स्वरूप हैं. और संकर्षण स्वयं साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान्का ही स्वरूप हैं. अर्थात् तीर्थयात्रा करनेवाले बलदेवजी हैं फिर भी यहां तीर्थयात्रा करनेके विशारद आप श्रीकृष्ण हैं. ऐसे नामका कथन करनेसे इस वस्तुस्थितिका प्रतिपादन होता है.

ज्ञानक्रियाविभेदेष्टफलसाधनतत्पर:।
सारथादिक्रियाकर्ता भक्तवश्यत्वबोधक: ।।२२८।।

(९९५) ज्ञानक्रियाविभेदेष्टफलसाधनतत्पर:

ज्ञान और कर्म इन दोनोंके भेद द्वारा अर्थात् इन दोनों मार्गसे प्राप्त होने योग्य जो फल उस-उस मार्गपर चलनेवालोंको उस प्रकारके साधनमें अर्थात् उस-उस फलको प्राप्त करनेमें तत्पर समर्थ श्रीकृष्ण.

शुभ और अशुभ सर्व कर्म ज्ञाननिष्ठ होनेके बाद नष्ट हो जाते हैं. ऐसा सर्वत्र प्रसिद्ध है. भगवान् बलदेवजी सम्पूर्ण ज्ञानवान् हैं अतएव भगवद्भक्तिमें निष्ठावान हैं. आपको तीर्थयात्रा इत्यादि कर्मके आधीन बननेकी कोई आवश्यकता नहीं है. परन्तु ज्ञानके अनाधिकारी ऋषियोंको कर्मोंमें ही अतिशय श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये आपने तीर्थाटनादि कर्मोंको स्वीकार किया है. जिससे ज्ञान और कर्म दोनोंका प्रतिपादन करनेवाले आप हैं. जैसा जैसा जिसका अधिकार है उसे वैसा वैसा फल प्राप्त करवानेमें भगवान् सहायक होते हैं. इस आशयसे यह नाम रचा गया है.

(९९६) सारथ्यादिक्रियाकर्ता

अर्जुनकी सारथ्यादि क्रियाओंको करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(९९७) भक्तवश्यत्वबोधक:

मैं भक्तके आधीन हूं ऐसा बोध करानेवाले. अर्जुनका सारथिपना करना तथा बलदेवजीका अभिप्राय दुर्योधनका नाश होनेमें नहीं था. फिर भी भक्तजनोंको प्रिय करनेमें दुर्योधनका नाश करनेमें आपने अपनी अनुमति प्रदान करी पर इतना ही नहीं परन्तु भीमसेन द्वारा आपने ही दुर्योधनका नाश किया है. ऐसा करके बलदेवजीको ''मैं भक्तके वश हूं'' ऐसा दर्शाया है. जिससे यहां भक्ताधीनताका बोध करवानेवाले प्रभु ऐसा कथन किया गया है.

श्रीदामारंकभार्यार्थभूम्यानीतेन्द्रवैभव:।
रविग्रहनिमित्ताप्तकुरुक्षेत्रैकपावन: ।।२२९।।

(९९८) श्रीदामारंकभार्यार्थभूम्यानीतेन्द्रवैभव:

अपने साथ सांदीपिनि मुनिके यहां अध्ययन करनेवाले परम दरिद्र सुदामा नामक ब्राह्मणकी पत्नीके लिये इन्द्रके दिव्य वैभवको पृथ्वीपर लाकर सख्य भक्तिका फल देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(९९९) रविग्रहनिमित्ताप्तकुरुक्षेत्रैकपावन:

सूर्यग्रहणके निमित्तसे प्राप्त कुरुक्षेत्रको पवित्र करनेवाले श्रीकृष्ण.

नृपगोपीसमस्तस्त्रीपावनार्थाखिलक्रिय:।
ऋषिमार्गप्रतिष्ठाता वसुदेवमखक्रिय: ।।२३०।।

(१०००) नृपगोपीसमस्तस्त्रीपावनार्थाखिलक्रिय:

युधिष्ठिरादि राजा श्रीगोपीजन और अन्य समस्त स्त्रियोंको पवित्र करनेके लिये स्नानादि सम्पूर्ण क्रियायें जिनकी हैं ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण.

(१००१) ऋषिमार्गप्रतिष्ठाता

ऋषि, द्वैम्पायनादिकोंके कहे हुए मार्गमें अपनी स्थिति करनेवाले अर्थात् ऋषियोंने जो सिद्धान्त प्रतिपादन किया है तदानुसार वर्तन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण. प्रभु सर्वतंत्रस्वतन्त्र हैं. आपका मुनिजनोंके मार्गका अनुसरण केवल लोक संग्रहार्थ ही है. मुनियों एवं ऋषियोंके द्वारा सिद्धान्तोंका प्रवर्तन करनेवाले आप ही हैं. अतएव उन सिद्धान्त प्रमाणानुसार सब उनका अनुसरण करें इसके लिये ही आप भी उन मार्गोंके सिद्धान्तोंका अनुसरण करते हैं. अनुमोदन करते हैं. सबको वैसा ही अनुसरण करनेके लिये सूचित भी करते हैं. अतएव यहांपर ऋषियोंके सिद्धान्तानुसार रहनेवाले प्रभु ऐसा उपदेश किया गया है.

(१००२) वसुदेवमखक्रिय:

वसुदेवजीके यज्ञ क्रियाको पूर्ण करानेवाले यदुकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्ण.

अध्याय ६१

नृग राजाकी कथा

राजसप्रक्रिया पूर्णा तत्त्वैरिन्द्रियशोधिका।
निरूपिता नातियत्ना सात्त्विकी त्वधुनोच्यते।।क.१।।

कारिकार्थ : तामस प्रकरणकी लीलाओंके श्रवणसे तामस अहंकारके कार्यभूत देहकी शुद्धि होती है, इसी प्रकार राजस प्रकरण लीलाओंके श्रवणसे राजस अहंकारके कार्यभूत इन्द्रियोंकी शुद्धि होती है, इन्द्रियोंको शुद्ध करनेवाली राजस लीलाएं अठ्ठाईस अध्यायोंमें पूर्ण की गई है. इस राजस लीलासे निरोध करनेमें तामसोंके निरोध करनेमें जो विशेष प्रयत्न करना पडा, वह न हुआ; क्योंकि तामस दृढ आग्रही होते हैं, राजसोंमें वैसा आग्रह नहीं, इसलिए विशेष प्रयत्न करनेकी वहां आवश्यकता नहीं है. सात्त्विकी लीलाओंका वर्णन अब किया जाता है, जिन लीलाओंके श्रवणसे सात्त्विक अहंकारके कार्यभूत मनकी शुद्धि होती है.

अध्यायैरेकविंशत्या वसुदेवमखावधि।
चतुर्धा रूप्यते षड्भिः षड्भिः षड्भिस्त्रिभिस्तथा।।का.२।।
अर्थो धर्मस्तथा कामः मोक्षश्च त्रिविधोऽन्ततः।

कारिकार्थ : सात्त्विक प्रकरणके तीन अवान्तर-प्रमेय, साधन और फल-प्रकरण ६, ६ ओर ६(१८) अध्यायोंसे निरूपण किये है और तीन अध्याय धर्मीके निरूपणके हैं, इसी तरह इक्कीस अध्यायोंसे वसुदेव यज्ञ पर्यन्त चार प्रकारोंसे वर्णन है. प्रमेय, साधन और फल-प्रकरणमें क्रमशः धर्म, अर्थ और कामका निरूपण है, अन्तमें धर्मी प्रकरणके तीन अध्यायोंमें तीन प्रकारके मोक्षका वर्णन है.

प्रकीर्णकाख्यानवती प्रक्रियेयम् इहोच्यते।।का.३।।
नात्र क्रमविवक्षा हि नृगः पूर्वं निरूप्यते।
गोप्यः पश्चात् ततो मिथ्यावासुदेवः प्रकीर्तितः।।का.४।।
धर्मकामार्थयुक्ता हि प्रमाणेनैव पोषिताः।
द्विविदो लक्ष्मणा चैव नारदश्च त्रयः स्मृताः।।का.५।।

*** प्रक्षिप्त तीन अध्यायोंको छोडकर श्रीसुबोधिनी अनुसार अध्याय ६१/प्रचलित क्रमानुसार अध्याय ६४**

एतेषाम् अर्थसिद्धिर्हि षड्विधा प्रोच्यते स्फुटैः ।
ततः साधारणो धर्मो विशिष्टः पञ्चभिस्ततः ।।का.६।।
यथा कामकथा षड्भिः त्रिभिर्मोक्षस्तथोच्यते ।
अर्थोऽनर्थः सर्वथैव धर्मार्थमपि योजितः ।।का.७।।
तस्यापि भगवान् अर्थः स निरुद्धः फले परम् ।
अर्थो ब्राह्मणसम्बन्ध–रहितश्चेत् परः स्मृतः ।।का.८।।
दृष्टान्ततो निरूप्यादौ भगवान् आह तत् स्फुटम् ।
उत्तरार्धे पञ्चदशे नृगमोक्षो निरूप्यते ।।का.९।।
शिक्षा च सात्त्विके भावे राजसा यादवा यतः ।

कारिकार्थ : इस प्रकरणमें प्रकीर्ण आख्यानोंवाली प्रक्रिया कही गई है, यहां पूर्वोक्त कारिकामें अध्याय विभाजक क्रम, विवक्षित नहीं है, किन्तु धर्मयुक्त नृगका चरित्र प्रथम कहा गया है. बादमें कामयुक्त गोपियोंका चरित्र है. इसके अनन्तर अर्थयुक्त मिथ्या वासुदेवका आख्यान है, पश्चात् मोक्षत्रयका वर्णन किया है.

इसी प्रकार धर्म, काम और अर्थ : ये तीन प्रमाणसे ही पोषित हैं, जैसे कि नृगकी शास्त्र प्रमाणमें अधिक श्रद्धा थी, अतः वह प्रमाणसे पोषित है. गोपियां वेदरूप बलदेवसे रमण करनेके कारणसे, प्रमाणसे पोषित है. मिथ्या वासुदेव पौण्ड्रक भी वेदात्मक महादेवके वरसे पुष्ट होनेसे प्रमाण पोषित है. तीन प्रकारके मोक्षके अधिकारीयोंको बताते है–१. द्विविद वानरका 'ये च प्रलम्ब' इस श्लोकमें मोक्ष कहा है, २.लक्ष्मणाका आवेश द्वारा भी हस्तिनापुरके खेंचनेसे भगवानके महात्म्यज्ञान हुआ है, इसका यह ही मोक्ष है. ३.बहुत नायिकाओंसे रमण करनेमें जो संशय हुआ था, उस संशयकी निवृत्तिपूर्वक जो भगवद्धर्मका ज्ञान हुआ, वह ही मोक्ष है.

इनकी अर्थ सिद्धि छः प्रकारकी कही है. यहां कारिकामें कहा हुआ क्रम ही समझना चाहिए. छः अध्यायोंसे अर्थ, पश्चात् छः अध्यायोंसे धर्म, अनन्तर एक अध्यायसे साधारण काम और पांच अध्यायोंसे विशिष्ट काम कहा है. बादमें तीन अध्यायोंसे मोक्षका वर्णन किया है.

अर्थ, धर्मके काममें लगाया जावें तो भी अनर्थकारी है, जैसे नृगके चरित्रसे जाना जाता है. अनर्थपनको प्राप्त हुएका भी अर्थ भगवान् ही है,

'चक्षुष:चक्षु:' इस प्रमाणानुसार अर्थका भी अर्थरूप भगवान् है, परन्तु फलकी कामना करने पर भगवान् निरुद्ध हो जाते हैं अर्थात् फलकी कामना करनेसे भगवान् स्वयं प्रकट न होकर अनर्थरूप पशु, पुत्र आदि देते हैं, यदि अर्थ ब्राह्मण सम्बन्ध रहित हैं तो पर है. आदिमें अर्थात् उत्तरार्धके १५वें अध्यायमें भगवानने यह विषय नृगका दृष्टान्त देकर समझाया है और आपने नृगकी मुक्ति की है. यादव राजस थे, सात्त्विक धर्ममें निपुण नहीं थे, इसलिए उनको शिक्षा दी गई है।।१-९।।

कारिकार्थ सम्पूर्ण.

आभासार्थ : इसके अनन्तर स्कन्ध समाप्ति तक निरोधकी आवश्यकता केलिये प्रकीर्ण कथाएं निरूपण की गई है. उनमें प्रथम नृगके मोक्षका निरूपण किया जाता है, नृग नामवाला कोई राजा धनवान् होनेसे दान धर्मके परायण था, ब्राह्मणार्थ संसर्गसे अनर्थको प्राप्त हुआ उसके भी भगवान् उद्धारक हुए, उसका अधम भावसे उद्धार कर स्वर्गकी प्राप्ति कराएंगे, इस कारणसे वह सर्वसे निरुद्ध होकर, भगवन्माहात्म्य देखकर, प्रपञ्चको भूलकर, केवल भगवान्के परायण होगा. सात्त्विक प्रकरणमें भगवान् अनिरूद्धरूप है, उस स्वरूपसे उसका उद्धार कर धर्मको ग्रहण कराया, कथाके क्रममें तो अन्य देवता भक्त जिस प्रकार अनर्थको प्राप्त हुआ, वैसे धर्म परायण भी नृग यों कहता हुआ अर्थके विषयमें धर्मका तत्त्व कहा जाता है, इसमें प्रथम नृगकी कृकलास योनिसे छुटनेका 'एकदोपवनं' श्लोकसे छ: श्लोकोंमें वर्णन श्रीशुकदेवजी करते है :

श्रीशुक उवाच

एकदोपवनं राजन् जग्मुर्यदु-कुमारकाः।
विहर्तुं साम्ब-प्रद्युम्न-चारु-भानु-गदादयः ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन्! किसी एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारू, भानु और गद आदि यादवोंके कुमार खेलनेकेलिये उपवनमें गए।।१।।

व्याख्यार्थ : स्त्रियोंने भगवान्का माहात्म्य देखा है, बालक उस माहात्म्यको नहीं जानते हैं, उनकेलिये ही अनर्थ(मूशलरूप अनर्थ) उत्पन्न होगा, इसलिए ब्राह्मणोंका अनादर नहीं करना चाहिए. उनको बोध करानेके वास्ते उनके द्वारा ही नृगके मोक्षका निरूपण किया जाता है, किसी दिन सब ही बालक

खेलनेकेलिये द्वारकाके उपवनमें गये, कोटसे उतरकर पुरानी द्वारकामें उपवनपनसे स्थित हुए, वह स्थान क्रीड़ाकेलिये गुप्त रखा गया था इसलिए वहां कोई न जा सके तदर्थ रक्षक पहरे पर खड़े थे किन्तु यादवोंके कुमारोंको रक्षकोंने रोका नहीं अथवा उनसे रुके नहीं, वहां पहुंच गये. उन कुमारोंमेंसे भगवान्के पुत्रोंके विशेष प्रकारसे नाम कहते हैं, ये सब खेलनेकेलिये ही गये. प्रथम साम्बका नाम इसलिए दिया है कि, यह ही अनर्थका कारण है, अतः यह ही मुख्यतः उपदेश देने योग्य है, प्रद्युम्नका नाम द्वितीय श्रेणीमें इस कारणसे दिया है कि वह सर्वमान्य और सर्वसमर्थ है, तो भी नृगके उद्धार करनेमें असमर्थ हुआ, चारु उनमें ही दशम है, भानु नाग्नजितीका पहला है, गद आदि भ्राता हैं।।१।।

आभासार्थ : प्रारंभकेलिए क्रीडा कहकर अब क्रीडित्वा श्लोकसे प्रासंगिक कहते हैं :

क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः।
जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वम् अद्भुतम्।।२।।

श्लोकार्थ : वहां अच्छी तरह खूब खेल कर प्यासे हुए, जिससे प्यास मिटानेकेलिए जल ढूंढने लगे, ढूंढते-ढूंढते दूरसे एक कूप देखा, वहां जाकर देखा तो जल नहीं था, किन्तु उसमें एक अद्भुत सत्त्व(जन्तु) पडा था।।२।।

व्याख्यार्थ : समुद्रके किनारे पर मीठा जल दुर्लभ है इसलिए जल ढूंढने लगे किनारे पर कूप होते हैं, उन बालकोंमें जानकार और बेसमझ भी थे, कहां जल है यह प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए ढूंढने लगे. एक कूप देखा जिसमें जल तो था नहीं, किन्तु एक अजीब प्राणी पड़ा था, वह प्राणी लोकमें जो प्राणी होते हैं उनसे विलक्षण था इसलिए उसको अद्भुत कहा है, इससे यह जताया, कि भगवदीयोंके क्रीड़ा स्थानमें, पूर्व कृत धर्म साधनताको प्राप्त हुआ है, सर्व अधर्मका केवल इतनेमें ही नाश होनेसे।।२।।

कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः।
तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः ।।३।।

श्लोकार्थ : उन यदु कुमारोंने कूपमें पर्वत समान एक गिरगिटको देखा, जिससे वे अचम्भेमें पड गए और उनको उस पर दया उत्पन्न हुई, अतः उसके निकालनेका वे यत्न करने लगे ।।३।।

व्याख्यार्थ : गिरगिट बहुत करके सूक्ष्म होता है, वह यहां पर्वत सदृश

होनेसे अचंभा उत्पन्न करनेवाला हुआ, पश्चात् उसको बाहर निकालनेकेलिये ऊपर खींचने लगे किन्तु निकाल न सके, आधेमें आकर फिर गिर पड़ता था, प्रारब्धवश मृत शरीरमें दया उत्पन्न हो गई, इसलिए उसको बाहर निकालनेका भी यत्न करने लगे. 'च' शब्दका यह 'भी' अर्थ है, वास्तविक तो वह मारने योग्य ही है क्योंकि 'अपि कृकलास' इस श्रुतिमें यह आज्ञा है, पश्चात् कितनेक दयायुक्त हो उसको निकालनेकेलिये नीचेसे ऊपर कर।।३।।

चर्मजैस्तान्तवैः पाशैः बद्ध्वा पतितम् अर्भकाः।
नाशक्नुवन् समुद्धर्तुं कृष्णायाचख्युरुत्सुकाः ।।४।।

श्लोकार्थ : उन बालकोने उस गिरे हुएको ऊपर कर, चर्म पर उसको लिटाकर और चारों ओर चर्मके तन्तुओंसे बनी पाशोंसे बांधके निकालनेकेलिए प्रयत्न किया, किन्तु निकाल न सके, तब उत्सुक हो श्रीकृष्णको कहने लगे।।४।।

व्याख्यार्थ : चर्म पर उसको गिराकर चारों तरफ चर्मके तन्तुओंसे बनी हुई पाशोंसे उसको बान्ध कर चारों तरफ स्थित होके उसको निकालनेका प्रयत्न करने लगे, तो भी निकाल न सके, क्योंकि अलौकिक कार्य था, अलौकिक कर्म करनेमें भगवान् ही साधन है, यों समझकर श्रीकृष्णको प्रार्थना करने लगे, यद्यपि विशेष साधनोंसे निकल सकता था तो भी शीघ्र निकले ऐसी उत्सुकताके कारण श्रीकृष्णको ही कहने लगे–उत्सुकताका तात्पर्य है, चित्तका उल्लास वह वस्तु है जिसमें विवेक सहा नहीं जाता है अर्थात् बिना विचार किये वह कार्य उसी समय कर लिया जाता है।।४।।

आभासार्थ : तब भगवानने उसका उस योनिसे ही उद्धार किया, यह 'तत्र गत्वा' श्लोकसे कहते है :

तत्र गत्वारविन्दाक्षो भगवान् विश्वभावनः।
वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ।।५।।

श्लोकार्थ : कमलनयन, विश्वके उद्धारक भगवानने वहां जाकर, उसको देख, लीलासे वाम हस्तसे उसका उद्धार किया।।५।।

व्याख्यार्थ : दृष्टिसे ही सर्वके ताप हरनेवाले, सर्व समर्थ भगवान् उद्धारक स्वरूपका अवलम्बन कर वहां पधारे, उसका उद्धार करना भी आपको उचित ही था, अब उद्धारका प्रकार कहते हैं, इसके कर्म भोगका क्षय हो गया है यह जानकर, लीला पदसे सामर्थ्यकी अधिकता जताई है, वाम हस्त दैत्योंका

हितकारी है, दक्षिण हस्त देवोंका कल्याण करनेवाला है, इसलिए दक्षिण करसे इसका उद्धार नहीं किया है, वह लीलासे अर्थात् अपनी अतिशय सामर्थ्यसे किया है, अपनेसे उद्धार करनेका कोई कारण नहीं था तो भी जैसे दूसरी लीलाएं कभी धर्मका भी बाध करती हैं, वैसे इस लीलामें भी किया है।।५।।

आभासार्थ : पश्चात् जो हुआ वह 'स उत्तम' श्लोकमें कहते है :

स उत्तमश्लोक–कराभिमृष्टो विहाय सद्यः कृकलास–रूपम् ।
सन्तप्तचामीकर–चारु–वर्णः स्वर्ग्यद्भुतालंकरणाम्बर–स्रक् ।।६।।

श्लोकार्थ : उत्तम श्लोक भगवानके हस्तके स्पर्श होते ही उसका शीघ्र ही गिरगिटका रूप निवृत हो गया और तपे हुए वर्णके समान सुंदर वर्णवाला, अद्भुत अलंकार, वस्त्र तथा माला धारण किया हुआ देवस्वरूप हो गया ।।६।।

व्याख्यार्थ : भगवानके हस्तस्पर्शसे गिरगिट योनिके जो कारण दोष थे वे निवृत्त हो गये और उस देहको रोक रखनेवाला दूसरा कोई नहीं था, इसलिए वह शरीर निवृत्त हो गया और भगवान्के स्पर्शरूप कारणसे स्वर्गका उपभोग करने योग्य शरीर प्राप्त किया, जिसका वर्णन 'सन्तप्त' श्लोकार्धसे करते है, चमकते हुए सोनेके समान वर्णवाला स्वर्गमें रहनेवालोंको भी अद्भुत देखनेमें आवे वैसे अद्भुत अलंकार, वस्त्र और मालाओंसे सुसज्जित शरीरधारी हो गया, अस्ति और भवतिका सर्वत्र प्रयोग करनेसे।।६।।

आभासार्थ : वह कौन है? यह निर्धार कर और उसके स्वरूपका सबको ज्ञान कराके पश्चात् भेजना चाहिए, अपने कहने पर कदाचित् विश्वास न हो, इसलिए उसके द्वारा ही कहलाते है :

पप्रच्छ विद्वानपि तन् निदानं जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः ।
कस्त्वं महाभाग! वरेण्यरूपो देवोत्तम त्वां गणयामि नूनम् ।।७।।

श्लोकार्थ : मुक्तिदाता भगवान् उसका कारण जानते हुए भी मनुष्योंमें प्रसिद्ध करनेकेलिये पूछने लगे–हे महाभाग! ऐसे सुन्दररूप वाले आप कौन है? मैं निश्चयसे आपको देवोमें उत्तम देव गिनता हूं।।७।।

व्याख्यार्थ : 'विद्वान्' जानकार पद भी कहा, जिसका आशय प्रकट करते हैं कि जिस विषयका ज्ञान हो उस विषयका प्रश्न नहीं करना चाहिए फिर भी भगवानने जानते हुए भी जो प्रश्न किया उसका कारण यह है कि भगवानको इस लीलासे सर्वका सामान्य निरोध करना था, अतः उचित न होने पर भी प्रश्न किया

है और प्रमेय मार्गमें विधि नियामक नहीं होती है, इसलिए भगवान् जो करते हैं उसमें कोई विधि आदि निषेध नहीं कर सकता है. इस प्रकार पूछनेका प्रयोजन कहते हैं कि मनुष्योंमें प्रसिद्ध करनेकेलिये यह प्रश्न है, उसने इतना विशेष दान किया है जिसकी लोकमें प्रसिद्धि होनी चाहिए, भगवान् नहीं पूछते तो वह नहीं कहता क्योंकि 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' प्रसिद्ध करनेसे अर्थात् मैंने इतना धर्म किया है, यों कहनेसे किया हुआ धर्म नष्ट हो जाता है, किन्तु भगवानने पूछा है इसलिए उनकी आज्ञा पालनार्थ कहना ही चाहिए, यों भी क्यों कहना चाहिए? इस पर कहते हैं कि आप ही तो मुक्ति देनेवाले हैं, आगे मोक्ष देने योग्य हैं और वह कीर्तिमान्को ही होता है, इसलिए यश प्रकट करनेकेलिये अथवा निरोधकेलिये पूछा है, अति कीर्तिवाला अन्यत्र प्रवृत्त नहीं होता है इसलिए निरोधके अनन्तर ही मुक्ति लीला होगी, यों अब प्रश्न कहते हैं, 'कस्त्वं महाभागः' धर्मका उत्तम तेज भाग्य है वह सर्वत्र उपकार करता है, जिसका (आपका) बड़ा भाग्य है, महाभाग यह सम्बोधन इस प्रकारके भावमें अचानक तेरा सुकृत हुआ है यह जतानेकेलिये दिया है, आपका यह रूप वरण करने योग्य है अर्थात् सुन्दरतम है, ऐसा रूप सहज नहीं होता है इससे जाना जाता है कि आपने कोई विशेष, उत्तम कर्म किया है? बिना पूछे अपना किया हुआ धर्म कर्म कैसे कहे? कहने पर धर्मके फलरूप स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होगी? इस शंकाको मिटानेकेलिये भगवानने कहा है कि 'देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनं' तुझे निश्चयसे देवोंमें उत्तम गिनता हूं, देवोंकेलिये स्वर्ग ही है, उनमें भी तुझे मैं उत्तम देवोंमें गिनता हूं मेरे गिननेको कोई अन्यथा नहीं कर सकता है।।७।।

आभासार्थ : 'दशामिमां वा' इस श्लोकसे पूछते है कि इस दशा (गिरगिट योनी)को प्राप्त करानेवाला दोष भी बताना :

दशाम् इमां वा कतमेन कर्मणा सम्प्रापितो ह्यतदर्हः सुभद्र ।
आत्मानम् आख्याहि विवित्सतां नो यन्मन्यसे चेत् क्षमम् अत्र वक्तुम् ।।८।।

श्लोकार्थ : हे सुभद्र! तुम इस दशाके योग्य नहीं हो, फिर भी इस दशाको प्राप्त हुए, तो वैसा कौनसा कर्म तुमने किया? यदि बता सकते हो, तो बताईए।।८।।

व्याख्यार्थ : उत्तम पुरुषसे ऐसा नीच कर्म नहीं होता है, जिससे गिरगिट योनिकी प्राप्ति हो, अतः उत्तम कर्म ही विशेष प्रकारको प्राप्त होकर वैसे फलका

दाता बना होगा, इसलिए उस प्रकारको सुननेकेलिये प्रश्न किया है कि 'कतमेन' कौनसे कर्म, कारण हुए हैं? जो बहुत समय तक इस योनिमें आप रहे हैं, निश्चयसे यों भी कदाचित् हो जाता है कि निकृष्टोंसे भी उत्कृष्ट सुख देनेवाले कर्म हो जाते हैं और उत्कृष्टोंसे निकृष्ट भावोंको उत्पन्न करनेवाले कर्म बन जाते हैं यदि यों हो गया हो तो प्रश्न ही व्यर्थ है. इस शंकाके उत्तरमें कहा है कि 'अतदर्हः' उत्तमसे अपकृष्ट कर्म हो नहीं सकता है, यदि कहो कि दैव गतिसे उत्कृष्टत्व है तो इस शंकाको मिटानेकेलिये 'सुभद्रः' सम्बोधन दिया है, जो सुभद्र है उसके कर्म स्वाभाविक भद्र ही होते हैं विशेष अवस्थामें अभद्र हो जाता है, पूर्व सिद्ध अपना कर्म बताईए, हमको वह आपके मुखसे सुननेकी इच्छा है, न कि स्वतः जान लेनेकी इच्छा है, हम उस कर्मको सुननेके योग्य है यों मानते हो तो और सबके आगे सुना सकते हो तो कहिये, इस प्रकार भगवानने कहा जिसका आशय यह है कि यदि भगवान्के माहात्म्यका ज्ञान न होगा, तो लौकिक न्याय[१] से संकोच कर कहेगा नहीं और जो माहात्म्य ज्ञान होने पर भगवानके समीप दासको संकोच नहीं होता है इसलिए कहना ही चाहिए अतः कहेगा ही।।८।।

१.'आयुर्वित्तं गृह छिद्रं मन्त्र मैथुन भेषजम्, तपो दानापमानञ्च नव गोप्यः नियत्नतः' लौकिक न्याय यह है कि ये नव १.आयु, २.धन, ३.गृहका छिद्र, ४.मन्त्र, ५.मैथुन, ६.औषध, ७.तपस्या, ८.दान और ९.अपमान, ये नव किसीको भी बताने नहीं, यत्न पूर्वक छिपाने योग्य है.

आभासार्थ : पुण्योंके कारण भगवत्स्वरूप जाना और भगवानने जो लोक भाषामें प्रश्न किया वह भी समझ लिया, इसलिए भगवदाज्ञा पालनेकेलिये 'इति स्म' श्लोकसे अपना जो वृत्तान्त कहा उसका वर्णन श्रीशुकदेवजी करते है :

श्रीशुक उवाच

इति स्म राजा संपृष्टः कृष्णेनानन्तमूर्तिना ।
माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा ।।९।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि अनन्तमूर्ति श्रीकृष्णने इस प्रकार जब प्रश्न किया, तब सूर्य सम चमकनेवाले मुकुटसे माधव (अनिरूद्ध मूर्ति)को प्रणाम कर उत्तर देने लगा ।।९।।

व्याख्यार्थ : 'स्म' प्रसिद्धि अर्थमें दिया है, प्रश्न क्लिष्ट कर्म होता है इसलिए अपने दोष निवृत्तिकेलिये प्रसिद्धि प्रमाणपनसे कही है. परीक्षा किये

हुएकी भी शंका मिटानेकेलिये 'राजा' कहा है, श्रीकृष्ण सदानन्द स्वरूप है, जिनके सम्भाषणसे भी सुख प्राप्त होता है, अथवा 'कृष्णेन' नामसे यह भी बताया है कि भक्तोंके हितकारी हैं, 'अनन्तमूर्तिना' विशेषणसे बताया है कि आपकी अनन्त मूर्तियां है, उनका सर्वात्मभावसे स्वरूप प्रकाशित नहीं हुआ है, उसके आगे उतने ही प्रकट हुए हैं, अथवा अनन्त मूर्ति कहनेका यह आशय है कि पहले तामस और राजस प्रकरणोंमें दूसरी मूर्ति थी, अब इस प्रकरणमें दूसरी मूर्ति है, पश्चात् भगवानको देखकर, श्रीके निवास स्थान होनेसे भगवान् ही है, यों जानकर सूर्य सम तेजवाले मुकुटसे माधवको प्रणाम किया, ऐसे मुकुटसे अपनी भी पहचान दी, तथा भगवानके चरणारविन्दको भी जताया एवं भक्तोंको प्रकाशित करने लगे, ब्राह्मणोंके अतिक्रमके अभावसे महान् पुरुष भी इस प्रकार के होते हैं।।९।।

आभासार्थ : 'नृगो नाम' इस श्लोकसे लेकर १६ श्लोकोंमें अपना वृत्तान्त कहता है :

नृग उवाच

नृगो नाम नरेन्द्रोऽहम् इक्ष्वाकु–तनयः प्रभो।
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णम् अस्पृशम्।।१०।।

श्लोकार्थ : हे प्रभु! इक्ष्वाकुका पुत्र, नृग नाम राजा, मैं हूँ, दान करनेवालोंके नाम सुनते समय मेरे नामने भी आपके कानका स्पर्श किया होगा? ।।१०।।

व्याख्यार्थ : इक्ष्वाकुका पुत्र नृग पहले भी प्रसिद्ध है, सौ के मध्यमें, विकुक्षि, निमि और दण्डकके बाद यह ही प्रसिद्ध है, 'प्रभो' संबोधन इसलिए दिया है कि प्रभुके स्थान पर वा सामने मिथ्या भाषण नहीं किया जा सकता है, कौन सी प्रसिद्धि है? जिससे तू जाना जा सका है, यदि यह शंका हो, तो उसके मिटानेकेलिये कहता है कि दान करनेवालोंके नामोंमें मेरे नामने यदि आपके कर्णको स्पर्श किया हो तो मैं प्रसिद्ध हूं, 'दानी' दान करनेवाला भी होता है और 'दाता' उदार होता है, दोनोंमें भेद यह है कि 'दान' करनेवाला शास्त्रकी विधिकी अपेक्षा रखता है अर्थात् शास्त्रकी विधिके अनुसार देता है, और 'दाता' विधिकी परवाह नहीं करता है, राजा नृग दानी हैं, जिस दानसे कीर्ति द्वारा मनुष्य आदिमें प्रसिद्धि वाला हुआ है।।१०।।

आभासार्थ : प्रश्न श्रवणके अनन्तर विचारा कि उत्तर देनेसे प्रसिद्धि

होगी, इसलिए साधारण ज्ञानका वर्णन कर, अब 'किं नु तेऽविदितं' श्लोकमें असाधारण प्रकारसे ज्ञान कहते है :

किं नु तेऽविदितं नाथ! सर्वभूतात्मसाक्षिणः।
कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ।।११।।

श्लोकार्थ : हे नाथ! सर्वभूतोंके अन्तःकरणके साक्षी आपसे क्या गुप्त है? अर्थात् आप सर्व जानते ही हो, कारण कि काल आपकी दृष्टिका प्रतिबन्ध नहीं कर सकता है, तो भी आपकी आज्ञासे उत्तर दूंगा ।।११।।

व्याख्यार्थ : हे नाथ! इस सम्बोधनसे यह आशय प्रकट किया है कि, आप स्वामी हैं, इसलिए आपको मेरा उद्धार अवश्य करना है, 'नु' पद विशेष तर्कमें है, क्या आपको विदित नहीं है? अर्थात् आप सब जानते हैं. मैं सब कैसे जानता हूँ? जिसके उत्तरमें कहता है कि आप सर्व जीवोंके अन्तःकरणके साक्षी हैं. काल बीचमें प्रतिबन्धक होनेसे जीव भी अपने अनुभवको भूल जाता है वैसे भगवानको भी, इसलिए उनको वह ज्ञान कैसे रहेगा, यदि यों कहते हो तो कहता है, कि आपकी दृष्टिको कालने प्रतिबन्ध नहीं किया है, इसमें आपको सर्वज्ञान है जिस कारणसे आपको बतानेका कोई प्रयोजन नहीं है, तो भी आपकी आज्ञा है इसलिए कहता हूं, न कहनेसे आज्ञाका उल्लंघन होगा।।११।।

आभासार्थ : आदिमें(दोषोंके कहनेसे प्रथम) 'यावत्यः सिकताः' श्लोकसे अपना दानीपन कहता है :

यावत्यः सिकता भूमेः यावत्यो दिवि तारकाः।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददं स्म गाः ।।१२।।

श्लोकार्थ : जितने पृथ्वीके रजःकण है तथा जितने आकाशमें तारे हैं और जितनी वर्षाकी धाराएं है, मैंने उतनी गौ दानमें दी है ।।१२।।

व्याख्यार्थ : रजःकण तामस हैं, तारे सात्त्विक हैं, वर्षाकी धाराएं राजस हैं, इन दृष्टान्तोंसे यह जताया हैं कि जैसे ये, तीन असंख्य हैं, वैसे ही मैंने जो गौ दी हैं वे भी तीन प्रकारकी और अगणित थी, यदि संख्याकी समानता होवे तो उस संख्याको कहे, परार्धसे अतिरिक्त कोई संख्या भी नहीं है, इस कारणसे अगणित तथा तीन प्रकारके गौओंके दान करनेमें ये तीन दृष्टान्त दिये हैं और निबन्धमें त्रिविध दानका प्रयोजन भी कहा है. पृथ्वीके रजःकण उपादान भूत हैं, तारे प्रकाशक है, वर्षाकी धाराएं पोषिका हैं, असंख्यात पद श्लोकमें नहीं जोड़ा है,

जिसका कारण यह है कि उस पदके जोड़नेसे अल्पकी प्रतीति हो जाती, इसलिए असंख्यात आदि पद न देकर यों ही कह दिया है।।१२।।

१.सत्त्वादि गुणवाला दान दोषवाला है, और निर्गुण दान दोष रहित कहा है.

आभासार्थ : 'पयस्विनी' श्लोकसे गौओंके गुण कहते है :

पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूप–गुणोपपन्नाः कपिला हेमशृङ्गीः ।
न्यायार्जिता रूप्यखुराः सवत्सा दुकूलमालाभरणा ददावहम् ।।१३।।

श्लोकार्थ : अधिक दूधवाली, प्रथम ही प्रसूत हुई, शांत स्वभाववाली, सुंदर गुणोंवाली, कपिलाएं, सुवर्णके शृंगोवाली, न्यायसे इकठ्ठी की हुई, चांदीके खुरों सहित, बछड़ोंवाली, वस्त्र युक्त, माला युक्त और आभूषण युक्त, इस प्रकार १३ गुणोंवाली गौ दानमें दी है ।।१३।।

व्याख्यार्थ : वे गौ दी, जिनमें अधिक दूध था, जिन्होंने पहले ही बच्चा जना था, किसको भी मारना नहीं इस प्रकार शान्त स्वभाववाली जो गौ थी, जो रूपसे सुन्दर थीं, इन गुणोंसे युक्त, अथवा 'गुण'का तात्पर्य 'सत्पुत्र' है, दूध भी वह था जिससे घृत विशेष निकलता था, यह आरोग्य उत्पन्न करनेवाला गुण है, बहुत करके कपिला धेनु विशेष थी, क्योंकि दानमें कपिला गौओंकी विशेषता है, वे सब सोनेके शृङ्ग और चांदीके खुर तथा वत्स सहित थीं, एवं न्यायसे इकठ्ठी की हुई थीं, न कि अन्यायसे लाई गई थी, दुपट्टों, माला तथा आभरणोंसे सुसज्जित करके दी थीं, इस प्रकार तेरह गुण कह सुनाये।।१३।।

आभासार्थ : यदि जिनको दान दिया जावे वे सुपात्र नहीं हो तो दान व्यर्थ ही है, इसलिए 'स्वलङ्कृतेभ्यो' श्लोकमें सुपात्रोंके धर्म कहते है :

स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः सीदत् कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः ।
तपःश्रुत–ब्रह्मवदान्यसद्भ्यः प्रादां युवभ्यो द्विज–पुङ्गवेभ्यः ।।१४।।

श्लोकार्थ : जिन ब्राह्मणोंको दान दिया, वे विधिके अनुसार अपने गुणोंसे सुशोभित थे, अच्छे गुण तथा शीलवाले थे, दीन एवं कुटुम्बी थे, निष्कपट, आचरणवाले, तपस्वी थे, यथा विधि वेद और वेदार्थ जाननेवाले, निर्लोभी और परोपकारी तरूण ऐसे ब्राह्मणोंमें जो श्रेष्ठ थे, उनको दान दिया ।।१४।।

व्याख्यार्थ : जो सद्गुण, विद्या, शील, आचार और सुन्दर स्वभावसे अलंकृत थे, कुटुम्बी और दीन थे, जिससे दान किये हुए पदार्थका शीघ्र ही

विनियोग हो जावे, सत्य ही जिनका व्रत है, यह ब्राह्मणोंका सहज धर्म कहा है, तपस्या अर्थात् इन्द्रियोंका निग्रह विधि अनुसार शास्त्र श्रवण, वेद तथा वेदका अर्थ सुनकर जान लेना, निर्लोभी और परोपकारत्व आदि गुण युक्त ऐसे तरुण ब्राह्मण श्रेष्ठोंको दान दिया, इसी प्रकार ब्राह्मणोंके १२ गुण कहे।।१४।।

आभासार्थ : 'गोभूहिरण्य' इस श्लोकसे दूसरे पदार्थोंका दान भी किया वह वर्णन करते है :

गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः ।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान्नथानिष्टं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तैः ।।१५।।

श्लोकार्थ : गौ, पृथ्वी, सुवर्ण, घर, घोडा, हाथी, दासी सहित कन्या, तिल, चांदी, शय्या, वस्त्र, रत्न और सर्व प्रकारका सामान, रथ : ये दान भी मैंने किये यज्ञ तथा कूप आराम आदिके भी पदार्थ बनवाए।।१५।।

व्याख्यार्थ : किसी समय असंख्यों धेनु बहुत ब्राह्मणोंको दी, उसके पश्चात् पृथक् भी गायें दीं, जिससे आजीविका चले ऐसी पृथ्वी भी दीं अर्थात् खेतीके योग्य भूमि दीं, सुवर्ण दान स्वतन्त्र किया, घर बनाकर दान किये, घोड़े और हस्तियोंका भी दान दिया, पाली हुई कन्याओंका दान दासियोंके साथ तथा दहेजके साथ किया, विवाहित क्षत्राणी स्त्रीसे उत्पन्न और कन्याओंका तो स्वयंवर ही होता है, तिलके तथा चांदीके पर्वतसम ढेर दिये, सुख पूर्वक नींद लेनेकेलिये शय्यादान किया, अनेक प्रकारके वस्त्र वैसे ही नव रत्न, अंगरखे चंदोवा आदि भी दान किये, इस प्रकार १५ दान हमेशा किये जाते हैं इनके अतिरिक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञ किये, कूप, आराम आदिके भी पदार्थ बनवाए।।१५।।

आभासार्थ : इस प्रकार धर्म परायण मुझसे कर्मके वशसे कुछ अधर्म हो गया, जिसका वर्णन 'कस्यचिद्विजमुख्यस्य' श्लोकमें करते है :

कस्यचिद् द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने ।
सम्पृक्ताऽविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ।।१६।।

श्लोकार्थ : किसी उत्तम बाह्मणकी गौ भूलकर मेरे गौंओंके यूथमें मिल गई, इस बातको न जानकर वह गौ किसी अन्य बाह्मणको दान कर दी।।१६।।

व्याख्यार्थ : इस राजाका चित्त तो दान करनेमें ही आसक्त था, अपने सेवकोंको दानार्थ गौ लानेकेलिये कह रखा था वे जो गौ लाते थे वह बिना परीक्षा

किये अच्छी देखकर दान कर देता था, इस प्रकार कई बार दान कर दिया, अचानक अब भगवानने उसके पापको प्रकट किया. कोई ऐसा स्वधर्म निष्ठ ब्राह्मण था जो राजाका दान नहीं लेता था, उसकी गौ अपने स्थानको भूलकर राजाके गोधनमें मिल गई, पश्चात् अधिकारी उस गौको सुन्दर लक्षणवाली जानके दानकेलिये राजाके पास ले आये थे।।१६।।

तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्टोवाच ममेति तम्।
ममेति प्रतिसंगृह्य नृगो मे दत्तवान् इति ।।१७।।

श्लोकार्थ : उस गौको ले जाते देखकर, गौके स्वामीने कहा कि यह गौ तो मेरी है, तब दान लेनेवाले ब्राह्मणने कहा कि यह गौ अभी मैं राजा नृगसे दानमें ले आया हूं, अत: मेरी है ।।१७।।

व्याख्यार्थ : नृगसे गौका दान लेकर जानेवाले ब्राह्मणको मार्गमें गौका स्वामी ब्राह्मण मिल गया, उसने गौको पहचान कर कहा, यह गौ तो मेरी है, आप कैसे ले जा रहे हो, तब दान लेनेवालेने उत्तरमें कहा कि यह 'गौ' अब ही मुझे नृगने दान कर दी है, इसलिए यह गौ मेरी है, इस प्रकार दान आदिकी सारी कथा सुनाकर कह दिया कि आपकी नहीं है, मेरी है।।१७।।

विप्रौ विवदमानौ माम् ऊचतु: स्वार्थसाधकौ।
भवान् दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद् भ्रम: ।।१८।।

श्लोकार्थ : अपना प्रयोजन सिद्ध करनेवाले दोनों ब्राह्मण इस प्रकार विवाद करते हुए मेरे पास आ गए, एकने कहा– यह गौ मेरी है, दूसरेने कहा– अब दान कर आपने मुझे दी है, अत: मेरी है. गौके स्वामीने कहा– आपने मेरी गौका अपहरण किया है, यह सुनकर मुझे भ्रम हुआ कि कदाचित् इसकी गौ मेरे यूथमें आ गई हो. इस प्रकार मैं विपदमें फंस गया ।।१८।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार विवाद करनेवाले दोनों ब्राह्मण अपना–अपना अर्थ सिद्ध करना चाहते थे, यदि सिद्ध है कि यह गौ, दान की गई हैं तो वह गौ, दान लेनेवालेकी होती है तो राजा पर गौके अपहरणका दोष होता है, दान और प्रतिग्रहके अभावमें, अर्थात् राजाने दान न की है और न ब्राह्मणने दानमें ली है तो गौ मालिककी होती है, और राजासे अपहरण दोष मिट जायेगा, लोक दृष्टिसे धर्म सिद्ध हो जाने पर दान लेने और देने दोनोंके सिद्ध हो जानेसे दान लेनेवालेकी ही गौ होती है, किन्तु राजा पर अपहरणका दोष होनेसे उसका

राजाको प्रायश्चित्त करना चाहिए, यदि धर्म अलौकिक, तथा देव आदिसे अधिष्ठित है, अर्थात् अलौकिक आध्यात्मिक विचारसे देखा जाय तो अधर्मसे जो द्रव्य अपने पास आ गया है वह धर्मका विषय नहीं हो सकता है. सारांश यह है, यदि वास्तवमें यह गौ दूसरेकी है, राजाके यूथमें शामिल हो गई है, दूसरेका पदार्थ होनेसे दान नहीं किया जा सकता है अर्थात् वह दान नहीं है, अतः विवाद है, यदि राजा स्वीकार करता है कि यह मैंने दान की है, तो प्रतिग्रह और अपहरण दोनों सिद्ध होंगे, यदि राजा अपहरण दोष दानसे विशेष है यों समझ राजा इसको दान न माने तो गौका स्वामी गौ ले जायेगा, इस प्रकार विवाद करते हुए दोनों ब्राह्मण मुझको कहने लगे, एकने कहा आप 'दाता' हो दातापनके अंगीकार करने पर दूसरेने कहा कि तुम अपहरण करनेवाले हो, दोनों वृत्तान्त हेतु पूर्वक समझे जाते हैं, अपहरणके वचन सुनकर मुझे भ्रम हुआ, एकने प्रार्थना नहीं की है एक दोषमें तो उसका अंगीकृत प्रायश्चित्त अपनी इच्छासे किया होता।।१८।।

अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रं गतेन मे।
गवां लक्ष प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम् ।।१९।।

श्लोकार्थ : यों होने पर मैं धर्म संकटमें फंस गया, अत: दोनोंको मैंने प्रार्थना की कि जो गौको दे देगा, उसको मैं बहुत उत्तम लाख धैनु दूंगा ।।१९।।

व्याख्यार्थ : मैं तो स्वतः इस बातके तत्त्वको नहीं जानता था, भ्रमसे एकका कहा न मान सका और दूसरेसे न पूछने पर दोनोंके वचनोंने सन्देहमें डाल दिया, अतः दोनोंको प्रार्थना की है, गौ छोड़ देनी चाहिये यों कहने पर छोड़नेवालेको हानि होती है, दोनोंको प्रार्थना करनेका क्या कारण था? इस पर कहता है कि मैं धर्म संकटमें फंस गया था. उसके हृदयमें अब क्या धर्म है? ऐसा निश्चय न हो सकनेसे संकटको ही प्राप्त किया, प्रार्थना करता है, इस एक गौके छोड़ देनेके बदलेमें लाख गौ दूंगा यह गौ दे दो।।१९।।

आभासार्थ : यदि कहो बदला लेनेमें दोष होगा, अत: वह कैसे लिया जाए? 'भवन्तावनुगृह्णीतां' इस श्लोकमें इस शंकाका परिहारका उपाय कहता है :

भवन्तावनुगृह्णीतां किङ्करस्याविजानतः।
समुद्धरत मां कृच्छ्रात् पतन्तं निरयेऽशुचौ ।।२०।।

श्लोकार्थ : भ्रममें पडे हुए इस अज्ञ किंकर पर कृपा कीजिए, संकटसे अपवित्र नरकमें गिरते हुए मुझे उद्धारिये ।।२०।।

व्याख्यार्थ : मेरे ऊपर अनुग्रह करनेकेलिये, जो निषिद्ध है वह भी आपको करना चाहिये. कहनेका यह तात्पर्य है, यदि कहो कि अनुग्रह करनेका क्या कारण है? अनुग्रह क्यों करें? इस पर कहता है कि मैं आपका किंकर हूं, किंकर भी यदि अपराधी हो उसको दण्ड देना चाहिये. इसके उत्तरमें कहता है कि यह कार्य मैंने जान कर नहीं किया है अज्ञानसे हो गया है, बेसमझीसे अपराध हो भी जावे तो उसका प्रायश्चित्त अल्प ही होता है, वह प्रायश्चित्त अनुग्रहसे ही सिद्ध हो जाता है, उसका भावी अर्थ स्वतः ही स्फुरित हो गया है. जिसके निराकरणकेलिये प्रार्थना करता है कि 'समुद्धरत' उद्धार करो. अब मैं इसका क्या निर्णय करूं? यह न जाननेसे धर्मसंकटमें फंसा हूं जिससे अपवित्र हीन भावको प्राप्त होता हूं, जिससे निकालो. इससे यदि गोत्व, अश्वत्व प्राप्त हो तो वहां हीन भाव होते हुए भी अशुचिपन नहीं है, कुत्तेकी वा शूकरकी योनिमें जानेसे अशुचिपन है, तामिस्र आदिमें पात नहीं है नरक भोग ही है, योनिके सम्बन्ध होने पर उसका अभिमान होता है, यह ही पात है, अपवित्रमें, लोकमें प्रसिद्ध मल आदिके प्रदर्शनसे दया उत्पन्न कराता है।।२०।।

नाहं प्रतीच्छे वै राजन् इत्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत्।
नान्यद् गवामप्ययुतम् इच्छामीत्यपरो ययौ ।।२१।।

श्लोकार्थ : जिसकी गौ थी, वह ब्राह्मण कहने लगा कि इस गौके बदलेमें कितना भी धन मैं नहीं लूंगा, यों कहकर वह चला गया; अनन्तर दूसरा जिसको गौ दानमें मिली थी, वह भी कहने लगा कि मैं भी अयुतधन लेना नहीं चाहता हूं, मुझे तो यह गौ ही चाहिए, यों कहकर वह भी गया ।।२१।।

व्याख्यार्थ : दोनोंमें जो गौका स्वामी था, उसने कहा कि आप इस गौके बदलेमें लक्षयुत आदि मूल्य दोगे तो भी वह मैं नहीं लूंगा, यों कहकर, राजाकी प्रार्थनाको ठुकराकर चला गया. दूसरा जिसने गौ दानमें ली थी वह भी कहने लगा कि दूसरी दश सहस्त्र गौ भी इसके बदलेमें न लूंगा, और यह गौ लौटाकर भी न दूंगा, क्योंकि यह गौ राजाने दान कर मुझे दी है. पहले मिले हुए दान ही सिद्ध हैं, यदि वह बेची जाय वा उसका बदला लेकर लौटा दी जावे तो दोनोंमें दोष है, अतः ली हुई लौटा कर, दूसरी गौ उसके बदलेमें न लेनी चाहिए, ली हुई गौ किसी प्रकार भी विक्रय की जावे तो वह बेचनेवाला रौरव नामवाले नरकमें पड़ता है. इन वचनोंके अनुसार इस गौके बदलेमें दश हजार गौ भी लेना नहीं चाहता हूं, यों कह

दूसरा भी गया. 'राजन्' सम्बोधनसे यह सूचन किया है, मूल्य न होनेकी हालतमें अशक्तको दान भी नहीं लेना चाहिए, लाख गौ राजा दे सकता है, न कि ब्राह्मण, ब्राह्मणकेलिये दश सहस्र देना ही सीमा है, कौन है जो सहस्र पशु प्राप्त कर सकता है? इसलिए हजारका ही महत्त्व है, दश पुत्रोंके विभागमें और हजारके दानमें भी दश हजारकी ही पर्याप्तता है, दश हजार लेनेका भी निषेध करता है, यद्यपि उनसे सर्व कामकी सिद्धि हो जाती है तो भी निषेध करता है, कारण कि तो भी अव्यवस्थिति हो जाती है, जब एक ही गौमें जहां यह सन्देह वहां दूसरा क्या करना चाहिए? यह भाव है।।२१।।

आभासार्थ : इस प्रकार दो ब्राह्मणोंके अप्रसन्न होने पर राजाको दण्ड देनेकेलिये यम तैयार हुआ. गौके चुरानेसे आयु क्षय होती है, इससे उसी समय यम दूत आये यह 'एतस्मिनन्तरे' श्लोकमें कहते है :

एतस्मिन् अन्तरे याम्यैः दूतैर्नीतो यमक्षयम्।
यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते।।२२।।
पूर्वं त्वम् अशुभं भुङ्क्षे उताहो नृपते शुभम्।

श्लोकार्थ : हे देवदेव! जगत्पते! इतनेमें यमदूत मुझे यमपुरी ले चले, वहां मुझसे यमने पूछा कि हे राजन! तू पहले पापका फल भोगना चाहता है वा पुण्यका फल? ।।२२।।

व्याख्यार्थ : जब तक राजा इसका उपाय करे, इसके मध्यमें ही यमदूत उसको यमलोक ले गये, यों कहनेका भावार्थ है कि गौको ब्राह्मण, बलसे ले गये हैं, उन्होंने अपनी इच्छासे ही राजाका देना छोड़ दिया, इस (राजा)का भी अपनी इच्छासे ही नरकका भोग निरूपण किया जाता है, इस कारणसे ही यमने इससे पूछा है, इस विषयमें सत्यताका निरूपण करनेकेलिये 'देवदेव' और 'जगत्पते' सम्बोधन दिया है अथवा धर्म करनेवालेको यम दण्ड कैसे हुआ? इस शंकाको मिटानेकेलिये दिये हैं-प्रमेय बलसे वेदकी अपेक्षा भगवदाज्ञा कर्तव्य है, यों निरूपण करते हुए कहते हैं कि आप देवोंके देव हैं अतः यमको आपकी आज्ञाका पालन करना चाहिए और आप जगतके पति है इसलिए मुझे भी आपकी आज्ञाका पालन करना ही है, अतः आपकी इच्छासे ही यों हुआ है इस विषयमें कुछ भी अन्य कर्तव्य नहीं है, यों सूचित किया है, हे नृपतेः प्रथम तू अशुभ भोगेगा? अशुभ अल्प होनेसे अन्तरीयकी तरह अशुभ जाएगा, अतः पहले अशुभ

भोगनेका प्रश्न किया है, अथवा दुःखान्तत्वका निषेध किया है, अथवा कौन दुःखका अनुभव करना मानेगा? इत्यादि कारणोंसे प्रथम अशुभ भोगनेका प्रश्न किया है।।२२।।

आभासार्थ : तब अपने विचारको 'नान्तं दानस्य' श्लोकमें कहता है :

नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वरः ।।२३।।
पूर्वं देवाशुभं भुञ्जे इति प्राह पतेति सः ।
तावद् अद्राक्षम् आत्मानं कृकलासं पतन् प्रभो! ।।२४।।

श्लोकार्थ : तेरे दान तथा धर्मका यश अनन्त है, तब मैंने कहा–हे देव! पहले मैं पापका फल भोगूंगा. उसी समय यमने कहा कि तू नीच योनीमें पृथ्वी पर गिर, हे प्रभो! इतनेमें मैंने अपनेको गिरगिट योनीनें देखा।।२३–२४।।

व्याख्यार्थ : आपके किये हुए दान तथा अन्य धर्मके फलका अन्त ही नहीं हैं, कोई एक धूर्त ठग था, उसकी गौ शीघ्र मरनेवाली थी, उस धूर्तके पास नगरसे मरी हुई गौको निकालने जितना द्रव्य नहीं था, अतः उसने किसी ब्राह्मणको बुलाकर कपटसे गौ दान की, पश्चात् क्या हुआ? कि वह गौ तीन मुहूर्तके बाद मर गई, तब ब्राह्मणने अपना वस्त्र चांडालको देकर गौको शहरके बाहर निकलवाया, इस प्रकार ब्राह्मणको धोखा देनेके अनन्तर वह धूर्त भी मर गया, चित्रगुप्तने सारा वृत्तान्त यमको सुनाया, तब यमने उससे पूछा कि पहले कौनसा फल भोगेगा? तब धूर्तने कहा कि प्रथम शुभ फल भोगूंगा, वहां भी कुटिलता करने लगा, दानके अनन्तर दान की हुई गौ जितना समय जीवित रहती हैं, उतना काल कामधेनु दान करनेवालेके वशमें रहती है, यमने कहा तुमने जिस गौका दान किया था वह तीन मुहूर्त जीवित रही थी अतः कामधेनु तीन मुहूर्त तेरे वश रहेगी, यह फल तू पहले भोग, यह सुनते ही धूर्तने कामधेनुको कहा कि तू व्याघ्र बनकर यमका भक्षण कर, यह सुन व्याघ्रके निकट आते ही डरकर भागता हुआ यम विष्णुके शरण गया, वहां विष्णु भगवानके चारों तरफ ब्रह्मादि देव बैठे थे, इतनेमें इस धूर्तको भी कामधेनु वहां ले गई, विष्णु भगवान्के साक्षाद्दर्शन करनेसे धूर्त मुक्त हो गया, जहां वैसी गौके दानका भी फल अन्त है तो विधि पूर्वक दान की हुई गौका फल क्या कहना चाहिये, इसी प्रकार अन्य धर्मका भी अनन्त फल है. फल दो प्रकारका है. इस लोकमें यश और परलोकमें स्वर्ग, वह बताता है कि 'यशो लोकश्च भास्वरः' दानका फलरूप यश अनन्त है तथा लोक

भी अनन्त है, यदि 'लोकस्य भास्वतः' पाठ माना जाय तो इसका अर्थ अनन्त यश और शुभ पूर्वोक्त फलका ग्रहण करना चाहिए, वह फल भोगूंगा, 'भुङ्क्षे वा भुञ्जे' क्रिया है, 'भास्वतः'का अर्थ लोकका अथवा उत्तम देहका समझना चाहिए, प्रथम अशुभ सम्बन्धी फल भोगूंगा. हे देव! यह सम्बोधन कहकर बताया है, कि आपको सर्व ज्ञान है ही, यदि यों है तो इस लोकसे भूलोकमें गिर, नीच योनिका नरक तो पृथ्वी पर ही है, दूसरे लोकमें नहीं है, यों कहनेके बाद जो कुछ हुआ, वह कहता है कि, गिरते ही अपनेको 'गिरगिट' रूपमें देखा, कारण कि कर्मके फल स्वरूप ही देहसे सम्बन्ध होता है, यह देह क्यों ग्रहण की और इस देहसे क्यों और कब छुटकारा होगा, जिसका ज्ञान,योग, ज्ञान और भक्ति होने पर ही होता है अन्यथा नहीं होता है. 'आत्मा' पद देनेका आशय यह है कि देह और जीवका द्वैत नहीं, दोनों आत्माके ही रूप है. बहिर्मुख होनेसे इसको कर्म दोष हुआ ही. प्रभो! यह सम्बोधन देकर यह सूचित किया कि वैसे कर्मोंसे छुड़ानेकेलिये आप ही समर्थ हैं, जीवको ग्रहण और परित्यागका ज्ञान ही नहीं है, तो फिर कर्मसे छुटकारा कैसे कर सकेगा? अतः वैसे विषयमें भगवान ही शरण हैं।।२४।।

आभासार्थ : वैसे तुमको पूर्व वृत्तान्तका ज्ञान कैसे रहा? यदि यों कहे तो इसका उत्तर 'ब्रह्मण्यस्य' श्लोकमें देते हैं :

ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव!।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्संदर्शनार्थिनः ।।२५।।

श्लोकार्थ : हे केशव! मैं ब्राह्मणोंका भक्त, उदार और आपका दास हूं तथा आपके दर्शनकी इच्छा मनमें लगी हुई है, इससे ही अब तक मेरी स्मृतिका नाश नहीं हुआ है ।।२५।।

व्याख्यार्थ : अज्ञान ही स्मृतिको नाश करनेवाला है, वह ज्ञानके साथ रह नहीं सकता है, ब्राह्मण स्वभावसे ज्ञान निष्ठ हैं, इसलिए ब्राह्मणोंके लक्षण 'ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं' कहा है, इस कारणसे वही ब्राह्मणोंके धर्म ब्राह्मणभक्तोंका हित करते हैं जिससे मेरी स्मृति नष्ट नहीं हुई है, क्योंकि मैं ब्राह्मणोंका भक्त हूं, राजा भी सर्व देवमय है इसलिए 'ब्रह्मक्षत्रयोस्तुल्यत्वात्' ब्राह्मण और क्षत्रियकी बराबरी कही है, क्योंकि क्षत्रियका धर्म है 'दुःखसे बचाना' जिसकेलिये 'तत्र दान मीश्वरभावश्च' कहा है, उदारतामें दानी होनेसें क्षात्र धर्म ब्राह्मण और क्षत्रिय

परस्पर एक दूसरेकी अपने-अपने धर्मसे रक्षा करते हैं, ज्ञान क्षत्रियका भी पालन करता है, भगवान् तो सर्वेश्वर हैं, इसलिए ज्ञान आदि सर्व उनके आधीन है, अतः भगवद्भक्त पर अथवा उपकार करते ही हैं, यों तीनों प्रकारसे भी स्मृति नष्ट नहीं हुई है, 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तंध्यायतां मन' विषयोंसे आकृष्ट इन्द्रियोंसे व्याप्त मन संसारी वस्तुओंका ध्यान करता रहता है तब ज्ञानका नाश हो जाता है, यह एक ही ज्ञानके नाशका उपाय है, वह इससे पूर्व नहीं हुआ है, इसलिए स्मृति अब भी नष्ट नहीं हुई है. हे केशव! सम्बोधनसे यह बताया है कि उत्पत्ति करनेवाले ब्रह्माका और प्रलय करनेवाले महादेवका भी आप मोक्ष करते हैं, तो भक्तको ज्ञान देनेमें कौनसा आपको परिश्रम है, स्मृतिको नाश करनेवाले जो माया आदि है, वे सर्व मुझसे डरते हैं क्योंकि मैं नित्य आपके दर्शनकी चाहवाला हूँ, जो भगवान्के धर्मोंको मनमें धारण करता है, उसके अन्य धर्म सत्पथमें बाधक नहीं हो सकते हैं।।२५।।

आभासार्थ : इस प्रकार अपना वृत्तान्त सुनाकर, जो भगवाद् दर्शन सर्व प्राणियोंको दुर्लभ है वह मुझे अचानक कैसे हो गया, इसलिए 'स त्वं कथं' श्लोकमें अपने भाग्यकी बडाई करता है :

स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः ।
साक्षाद् अधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ।।२६।।

श्लोकार्थ : हे प्रभु! उपनिषद्रूप नेत्रोंसे निर्मल हृदयवाले योगेश्वरोंके हृदयमें जो चिंतन किये जा सकते हैं तथा इन्द्रियां जिसको पहुंच नहीं सकती हैं, ऐसे आप परमात्मा हैं. जिसके मैंने आज अचानक प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं, उसका क्या कारण है? मैं तो महान व्यसनोंसे अन्ध बुद्धि हूं, किन्तु जिसका अन्तिम जन्म होता है, उसको ही आप दर्शन देते हैं, इसलिए मेरा यह अन्तिम जन्म है, जिससे मेरे जैसे अन्ध बुद्धिवालेको दर्शन देकर कृतार्थ किया है ।।२६।।

व्याख्यार्थ : वैसे आपने मुझे प्रत्यक्ष दर्शन कैसे दिये? यह आश्चर्य है, दर्शन देनेमें रुकावटें बताते हैं, १.आप आत्मासे भी पर हैं वह आप देहसे भी बाहर दर्शन कैसे दे सकते हैं यह दर्शनसे एक अनुपपत्ति है, २.योगानुसार योगेश्वर ही दर्शन कर सकते हैं, मैं वह भी नहीं, ३.योगेश्वर भी वेदसे बोधित ज्ञानसे ही दर्शन कर सकते हैं, न कि वैदिक तरीकेसे, उसमें भी जिनकी दृष्टि निर्मल हो गई है वैसे भी आपको तर्कसे ही भावना कर देख सकते हैं, न कि साक्षात् ऐसा दर्शन करते हैं

जैसा मैं कर रहा हूं, साधन प्रमाणके उत्तम अधिकारोंका निरूपण किया, वैसा आप मुझे साक्षात् दर्शन दे रहे हैं, यह आश्चर्य है, यों कहकर प्रमाण विचारसे दर्शनकी अपनी अयोग्यता सिद्ध की है. अब प्रमेय विचारसे भी अपनी दर्शनमें अयोग्यता दिखाता है, आपका ज्ञान इन इन्द्रियोंसे नहीं होता है. विशेषमें अपना अनधिकार सिद्ध करता हुआ कहता है कि अनेक व्यसनोंसे जिसकी बुद्धि अन्ध हो गई है वैसा मैं हूं. प्रमाण तथा प्रमेयसे अपनी अयोग्यता दिखलाई तब शंका होती है कि बिना कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है, अतः भगवानके दर्शन तो हुए हैं, जिसमें अवश्य कोई कारण तो होगा ही, वह कारण कहता है, जिसका जन्म अन्तिम है अर्थात् जिसकी मुक्ति होनेवाली है फिर जिसको जन्म लेना नहीं है उसको दर्शन होता है, जिससे यह मेरा अन्तिम जन्म होनेसे मेरी मुक्ति होनेवाली है इस कारणसे मुझे आपके साक्षात् दर्शन हुए हैं, किसी कारणसे मेरी मुक्ति होनेवाली दीखती है, वह भगवद्दर्शनके बिना मोक्ष नहीं होता है, मोक्षके साधन फलके उन्मुख हैं जिन्होंने भगवद्दर्शन कराये हैं, इसमें भी इस जन्ममें ही मुक्ति होनेवाली है, क्योंकि अन्तिम जन्ममें ही भगवान्का साक्षात् दर्शन होता है।।२६।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवद्दर्शनकी दुर्लभता सिद्ध कर स्वर्गको जानेके लिए भगवानको प्रार्थना करनेकेलिए भगवानको नव प्रकारके विशेषण देते है 'देव देव' इति :

देवदेव! जगन्नाथ! गोविन्द! पुरुषोत्तम!।
नारायण! हृषीकेश! पुण्यश्लोकाच्युताव्यय!।।२७।।

श्लोकार्थ : हे देवदेव! हे जगन्नाथ! हे गोविन्द! हे पुरूषोत्तम! हे नारायण! हे हृषीकेश! हे पुण्य श्लोक! हे अच्युत! हे अव्यय! ।।२७।।

व्याख्यार्थ : लोकमें भी बड़ोंकी आज्ञा लेकर जाना होता है, आप तो देवोंके भी देव हैं अतः आपकी आज्ञासे ही वहां जाना हो सकता है, वह देव तब कहा जाता है जब अपनेमें ही क्रीड़ा करता है, आप तो देवोंके भी देव हैं अतः आपकी आज्ञा आवश्यक है, फिर उसमें भी आप जगतके स्वामी हैं, इसलिए आज्ञा प्राप्त करनेकेलिये, अवश्य प्रार्थना करनी चाहिए, आप भक्तोंके इन्द्र होनेसे 'गोविन्द' हैं, इस प्रकार राजस, तामस, सात्त्विक भावसे प्रभुपनसे भगवान्को सम्बोधित किया है, आज्ञाकी प्रार्थनाकेलिये, जो प्रेरक हैं उन तीन

प्रकारके पुरुषोंका नाम कहता है, १.पुरुषोत्तम जो पूर्ण पुरुष है, २.नारायण द्वितीय पुरुष, ३.इन्द्रियोंका स्वामी अन्तर्यामी तृतीय पुरुष, जिनका प्रमाण कहते हैं 'विष्णोस्तु[१] त्रीणि रूपाणि–पुरुषाख्यानि अथो विदु' इस वाक्यसे इससे यह कहा कि भगवानकी प्रेरणासे भोग भोगनेकेलिये जाता हूं यों कहनेसे अपने अपराधका अभाव निरूपण किया, वहां जानेवाला भगवत्स्मरण नहीं करेगा तो निस्तार (छुटकारा) नहीं होगा, इस शंकाका उत्तर देते हैं कि 'भगवद्गुणाः सर्वत्र सन्ति' भगवद्गुणोंका गान सर्वत्र हो सकता है, तदर्थ तीन विशेषण दिये हैं 'पुण्यश्लोकाच्युताव्यय' जिसकी कीर्ति पुण्यरूप है, कीर्तिसे अर्थात् गुणगानसे विषयोंके सम्बन्धसे जो दोष उत्पन्न होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं, विषयोंमें भी प्रशंसा होती है इसलिए विषयोंसे उसका विरोध नहीं है, किन्तु उनकी प्रशंसासे भगवत्सेवामें मन लगा जाता है, भगवान् सर्व प्रकारसे अच्युत होनेसे उनकी कीर्ति नित्य है और पूर्ण है इस कारणसे साधनोंके सम्पादनकी अपेक्षा नहीं है जिससे कुछ भी व्यय नहीं होता है, इससे दूसरेका भी नाश नहीं होता है, गुण गान सुननेवालोंको भी च्युति नहीं होती है–षष्ठी बहुव्रीहि समास करनेमें भी दोष नहीं है।।२७।।

१.विष्णुके तीन रूप पुरुष नामसे ज्ञानी जानते.

आभासार्थ : इस प्रकार स्वर्ग जानेसे सर्व प्रकारकी हेतु पूर्वक युक्तियां कहकर अब 'अनुजानीहि' श्लोकसे प्रार्थना करता है :

अनुजानीहि मां कृष्ण! यान्तं देवगतिं विभो!।
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान् मे त्वत्पदास्पदम् ।।२८।।

श्लोकार्थ : हे कृष्ण! हे विभु! देवगतिको जानेवाले मुझे आज्ञा दीजिए, जहां कहीं भी मैं हूं, वहां मेरा चित्त आपके चरणकमलोमें रहे ।।२८।।

व्याख्यार्थ : पुण्योंका फल भोगना आवश्यक हैं, कृष्ण सम्बोधनसे यह प्रकट किया कि आप सर्वथा अर्थात् सर्व प्रकारसे मुक्त करानेमें समर्थ हैं, कृष्णस्वरूपको, विषयोंसे सम्बन्ध होने पर भी मुक्त करानेका सामर्थ्य है, यदि यों न होता तो विशेष प्रकारसे प्रकट न होते, 'यान्तं देवगतिं' पदसे बताया कि जाना आवश्यक है, आप सर्व समर्थ हैं अतः अनभिप्रेत होने पर आज्ञा न दे सकेंगे यों नहीं है, अर्थात् सर्व समर्थ होनेसे आज्ञा दे सकते हैं, तो भी विषय सम्बन्ध होनेसे नाश अवश्य होता है, यह शंका कर, प्रार्थना करता है. 'यत्र क्वापि सतष्चेतः'

तीन प्रकारके स्थान है १. जहां सुख है, २.जहां दुःख है, ३.जहां दोनों नहीं है. जहां दुःख है, वहां उसको मिटानेकी जीवमें सामर्थ्य नहीं है, २.जहां सुख है वहां भगवदतिरिक्तमें आसक्ति हो जाती है, जहां दोनों नहीं है वहां मोह उत्पन्न हो जाता है, इसलिए तीनों स्थानोंमें भगवानके स्मरणका अभाव समान है, तो भी स्मरण तो कृपासे ही होता है. स्थान विशेष इसमें प्रयोजक नहीं है, अतः जहां कहीं भी मैं हूं वहां मेरा चित्त आपकी कृपासे आपके चरण कमलोंके स्मरणमें आसक्त रहेगा इसलिए किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं है।।२८।।

आभासार्थ : पश्चात् जाते हुए 'नमस्ते' श्लोकसे नमन करता है :

नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ।।२९।।

श्लोकार्थ : सर्वभावरूप, अनन्त शक्तिमान, ब्रह्म स्वरूप, कृष्ण, वासुदेव, योगोंके स्वामी ऐसे जो आप हैं, इन आपको मैं प्रणाम करता हूं।।२९।।

व्याख्यार्थ : भगवान् षड्गुणोंसे युक्त हैं इस प्रकार धर्मीका निर्देश कर ६ विशेषण कहते हैं. भक्तको भगवानका त्याग कर अन्यत्र जाना उचित नहीं है, इस शंकाको मिटानेकेलिये कहा है कि 'सर्व भाव' आप ही हैं इसलिए आपका त्याग नहीं, अर्थात् जो स्वर्ग आदि कुछ हैं वे सब आप ही है अतः कहीं भी रहनेसे त्याग हो नहीं सकता है, इससे यह जताया कि आपका यह रूप कारणरूप है और अन्य सर्व आपका कार्यरूप हैं, अतः अन्य नहीं है. यदि कहो कि मैं कारणरूप कैसे? इसके उत्तरमें कहा कि 'ब्रह्मणो' आप ही ब्रह्मरूप हैं, इसलिए अनन्त शक्तिमान् भी आप ही हैं. अनन्त शक्तिमान् कहकर कारणत्वको प्रकट करनेवाला प्रकार बताया हैं. इस प्रकार साधनपनसे तीन रूप कहकर फलके भी तीन रूप कहे हैं. कृष्णाय सदानन्द स्वरूप हो, जिस लिये शुद्ध फलरूप हो. 'वासुदेवाय' विशेषणसे बताया कि मोक्ष फल दाता भी आप है. 'योगानां पतये' विशेषणसे यह सिद्ध किया है, मोक्ष फल देनेमें साधन भी आप हैं. श्लोकके आदिमें और अन्तमें दोनों स्थान पर नमस्कार कहनेका तात्पर्य है कि यह नमस्कार सर्व स्वरूपोंकेलिये हैं।।२९।।

आभासार्थ : इस नमस्कारके स्वीकार करनेसे ही जानेकी आज्ञा प्राप्त हो गई अत: स्वर्गमें चला गया, जिसका वर्णन 'इत्युक्ता' श्लोकमें शुकदेवजी करते हैं :

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना।
अनुज्ञातो विमानाग्र्यम् आरुहत् पश्यतां नृणाम् ।।३०।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि यों कहकर अपने मुकुटसे चरणकमलोंका स्पर्श कर, परिक्रमा कर, अनुज्ञा प्राप्त वह मनुष्योंके देखते हुए विमानमें बैठ स्वर्गको गया ।।३०।।

व्याख्यार्थ : प्रदक्षिणा और नमस्कार दोनों सर्व कार्योंको सिद्ध करनेवाले हैं. अपने मुकुटसे भगवच्चरणोंका स्पर्श करनेका भाव यह है कि भगवानके धर्म नित्य हैं, अतः जो भगवानके चरणोंकी छायाका आश्रय लेता है उसको सर्व प्रकारके भोग प्राप्त होते हैं, तब ही देवोंके लाये हुए विमानमें बैठकर, लोकमें भगवानका माहात्म्य प्रकट करता हुआ, मनुष्योंके देखते हुए स्वर्गको गया।।३०।।

आभासार्थ : इस प्रकार ब्राह्मणके अतिक्रमसे नृगकी दुर्गति और भगवदीयत्वसे सद्गति दिखाकर, निरोधका निरूपण करनेकेलिये ''कृष्णः परिजनं प्राह'' श्लोकमें ब्राह्मणके पदार्थका, किसी प्रकार भी सम्बन्ध नहीं करना चाहिए, जिससे ब्राह्मणका अतिक्रम होता हो–इसी प्रकार शिक्षा देते है :

कृष्णः परिजनं प्राह भगवान् देवकीसुतः।
ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन् यान् अनुशिक्षयन् ।।३१।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मणोके भक्त, धर्मात्मा, देवकीके पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण राजाओंको शिक्षा देते हुए कुटुम्बियोंको कहने लगे ।।३१।।

व्याख्यार्थ : कृष्ण, अध्याय समाप्ति तक शिक्षा देते हैं, पहले सात्त्विकोंको धर्मका उपदेश देना चाहिए, पुत्र पौत्र आदि यह परिजन सात्त्विक अतः पहले इनका नाम आया है, पश्चात् राजस राजाओंका है. भगवान् विशेषणसे यह बताया है कि आगे भविष्यमें क्या होनेवाला है? जिसको जानते हैं, ब्राह्मणोंके अतिक्रम अर्थात् उल्लंघनसे उनका अनिष्ट होगा. देवकीके पुत्र विशेषणका भाव कहते हैं, वे भक्तों पर कृपा करनेवाले हैं, ब्राह्मणका अतिक्रम हो इससे सहमत नहीं हैं, विशेषमें ब्राह्मणोंका भी हित चाहनेवाले हैं, इस प्रकारके उपदेश मिलनेसे ब्राह्मणोंका अतिक्रम न करेंगे और धर्मात्मा विशेषण देकर यह समझाया है कि आपको धर्मका स्थापन करना ही है, ब्राह्मणकी एक भी वस्तु

अपने पास आ जावे तो, किया हुआ सर्व धर्म नाश हो जाता है, आपने भी राजवंशमें प्राकट्यलीला की है, अतः क्षत्रियोंको शिक्षा देते हैं कि धर्मकी रक्षाकेलिये स्वयं धर्माचरण करना और दूसरोंसे भी करवाना चाहिए, यही राजधर्म है।।३१।।

आभासार्थ : ''दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं'' इस श्लोक से १२ श्लोकोमें उपदेश देते है :

दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तम् अग्नेर्मनागपि।
तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञाम् ईश्वरमानिनाम् ।।३२।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मणका धन थोडा भी खाया जावे तो अग्निके समान तेजवान पुरुषको भी जब पचाना कठिन है, तो मिथ्या अपनेको बड़ा माननेवाले राजा उसको कैसे पचा सकेंगे ।।३२।।

व्याख्यार्थ : यदि सात्त्विक कहे कि यों तो ब्राह्मणकी वस्तु नहीं लेनी चाहिए, किन्तु धर्मान्तरसे उसके ग्रहणका दोष मिटाकर फिर लेनेमें क्या दोष है? तो इस पक्षका भी भगवान् निराकरण करते हैं, 'बत' पदसे खेद प्रकट करते हैं, कि धर्मान्तरसे दोष मिटाकर लेना भी हानिकारक है इसलिए खेद है. जैसे बालक सर्पके समीप जाते हैं तो उनको देख पिता आदि खेद प्रकट करते हैं वैसे भगवान् भी कहते हैं, यों समझा जाता है. ब्राह्मणकी आई हुई वस्तु स्वतः नहीं पचती है और न किसी दूसरे उपायसे पचाई जा सकती हैं, क्योंकि 'दुर्जर' हैं अर्थात् पचानी कठिन है क्योंकि प्रथम ब्रह्म ही अक्षय है उसमें भी फिर अक्षय ब्रह्मका सर्वस्व, जो अतिशय अन्तरंग है वह यदि खाया जावे तो उसको पचा लेना कठिन है. अजीर्ण द्रव्यके समान मृत्युको सिद्ध करता है, जहां ब्रह्मभूत ब्राह्मणका 'स्वं' यह अभिमान अर्थात् सर्वस्व है, वहां प्रत्यक्ष होते हुए नृगके दृष्टान्तसे समझ लेना चाहिए कि वह 'दुर्जर' है, दूसरे शास्त्र प्रकारसे भी दृष्ट और अदृष्ट दोनोंसे दुर्जर है, जो खाने पर सर्वको ही भस्म करता है, उससे भी अग्निसे उपभुक्त 'दुर्जर' ही हो जाता है, न कि भस्म हो जाता है, इसलिए ऐहिक दुर्जरत्व ही कहा है. शंका करते हैं कि गीतामें कहा है कि 'ज्ञानाग्नि सर्व कर्मोंको भस्म कर देती है', तो ज्ञानाग्निसे इस ब्रह्मस्वको भी पचा लेंगे, इस शंकाका उत्तर दिया है कि 'तेजीयसोऽपि' अर्थात् ज्ञान जो है वह फलोन्मुख तेज करता है उससे सम्पन्न तेजस्वी कहा जाता है वह भी इसको आश्रयके विरोधसे पचा नहीं सकते हैं, ज्ञान

अपने आश्रयको भी खण्डन नहीं कर सकता है, जहां ब्राह्मण भी ब्रह्मस्वको नहीं पचा सकता है तो वहां क्षत्रियको ब्रह्मस्व क्यों न दुर्जर होगा? क्षत्रियमें स्वतः ब्रह्मत्वका अभाव है. ब्राह्मण ही उनके आश्रय है, वहां भी जो अपना क्षात्रधर्म त्याग कर भगवद्धर्म जो ऐश्वर्य है उसको अपना धर्म समझते हैं, इससे परधर्ममें स्थित होनेसे उनको तो सुतरा ही ब्रह्मस्व दुर्जर है।।३२।।

आभासार्थ : इस प्रकार यह ब्रह्म स्वरूप विष मृत्यु दाता है तो अन्य भी वैसे मृत्युपद विष मौजूद हैं, इस पक्षका 'नाहं हालाहलं' श्लोकमें निराकरण करते हुए कहते हैं कि वैसे विष अन्य नहीं है :

नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया।
ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिनिधिर्भुवि।।३३।।

श्लोकार्थ : मैं विषको हालाहल[१] नहीं मानता हूं, क्योंकि उसके उतारनेका उपाय है, सत्य विष तो ब्राह्मणका द्रव्य ही है; क्योंकि पृथ्वी पर इसका कोई प्रतिनिधि नहीं है।।३३।।

व्याख्यार्थ : समुद्रसे निकला हुआ और जिसको महादेवने पिया है, उसको हालाहल कहते हैं, वह केवल विष नहीं है, कारण कि उसका भी उपाय है इसलिए वह विष ही नहीं है. क्योंकि सत्य विष तो वह है जिसका उपाय न हो और जो जड़से वंशका नाश कर दे. यद्यपि 'न विषं' इस दूसरे वाक्यमें उसकी क्रूरता दिखाई है किन्तु यहां उस क्रूरताके अतिरिक्त इस ब्रह्मस्व विषको अनुपाय (जिसका कोई उपाय ही नहीं हैं) भी कहा है, यदि यह ब्रह्मस्व उपायवाला होता तो नृगकी प्रार्थना करने पर, दोनों ब्राह्मणोंको नृगके ऊपर दया आ जाती कारण कि ब्राह्मण स्वभावसे सर्वके मित्र होते हैं, जिससे अवश्य उसके संकटका उपाय कहते, यदि कहो कि इसका भी यह उपाय देखा कि गिरगिट योनिको पाकर मुक्त हो गया, जिसका उत्तर देते हैं कि 'भुवि' पृथ्वी पर कोई उपाय नहीं है, अर्थात् जैसे विषवालेका विष उपायसे उतारने पर वह फिर वैसा ही पृथ्वी पर घूमता फिरता है, वैसा इसका उपाय नहीं हैं।।३३।।

१. ''न विषमित्याहुर्ब्रह्म स्वं विषमुच्यते, विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्व पुत्र पौत्रकं'' अर्थ – ज्ञानी विषको विष नहीं कहते है ब्राह्मणके द्रव्यके उपभोगको विष कहते है, क्योंकि विष एकको नाश करता है ब्रह्मस्व वंशको नष्ट कर देता है.

आभासार्थ : उसकी विशेषता 'हिनस्ति' श्लोकमें कहते है :

हिनस्ति विषम् अत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति।
कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ।।३४।।

श्लोकार्थ : विष तो केवल खानेवालेको मारता है, अग्नि जलसे शांत होती है, ब्रह्मद्रव्यरूप अरणिसे उत्पन्न अग्नि कुलको समूल जला देती है।।३४।।

व्याख्यार्थ : यदि विष खाने पर उपाय न किया जावे तो भी वह विष केवल खानेवालेको ही मारता है. विषसे अग्नि क्रूर है, इसलिए उसके समान होगा? तो कहते हैं कि नहीं, अग्नि तो जलसे शान्त होती है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिए लौकिकमें कारण बतानेकी आवश्यकता नहीं है, अलौकिकमें भी श्रुतिने कहा कि 'जल' अग्निका भ्राता है, इसलिए अग्नि जलकी प्राप्तिसे शान्त हो जाती है. ब्रह्मस्वसे उत्पन्न अग्नि शान्त नहीं होती है, किन्तु कुलको जड़से जला देती है, ब्रह्मस्व ही अग्निको उत्पन्न करनेवाली अरणी है, अरणीसे उत्पन्न अग्नि जिसकेलिये लाई जाती है उस यजमानको जलानेके अनन्तर शान्त होती है, कारण कि 'अग्नि होत्र' जीवन पर्यन्त करना ही है. ब्रह्मस्वरूप जो अरणी है वह कुलकेलिये ही प्रविष्ट हुई है, इसलिए कुलको जलाकर ही शान्त होती है. कोई भी मनुष्य ब्राह्मणका धन धर्मकेलिये वा परलोककेलिये नहीं लेता है किन्तु शरीर पोषणार्थ ग्रहण करता है. शरीर भी कुलमें उत्पन्न होनेसे वंशको उत्पन्न करनेवाला है, इससे जाना जाता है कि वह ब्राह्मणका धन कुलका ही पोषण करता है, निषिद्ध किया हुआ पदार्थ और ब्राह्मणका धन, इन दोनोंके ग्रहण करनेसे सर्वका नाश होता है. यहां 'कुल' पद तो केवल उपलक्षण तरीकेसे कहा है, वास्तविक तो जहां भी वह ब्राह्मण-द्रव्य जाता है उस सर्वको जलाके भस्म कर देता, जिसमें किसी प्रकारका विवाद नहीं है, कुलकी रक्षा करनेवाला जो उपजीवकधर्म है उसको भी जला देता है।।३४।।

आभासार्थ : ब्राह्मणके धनको सामान्य रीतिसे कुल नाशक प्रतिपादन कर, विशेष प्रकारसे व्यवस्था 'ब्रह्मस्वं' श्लोक में कहते है :

ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भक्तं हन्ति त्रिपूरुषम्।
प्रसह्य तु बलाद् भुक्तं दश पूर्वान् दशापरान् ।।३५।।

श्लोकार्थ : प्रेमसे जिसकी आज्ञा देनेवालेने नहीं दी है, ऐसा ब्राह्मणका द्रव्य यदि खाया जावे तो वह द्रव्य तीन पुरुषोंको (पीढीका) नष्ट करता है, यदि बलसे हठ कर लिया हुआ ब्राह्मणका द्रव्य खाया जाय तो वह द्रव्य दस पहली

और दस होनेवाली पीढीको भस्म कर देता है ।।३५।।

व्याख्यार्थ : मनमें तो देनेकी इच्छा नहीं है, केवल वाणीसे आज्ञा दी है, जैसे जबर्दस्तीसे पकड़ कर फिर उससे आज्ञा लेनी, जिससे वह उसको बलिष्ठ जान मार डालेगा आदि शंकासे द्रव्य लेनेकी आज्ञा दे देता है, यह प्रेम रहित जबर्दस्तीसे ली हुई आज्ञा है, ऐसी आज्ञासे प्राप्त ब्राह्मण द्रव्य खाने पर वह तीन पीढीको नाश करता है, खानेवाला उसका पुत्र और पौत्र ये तीन पुरुष हैं, चोरीसे लाकर खाये हुएकी महा पातकमें गिनती होती है, शास्त्र, बल और लोकका अतिक्रम कर जबर्दस्तीसे लाकर खाया जावे तो वह इक्कीस पीढ़ीयोंको भस्म कर देता है, उसमें दश पहली पिता पितामह आदि दश पिछली पुत्र और पौत्र आदिको भस्म करता है, स्वयं इक्कीसवां समझना चाहिए, जबर्दस्ती और बल इनका आन्तर और बाह्य भेदसे व्यवस्था जाननी अथवा वैदिक और लौकिक भेदसे व्यवस्था जाननी, कोई स्वयं, अपना बल प्रकट कर देना चाहता किन्तु लेनेवाला बलिष्ठ होनेसे लेता है इसलिए पुनरुक्ति नहीं है।।३५।।

आभासार्थ : जब इस प्रकार धर्म शास्त्रमें ब्रह्मस्वकेलिये प्रसिद्ध कहा गया है तब ब्रह्म द्रव्यका अपहरण कैसे वा क्यों किया जाता है? इस शंकाका उत्तर 'राजानो' श्लोकमें देते है :

राजानो राजलक्ष्म्या च नात्मपातं विदन्ति ते ।
निरयं येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधु बालिशाः ।।३६।।

श्लोकार्थ : प्रथम राजा होनेसे, फिर राजलक्ष्मीसे वे अपना पतन होगा, यों नहीं समझते हैं, ऐसे जो राजा है, वे ब्रह्मस्वको नरकका साधन नहीं मानते हैं, किन्तु श्रेष्ठ समझते हैं, क्योकि अज्ञ हैं ।।३६।।

व्याख्यार्थ : ब्रह्म द्रव्य लेनेसे पतन होगा, यों राजा होनेसे तथा राज लक्ष्मीके मदसे नहीं समझते हैं क्योंकि वे शास्त्रमें जिनकेलिये 'राज्यके अन्तमें', निश्चयसे नरक लिखा है वे राजा हैं, क्षत्रियमें अन्य प्रकारसे व्याप्य हैं और ब्राह्मणमें ही यह अच्छी तरह व्यापक हैं अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्मस्वको नरकका साधन समझते हैं क्षत्रिय नहीं जानते हैं, यदि वे इसको नरकका साधन जाने तो ग्रहण न करे, वे यों समझते हैं कि ब्रह्मस्व लेनेसे कोई नरकमें नहीं पड़ता है, इस कारणसे निरयरूप ब्रह्मस्वको श्रेष्ठ समझते हैं क्योंकि नासमझ हैं।।३६।।

आभासार्थ : सामान्यरूपसे नरकका वर्णन कर 'गृह्णन्ति' आदि दो

श्लोकोंसे विशेष प्रकारसे वर्णन करते हैं:

गृह्णन्ति यावतः पांसून् रुदताम् अश्रुबिन्दवः ।
विप्राणां हृतवृत्तीनां वदान्यानां कुटुम्बिनाम् ।।३७।।
राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान् निरङ्कुशाः ।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः ।।३८।।

श्लोकार्थ : लोभ आदि दोष रहित अर्थात उदार और कुटुम्बी, ऐसे बाह्मणोंकी वृत्तिका जब हरण हो जाता है, तब उनके नेत्रोंसे अश्रुओंके बिन्दु गिरकर, जितने रजके कणोंको भिगोते हैं, उतने वर्ष तक निरंकुश होकर ब्रह्मस्व अथवा वृत्तिका हरण करनेवाले राजा लोग तथा राजकुलमें जन्मे हुए कुम्भी पाक नरकमें पकाए जाते हैं ।।३७-३८।।

व्याख्यार्थ : वृत्ति (जीविका) हरण हो जानेसे, रुदन करते हुए ब्राह्मणोंके अश्रुओंके बिन्दु जितने रजःकणोंको भिगोते हैं उतने वर्ष वे निरंकुश हो वृत्ति वा ब्रह्मधन हरण करनेवाले राजा अथवा राजकुलमें उत्पन्न कुम्भीपाक नरकमें पकाये जाते हैं. अन्तःकरणमें जब शोक होता है तब रोना आता है, उसका माप आंसुओंसे होता है कि इनको कितना दुःख हुआ है, अश्रुओंका माप उसके कार्यसे होता है.अतः रजः कणोंकी संख्यासे ही शोककी संख्या गिनी जाती है, उन ब्राह्मणोंके रोनेका दूसरा निमित्त न हो किन्तु जीविकाका हरण हो, वे ब्राह्मण भी लोभ आदि दोष रहित हो, और कुटुम्बवाले हो क्योंकि उनको हरण किये हुए पदार्थकी आवश्यकता रहती है, जब ये सब कारण हो तब अति आवश्यकतासे, वह पदार्थ ब्रह्मस्व होता है, ब्राह्मण सम्बन्धी जिस क्रियाका निषेध किया गया है यदि वह क्रिया की जावे तो उससे होनेवाले अनिष्ट फलका रजःकण द्वारा ही वेदमें निरूपण किया गया है, जैसा कि 'यावतः प्रस्कन्द्य पांसून् सङ्गृह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानात्' इति श्रुतिः, वेद कहता है कि ब्राह्मणोंके अश्रुबिन्दु जितने रजःकणको भिगोते हैं, उतने संवत्सर ब्रह्मस्व हरण करनेवाला पितृलोकमें नहीं जा सकता है अर्थात् उतने वर्ष नरकमें पड़ा रहता है, एक श्लोकसे कारण कहकर दूसरेसे मूल कहता है, राजा तथा राजकुलमें उत्पन्न और 'च'से उनके दूसरे सम्बन्धी भी समझते, जो हरण कर सकते हो, ये सर्व उतने वर्ष कुम्भीपाक नरकमें पकाये जाते हैं, प्रासङ्गिक दोषके परिहारकेलिये कहते हैं कि, वे अङ्कुश रहित हो ब्रह्मस्व हरण करते हैं उनका नियमन करनेवाला यदि न होवे,

तो उसका ही दोष गिना जाएगा।।३८।।

आभासार्थ : विशेष ब्रह्मस्वके हरण करनेसे विशेष दोष होता हैं जिसका वर्णन 'स्वदत्तां' श्लोकमें करते है :

स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेत् च यः।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ।।३९।।

श्लोकार्थ : जो अपनी दी हुई अथवा अन्यकी दी हुई ब्राह्मणकी जीविकाका हरण करता है वह साठ हजार वर्ष विष्ठामें कीडा होकर रहता है।।३९।।

व्याख्यार्थ : प्रथम अपनी दी हुई जीविका ब्राह्मणसे मेल न होने पर लौटा कर लेनी, दूसरे राजाने दी हो, दूसरेका राज्य हरण करने पर, उस राजाकी ब्राह्मणको दी हुई जीविका ले लेनी पिता आदिने दी हो वह भी अपनी ही दी हुई समझनी चाहिए क्योंकि आप पिताका ही रूप है, यहां धनका विषय नहीं है, किन्तु जीविकाका विषय है, जीविकाका साधन भूमि आदि है, जिसमेंसे सदैव जीविकाके साधनोंकी प्राप्ति होती है. ब्राह्मणोंकी जीविका भूमि आदि है क्योंकि उससे ब्राह्मणोंके जीवनके साधनोंकी उत्पत्ति होती रहती है, वैसे भूमि आदि जो छीन लेता है वह साठ हजार वर्ष नरकरूप विष्ठामें कीड़ा होकर रहता है, प्रभव आदि संवत्सरके नाम हैं वे हजार बार आवृत्ति करे उतने वर्ष वहां रहता है, सबसे डरनेवाली वह विष्टा है, ऐसेकी उत्पत्ति ही विष्टामें और इतना समय रहना भी वहां जिससे उस शरीरमें थोड़ा भी सुख नहीं है।।३९।।

आभासार्थ : इस प्रकार ब्रह्मस्व हरणका दोष बताकर अपने जो हैं, उनमें यह न हो ऐसी प्रतिज्ञा ''न में ब्रह्मधनं'' श्लोकमें कहते है :

न मे ब्रह्मधनं भूयाद् यद् गृद्ध्राल्पायुषो नृपाः।
पराजिताश्च्युता राज्याद् भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः ।।४०।।

श्लोकार्थ : मेरे घरमें ब्राह्मणका धन न आवे, जिस धनके लोभसे राजा लोग अल्प आयुष्यवाले, पराजित, राज्यसे भ्रष्ट होते हैं, सर्पके समान उद्वेगवाले होते हैं।।४०।।

व्याख्यार्थ : अपनेसे अथवा दैव वश होके ब्रह्मस्व प्राप्त हो जाता है, किन्तु हमको तो वह नहीं चाहिए, इस प्रकारके वचन मानो देवकी प्रार्थनाकेलिये ही कहे हैं, यदि कहो कि भूलसे आ जावे तो इसमें क्या दोष है? इसके उत्तरमें

कहते हैं कि जो उसको चाहते हैं उनकी आयु कम हो जाती हैं, केवल लेते ही आयु क्षीण होती रहती है, जो आपद् ग्रस्त हैं उनको यह दोष नहीं लगता है, इसलिए 'नृपाः' कहा है, दैवकी गतिसे मरनेके अभाव होते हुए भी वे शत्रुओंसे पराजित हो जाते हैं राज्यसे गिरनेसे मरे जैसे होते हैं तथा स्थान भ्रष्ट होते हैं और मनुष्योंको उद्वेग कर्ता होनेवाले सर्प सम हो जाते हैं अतः ब्रह्मस्वमें ऐहिक और आमुष्मिक दोष विद्यमान होनेसे उसका मिलन न हो, यह प्रार्थना है।।४०।।

आभासार्थ : यदि ब्राह्मण स्वयं असह्य अपराध करे तो तब क्या करना चाहिए. इस प्रश्नका उत्तर 'विप्रं कृतागसं' श्लोकमें देते हैं :

विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः ।
घ्नन्तं बहु शपन्तं च नमस्कुरुत नित्यशः ।।४१।।

श्लोकार्थ : हे मेरे जन! आप अपराधी ब्राह्मणका भी द्रोह मत करो, चाहे वह मारे वा गाली दे तो भी उनको हमेशा नमस्कार ही करो ।।४१ ।।

व्याख्यार्थ : अपराधी ब्राह्मणका भी क्यों न द्रोह किया जावे? जिसमें कारण कहते हैं कि उनमें ब्रह्मण्य देवता रहता है, सुतरां मान देने योग्य है, अतः नियमसे द्रोह न कीजिए. यदि कहो कि यह विषय तो प्रमादसे अपराध हो जावे जिसका है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं, यदि ब्राह्मण ताड़ना करे वा क्रोधमें आकर गाली दे तो भी शाप न लगेगा इस प्रकार भय न होनेसे चुप होकर मत बैठो किन्तु उनको नित्य नमस्कार ही करो क्योंकि चुप रहनेसे ब्राह्मणके हृदयमें भयकी उत्पत्ति होगी जिससे फिर अपकार होगा, अतः नमस्कार नित्य करते रहो, जहां कायिक, वाचिक अपराध ब्राह्मण करे तो उनको नमस्कार ही करनी है तो मानस अपराध करे तो क्या कहा जाय? अर्थात् इससे विशेष नम्रतापूर्वक नमन आदि ही करना चाहिए।।४१।।

आभासार्थ : भगवान् सर्वात्मक है इसलिए यों करनेसे व्यवहार भी नहीं बन सकेगा, अत: लोक और वेदके विरुद्ध जो कर्तव्य है वह कैसे किया जावे? जिस शंकाको मिटानेकेलिये 'यथाहं' श्लोकमें उपपत्ति बताते हैं :

यथाहं प्रणमे विप्रान् अनुकालं समाहितः ।
तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ।।४२।।

श्लोकार्थ : जिस प्रकार हम सावधान होकर हर समय ब्राह्मणोंको नमन करतें है, वैसे तुम भी नमन करो, जो यों नहीं करता है, वह मुझसे दण्ड पाता

है ।।४२।।

व्याख्यार्थ : जो मेरे हैं, उनको, जैसा मैं कर रहा हूं, वैसा ही करना चाहिए, उनका लोक तथा वेदसे क्या सम्बन्ध है? मैं तो तीन ही काल सावधान होके भृगुकी तरह ब्राह्मणपनके कारण ब्राह्मण मात्रको नमन करता हूँ वैसे आप भी नमन करो, तुम मुझसे विशेष नहीं हो, 'च' शब्द कहकर बताया है कि जो भगवदीय है, उनको तो यों नमन अवश्य करना चाहिए, जो इस आज्ञाको नहीं मानता है अर्थात् सावधान हो नमन नहीं करता है, वह मुझसे दण्ड पाता है।।४२।।

आभासार्थ : इस प्रकार आग्रह किस लिये? इसका समाधान 'ब्राह्मणार्थ' श्लोकमें करते हैं :

ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः ।
अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव ।।४३।।

श्लोकार्थ : जैसे अनजाने भी नृग राजाको ब्राह्मणकी गौने नीच योनिमें गिराया, वैसे ही अपहृत ब्राह्मणका द्रव्य अपहरण करनेवालेका अधःपात करता है ।।४३।।

व्याख्यार्थ : मेरे जो भक्त हैं उनकी उच्च गति ही होती है, जो ब्राह्मणके द्रव्यका अपहरण करता है उसको वह ब्राह्मण द्रव्य नीच योनिमें गिराता है, अपहरण करने पर निश्चय पूर्वक नीचे गिराता ही है, जानते वा अनजानते अपहरणका फल समान ही होता है, जैसे नृग राजाको ब्राह्मणकी गौने गिराया, यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद है।।४३।।

आभासार्थ : इस प्रकार उपदेश देकर प्रसंगसे प्रथम ही द्वारकामें आये हुए वहां ही रहे, ऐसी शंका होने पर 'एवं विश्राव्य' श्लोकमें कहते है कि उपदेशके पश्चात् ही द्वारकामें स्थित मुख्य ग्रहमें ही आकर विराजें :

एवं विश्राव्य भगवान् मुकुन्दो द्वारकौकसः ।
पावनः सर्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम् ।।४४।।

श्लोकार्थ : मोक्ष देनेवाले तथा सर्वलोकोंको पवित्र करनेवाले भगवान् द्वारका-वासियोंको इस प्रकार सर्व कथा सुनाते हुए, उपदेश देकर पश्चात् अपने मन्दिरमें प्रविष्ट हुए ।।४४।।

व्याख्यार्थ : भगवानने सबको विशेषरूपसे यह नृग चरित्र उपदेश सहित कहा जिससे ही कार्य पूर्ण समझा, इस उपदेशमें ही मोक्षदाता भगवान्ने कह दिया

कि ब्राह्मणोंका अतिक्रम नहीं करेगा वह मुक्त होगा, यह उपदेश द्वारकावासियोंको दिया है उनकी ही मोक्षदाताने रक्षा की है क्योंकि वे ही निरुद्ध हैं, वे ही भगवान्के स्थानमें ही स्थित हैं और भगवान्ने उनको पवित्र किया है, उनका संसारसे उद्धार कर, पश्चात् अपने मन्दिरमें प्रविष्ट हुए, इससे साधारणरूपसे सात्त्विकोंका निरोध वर्णन किया।।४४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक प्रमेय प्रकरण,
अध्याय ६१ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित
श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ६२

श्रीबलरामजीका व्रजगमन

विशेषे सात्त्विके रोधे तामसादिविभागतः।
पूर्वं राजसमापन्नाः सत्त्वभावं तथानयत्।।का.१।।

कारिकार्थ : १५में अध्यायके अन्तमें सामान्य निरोधका उपसंहार किया, इसके अनन्तर पञ्चाध्यायीका अर्थ जो विशेष निरोध है, उसका निरूपण करते है. तामस प्रकरणमें लीला द्वारा तामस भावका निवारण कर राजस भावका सम्पादन किया, राजस प्रकरणमें उसको भी निवृत्त कर सात्त्विक भाव प्रकट किया, सात्त्विक प्रकरणमें निर्गुण भाव सम्पादन किया, पश्चात् मुक्तिके स्कन्धमें मोक्षका वर्णन किया है, इस प्रकार निबन्धमें विभाग निरूपण किये हैं।।१।।

तेषां सात्त्विकरूपाणां सकामत्वाद् बलेन हि।
निरोधं कारयामास षोडशे तन् निरूप्यते।।का.२।।

कारिकार्थ : जो सात्त्विक भावको प्राप्त हो गए, वे सकाम होनेसे उनका बलरामजी द्वारा निरोध करवाया है, कारण कि काम तामस है. संकर्षणजी भी वैसे ही हैं, इसलिए उनके द्वारा ही वैसोंका निरोध हुआ है, जिसका वर्णन इस १६ वें अध्यायमें किया है, इससे निष्कामत्व सिद्ध हो जाने पर कुरुक्षेत्रके प्रसंगमें स्वयं आप निर्गुणत्व सिद्ध करेंगे, इसी तरह प्रकरणकी संगति है।।२।।

ततः स्वरूपभावानां दुष्टानां दोषनुद्धरिः।
प्रसङ्गाद् इदम् अत्रोक्तं वाराणस्यास्तु दाहनम्।।का.३।।

कारिकार्थ : यों विशेष निरोधके प्रकरणमें प्रथम अध्यायका अर्थ कहकर द्वितीय अध्यायका अर्थ कहते हैं कि पौण्ड्रक आदि स्वरूप मात्रमें तो भाववाले हैं, किन्तु दोषयुक्त होनेसे हरि उनके दोषोंका नाश करनेवाले हुए है, उनके केवल दोष ही नाश करने थे, सारूप्य तो स्वरूपमें भाव होनेसे सिद्ध ही है, यहां प्रसंग होनेसे वाराणसीका दाह कहा है।।३।।

बलस्तामसभावानां राजसानां तथैव च।
सात्त्विकानां तथा मान–खण्डकः सुनिरूप्यते।।का.४।।

कारिकार्थ : बलरामजी तामस भावको प्राप्त यमुना, राजस भावको प्राप्त द्विविध आदि और सात्त्विक भावको प्राप्त भीष्म आदिके अभिमानके खण्डन करनेवाले हैं, यह निरूपण इस अध्यायमें है।।४।।

ततः स्त्रीणां तु भगवान् एकेनैव करिष्यति।
सप्तमास्त्रय एकत्र धर्मिणः पृथग् ईरिताः।।का.५।।
एवं प्रमेयबलतो निरोधः पञ्चधा भवेत्।

कारिकार्थ : पश्चात् पांचवें अध्यायमें नारदको बोध करानेके लिए विशेष रूपसे स्त्रियोंका निरोध एक ही से करेंगे, पहलेकी तरह यहां भी धर्मी निरूपणकी आशंका कर कहते है कि 'सप्तमाः' धर्म धर्मी प्रकारसे निरूपणमें सप्तम है, क्योंकि तीन इकट्ठे हैं, धर्मीके पृथक् कहे हैं।।५।।

इस प्रकार विशेष प्रकारसे निरूपणमें प्रमेय बलसे निरोध पांच प्रकारका हुआ. यदि पूर्व अध्यायमें कहे हुए सामान्य निरोधको भी गिना जाए तो निरोध छः प्रकारका होगा.

कारिकार्थ समाप्त

आभासार्थ : पूर्वाध्यायमें सात्त्विकोंको निषिद्धसे हटाया गया. १६वे अध्यायमें तो लौकिकसे सात्त्विक भावको प्राप्त गोपिकाओंको निरुद्ध किया गया है. पश्चात् वैदिकसे भी काशीदाहमें निरोध कहेंगे, अनन्तर अशास्त्रीय भक्तिके द्विविध आदिका तथा शास्त्र भक्तिके भीष्म आदिका निरोध कहेंगे, ये दोनों सात्त्विक भावको प्राप्त हुए है बादमें शास्त्र प्रवर्तक नारदका भी मुख्य भाव होनेसे निरोध हुआ है, भगवान् ही जहां साधन और फलरूप होते है वैसा भाव ही मुख्य भाव है.

भगवानने अपनी शक्ति दो तरहसे स्थापित की है. १. क्रिया शक्ति अर्थात् साधन शक्ति २. ज्ञान शक्ति, उनमेंसे साधन शक्तिरूप बलभद्र स्वरूप है जिस स्वरूपसे इस गोपिका रमणमें गोपियोंका निरोध किया है, यह निरूपण करनेके लिए बलभद्रजीका गोकुलमें जाना आदि कहा है :

श्रीशुक उवाच
बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथम् आस्थितः।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्द–गोकुलम्।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि हे कुरुश्रेष्ठ! सुहृदोंको देखनेकी इच्छावाले भगवान् बलभद्रजी रथमें बैठ नन्दकी गोकुलको गए।।१।।

व्याख्यार्थ : राजाको कुरुश्रेष्ठ सम्बोधन विश्वास करानेकेलिये दिया है, बलभद्रको भगवान् यहां इसलिए कहा है कि निरोध तो भगवान्के सिवाय अन्य

नहीं कर सकता है अतः जिस समय बलराम गोकुल पधारनेकेलिये रथमें बिराजमान हुए उस समय साधनरूप भगवान्ने बलभद्रमें प्रवेश किया, पहलेकी तरह[१] गुप्त नहीं, किन्तु प्रकट होकर प्रवेश किया जिससे बलभद्र गोपियोंसे रमण आदि लीला कर सके जिससे उनका निरोध सिद्ध होवे, वहां बलभद्र, नन्द आदिके दर्शनकी इच्छासे गये हैं, सात्त्विक भाव प्राप्त हुए उनकेलिये विशेष उत्कण्ठासे युक्त राम नन्दकी गोकुल गये, उनका निरोध वहां करनेकेलिये शक्य था इसलिए वहां पधारे।।१।।

१.भ्रमरगीतके प्रसङ्गके समान नहीं.

आभासार्थ : प्रथम श्रीबलभद्रमें आसक्ति होवे तो अनन्तर भगवान्में आसक्ति सुलभ हो सकेगी, इसलिए पहले लौकिक प्रकारसे ही 'परिष्वक्तः चिरोत्कण्ठै' श्लोकमें उनकी आसक्ति कहते है :

परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैः गौपैर्गोपीभिरेव च।
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः।।२।।

श्लोकार्थ : बहुत समयसे उत्कण्ठावाले गोप तथा गोपियों से मिले, अनन्तर माता-पिताको नमन कर उनका आशीर्वाद ग्रहण किया।।२।।

व्याख्यार्थ : गोप और गोपियोंका एक ही प्रणयरूप भाव था, इसलिए दोनोंका साथमें निरूपण किया है, यद्यपि गोपोंने भी आलिङ्गन किया किन्तु वास्तविक आलिङ्गन गोपियोंने ही किया है, 'च' पदसे जाना जाता है कि नन्द और यशोदाने भी आलिङ्गन किया था, उनका कार्य कहकर अब रामका कृत्य कहते हैं कि रामने नन्द यशोदाको पिता माता समझ ही नमन किया, इस भावको प्रकट करनेकेलिये मूलमें 'पितरौ' पद दिया हैं दूसरा शब्द नहीं दिया, जो वे वैश्य है तो भी उनमें पितृभाव स्थापित होनेसे उन्होंने आशीर्वाद दीया है।।२।।

आभासार्थ : प्रथम किया हुआ निरोध यदि समाप्त हो जावे तो पश्चात् किया हुआ निरोध भी व्यर्थ हो जाता है अतः पहला किया हुआ सम्बन्ध वैसा ही स्थित रहा यों 'चिरं नः पाहि' श्लोकमें निरूपण किया जाता है :

चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः।
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्बलम्।।३।।

श्लोकार्थ : आशीर्वादके बाद कहने लगे कि हे दाशार्ह! तुम जगदीश्वर हो, अपने छोटे भ्राताके साथ हमारी बहुत समय तक रक्षा करो, इस प्रकार कह

गोदीमें बैठाकर जब आलिंगन किया, तब नेत्रसे आंसुओंकी धारा बहने लगी, जिससे उनको सींचने लगे।।३।।

व्याख्यार्थ : तुम हमारा बहुत समय तक पूर्ण रीतिसे सर्वथा पालन करो क्योंकि दाशार्ह(विष्णु) हो, छोटे भाईके साथ हमारी रक्षा करो, अनुज पदसे जताया है कि दोनोंमें नन्दजीका पुत्रभाव हैं, अतः कृष्ण सहित कहा. जगतके ईश्वर हैं, पहले जाना हुआ माहात्म्यज्ञान कहा है प्रथम सिद्ध हुआ लौकिक स्नेह भी प्रकट किया, जिससे गोदमें बिठाया, यद्यपि राम प्रौढ़ अवस्थावाले थे तो भी प्रकट पुत्र स्नेहके कारण उनको बाल ही जान गोदमें बिठाया और आलिङ्गन कर आंसुओंसे सींचा, 'बल' पद देनेका आशय यह है कि आंसुओंसे सर्वाङ्ग सींचे हैं, अन्यथा नहीं कही हुई भी शिखाएं सींची समझी जाती।।३।।

आभासार्थ : आवश्यकोंका अभिवादनादि कहकर अब 'गोपवृद्धांश्च' श्लोकमें अनावश्यकोंका कहते है :

गोपवृद्धांश्च विधिवद् यविष्ठैश्चाभिवादितः।
यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धम् आत्मनः।।४।।

श्लोकार्थ : बलरामजीने विधिके अनुसार बडोंको अभिवादन किया और अन्योंको आयु, सखाभाव तथा अपने सम्बन्धके अनुसार यथा योग्य था, वैसे किया।।४ ।।

व्याख्यार्थ : मूल श्लोकमें 'विधि' शब्द कहनेका भाव यह है कि जैसे शास्त्रमें गोत्रके उच्चारणके साथ अभिवादन करना कहा है वैसे ही बड़ोंको अभिवादन किया, छोटोंने रामको प्रणाम किया, माहात्म्य जानते हुए भी लौकिक भावका स्थापन करना निरोधका अन्तरङ्ग कार्य है, जैसी आयु, जैसा सखाभाव तथा जैसा अपना सम्बन्ध तदनुसार अभिवादनादि किया जिससे बताया कि काल अन्तःकरण, और देहधर्मोका अतिक्रम नहीं किया, यद्यपि वे सर्व ही माहात्म्यज्ञानसे उनके भगवद्भावको मानते हैं, तो भी आप जैसा उनको मानते हैं वैसे किया।।४।।

समुपेत्याथ गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः।
विश्रान्तं सुखम् आसीनं पप्रच्छु पर्युपागताः।।५।।

श्लोकार्थ: श्रीरामने हास्य और हस्त मिलाने आदि द्वारा गोपोंसे मिलकर विश्राम किया पश्चात् जब सुखसे बैठे, तब वे श्रीरामके चारों तरफ बैठकर पूछने

लगे।।५।।

व्याख्यार्थ : वृद्ध गोपोंसे मिलकर उनका अभिवादन करनेके अनन्तर अन्य गोपालोंसे हास्य और हस्त मिलाप करते हुए यथा योग्य अभिवादनादि किया, जैसे कि छोटोंसे हस्त ग्राह, समानोंसे हास्य और उत्तमोंसे अभिवादन किया, इस प्रकार कायिका कर्तव्य पूर्ण कर वाचनिक कहते हैं, विश्राम पाये हुए तथा सुख पूर्वक विराजमानसे पूछने लगे, बड़े भी है इसलिए 'आसीन' कहा है सब आकर चारों तरफ बैठ गये, किसीने भी उपेक्षा नहीं की है।।५।।

आभासार्थ : 'पृष्ट्वाथानामयं' श्लोकमें पहले लौकिक कहते है :

पृष्ट्वाथानामयं तेषु प्रेमगद्गदया गिरा।
कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः।।६।।

श्लोकार्थ : जिन गोपोंने श्रीकृष्णके लिए सर्व विषयोंका त्याग कर दिया है, वे गोप प्रेम पूर्वक गद्गद् वाणीसे पूछने लगे।।६।।

व्याख्यार्थ : पहले अनामय पूछने चारों तरफ बैठ गये, 'अथ' पृथक् प्रक्रमसे प्रेम पूर्वक गद्गद वाणीसे पूछने लगे, यों सम्बन्ध है, यद्यपि यह विशेष सबकेलिये है–तो भी विशेष कहते हैं कि उनमें जिन्होंने कमलपत्र सरीखे नेत्रवाले कृष्णकेलिये सर्व विषयोंको छोड़ दिया है, अर्थात् लौकिक और वैदिक सब सिद्धियां भगवानमें स्थापित की है कारण कि कमलपत्रके समान नेत्रवाले हैं जिस दृष्टिसे ही सर्व तापको नाश करते हैं और मोह उत्पन्न करते हैं।।६।।

आभासार्थ: 'कच्चिन्नो बान्धवा राम' इस श्लोकसे नन्दादिके वाक्योंको कहते है:

कच्चिन्नो बान्धवा राम! सर्वे कुशलम् आसते।
कच्चित् स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विता।।७।।

श्लोकार्थ : हे राम! हमारे सब बांधव कुशल तो है? तुम सब कभी हमको याद करते हो? क्योंकि तुम सब स्त्री तथा पुत्रवाले हो।।७।।

व्याख्यार्थ : सर्व वसुदेव आदि प्रसन्न तो हैं? इस प्रकार, यह लौकिक रीतिसे प्रश्न किया, अब उनका हममें स्नेह है या नहीं? इसलिए पूछते हैं कि हमको वे याद करते हैं कि नहीं, क्योंकि आप सब स्त्री पुत्रवाले हैं, इसलिए भूल जानेका अंदेशा रहता है, हे राम यह स्नेह सूचक सम्बोधन है, अतः प्रश्न उपालम्भ (उलाहने)के समान है।।७।।

आभासार्थ : उनका अभ्युदय अपनेको अत्यन्त प्रिय है, यों जनाते हुए फिर कहते हैं कि प्रसन्नता है कि 'दिष्ट्या कंसो हत: पापो' इस श्लोकमें पापी कंस मरा आदि प्रसन्नतासे कार्य हुए :

दिष्ट्या कंसो हत: पापो दिष्ट्या मुक्ता: सुहृज्जना:।
निहत्य निर्जित्य रिपून् दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिता:।।८।।

श्लोकार्थ : यह बहुत अच्छा हुआ जो पापी कंस मर गया, यह प्रसन्नता है कि सुहृद लोग बंधनसे छूटे तथा शत्रुओंको मार जय प्राप्त की, दुर्गका आश्रय ले लिया यह भी हर्षका विषय है।।८।।

व्याख्यार्थ : निश्चय भाग्यके कारण ही सुहृज्जन कंससे मुक्त हुए, कंस इसलिए मरा है जो उसके स्वरूप तथा गुण अच्छे नहीं थे, इसकी भी सूचना करते हुए जरासन्धकेलिये उपद्रवोंकी निवृत्ति कहते हैं कि शत्रुओंको मार तथा जीतकर पश्चात् दुर्गका आश्रय किया, यह भी अच्छा हुआ, अतः हर्ष है, कालयवनको मार और बहुत बार जरासन्ध आदिको जीत एवं बलको जीता, दुर्गका आश्रय जयका हेतु नहीं, किन्तु दुर्गके आश्रयका कारण जयमें सन्देह है यह 'क्त्वा' प्रत्ययसे पूर्व काल ही कारण कहा है, 'दिष्ट्या'(खुशी है यों कहनेसे) कहनेसे यह बताया है कि द्वारकामें अच्छी तरह आश्रयका तात्पर्य है कि वहां सम्बन्धियोंके साथ आनन्दसे रहना।।८।।

आभासार्थ : इस प्रकार सर्वके प्रश्न कहकर 'गोप्यो हसन्त्य:' श्लोकमें गोपियोंका विशेष कहते है :

गोप्यो हसन्त्य: पप्रच्छू: रामसन्दर्शनादृता:।

श्लोकार्थ : श्रीरामके दर्शनसे आदरयुक्त होनेके कारण हंसती हुई गोपियां पूछने लगी।।८।।

व्याख्यार्थ : राजस प्रकरणमें गोपियोंका शोक नाश कर दिया, इसलिए भगवत्स्मरण होने पर भी उनको हर्ष ही उत्पन्न हुआ, इसलिए हंसती थी, जो पूर्ण हो गई हैं उनको प्रश्नकी क्या आवश्यकता थी? इस शंकाके मिटानेकेलिये कहा है कि श्रीरामके स्नेह और कृपा पूर्वक दर्शनसे आदरवाली होनेसे प्रश्न करने लगी, जो जैसी हो जाती हैं उनको उसी प्रकार करना चाहिए, यदि यों न करे अर्थात् प्रश्न न करे तो उदासीनताकी प्रतीति होवे अतः पूछने लगी।।८।।

आभासार्थ: 'कच्चिदास्ते' इससे ले साढे पांच श्लोकोंसे प्रश्न कहते है:

कच्चिद् आस्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः।।९।।

श्लोकार्थ : जिनको पुरकी स्त्रियां वल्लभ है, वैसे कृष्ण आनन्दमें बिराजे हैं? ।।९।।

व्याख्यार्थ : भगवान् षड्गुण पूर्ण हैं तब श्लोक संख्या छ कहनी चाहिये वह न कहकर साढ़े पांच क्यों कहे? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अर्ध भावो न्यूनः' वक्तामें भाव आवरण सहित होनेसे आधेकी कमी है. प्रश्न कर्ताके भावानुसार श्लोक संख्या कहनी चाहिये? जिसके उत्तरमें कहा है कि तामसादि प्रकारसे अनेक प्रकारसे उन भावोंके अनुसार ही श्लोक संख्या निरूपण की है. अब प्राकृत विषयमें उन बहुविध कथाओंका उपयोग नहीं है क्योंकि अब आन्तर रमण करना ही स्थिर किया है, जो रमण एक ही सबका एक ही प्रकारका है अतः पुराणान्तरमें कही हुई कथाको लेकर नन्द[१] गोपकी कुमारिकाएं भगवान् द्वारकामें लाये हैं, जो फिर 'अन्यपूर्वा' हैं वे भी विचार करने पर उनके ही वाक्योंके अनुसार उपालम्भके वाक्योंसे और आगे भगवद्वाक्योंसे पृथक् ही है यों भासता है, अथवा यहां साधारण गोपियोंका ही निरूपण हैं, उनका शंखचूडके वधमें निरूपण है इस कारणसे ही इनका सान्त्वन पृथक् किया जाता है, उन श्रुतिरूपा और वेदात्मक बलदेव, दोनोंके बलका विचार वा आश्रय करने पर अन्य पूर्वा सब[२] एक ही हैं यों भासता है, यदि वे ऐसी हैं तो उनके साथ बलरामने रमण कैसे किया? जिस शंकाके उत्तरमें आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि बलभद्र इस समय भगवान् भी हैं क्योंकि अब भगवान्की शक्ति इनमें प्रविष्ट हुई हैं, अतः बलभद्र भावसे सान्त्वन किया है और भगवद्भावसे रमण किया है, इसलिए दोनोंमें विरोध नहीं है अतएव सान्त्वनसे यहां विशेष कहा है, बलभद्रने अपनेको भगवद्रूप दिखाकर उनका लौकिक भाव होते हुए भी पश्चात् उनकी कामना पूर्ण की है, एवं भगवान्के कहनेसे भगवानके साथ एक रूपसे यहां आया हूं, इसलिए ही भगवान्ने 'आयास्ये' आऊंगा कहा है, अक्लिष्ट कर्मा भगवान् कृष्ण हैं वैसे श्रीकृष्ण साक्षात् अपनी बलरामसे आविष्ट आत्माको ही रमण कराते हैं, अर्थात् इस प्रकृत लीलामें जो रमण हुआ है वह आवेश स्वरूपसे हुआ है न कि बलरूपसे हुआ है, भगवान् कृष्ण अक्लिष्टकर्मा होनेसे देहसे रमण नहीं करते हैं क्योंकि देहके रमणमें क्लेश होता है, बाहरके धर्मों[३]को और कामको ध्यानमें भी नहीं लाते हैं, निरोधमें भक्ति मार्गीय विरोधकी शंका नहीं करनी चाहिए, लौकिक सहित

भक्ति मार्गमें विरोध हैं निरोधरूप भक्तिमें विरोध नहीं है, अतः गोपिकाओंमें भेद वा अभेदमें विशेष नहीं है. इसलिए पृथक् निरूपण नहीं किया है, तो भी भेदसे ही व्याख्या करनी चाहिए, यह सम्प्रदाय है प्रश्न करनेवाली गोपियां लौकिक दृष्टिसे पूछती हैं, रामने लौकिक न्यायसे उनका आदर सान्त्वन किया, श्रीकृष्ण स्त्रियोंके हितकारी हैं, उनके सुख दुःखसे वैसे होते हैं इसलिए कहा है, कि हम दुःखी हैं, अन्य[४] सुखी हैं, समान देशमें स्थितोंको ही आनन्द देनेमें सुखीपन है, साधारणमें आधा सुखीपन है, अथवा प्रायः अंगीकृत न कहने पर भी कहती हैं कि यह सत्य है कि श्रीकृष्ण सुखी है क्योंकि पुरके स्त्री जनोंका अब प्यारा हुआ है, हमारे वल्लभ(प्यारे) होने पर कदाचित् दुःखी भी हो जाय, यह भाव है।।९।।

१.'नन्द गोप सुतं देवी पति मे कुरु' इस प्रार्थनाके अनुसार इनका रमण आवेशसे नहीं हो सकता है जिससे आचार्य श्रीने 'भिन्न एव' सुबोधिनीमें कहा है.

२.दासमें स्थित और शंखचूडके प्रसंगमें स्थित सब. ३.देह स्थानीय बलरामजीके धर्मोंको. ४.पुरस्त्रियां वा एवं श्रीकृष्ण

आभासार्थ : कदाचित् स्मृति आ जानेसे दुःखी होनेकी भी सम्भावना हो सकती है, यह 'कच्चित् स्मरति' श्लोकमें कहा है :

कच्चित् स्मरति वा बन्धून् पितरं मातरं च सः।
अपि वा स्मरते–ऽस्माकम् अनुसेवां महाभुजः।।१०।।

श्लोकार्थ : वह महाभुज श्रीकृष्ण बान्धवों, पिता और माताको कभी याद करते है वा नहीं? अथवा हमारी की हुई इच्छानुसार सेवाको याद करते हैं?।।१०।।

व्याख्यार्थ : बान्धव, गोप और गोपियां इनका स्मरण करना पूछके पश्चात् माता–पिताका स्मरण आवश्यक पूछना है इसलिए उसको भी पूछती हैं, यद्यपि आप याद करते हैं तो भी वह कृष्ण स्मरण करते हैं वा नहीं इसमें सन्देह है, इस प्रकार प्रासङ्गिक कहकर अपने स्मरणकी सम्भावना करती हुई पूछती है, हमारी इच्छानुकूल सेवाको याद करते हैं कि नहीं? जो अपेक्षित (आवश्यक) समझकर की जावे उसको सेवा कहते हैं, और जो सेव्यकी इच्छानुसार अथवा आज्ञानुसार की जावे वह अनुसेवा है, महाभुजः इस सम्बोधनसे सर्वापेक्षासे महती क्रिया शक्तिरूप अनु–सेवा है, वह सेवा सेव्यकी इच्छानुकूल ही की जाती है अतः उनको ले जानेमें अथवा आनेमें किसी प्रकारकी कोई शंका नहीं है।।१०।।

आभासार्थ : यद्यपि भगवानमें असूया करनी छोड दी तो भी बहुत काल होने पर अन्यथा बुद्धि हो ही जाती, इसलिए उनके दोषोंका फिर निराकरण करनेकेलिये 'मातरं-पितरं' श्लोकमें निरूपण करते है :

मातरं पितरं भ्रातन् ज्ञातीन् पुत्रान् स्वसरपि।
यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो।।११।।

श्लोकार्थ : हे दाशार्ह! हे प्रभु! जिस आपके वास्ते हमने दुस्त्यज माता, पिता, भ्राता, बांधव, पुत्र, बहन और स्वजन, इन सबका त्याग किया है, जो कठिनाई से छोडे जा सकते है।।११।।

व्याख्यार्थ : गृहस्थमें पांच वस्तु आवश्यक है उनका छोड़ना कठिन हैं, उनमें पहली वस्तु माता है स्त्रियोंमें मुख्य होनेसे माताकी प्रथम गिनती की है, पिता भ्राताके पश्चात् पति न कहकर 'ज्ञातीन्' कहा यह साधारणतासे उनका भी निराकरण किया है. पति शब्द न देनेका यह भी आशय है कि पतित्व भगवानमें ही स्थापित किया है अतः उस पदके देनेकी आवश्यकता नहीं थी, यदि 'पति पुत्रात्' यों पाठ हो तो उसमें कोई भी सन्देह नहीं है, आदि और अन्तमें स्त्री शब्द लेनेका भाव यह है, कि वे पूछनेवाली स्त्रियां थीं अतः उनका इस विषयमें महान् अनुरोध है, सबसे निराकरण की हुई उनने उनका(माता-पिता भ्राता आदिका) अनुरोध त्याग कर भगवानको ही ग्रहण किया है, इसलिए कहा है कि जिसकेलिये सब छोड़े, दाशार्ह सम्बोधनसे बताया है कि यह हमारा कथन पश्चात्ताप युक्त नहीं है, यह हमारा त्याग बड़ा है यह कहनेकेलिये, उनके दुस्त्यज और स्वजन विशेषण दिये हैं. यों कहनेसे यह दिखाया है कि अन्तःकरण और देहका सम्बन्ध दृढ है, प्रभो? यह सम्बोधन, सामर्थ्यको प्रकट करता है, सामर्थ्यके कारण परित्यागमें उपालम्भ देना उचित है यह समझाया है।।११।।

आभासार्थ : जिस उपालम्भकेलिये वह निरूपण है उस उपालम्भको 'तां नः सद्यः' श्लोकमें कहती है :

तां नः सद्यः परित्यज्य गतः संच्छिन्नसौहृदः।
कथं नु तादृशं स्त्रीभिः न श्रद्धीयेत भाषितम्।।१२।।

श्लोकार्थ : वैसी जो हम हैं, उनको छोड तुरंत चले गए और स्नेह भी तोड डाला, किन्तु उनके वैसे मनोहर भाषण पर कौन सी ऐसी स्त्री है, जो विश्वास न करेगी।।१२।।

व्याख्यार्थ : उनका परित्याग केवल बाहरसे नहीं है किन्तु अन्तःकरणसे हैं इसलिए तो सौहृद प्रेम भी तोड़ डाला है. स्नेह तोड़नेसे जो पीड़ा होती है वह मृत्युसे भी विशेष होती है, यह भी हम जानती हैं कि वसुदेवका पुत्र जैसे कैसे भी यहां आकर स्थित हुए हैं, क्या? यों सर्वका परित्याग कर सेवा किया गया हुआ वह है? यदि यों है, जो इस पर कहती हैं कि यद्यपि युक्तिसे त्याग करेंगे, यह निश्चय है तो भी हृदय आदिको विश्वास देनेवाले वाक्यों पर कैसे विश्वास किया जाए? स्त्रियोंका हृदय शुद्ध भाववाला होता है अतः वे कापट्य नहीं जानती हैं, इन वचनोंसे अपनी बड़ाई की है, इसलिए हमने जो कुछ किया है वह वाक्यों पर विश्वास रखकर किया है. इसमें हमारा कोई दोष नहीं है, अन्य वचन जो शास्त्र दृष्टिसे कहे हैं उन पर भी विश्वास किया जैसे कि 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' 'कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' 'नु' पद वितर्कमें दिया है, कोई वैसा भी है जो विश्वास न करे, यों असम्भावना भी दिखाई है।।१२।।

आभासार्थ : इस प्रकार मात्सर्यसे भगवानमें दोषकी सम्भावना कर, अब नगरकी स्त्रियोंसे सम्बन्ध होनेका स्मरण करनेसे सुतरां ईर्ष्या उत्पन्न हुई, तब विचार करने लगी कि नगरकी स्त्रियोंका भी सुख इनको न मिले, वह तब होगा, जब वे भी निवृत्त कर दी जाएगी, इसलिए उनको निवृत्त करानेको 'कथं नु गुह्णन्ती' श्लोकमें उलाहना देती है :

कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः।
गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दर-स्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः।।१३।।

श्लोकार्थ : ये समझदार सयानी पुरकी स्त्रियां, जिनके जीव एक विषयमें स्थिर नहीं है और जो कृतघ्नी है, उनके वचनों पर कैसे विश्वास करती है, यह हमको विस्मय होता है, कदाचित् विचित्र बातें बनानेवाले श्रीकृष्णके हास्यपूर्वक सुन्दर कटाक्ष चलानेसे बढे हुए कामदेवसे आतुर होकर विश्वास करती होंगी।।१३।।

व्याख्यार्थ : निश्चय हैं सुखकर वचन सुख ही देते हैं, वैसे वचनों पर कैसे विश्वास न किया जावे, यदि यों कहो तो इस पर कहते हैं कि जिसके जीव, लोक वा वेदमें एकत्र प्रतिष्ठित नहीं हैं, क्योंकि भगवानके सेवक कहीं भी प्रतिष्ठित नहीं हैं, उनके ही वचनसे उनके सेवकत्वके कारण अपना भी इस प्रकार होगा, अतः जो भगवदीय हैं उनका भगवान्के सिवाय दूसरेमें प्रतिष्ठितपनके

अभावसे ऐहिक आभिलाषावाली हैं, वितर्क कर कहती हैं कि निश्चयसे कैसे ग्रहण करेंगी? साधन तो प्रतिष्ठित किया है फिर प्रतिष्ठाको कैसे न प्राप्त करेंगी, जैसा कहा है '**अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति**' ''**अमुष्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठन्ति, वा, य एता रात्री रूपयन्ति**'' इत्यादि वाक्यानुसार कर्म करने पर भी प्रतिष्ठाको क्यों नहीं प्राप्त होती हैं, यदि यों कहा जावे तो कहती हैं कि 'कृतघ्नस्य'. वह कैसे हैं कि किये हुए उपकारको भूल जाते हैं, इसलिए ही कहा है कि ''**लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टि मार्ग स्थितो यस्मात् साक्षिणो भविताखिला**'' यदि कहो कि इस तत्त्वको ये नहीं जानती हैं तो उत्तरमें कहती हैं कि यों नहीं है, ये स्त्रियां नगरमें रहनेवाली होनेसे सयानी हैं, इसलिए इनके वचन ग्रहण करने चाहिये वा नहीं? ग्रहण करनेमें और न ग्रहण करनेमें दुःखका तारतम्य विचार कर निश्चय करती हैं कि जो इनके वचन ग्रहण नहीं किये जावेंगे तो महान् दुःखकी प्राप्ति होगी अतः निश्चयसे ग्रहण करने चाहिए, इसमें किसी प्रकार पूर्व पक्ष नहीं है. जिसमें तीन हेतु देती हैं (१) कथाकी विचित्रताके कारण वाणीसे वश हो गई जिससे उनके वचन ग्रहण किये, (२) सुन्दरस्मित तथा (३) अवलोकनसे, और मन तथा कायासे मोहित हो गई, जिससे भी उनके वचन ग्रहण किये, इस प्रकार तीन हेतुओंका कार्य हुआ. वह कहती हैं कि स्मित और अवलोकनसे मर्यादाका उल्लंघन कर जो स्मर प्रकट हुआ उससे नगरकी स्त्रियां आतुर बन गई, जैसे ज्वरसे पीड़ित वैद्यके वचन मानकर कटु तिक्त औषध खाता है वैसे इनने भी मान लिए।।१३।।

आभासार्थ : इस प्रकार कितनी ही स्वयं दुःखका अनुभव कर, अज्ञानके कारण दुःखकी निवृत्ति करनेवालेमें दोषकी सम्भावना करती है कि इन्होंने हमको दुःख दिया है, उनकी इस असम्भावना दोषके निषेधार्थ दुसरी 'किं नस्तत्कथया' श्लोकमें कहती है :

किं नस्तत् कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः।
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः।।१४।।

श्लोकार्थ : हे गोपियां! अपनेको उनकी कथाओंसे क्या प्रयोजन है? दुसरी कथाएं कहो, अपने बिना यदि उनका समय व्यतीत होता है तो उनके बिना अपना काल भी वैसे ही बीत जाता है।।१४।।

व्याख्यार्थ : हे गोपकी मूर्ख स्त्रियां! उनकी कथासे हमको क्या लाभ?

भक्ति निरोध और मुक्ति इनके दोषोत्पत्तिमें प्रयोजकपनके अभावसे और सुतरां दोषजनक होनेसे उनकी कथासे हमारा कुछ भी उपकार होनेवाला नहीं है. भक्तिमार्गमें जब प्रतिबन्धोंको दूर कर, स्नेहसे भगवद्भजन किया जावे तब उपकार होता है. निरोधमें क्षणमात्र भगवान्के दर्शन न होने पर, देह इन्द्रियादि भी छूट जावें. मुक्तिमें विषमताका ग्रहण नहीं होता है. उनकी कथासे दोषोंकी निवृत्ति नहीं होती है और गुणोंका भी अभाव होता है अतः उनकी कथासे अपनेको क्या सरोकार है? यदि कहो, कि कथा भी सुननी और कहनी चाहिये क्योंकि इससे रसावेश होता है, तो भी दूसरी कथाएं कहो जिनमेंसे दोषोत्पत्ति न होवे. ऐसी उदासीनता कैसे की जा सकती है? इस पर कहती हैं कि 'यात्यस्माभिर्विना कालः यदि तस्य तथैव नः' जो कि पारमार्थिक प्रयोजन नहीं है तो भी लौकिक प्रयोजनकेलिये भगवान्की अपेक्षा है, इसमें दोनोंकी विषयता है और भोक्तृत्व भी हैं, यों होने पर भी, यदि उनका काल अपने बिना जा सकता है तो अपना उनके बिना बीतता ही है, हम मरे हुए नहीं हैं, जिसके बिना जिसका निर्वाह न होगा, वह उलाहने योग्य होता है, तब शास्त्रमें दोष नहीं है, लोकमें भी निन्दा नहीं होती है, जैसे प्राणोंके जाने पर समस्त विषयोंके परिग्रहका, और मरनेवाला निषिद्धसे भी जल और अन्न ग्रहण करे तो दोष नहीं है, वैसे भगवान्के विरहमें यदि अपने प्राण जावे तो, तब उपालम्भ दोष रहित हैं अन्यथा दोष ही प्राप्त हो, उदासीनके उपालम्भके समान हो जावे, भजनके अनुरूप भजन, वह भगवान्में नहीं है. बिना हम लोगोंके उनका काल जा सकता है, अतः भगवान् शास्त्रके प्रमाणानुसार अपना ऐसा अधिकार होने पर भगवान् स्वयं ही पधारने चाहिए. प्रमाण न होने पर मरण ही होवे, दोनों नहीं हैं, इसलिए वृथा उपालम्भ नहीं देना चाहिए, दोनों प्रकार[१]की भी ये मूर्च्छा पर्यन्त व्यापार युक्त है अतः दुःखके कारण पहली कहती हैं, मरणके अभावसे दूसरी निषेध करती हैं।।१४।।

१.एक प्रकारकी वे थी जिनकी भगवान्में दोष सम्भावना थी, दूसरे प्रकारकी वे थी जो भगवान्में दोषोंका निषेध करनेवाली थी.

आभासार्थ : पश्चात् मरण पर्यन्त पीडित वे भगवदिच्छासे भीतरके तापको बाहर प्रकट करने लगी, जिसका वर्णन 'इति प्रहसित' श्लोकमें वर्णन करती है :

इति प्रहसितं शौरेः जल्पितं चारुवीक्षितम्।

गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो मुमुहुः स्त्रियः।।१५।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार भगवान्के हास्य, भाषण, सुंदर कटाक्ष, गति, प्रेमसे आलिंगनको स्मरण करती हुई मूर्च्छित हो गई।।१५।।

व्याख्यार्थ : हास्य आन्तर भाव (रति) हैं,प्रकट करता है, बाहर व्यामोह करनेवाला है. शौरि नामसे सामर्थ्य दिखाया है, भाषण वाचनिक है. सुन्दर कटाक्ष इन्द्रिय सम्बन्धी है, गति और प्रेमसे आलिङ्गन ये दोनों कायिक है. इस प्रकार पांच अङ्गवाले भगवान्का स्मरण करती हुई मूर्च्छित हो गई।।१५।।

आभासार्थ : यदि मरणकी सम्भावना होती तो भगवान् ही पधारते और सायुज्य देते, ऐसा न होनेके कारण बलभद्रने आकर सान्त्वना दी है, जिसका वर्णन 'संकर्षणस्ताः' श्लोकमें किया है :

सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयङ्गमैः।
सान्त्वयामास भगवान् नानानुनय–कोविदः।।१६।।

श्लोकार्थ : अनेक प्रकारकी सान्त्वना (दिलासा) देनेमें चतुर भगवान् संकर्षण, कृष्णके हृदयंगम सन्देशोंसे उनको सान्त्वना देने लगे।।१६।।

व्याख्यार्थ : वे पहले निरुद्ध हुई हैं और शोक रहित भी हो गई थीं. फिर दोष उत्पन्न होने पर उद्धवकी तरह उससे भी विशेष प्रकार उनको सान्त्वना देने लगे, क्योंकि भगवान् संकर्षण विधि प्रकारके आश्वासन देनेमें चतुर हैं, जैसे वे शान्त हो प्रसन्न होवे वैसे ही किये।।१६।।

आभासार्थ : सान्त्वना देनेकेलिये ही ये गये है, केवल वचनोंसे ही सान्त्वना नहीं होती है, इसलिए वसन्त ऋतुके दो मास वहां ही विराजमान हुए :

द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन् मधुं माधवमेव च।
रामः क्षपासु भगवान् गोपीनां रतिम् आवहत्।।१७।।

श्लोकार्थ : भगवान् राम रात्रिके समय गोपियोंके रतिको बढाते हुए चैत्र और वैशाख दो मास वहां ही रहे।।१७।।

व्याख्यार्थ : वे जहां जाते वहां बहुत समय ठहरते अतः यहां भी वसन्तके दो मास चैत्र और वैशाख ठहरे. वसन्तमें ही कामकी पीड़ा विशेष होती है, उनके विद्यमान होने पर काम, पीड़ा नहीं करता है, भगवान्ने उद्धव द्वारा अलौकिक समाधान कराके लौकिक न्यायसे बलभद्र द्वारा समाधान किया. राम भी रति बढ़ानेवाले हैं, रात्रियोंमें भगवद्रूप हो, गोपियोंकी रतिको धारण करते हुए स्वयं भी

रमण करने लगे. यह आगेके श्लोककी क्रिया 'रेमे'से सम्बन्ध है अथवा अवात्सीत् रहने लगे. इस पूर्व क्रियाके साथ सम्बन्ध है. 'च' पद दिया है जिसका भाव यह है कि वसन्त फाल्गुनसे लेकर तीन मासका था यों समझना चाहिए ।।१७।।

आभासार्थ : दूसरोंको सान्त्वना देनेकेलिये यदि जावे तो लोकमें अयोग्यता देखनेमें आवे क्योंकि आप ज्येष्ठ है, इसलिए भगवदिच्छासे स्वयं भी रति करने लगे. यह 'पूर्णचन्द्र कलामृष्टे' ०श्लोकमें कहते है :

पूर्ण–चन्द्र–कलामृष्टे कौमुदी–गन्धवायुना।
यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः।।१८।।

श्लोकार्थ : पूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंसे उज्जवल, कुमुदकी सुगन्धित वायुसे सेवित यमुनाके उपवनमें स्त्रीगणोंसे वृत्त हो रमण करने लगे।।१८।।

व्याख्यार्थ : उनके पतिके सम्बन्ध पर जो विरोध नहीं करती हैं वे बलभद्रसे सम्बन्ध होने पर भी विरोध नहीं करेंगी ही, अर्थात् नहीं करती हैं, यों कहनेसे यह सूचित किया है कि सर्वत्र भगवान्के धर्मोंमें अर्थात् पूर्ण चन्द्र आदि सर्व पदार्थोंमें भगवान्की तरह रमणकी सिद्धिकेलिये अनुकल्प ही किये हैं, क्योंकि जो साक्षात् निर्लेप भगवदीय पदार्थ हैं उससे बलभद्रका सम्बन्ध हो नहीं सकता है, अतः यहां गोपियां राम आदि सब पदार्थ अनुकल्प ही हैं, अर्थात् जैसे राममें भगवदावेश है वैसे सर्व पदार्थोंमें भगवदावेश होनेसे सर्व भगवदनुकल्प हैं, अनुकल्प भी उनकी सामर्थ्यवाला होता है, न कि बिना सामर्थ्यवाला होता हैं. जैसे राजाका प्रतिनिधि राजा न होते हुए भी राजाकी सामर्थ्यसे युक्त होता है, अतः यमुनाजीका आकर्षण और वरुणादिका सम्मान निरूपण करेंगे. देह आदि तो त्याज्य ही हैं, जैसे वस्त्रोंको पावन करनेकेलिये जलमें डाला जाता है, वैसे ये भगवद्धर्ममें डाली गई हैं, रमणके साधन कहते हैं, पूर्ण चन्द्रमाकी कलाओंसे उज्ज्वल यमुनाजीके उपवनमें, यों वन और नदी दोनों रस पोषक हैं, वहां जैसे वायुकी अपेक्षा हैं उसका निरूपण करते हैं कि नदीसे सम्बन्धवाली सुगन्धि युक्त वायु चल रही थी, अथवा कौमुदीका अर्थ ज्योत्सना भी हो सकता है, और सुगन्धि, दोनोंसे युक्त वायुसे सेवित होनेसे उसमें मन्दपन था, यह रमण फूलोंके चुननेरूप था, अर्थात् इस रमणमें पुष्पोंका चयन करते थे, बाहर रमण जतानेकेलिये कहा है कि स्त्रीगणोंसे आवृत्त थे, सर्व प्रकारके स्त्रियोंके गण थे यह

जताया है।।१८।।

आभासार्थ : 'वरुणप्रेषिता' श्लोकसे बलभद्रका प्रभाव बताते है :

वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात्।

पतन्ती तद् वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत्।।१९।।

श्लोकार्थ : वरुणकी प्रेषित वा वारुणी देवी वृक्ष कोटरसे बहती हुई सकल वनको अपनी गन्धसे वासित करने लगी।।१९।।

व्याख्यार्थ : कोई वारुणी नामक पदार्थ लक्ष्मीके साथ अमृत मन्थनके समय उत्पन्न हुआ था, उसकी अधिष्ठात्री देवता सर्व वृक्षोंमें रहती है, वह दैत्योंको दी थी, जिससे वह दैत्योंके राजाके आधीन है, जिस वृक्षमें आकर रहती है उससे ही मधुरधारा पैदा होती है, और संकर्षण भगवान्की तामसी मूर्ति अर्थात् स्वरूप है अतः मधुसे प्रसन्न होता है, इसलिए दैत्य राज वरुणसे आज्ञा पाकर देवता होनेसे सुख पूर्वक, अभिलाषानुरूप गन्धयुक्त रसवाली होकर बहती है, अतः वृक्ष कोटरसे गिरती हुई वह वन अपने गन्धसे सुवासित करने लगी जैसे वह गन्ध सबको मोहित करनेवाली हो गई।।१९।।

आभासार्थ : गन्धसे मोहित होनेसे बलभद्रने उसका पान किया, यह 'तद् गन्धं' श्लोकमें कहते है :

तद् गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः।

आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ।।२०।।

श्लोकार्थ : वायुसे आई हुई मधुधाराको वह गन्ध सुगन्ध पाकर बलरामने वहां आकर सब स्त्रियोंके साथ उसका पान किया।।२०।।

व्याख्यार्थ : वह गन्ध समस्त वनमें फैली हुई थी, क्योंकि उसको सर्वत्र वायु ले गई थी, जिससे राम आदि दूर भी खेल रहे थे तो भी सुगन्ध पाकर यहां आ गये, उसका अकेले रामने पान नहीं किया, किन्तु स्त्रियोंके साथ पान किया, क्योंकि इनका रामसे प्रथम रमण था उस समय यदि बलराममें आविष्ट होनेसे भगवान्का ज्ञान हो जावे, तो कदाचित् रमणमें संकोच हो जावे अतः स्त्रियोंके साथ पान किया अर्थात् स्त्रियोंने भी वारुणी पान किया।।२०।।

आभासार्थ : पश्चात् बिना क्लेशवाली वे रतिका पोषण करनेवाली हुई, यो कहनेकेलिये 'उपगीयमानचरितो' श्लोकमें उनके गानका वर्णन करते है :

उपगीयमान–चरितो वनिताभिर्हलायुधः।

वनेषु व्यचरत् क्षीबो मद–विह्वल–लोचनः।।२१।।

श्लोकार्थ : स्त्रियां जिनका चरित्र गा रही हैं और मदसे घृणित जिसके नेत्र हो रहे हैं ऐसे बलदेवजी मत्त होकर वनोंमें विचरने लगे।।२१।।

व्याख्यार्थ : स्त्रियां चरित्र गान कर बलरामजीसे अपनी रुचि प्रकट कर रही हैं, क्योंकि वनमें आई हुई हैं और वह भी हलायुध है जिससे उनमें विचारका अभाव है, और विशेषमें फिर मधुपानके कारण मत्त हैं, यों कहनेसे इनमें विचारका अभाव है यह अच्छी तरह निरूपण किया है, मदसे नेत्र विह्वल हो जानेसे देखते हुए भी नहीं देखते हैं यों कहा हैं।।२१।।

आभासार्थ : इस प्रकारकी अवस्थाको प्राप्तका अधिदैविकरूप प्रकट हुआ, यह जतानेकेलिये 'स्रग्व्येककुण्डलो मत्त' श्लोकमें वर्णन करते है :

स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया।
बिभ्रत् स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयरूषितम्।।२२।।

श्लोकार्थ : कैसे बलदेवजी हैं! जिनके गलेमें वैजयन्तीमाला है, एक कानमें ही कुण्डल है. मदमत्त है, मन्द हास्य युक्त मुख कमलवाले हैं, प्रलयके स्वेद रूप हिम कणोंसे सुशोभित है।।२२।।

व्याख्यार्थ : इस श्लोकमें चतुर्मूर्त्तित्व सम्पत्तिकेलिये चार विशेषण निरूपण किये हैं १.पुष्पमालासे युक्त अङ्गवाले, जिनके एक ही कुण्डल है, संकर्षणका यह असाधारण चिह्न है, कारण कि इस स्वरूपमें केवल योग अर्थात् क्रियाशक्ति प्रकट है न कि सांख्य[१] शक्ति, स्वभावसे मत्त हैं, नव रत्नोंसे खचित, पाद पर्यन्त लम्बी अर्थात् लटकनेवाली वैजयन्ती मालासे वह श्वेत मुखकमलको धारण करते हुए, स्वेदरूप जो प्रलयके हिमकण हैं उनसे सुशोभित, इससे यह जताया है कि श्रम सहज ही शोभा करनेवाला है न कि क्लेश दायी है, वे पसीनेके कण शीतल नहीं होते हैं।।२२।।

१.सांख्य शक्ति अर्थात् ज्ञान योग उसमें आत्म और अनात्म विवेक है और संकर्षण वेदात्मक है इसमें एक ही क्रियात्मक योग शक्ति है तथा वेदमें सर्व आत्मरूप होनेसे आत्म अनात्म विवेक उसको सम्मत नहीं है.

आभासार्थ : तो मत्त होने पर, वारुणीसे स्वरूपका नाश ही हुआ, यों शंका कर वैसे प्रतीत होनेवाले देवको भी नाश करती है, यों जतानेकेलिये वैसे प्रकारवाली यमुनाजीका निग्रह करनेकी इच्छावाले रामने उसको बुलाया, यह 'स

आजुहाव' श्लोकमें कहा है :

स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थम् ईश्वरः।
निजं वाक्यम् अनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः।
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह।।२३।।

श्लोकार्थ : उन समर्थ बलदेवजीने जल क्रीडाकेलिये बुलाया, जब उन्होंने देखा कि मेरे वचनोंका अनादर कर नहीं आई है, तब मत्त एवं कुपित बलरामजीने क्रोधित हो उसको हलके अग्र भागसे खेंचा।।२३।।

व्याख्यार्थ : जल क्रीड़ार्थ श्रीयमुनाजीको बुलाया यों कहनेका कारण बताते हैं, कि यदि केवल निग्रहार्थ ही बुलाते तो सुतरां मत्तता आ जाती, इसलिए जहां ही पान कर ठहरे थे वहां ही जल क्रीड़ा करनी चाहिए, इसलिए यों कहा, यों करने पर भी मत्तता होती ही है, ईश्वरकी मर्यादासे स्थापित जो नदियां हैं वे कहीं भी नहीं आती हैं, यदि आवें तो मर्यादाका भङ्ग होगा ही, इसका उत्तर देते हैं कि इसमें क्या हानि है? बुलानेवाले भी तो ईश्वर हैं, ईश्वरकेलिये ही मर्यादा नहीं होती है. यदि मर्यादानुसारिणी ईश्वरकी लीला होवे तो क्रीड़ाकेलिये जगतका निर्माण यह पक्ष भी नहीं बनता है, ईश्वर अपने ईश्वरताको नहीं खींचता है, बुलाने पर श्रीयमुनाजीने विचार किया कि यह उन्मत्त हैं, जो मदमत्त होता है वह ही बिना विचारे बुलाता है, इसलिए बलके वचनका अनादर किया है, अर्थात् नहीं आई, जब देखा कि नहीं आई तब उसको हलके अग्र भागसे खेंचा, हल भी आधिदैविक स्वरूप होनेसे, देवता सहित नदीका कूल पर ही, निम्न भाव सम्पादान कर, नहरके मार्गसे लाये, तब देवता सहित जल, स्वाभाविक मार्गसे जाने लगा उस ही मार्गसे जानेकेलिये प्रवृत्त हुए।।२३।।

आभासार्थ : यह कार्य भी मत्तका ही है यों शंका हो तो कहते है कि ज्ञान पूर्वक यों किया है, जिसका वर्णन 'पापे त्वं मामवज्ञाय' श्लोकमें करते है :

पापे त्वं माम् अवज्ञाय यन्नायासि मयाहुता।
नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम्।।२४।।

श्लोकार्थ : बलरामजीने कहा कि हे पापिनी! मेरी बुलाई हुई तू मेरा अनादर कर नहीं आई है, तो तुझ कामचारिणीको हलके अग्रसे शत विभाग कर डालूंगा।।२४।।

व्याख्यार्थ : 'मयाहुता', पदका अर्थ दो प्रकारसे करते हैं, एक 'मया

आहुता' मैंने तुमको बुलाया, दूसरा 'यस्मात् त्वं मां अवज्ञाय न आगता अतो मया हुता दग्धा भवति, एवं शुष्का इत्यतः' जिस कारणसे, तू मेरा अपमान कर नहीं आई है, इस कारणसे, मैंने तुझे जला दिया जिससे तु शुष्क हो जायेंगी, न केवल शुष्कमात्र तेरा निग्रह करुंगा, किन्तु बिना घरवाली भी करुंगा जिससे वृष्टिके जल पड़ने पर भी लोक तुझे नदी नहीं मानेंगे, वह कहते हैं कि, हलके अग्र भागसे तेरे सेंकड़ो टुकड़े कर डालूंगा. जैसे केदारसे सिञ्चित जल बह जाता है वहां जल न रहनेसे वह भूमि शुष्क हो जाती है वैसे तु भी हो जावेगी, ईश्वरके वचनोंका उल्लंघन महा पाप है, पापीको दण्ड देनेमें दोष नहीं है, इसलिए 'पापे' सम्बोधन दिया है, 'कामचारिणी' पदसे उसका अपराध बताया है अर्थात् तेरा यह अपराध है कि तू आज्ञा न मान, बड़ोंका तिरस्कार कर मन मानी करती है।।२४।।

आभासार्थ : यह उनकी प्रतिज्ञा नहीं है किन्तु केवल झिडकना है वह 'एवं निर्भत्सिता' श्लोकमें करते है :

एवं निर्भत्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम्।
उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप।।२५।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार झिडकने पर भयभीत यमुना आश्चर्यमें पड गई, हे नृप! रामके पैरों पर गिरकर वाक्य कहने लगी।।२५।।

व्याख्यार्थ : बलरामके आकर्षणका सामर्थ्य देखनेसे ही समझ गई यह सचमुच यों करेगा, उससे डरी, 'यदुनन्दन' नाम देनेका भाव प्रकट करते हैं कि भक्तों पर कृपा करनेवाले हैं. प्रवाह स्थानसे दूर खींचे जानेसे आश्चर्यमें पड़ गई और पैरों पर गिरके अपराधकी क्षमा मांगती हुई कहने लगी, नृप! यह सम्बोधन परिज्ञान वास्ते दिया है, अल्प विश्वास नहीं करता है यों।।२५।।

आभासार्थ : उसकी प्रार्थना 'राम राम' श्लोकमें कहते है :

राम! राम! महाबाहो! न जाने तव पौरुषम्।
यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते।।२६।।

श्लोकार्थ : हे राम! हे महाबाहो राम! तुम्हारा पौरुष मैं नहीं जानती हूं, हे जगतके स्वामी! जिस आपके एक अंशने सारा भूमण्डल धारण किया है।।२६।।

व्याख्यार्थ : राम! राम! दो बार आदर भावसे कहा है, 'महाबाहो' सम्बोधनसे यह बताया है कि भगवान् रामजीका सामर्थ्य हम सामान्यतः जो जानती हैं तदनुसार यह सम्बोधन कहा है. विशेष नहीं जानती हूं, इसलिए स्पष्ट

कहा है कि 'न जाने तव पौरुषं' आपका विशेष पराक्रम मैं नहीं जानती हूँ. आप वास्तविक महाबाहु हैं, परन्तु मैं इसको समझ न सकी हूं. यदि नहीं जानती है तो अपराधके शान्त्यर्थ पैरों पर क्यों पड़ी? इस शंकाके उत्तरमें कहती है कि देखा हुआ माहात्म्य जानती है, जैसे कि जिसके एक देशमें धारण की हुई पश्चात् कोटि विस्तीर्ण भूमिवाला यह भूमण्डल जिसके मस्तक पर सर्षप जैसा भासता है, उस भूमिके एक देशमें नदी होती है इस कारणसे मैंने माहात्म्य नहीं जाना, अतः अज्ञानसे कृत अपराध क्षमा करना चाहिए. यदि कहो कि लोकमें अज्ञानसे किये हुए अपराधका भी दण्ड दिया हुआ देखा जाता है, तो इस पर कहते हैं आप जगतके पति हैं, यह उदासीन व्यवस्था है पति तो अज्ञानसे हुए दोषका दण्ड नहीं देता है।।२६।।

आभासार्थ : यदि कहो कि सब जानते हैं कि संकर्षण शास्त्रोंसे सिद्ध महान् है, फिर अज्ञान कैसे? इसका उत्तर 'परं भावं भगवतो' श्लोकमें देती है :

परं भावं भगवतो भगवन् माम् अजानतीम्।
मोक्तुम् अर्हसि विश्वात्मन्! प्रपन्नां भक्तवत्सल! ।।२७।।

श्लोकार्थ : हे विश्वात्मन्! भगवन् आप भक्तवत्सल भी हैं, अतः भगवानके परमभावको न जाननेवाली, शरणागत मुझको आप छोड देनेके योग्य हैं।।२७।।

व्याख्यार्थ : आपमें मनुष्यभाव अथवा आधिभौतिक भाव ही लौक सिद्ध है, जैसा भगवान् कृष्णमें परभाव है, वैसा परभाव आपमें सिद्ध नहीं है, वह परभावरूप कृष्ण अब आपमें प्रविष्ट हैं, यों कोई नहीं जानता है. अतः अब जो साक्षात् परभावरूप भगवान् आप हैं उस परभावको न जाननेवाली मुझको छोड़नेकेलिये योग्य हो. भगवान् इस सम्बोधनसे यह सूचित किया कि अब आपके स्वरूपको जाना है, जिससे आगे अपराध नहीं होगा. अपराध होने पर भी क्षमा करनी चाहिए क्योंकि आप विश्वात्मा हैं. अपना किया हुआ अपराध किसीको क्रोधित नहीं करता है, यदि कहो कि, तो भी, अधिकारके आवेशसे भेदके दीखने पर क्षमा नहीं की जा सकती है, जिसका उत्तर देती है कि आप भक्त वत्सल हैं, और मैं आपके शरण आनेसे भक्त हूं इसलिए सर्वथा मैं क्षमाके योग्य हूं और आप क्षमा देनेके योग्य हैं।।२७।।

आभासार्थ : इस प्रकार कर्म, ज्ञान और भक्तिके प्रकारोंसे प्रार्थना करने

पर उसको छोड दिया, यह 'ततो व्यमुञ्चत्' श्लोकमें कहते है :

ततो व्यमुञ्चद् यमुनां याचितो भगवान् बलः।
विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट्।।२८।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार यमुनाजीने प्रार्थना की, तब भगवान् बलदेवजीने उसे छोड दिया और जैसे गजराज हथिनियोंके साथ जलमें प्रवेश करता है, वैसे उन्होंने स्त्रियोंके साथ जलमें प्रवेश किया।।२८।।

व्याख्यार्थ : उसने ही अर्थात् यमुनाजीने ही छोड़नेकेलिये बलरामजीसे याचना की थी, क्योंकि भगवान् हैं. महान्की यह ही व्यवस्था है कि अपकार न करेंगे यों समझकर ही यह किया था इस पक्षको बदलता है. क्योंकि बलराम बलवाले है, अपने बलके अभिनिवेशसे ही वैसे किया, न कि जान बूझकर किया उस पर प्रसन्न हुए. यह जतानेकेलिये क्रीड़ाको कहने लगे, स्त्रियोंके साथ जलमें प्रवेश किया, जैसे गजराज हथिनियोंके साथ प्रवेश करता है, गजराजके दृष्टान्त देनेका भाव यह है कि जैसे वह मर्यादा नहीं रखता है वैसे आपने भी पहले जैसी मर्यादाका त्याग किया।।२८।।

आभासार्थ : यहां तक भगवत्त्व कहकर भगवान् तिरोहित हो गये यह जतानेके लिए उनके वस्त्रोंके गीलेपनके कारण अन्य वस्त्रोंका धारण 'कामं विहृत्य' श्लोकमें कहते है :

कामं विहृत्य सलिलाद् उत्तीर्णायासिताम्बरे।
भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम्।।२९।।

श्लोकार्थ : अच्छी तरह जलक्रीडा कर जब बाहर निकले, तब कान्ति देवीने बलरामजीको दो अमूल्य नील, दो वस्त्र, आभूषण और सुंदर माला दी।।२९।।

व्याख्यार्थ : कान्ति देवी भगवान्की चतुर्थी शक्ति है, इस कारणसे ही चौथी तामसी मूर्ति उनके हितकेलिये उनके प्यारे नीले रंगके दो वस्त्र तथा आभूषण और कल्याणका सूचन करनेवाली सुन्दर मालाएं दी. यदि इस प्रकार यह चतुर्थी भगवान्की शक्ति बलरामजीका सत्कार न करती तो अपराध स्मरणसे जीवन, हीन रहता, भगवच्छक्ति द्वारा सत्कार होनेसे उसका भीतरका ताप निवृत्त हो गया।।२९।।

आभासार्थ : पश्चात् उन वस्त्र आदिके धारण करनेसे, बाहरकी

मलीनता भी निवृत्त हो गई, यह 'वसित्वा' श्लोकमें वर्णन करते है :

वसित्वा वाससी नीले मालाम् उन्मुच्य काञ्चनीम्।
रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः।।३०।।

श्लोकार्थ : बलरामजी जब नील वस्त्र पहन, स्वर्णमयी माला धारण कर और चंदन लगाकर सुंदर अलंकृत हुए, तब इन्द्रराजके हस्तीके समान शोभा देने लगे।।३०।।

व्याख्यार्थ : सजातीयसे ही सजातीय व्यावर्तित होता है इसलिए नीले वस्त्र धारण कर स्वरूपसे अमृतमयी, नित्य सद्गुणरूप, कीर्तिमयी मालाको गलेमें डालकर और चन्दन आदि अंगरागसे लेप लगाके निर्दोष गुणोंवाले ही शोभित हुए, इस प्रकार स्वाभाविकी अवस्थाको प्राप्त हो अलंकृत होनेसे सर्वको दर्शन योग्य ही हुए, न कि गुप्त अलंकृत दीखे जिसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे इन्द्रका ऐरावत हस्ती शोभा देता है।।३०।।

आभासार्थ : उनका माहात्म्य आगे भी देखनेमें आता है, वह 'अद्यापि दृश्यते' श्लोकमें करते है :

अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाकृष्टवर्त्मना।
बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि।।३१।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! हलसे आकृष्ट यमुनाजीके देखनेसे आज भी उनका माहात्म्य प्रकट है, क्योंकि वह स्थान अनन्त वीर्य बलरामजीके वीर्यकी मानों सूचना दे रहा है।।३१।।

व्याख्यार्थ : नहीं तो आगे अपकीर्ति होती, इसलिए यमुनाजी हलसे आकृष्ट मार्गसे, बड़े ही वीर्यकी मानों सूचना दे रही है, न कि इतना ही बल है किन्तु इससे अधिक विशेष बल है, वास्तवमें यह तो अप्रयोजक है. 'इव' पद देकर बताया है कि यह आकर्षण पूर्ण माहात्म्य सूचक होनेके योग्य नहीं है।।३१।।

आभासार्थ : इस एक दिनका कृत्य कहकर, जितना समय रहे सर्वदिनोंमें वह दिखाता है :

एवं सर्वा निशा याता एकेव चरतो व्रजे।
रामस्याक्षिप्त–चित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम्।।३२।।

श्लोकार्थ : व्रजस्त्रियोंके माधुर्योसे वशीकृत चित्तवाले व्रजमे घूमते हुए रामकी सर्व रात्रियां एक रात्रिके समान बीत गई।।३२।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार व्रजमें घूमते हुए रामकी सब रात्रियां एक ही रात्रिके समान बीत गई अथवा हुई, व्रजका स्थान समान होनेसे विलक्षणता प्रकट नहीं की है, सामर्थ्यके अभावसे यों नहीं कहा है, अपना पौरुष भी प्रकट नहीं किया है, कारण कि रामका चित्त व्रज ललनाओंकी मधुरता[१]से ही वश हो गया था, राम साधन प्रधान है, वहां व्रजमें भगवद्गुण प्रकाशित होते हैं उनके साधन केलिये दूसरेकी अपेक्षासे वह व्रज ही समीचीन है।।३२।।

१.मधुरतासे भगवानमें प्रकट अनुकल्परूप कटाक्षादि धर्मोंसे.

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम–स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण, अध्याय ६२ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ६३

पौण्ड्रक और काशीराज का उद्धार

कामस्य पूर्तिम् उक्त्वात्र क्रोधस्यापि निरूप्यते।
कंसादेरिव दुष्टानां मोक्षोऽत्र विनिरूप्यते।।का.१।।
सस्थानस्य सदेवस्य पोषकैः सहितस्य च।
विपक्षिणो नाशरूपः पूर्वस्माद् वचसा पृथक्।।का.२।।
लौकिकैरपि वाक्यैर्यः कामादौ प्रविशेत् पुमान्।
तं कृष्णो मोचयेत् सत्यं सर्वथेति निरूप्यते।।का.३।।
पौण्ड्रकस्य समित्रस्य कर्मोपासन–संयुतौ।
साधारवंशमात्रस्य नाशः सप्तदशे–ऽभवेत्।।का.४।।

कारिकार्थ : कामकी कथा पूर्ण कर अब क्रोधकी वार्ता निरूपण करते हैं, इस प्रकार निरूपण करनेसे कंसादिकी तरह दुष्टोंके मोक्षका यहां उत्तरार्धके इस सत्रहवें अध्यायमें वर्णन करते हैं, बाणके प्रसंगमें भगवान्ने इसको स्थान दिया, इसके सहायक महादेव पर दया की एवं सहायक रुद्रगणने जीवित किया तथा उसका गर्व दूर किया. यहां उससे सर्व कार्य विपरीत किये जैसे कि वहां प्रह्लादको वंश रक्षा वचन देनेका कारण सर्वकी रक्षा की और यहां सर्व पोषण करनेवालोंका नाश किया. वहां विपक्षियोंका केवल दर्प दूर किया, यहां उनका नाश किया. इस प्रकार यह मोक्षरूप निरोध बाणासुरके निरोधसे पृथक् प्रकारका है. जो लौकिक वाक्योंसे भी काममें प्रवृत्ति करते हैं, उनका भी भगवान् कृष्ण मोक्ष करते है. जैसे कि गोपीयां बलदेवके साथ काममें प्रवृत्त हुई, उनका भी मोक्ष किया है, यह सर्वथा सत्य है, यों निरूपण किया जाता है. अज्ञानियोंके कहनेसे अपनेको भगवान् समझ पौण्ड्रकने भगवान्को कहलाया कि मैं भगवान् हूं, तू झूठे ही मेरे चिह्न धारण कर अपनेको भगवान् प्रसिद्ध करता है, अतः वे चिह्न छोड दे और अपनेको भगवान् न कह अन्यथा युद्धकेलिये तैयार हो जा! इस प्रकारके वचन श्रवण कर भगवान्ने वहां पधार कर अपना ब्रह्मत्व सिद्ध कर दिखानेकेलिए तथा अपनेमें निरोधार्थ इसके आश्रय स्थान काशी तथा मित्र काशीराज एवं सेना आदि सर्वका नाश कर दिखाया, इसका निरोध इसलिए किया है कि यह पहले भक्त था।।१–४।।

कारिकार्थ सम्पूर्ण

आभासार्थ : सात्त्विक प्रकरणमें पूर्व कहे हुए तामस प्रभृति भक्तोंका पूर्व अध्यायमें सात्त्विकत्व सिद्ध करनेसे और गोपियां सकाम थी इसलिए उनका काम पूर्ण किया है, अब कंसके समान जो प्राकृत वचनोंसे भी वैसा भाव करते है उनका मोक्षरूप निरोध निरूपण किया जाता है. दैत्यांश जो शत्रु है उनका साक्षात् मोक्ष नहीं होता है, इसलिए उनका निरोधरूप मोक्ष ही वर्णन करनेमें आता है, वह भी काम और क्रोधका समान कालमें ही प्रादुर्भाव हुआ है, इसलिए शक्ति भी विभक्त हो गई है. जब भगवान् राम गोपीकाओंके निरोधके लिए गए तब ही साक्षात् भगवान् भी पधारे वहां नियोग कहनेकेलिए काशीदाहकी कथा आरम्भ की जाती है, जिसकी प्रस्तावना कहते हैं :

श्रीशुक उवाच

नन्दव्रजं गते रामे करूषाधिपतिर्नृप ।

वासुदेवोऽहम् इत्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि राम जब नन्दके व्रजमें पधारे, तब करूष देशके मूर्ख राजाने दूत भेजकर कृष्णको कहलाया कि मैं सच्चा कृष्ण हूं।।१।।

व्याख्यार्थ : ''करूषान् मानवादासन्'' इस वाक्यके अनुसार कारूष ही करूष क्षत्रिय कहे जाते हैं, वे सचमुच धर्म परायण और ब्राह्मण भक्त उत्तरापथ राजा हैं, उनका रुक्मी किसी वसुदेव क्षत्रियका पुत्र था, उसने पुराणोंमें सुना कि वासुदेव अवतार ग्रहण करेगा, अतः वसुदेवका पुत्र होनेसे मैं ही वासुदेवरूपसे अवतरित हुआ हूं, भगवदिच्छासे उसके मनमें यह भावना निरन्तर होनेसे बढ़ती गई, उस देहात्मवादी बहिर्मूखकी ऐसी भावना दृढ़ हो जानेसे यह बुद्धि हुई कि मुझे काशीमें चलकर रहना चाहिए. अनन्तर काशीराजसे मैत्री कर काशीमें आकर रहे. काशीमें निवासके बाद मैं वासुदेव हूं यह निश्चय हो जाने पर उसको विचार आया कि वासुदेव दो तो शास्त्रसे सिद्ध न होंगे और वैसे चिह्न भी मुझे प्राप्त नहीं है अतः प्रथम वे चिह्न धारण किये, काशीमें रहनेसे एवं काशीराजकी मित्रतासे प्रभाववाला भी हो गया. तब भगवान्की व्यामोहमें पटकनेवाली द्वारकारूप दुर्गमें पलायन करना आदि लीलाओंका स्मरण करते-करते निश्चय कर बैठा कि इस प्रकार भाग जाना यह कार्य अवतार वासुदेव कभी नहीं करता, अतः मैं ही वासुदेवरूपसे अवतार हुआ हूं, अन्य नहीं हुआ है, मुख्यके निषेधार्थ भगवान्

कृष्णके पास दूतको भेजा. शंका होती है कि दूत क्यों भेजा? भले आप भी वासुदेव होवे इसमें किसी प्रकार दुविधा नहीं है, समान कालमें यदि बहुत अवतार हो जावें तो इसमें कोई विरोध नहीं है, तो फिर दूतके भेजनेकी आवश्यकता नहीं थी. इस शंकाका निवारण करनेकेलिये श्रीशुकदेवजीने इसको 'अज्ञ' विशेषण दिया है, अर्थात् मूर्ख है यह शास्त्र अथवा अनुभवसे कुछ जानता ही नहीं है अतः दूत भेजा।।१।।

१. भक्तोंका भगवानके साथ सर्वका कामाशनरूप मोक्ष नहीं होता है.

आभासार्थ : यों किस लिए किया ? यह 'त्वं वासुदेवो' श्लोकमें कहते हैं :

त्वं वासुदेवो भगवान् अवतीर्णो जगत्पतिः।
इति प्रस्तोभितो बालैः मेने आत्मानम् अच्युतम् ।।२।।

श्लोकार्थ : बालकोंने इसको बहकाया कि जगतके पति वासुदेव भगवान् आप ही अवतरित हुए हैं, जिससे अपनेको अच्युत भगवान् मानने लगा।।२।।

व्याख्यार्थ : 'बाल' पदका भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जो उलटा समझते हैं, मूर्ख और बेसमझ हैं, वे बालक हैं, ऐसे लोगोंने यह सुना था कि वासुदेवने लोकमें अवतार लिया है, जो समीप है उसका बिना कारण त्याग करना योग्य नहीं, निकट स्थित उस वासुदेवको जिसका दूसरा नाम पौण्ड्रक था, उसको कहने लगे कि तुम ही वासुदेव हो, अतः ऐसोंके बहकानेमें आकर अपनेको अच्युत मानने लगा, केवल वासुदेव अच्युत कैसे? इसलिए भगवान् विशेषण दिया है यदि भगवान् है तो उसका जन्म कैसे? वे तो अजन्मा है, इस पर कहते हैं कि जन्मा नहीं है किन्तु, अवतार धारण किया है, क्योंकि जगतके पति है इसलिए जगतके रक्षार्थ प्रकट हुए हैं. इस प्रकार उत्साह दिलाने पर बालककी तरह अपनेको अच्युत ही समझने लगा।।२।।

दूतं च प्राहिणोन् मन्दः कृष्णायाव्यक्त-वर्त्मने।
द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतो-ऽबुधः ।।३।।

श्लोकार्थ : जैसे खेल करते हुए द्वारकामें बालक किसी बालकको राजा बनाकर मुख्य राजाके पास अपना दूत भेजे, वैसे इस मूर्खने भी बालकोंके कहनेसे अपनेको अच्युत समझ, जिनकी गतिको कोई नहीं जान सकता है, वैसे

श्रीकृष्णके पास अपना दूत भेज दिया।।३।।

व्याख्यार्थ : तब द्वैत बुद्धि बाध करनेवाली हुई, ऐसी बुद्धि अज्ञ होनेसे और बहिर्मुख होनेसे ही हुई है, अतः मुख्य जो अद्वैत ज्ञान है उसको न जाननेसे बाहरका जौ अद्वैत है उसके निराकरण करनेकेलिये दूत भेजा, बहिर्मुखका यों करना भी एक अपराध है, सुतरां भगवान्के पास दूत भेजना यों अपराध समुच्चयकेलिये 'च' पद दिया है उसने तो भेजा सत्पुरुषोंने उसको क्यों नहीं रोका, इसलिए ही कहा कि वह हीन बुद्धिवाला एवं तुच्छ है इस कारणसे सत्पुरुषोंने उसकी उपेक्षा की है, स्वयं भी जानता है कि कृष्णने गोवर्द्धन धारण आदि बड़े-बड़े कार्य किये हैं, जिससे मुझसे वे बड़े हैं, फिर भी उनसे ईर्षा क्यों की? कृष्णके रहस्यको कोई नहीं जान सकता है, जिससे उनका माहात्म्य प्रकट समझमें नहीं आ सकता है, इसलिए उसका यह करना अनुचित नहीं है तथा 'काश्येव द्वारका प्रौक्ता कलौ नान्य कथञ्चन' कलियुगमें काशी ही द्वारका कही है दूसरी द्वारका नहीं है. इस भ्रान्त परिकल्पितसे अन्य कोई द्वारका नहीं है, यह निश्चय कर, द्वारकामें स्थित भगवान्को नाट्य क्रीड़ाकी भांति अथवा उन्मत्तके वाक्यकी तरह यों कहलाया. सर्व प्रकार अप्रसिद्ध जो अर्थ है वह आगे स्फूर्ति बाध कहाने पर सर्वके सम्मत नहीं होता है, यों होने पर भी लोकमें ऐसा व्यवहार होता रहता है, इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे खेलमें बालक करते हैं, एक बालकको राजा बनाते हैं वह बालक अपनेको राजा समझता है, यों होने पर भी वह सच्चे राजाके पास जाकर कहता नहीं है. फिर इसने कैसे कहा, इस पर कहते हैं कि 'अबुधः' यह ऐसा बेसमझ है जो जितना बालक समझते हैं उतना भी नहीं समझता है, इसलिए दूत भेजा।।३।।

आभासार्थ : दूत भी उसकी भांति भ्रान्त था वह कैसे गया? इस शंकाको मिटानेके लिए 'दूतस्तु' श्लोकमें उसका कृत्य कहते हैं :

दूतस्तु द्वारकाम् एत्य सभायाम् आस्थितं प्रभुम्।
कृष्णं कमल-पत्राक्षं राज-सन्देशम् अब्रवीत्।।४।।

श्लोकार्थ : दूतने द्वारकामें पहुंचकर सभामें स्थित कमल नयन, प्रभु कृष्णको राजाका सन्देश सुनाया।।४।।

व्याख्यार्थ : द्वारकामें आकर राजाका सन्देश कृष्णको सुनाया, कहां सुनाया इस पर कहते हैं, सन्देश सुनते समय सभामें बैठे थे, जिससे सिद्ध था कि

उनको सबने अपना प्रभु स्वीकार किया है, वास्तविक रीतिसे वे सदानन्द हैं जिससे दृष्टिसे ही सर्वके तापोंको नाश करते है, क्योंकि आपके नेत्र कमल पत्र जैसे हैं, राजा पौण्ड्रकका सन्देश कहा, इस प्रकार सन्देश देनेसे उसकी आवश्यकता दिखलाई और दोषका अभाव सूचित किया।।४।।

आभासार्थ : दूत दो श्लोकोंसे राजाने जो वाक्य कहे हैं वे कहता है :

वासुदेवो–ऽवतीर्णोऽहम् एक एव न चापरः।
भूतानाम् अनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ।।५।।

श्लोकार्थ : मैं वासुदेव, जीवों पर दया करनेकेलिए प्रकट हुआ हूं, मेरे सिवाय कोई दूसरा वासुदेव है ही नहीं, अतः तूने जो झूठा नाम अपने पर धरा है, उसका त्याग कर दे।।५।।

व्याख्यार्थ : मैं वासुदेव प्रकट हुआ हूं, वासुदेव एक ही होता है दोनोंका कोई प्रयोजन नहीं है. तब यह वाक्य विपरीत क्यों नहीं समझा जावे. इस प्रकारकी शंकाका उत्तर देता है कि दूसरा कोई नहीं है, दूसरा जो राजा नहीं है, केवल, सामान्य भावको प्राप्त हुआ है वह वासुदेव नहीं बन सकता है. कहनेका यह ही आशय है और विशेष यह है कि अवतारके कार्यसे भी तेरे कार्य उलटे हैं, अवतारके कार्य भूतों पर दया करनी है, तुमने अक्षौहिणी सेनाके नाशसे भूतों पर दया न कर उनको कष्ट दिया है, मैं तो भूतों पर दया करनेकेलिये प्रकट हुआ हूं, यदि यों है तो मेरे पास दूत क्यों भेजा है, जिसका उत्तर है कि मैंने दूत, तुमको अच्युत समझ नहीं भेजा है, किन्तु जो केवल वसुदेव नामवालेका पुत्र हूं, इसलिए 'वासुदेव' हूं, इस प्रकार जो झूठा नाम धर लिया है उसका त्याग कर दे, एतदर्थ दूत भेजा है. वह वासुदेव भगवान् अवतरित मानता है जो विशुद्ध सत्त्वसे प्रकट होता है, अतः तुमने मिथ्या नाम धरा है उसे त्याग दे।।५।।

आभासार्थ : योगके विद्यमान होते हुए उसको कैसे झूठा माना जावे, अथवा कैसे छोडा जा सकता है ? यदि यों कहो तो आपका कहना सत्य है, किन्तु लोकमें केवल पिताके नाम सम्बन्धसे पुत्रका नाम नहीं धरा जाता है. यदि यों माना जाए तो शास्त्रमें कहा हुआ नामकरण संस्कार करना व्यर्थ हो जावे, अतः योग होने पर भी व्यवहारमें वह नहीं लाना चाहिए, यह ही त्याग है. जो लौकिक तथा वैदिक व्यवहारोंमें वह नाम प्रसिद्ध नहीं हैं, अतः भ्रमजनक होनेसे उसका मिथ्यापन माना जाता है. 'वसुदेव' परब्रह्मका भी नाम है, ''यानि त्वम्''

श्लोकमें कहता है कि जो अन्य भी चिह्न धारण किये वे भी त्यागके योग्य हैं अतः उनको भी त्याग दे :

यानि त्वम् अस्मच्चिह्नानि मौढ्याद् बिभर्षि सात्त्वत!।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चेद् देहि ममाहवम् ।।६।।

श्लोकार्थ : हे यादव ! मूर्खतासे जो तू हमारे चिह्न धारण कर रहा है, उन्हें त्याग दे और मेरे शरणमें आ जा, नहीं तो मुझसे लडाई कर।।६।।

व्याख्यार्थ : हमारे चिह्न त्याग दे, चिह्नोंको हमारे इसलिए कहा कि प्रथम उसने अपनेको ही वासुदेव सिद्ध कर रखा है. हमारे चिह्न चक्र आदि, दूसरेसे चिह्न हममें कैसे होंगे? जिसके उत्तरमें कहता है, कि हमारी मूर्खताके कारण ही धारण करते हो, अर्थात् मैं वासुदेव प्रकट हुआ हूं वैसा ज्ञान न होनेसे धारण कर रहे हो, यदि यह ज्ञान होवे तो धारण न करो. जीव, भगवानके प्राकट्य होने पर भी उनको नहीं जानते हैं, इसलिए भगवान् चिह्नोंको धारण करते हैं. अतः आपने भी अपनेको भगवान् कहलानेकेलिये चिह्न धारण कर लिये हैं, अस्मत् पंचमीका बहुवचन है वह हेत्वर्थमें है, उसमें प्रयोजक धर्म मूढ़ता है, इनके धारण करनेका हेतु तो उद्धार करना ही है, नाश तो प्रथम ही सिद्ध है. 'सात्वत' यह सम्बोधन, वंश वा वैष्णव नामके कारण दिया है, इससे यह सूचन किया है कि वैष्णव भावसे शंखचक्रादि धारण करना ही है, उसका निषेध हो नहीं सकता है. सतोगुण जिनमें प्रधान है वे सात्व हैं, सात्वत पदमें तसिल् प्रत्यय है, वा विसर्ग पाठ अथवा लोप है. यह देखना वा विचारना चाहिए, अथवा भक्त जनोंके उद्धारार्थ धारण करते हो, इस प्रकार अपनी बुद्धिसे विरुद्धका निराकरण कहकर अपनी कृपालुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि तू मेरी शरण आ. यदि लौकिक दृष्टिसे सामर्थ्य नहीं देखी, इस कारणसे नहीं आ सकता है तो मुझसे युद्ध कर, सर्वथा तू मुझे प्राप्त हो, मेरे पास आ जा, जिससे निकट आने पर मेरी सायुज्य सिद्धि होगी. मैं यहांसे आपके स्थान पर आनेमें असमर्थ हूं, यह भी कृपाका कार्य है, जो स्वयं आकर उद्धार करो. यदि यों न कर सको, तो मुझे कह दीजिये कि तुझे इतना सुख दूंगा, तब निश्चित होनेसे और सन्देहके अभावसे आपके पास आनेका यत्न करूंगा।।६।।

आभासार्थ : इसके वचनोंसे यदि भगवत् भक्तोंको क्रोध उत्पन्न होगा तो उसकी परलोक सिद्धि भी न होगी, किन्तु भक्तोंको क्रोधके स्थान पर इन

वाक्योंके श्रवणसे कौतुक रस ही उत्पन्न हुआ जिसका वर्णन 'कन्थनं तदुपाकर्ण्य' श्लोकमें शुकदेवजी करते है :

श्रीशुक उवाच

कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः ।
उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ।।७।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि अल्प बुद्धि पौण्ड्रककी अपनी की हुई प्रशंसा सुनकर, सभामें स्थित उग्रसेन आदि सब सदस्य जोरसे हंस पडे।।७।।

व्याख्यार्थ : 'कत्थनं' शब्द जो श्लोकमें आया है जिसका अर्थ है 'अपनी प्रशंसा'. अपनी प्रशंसा वह करता है जो हीन, अर्थात् नीच श्रेणीका होता है. यह नीचपन उसके पौण्ड्रक नामसे प्रकट हो रहा है, 'पुण्ड्र' जाति हीन चाण्डाल विशेष है, वैसे भावसे उत्पन्न पौण्ड्र भी वैसे ही है, जिसमें फिर 'क' प्रत्यय जुड़नेसे विशेष हीनता आ गई है, अधम स्वभाववालोंमें उत्पन्न भी अधम ही होता है, जिसमें भी इसकी केवल देह दुष्ट नहीं किन्तु अन्तःकरण भी वैसा ही है, यह दिखानेकेलिये 'अल्पमेधसः' विशेषण दिया है, अर्थात् उसकी बुद्धि भी नीच जैसी हुई. सभ्य अर्थात् सभामें बैठनेके योग्य जिनका राजा उग्रसेन था, जिससे दिखाया कि उस सभामें धर्मविचार ही होता था, वहां जो सब ही विचारक बैठे थे वे ये वाक्य सुनकर जोरसे हंसने लगे, क्योंकि ऐसे शब्दोंसे प्रमेय बाधित होता है. 'तदा' पदका भावार्थ विचार करनेसे पूर्व ही हंसने लगगये अर्थात् वे शब्द अविचारणीय ही थे।।७।।

उवाच दूतं भगवान् परिहास–कथाम् अनु ।
उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वम् एवं विकत्थसे ।।८।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार हंसी होनेके अनन्तर भगवान्ने दूतको कहा कि हे मूढ ! जिन चिह्नोंके कारण तू यो बक रहा है वे चिह्न मैं छोड दूंगा।।८।।

व्याख्यार्थ : दूतके शब्द श्रवण कर सभामें स्थित सभ्य जोरसे हंसते हुए अज्ञों की तरह यों कहने लगे, कि किस प्रकारका यह वासुदेव है? कैसे भक्त परायण है? इत्यादि उपहासके वाक्योंसे ठठ्ठा करने लगे जिनके हो जानेके अनन्तर भगवान् दूतको कहने लगे कि भगवद्भावको प्राप्त होकर यों वह कहता है, अतः उसका कहना न माननेसे उसके पास भगवत्व भी न रहेगा, इसलिए थोड़ासा सत्य करते हैं. जिन धर्मोंसे मूढ़ता प्रतीत होती है, वा जीवपन अथवा प्राकृतपनको

त्याग दूंगा. हे मूढः! इस सम्बोधनसे उसकी मूढ़ता प्रकट की है. लोक प्रतीतिसे जिन धर्मोंके कारण तू यों बक रहा है, अपनेको बड़ा मानता है, जो, मैं अज्ञत्व आदि धर्मोंको प्रकट न करूं तो तुम यों बकवास न कर सको, इसलिए ही तूने हमारे चिह्न कहे हैं अर्थात् जीव धर्म ग्रहण किया है. यों कहा है, मेरे धर्मोंके त्याग द्वारा मुझे छोड़कर मुझे शरण दे, शरणरूप मुझे प्राप्त हो. भगवान् ही जीवका आश्रय हैं और जीवका आश्रय बनकर ही रहते हैं, शिष्ट जो अंगीकार करते हैं वह विरुद्ध नहीं है।।८।।

आभासार्थ : यह जो कहा, मैं शरणके योग्य हूं, वह जीवोंका आश्रय लेना नहीं है किन्तु ब्रह्मकी ही शरण लेनी है, इसलिए जो प्रार्थना की है वह ही देने योग्य है, इसलिए 'मुखं तदपिधाय' श्लोकसे शरणमें निर्णय कहते हैं :

मुखं तदपिधायाज्ञ कङ्क–गृध्र–बकैर्वृतः।
शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ।।९।।

श्लोकार्थ : कंक, गीध और बक पक्षियोंसे घिरा हुआ मुख ढक कर, मरा हुआ सोवेगा, तब कुत्तोंके शरण जाएगा।।९।।

व्याख्यार्थ : वहां ही काशीके समीप कुत्तोंकी शरण होगा. दिन रातके समान संख्यावाले उसके देवता यमालयमें कुत्ते रहते हैं यह प्रसिद्ध है. दूसरे कहते हैं कि वहां जीव कुत्ते कहे जाते हैं. 'गति सामान्यात्' 'क्षुत्परीतो यथादीन' इस वाक्यसे अथवा कुत्सित पदार्थमें रत इन्द्रियां, वे ही वैसा शरीर धारण करते है. जीव तथा इन्द्रियां कालके अवयव हैं. मुख ढांकनेवाला पुत्र आदि होते हैं, सर्व ही मारण योग्य हैं, इसलिए मुखको ढांकना ही है. ज्ञानीका लिङ्ग देह ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जाता है, शेषकी प्रतिपत्ति जैसे तैसे भी होती है, इसलिए तब न ढांकना दूषण नहीं है, अतः उसकी व्यावृत्तिकेलिये 'अज्ञ' सम्बोधन दिया हैं. कंक पक्षी तामस हैं, गीध राजस हैं, बक सात्त्विक हैं यों तीनों प्रकारके भी भक्षकोंसे वेष्टित होंगे. आधिभौतिकादि अभिमानी सब देवताएं इसके बाद पालन नहीं करेंगी. उनका कारण दुःखदायी नहीं होता है, वह जीते हुए नहीं होता है अतः मरकर जब शयन करेगा तब कुत्तोंकी शरण जायेगा. इससे यह बताया कि तुम्हारा संस्कार भी न होगा, देहकी जो यह प्रतिपत्ति है, वह स्मरण न रहेगी, अन्तमें युद्धके समय उसमें आसक्ति न होगी इसके बोध करानेकेलिये यह कहा है. तब ही उसका मोक्ष होवे इसलिए मोक्षदाताको इस प्रकार ही कहना चाहिए।।९।।

आभासार्थ : उस दूतने अपने स्वामी पौण्ड्रकको जैसा भगवान्ने कहा, वैसा ही आकर कहा, जिससे वह गुरुके समान हुआ, यह वर्णन 'इति दूत' श्लोकमें करते हैं :

इति दूतस्तदाक्षेपं स्वामिने सर्वम् आहरत् ।
कृष्णोऽपि रथम् आस्थाय काशीम् उपजगाम ह ।।१०।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने जो इस प्रकार तिरस्कारके वचन कहे, वे सब दूतने अपने स्वामीको कह सुनाए, श्रीकृष्ण भी रथमें बैठ काशीको पधारे।।१०।।

व्याख्यार्थ : भगवान्के कहे हुए तिरस्कारके सब वचन दूतने स्वामिको उसके हितकेलिये कह सुनाये, क्योंकि स्वामी दूतका पोषण करनेवाला है, अतः दूसरी तरहका भाव वा किसी प्रकारकी न्यूनता भी नहीं की. श्रीकृष्णचन्द्र इस प्रकार दूत द्वारा सन्देश भेजकर आप भी रथमें बैठ काशीको पधारे. यद्यपि भगवान् होनेसे, वहां बिराजते हुए भी पौण्ड्रकके हृदयमें प्रकट होकर उसकी मुक्ति करनेमें समर्थ थे इसलिए जाना उचित नहीं भासता है, तो भी पधारे. जिसका कारण आप कृष्ण होनेसे फलरूप तथा भक्तों पर कृपा करनेवाले हैं. अतः भक्तोंकेलिये जाना ही उचित समझ पधारे. वैसा करनेसे वह भी अभेद मार्गसे भक्त होता जिससे केवल मार्गका भेद होता, भगवत्प्राप्तिमें भेद नहीं होता. किन्तु उसकी स्त्रियोंको फलरूप कृष्णके दर्शन न होनेसे दुःख होता अतः उनको भी दुःख न हो, इस प्रकार सर्व कार्य सुखपूर्वक हो, इसलिए रथमें बैठ सुस्थ हो भक्त कार्य करनेकेलिये काशीके समीप पधारे, किन्तु काशीमें नहीं पधारे क्योंकि काशी तामस स्थान होनेसे वहां भगवान्का प्राकट्य सहसा नहीं हो सकता है. अतः स्वयं अपनी इच्छासे काशीमें प्रवेश नहीं किया, यदि प्रवेश करते तो काशीत्व न रहता, इसलिए काशीके समीप ही पधारे।।१०।।

आभासार्थ : 'पौण्ड्रकोऽपि' श्लोकसे कहते हैं कि वह भी ग्रामसे बाहर भगवानको देखने आया :

पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगम् उपलभ्य महारथः ।
अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद् द्रुतम् ।।११।।

श्लोकार्थ : महारथ पौण्ड्रक भी उनका उद्योग देखकर दो अक्षौहिणी सेना लेकर नगरसे शीघ्र बाहर आ गए।।११।।

व्याख्यार्थ : पौण्ड्रक काशीसे शीघ्र दो अक्षौहिणी सेना लेकर बाहर

इसलिए आया कि भगवान्का काशीमें कोई कार्य नहीं है तो भी इतनी दूरसे उद्यम कर आये हैं, तो मैं भी महारथ हूं, मुझे भी युद्ध करनेका साहस है इस प्रकार अपना शौर्यधर्म प्रकट करनेकेलिये बाहर आया. अक्षौहिणीके साथ आनेसे दिखाया, मेरा इतना सहज बल है, इसलिए सर्व सामग्री सहित भगवान्के समीप जाना चाहिए अतः शीघ्र नगरसे निकले. भगवदिच्छासे आया हुआ काल वहां ही शरीर ग्रहण करे, यों भयसे शीघ्र ही नगरसे निकलना हुआ।।११।।

आभासार्थ : काशीराज भी इसका मित्र था अतः उसकी भी अर्ध गति होगी इसलिए वह भी आया :

तस्य काशीपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान् नृप!।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिः अपश्यत् पौण्ड्रकं हरिः ।।१२।।

श्लोकार्थ : हे नृप ! इसका मित्र काशीराज भी तीन अक्षौहिणी सेना ले, इसकी सहायताकेलिए इसके पीछे आया, उस समय भगवान्ने पौण्ड्रकको देखा।।१२।।

व्याख्यार्थ : काशीपति इसका मित्र था अतः इसकी सहायताकेलिये हस्तमें शस्त्र लेकर इसके पीछे आया. 'नृप' सम्बोधन देकर यह भाव बताया है कि राजधर्म वैसा ही होता है, न केवल हस्तमें शस्त्र लिया किन्तु तीन अक्षौहिणी भी साथमें ले आया था, उसके पास इतना ही बल था. वहां भगवान्ने कृपा कर पौण्ड्रकको देखा, भगवद् ज्ञानसे बींधे हुएके सहज सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि वे हरि होनेसे पापोंका हरण कर लेते हैं।।१२।।

आभासार्थ : उसको जीते ही सारूप्य मिला जिसका कारण भगवत्कृपा है, उसका वर्णन 'शंखार्यसि' श्लोकमें करते हैं :

शङ्खार्यसि–गदा–शाङ्र्ग–श्रीवत्साद्युपलक्षितम्।
बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ।।१३।।

श्लोकार्थ : शंख, चक्र, गदा और शांर्ग धनुष तथा श्रीवत्स आदिसे उपलक्षित एवं कौस्तुभ मणिको धारण किया हुआ वन मालाओंसे सुशोभित था।।१३।।

व्याख्यार्थ : पौण्ड्रककी चार भुजाओंमें दो कृत्रिम थीं और दो स्वभाविक थीं, स्वभाविक दो भुजाओंमें शंख और चक्र धारण किये थे, और कृत्रिम (बनावटी) भुजाओंमें गदा और शांर्ग धनुष धारण किये थे, श्रीवत्स आदि चिह्न

भी धारण किये हुए थे. कौस्तुभके समान आकृतिवाली मणि कण्ठमें पहनी थी, अन्य कहते हैं, कि धर्मका छेदन कर वहां श्रीवत्स और कौस्तुभ धारण की थी, वैसे सच्ची कृत्रिमता होवे, जिस प्रकार नित्य नवीनता देखनेमें आवे वैसे वनमालाका सम्पादन करता था।।१३।।

कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम्।
अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन् मकर–कुण्डलम्।।१४।।

श्लोकार्थ: पीले पीताम्बरधारी, गरुड़ध्वज, अमूल्य मुकुट तथा आभूषणधारी और जिसके मकराकृति कुण्डल झलक रहे थे।।१४।।

व्याख्यार्थ : पौण्ड्रक, भगवान्के सदृश पीले पट्टके वस्त्र धारण कर आया, कञ्चुक आदिको धारण नहीं किया. यदि भगवत् समान वेश धारण कर न आते तो अन्तमें अन्य प्रकारकी गति हो जाय. अपनी ध्वजामें भी भगवत्सदृश गरुड़का चिह्न किया था, वह मूर्ति चित्रित्र थी अथवा लकड़ीकी थी. अन्य भजन करने योग्य नहीं है यों, और अन्य धर्म नहीं करना चाहिए, भक्तोंके साथ स्वयं अपनेको ही पूजता है, मुकुट और आभरण भी अमूल्य धारण किये थे, वैसे ही मकर समान आकृतिवाले कुण्डल पहने थे, ध्यान करनेसे और भगवदावेशसे भगवान्के सब धर्मोंने उसमें प्रवेश किया था, यह भाव 'स्फुरन्' पदसे सूचित किया है।।१४।।

आभासार्थ : उसका वैसा रूप देखकर भगवान् प्रसन्न हुए और उसका अभिनन्दन करने लगे :

दृष्ट्वा तम् आत्मनस्तुल्यं वेषं कृत्रिमम् आस्थितम्।
यथा नटं रङ्ग–गतं विजहास भृशं हरिः।।१५।।

श्लोकार्थ : जैसे नट स्वांग बनाकर रंगभूमिमें आया हो, वैसे अपने सम वेष बनाकर सामने खडे उस कृत्रिम वासुदेवको देखकर, हरि जोरसे हंस पड़े।।१५।।

व्याख्यार्थ : सामने खड़े हुए उस कृत्रिम वासुदेवका अपने जैसा वेष देखकर, हरि अति हर्षसे बहुत हंसे. 'आस्थित' पदका आशय प्रकट करते हैं कि इस वेषमें उसको बहुत आसक्ति थी इस कारण वेषका कोई भाग भङ्ग नहीं था यह सूचन किया है, कृत्रिम था इससे गति न होगी? इस शंकाका निवारण करते हैं कि वह वेष कृत्रिम होते हुए भी रसोत्पादक था, रस स्थायी भाव ही होता है. विशेष

उसमें उस स्वरूपका प्रवेश हो गया था, यह निरूपण करनेकेलिये कहते हैं, कि जैसे नर स्वांग धारण कर रंगभूमिमें आता है तो रस प्रकट करता है, वैसे ही इसने भी रस प्रकट किया है. इससे अति हर्षित हो बहुत हंसे, उसके सर्व भावका स्मरण कर सर्वका ही अभिनन्दन किया, क्योंकि 'हरि' हैं।।१५।।

आभासार्थः 'शूलैर्गदादिभिः' श्लोकसे कहते हैं कि सेनाने पहले भगवान् पर आक्रमण किया :

शूलैर्गदाभिः परिघैः शक्त्यृष्टि–प्रास–तोमरैः।
असिभिः पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन् अरयो हरिम् ।।१६।।

श्लोकार्थ : अनन्तर सेनाने भगवान् पर त्रिशूल, गदा, परिघ, बरछी, ऋष्टि, पास, भाला, खड्ग, पट्टिश और बाणोंसे प्रहार किया।।१६।।

व्याख्यार्थ : सेनामें शिवजीका प्राधान्य था अतः प्रथम त्रिशूल ग्रहण किया, मौन धारण कर स्थित हरि पर उनको तुच्छ समझकर दश आयुधोंसे प्रहार किया।।१६।।

आभासार्थ : पश्चात् अक्लिष्ट कर्मा भगवान्ने उसे सेनासे दूर कर दिया यह वर्णन 'कृष्णस्तु' श्लोकमें करते हैं :

कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रक–काशिराजयोर्बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत्।
गदासि–चक्रेषुभिरार्दयद् भृशं यथा युगान्ते हुतभुक् पृथक् प्रजाः ।।१७।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णचन्द्रने भी हाथी, घोडे, रथ व प्यादोंवाली चतुरंगीणी पौण्ड्रक और काशीराजकी सेनाको, जैसे प्रलय समयमें अग्नि सब प्रजाका संहार करती है, वैसे गदा, खड्ग, चक्र और बाणोंसे नाश किया।।१७।।

व्याख्यार्थ : 'तु' शब्द भगवान्की जयका सूचक है, सात्विक तामस भावको प्राप्त पौण्ड्रक और काशीराजकी प्रहार करनेवाली जो सेना थी, उसके अंग हाथी, रथ, घोड़े और प्यादे थे जिनसे वह चार अंगोंवाली थी. राजस ही मारने योग्य हैं इसलिए उनको नहीं मारना चाहिए, ऐसी शंकासे उनके नाम कहे हैं, पौण्ड्रक और काशीराज सात्त्विक तामस थे इसलिए उनसे कदाचित् सेनाकी व्यवस्था न हो सके अतः नाम देकर उनकी गणना की है. अस्त्रादि सहित बाणोंसे दाह पर्यन्त कार्य किया, यह सिद्ध कर बतानेकेलिये दृष्टान्त देते है, 'यथा युगान्ते' जैसे युगके अन्तमें प्रलयाग्नि प्रजाका सम्पूर्ण क्षय करती है वैसे ही भगवान्ने इसकी सेनाका नाश किया।।१७।।

आभासार्थ : महादेवजीने उनकी सहायता क्यों न की? इसका उत्तर 'आयोधनं' श्लोकमें देते है :

आयोधनं तद् रथवाजिकुञ्जर–द्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः ।
बभौ चितं मोदवहं मनस्विनाम् आक्रीडनं भूतपतेरिवोल्बणम् ।।१८।।

श्लोकार्थ : भगवान्के चक्रसे टूक–टूक किये हुए रथ, घोडे, हाथी, प्यादे, गधे और ऊंटोसे व्याप्त हुई वह रणभूमि ढकी सी हो गई और शोभा पाने लगी, जिससे शूरवीरोंकी आनन्ददायिनी हो महादेवके रमणकी स्थली बन गई तथा साधारणोंको भयंकर दीखनेमें आई।।१८।।

व्याख्यार्थ : भगवान्के चक्रसे खण्डित रथ आदिसे रंगभूमि सुशोभित होने लगी और उनसे व्याप्त थी, ऐसी रणभूमिको देखकर तो पौण्ड्रक और काशीराज तो भाग गये होंगे? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि ऐसी रणभूमि शूरवीर मनस्वियोंको तो आनन्द देती हैं. भगवान्ने भूमिको ऐसी बनाकर महादेवजीका क्रीड़ा–स्थान तैयार कर दिया. ऐसा जबर्दस्त क्रीड़ा स्थान हो गया जिसमें खेलते हुए महादेवको, भक्त भी याद न रहा।।१८।।

आभासार्थ : 'अथाह' इन दो श्लोकोंसे पौण्ड्रकके वधार्थ तैयार हुए, भगवान् पौण्ड्रकको फिर दूतसे कहलाया हुआ उपदेश याद दिलाते है :

अथाह पौण्ड्रकं शौरिः भो भो पौण्ड्रक यद् भवान् ।
दूतवाक्येन माम् आह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते ।।१९।।
त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत् त्वयाज्ञ मृषा धृतम् ।
व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ।।२०।।

श्लोकार्थ : भगवान् पौण्ड्रकको कहने लगे कि अरे रे पौण्ड्रक ! दूतके मुख से जो तूने मुझे कहलाया था, वे शस्त्र अब छोडता हूं (तुझ पर फैकता हूं), हे मूर्ख ! तूने जो मेरा नाम झूठा धारण कर लिया, वह अभी छूडा दूंगा, यदि मैं युद्ध करना न चाहूं तो तेरे शरण आऊं, मै तो युद्धको चाहता हूं, इसलिए आया हूं।।१९–२०।।

व्याख्यार्थ : 'शौरि' नाम, पितृ, पितामहका द्योतक है जिससे भगवान्का उत्कर्ष प्रकट किया है, पौण्ड्रक नामसे इसका अपकर्ष दिखाया गया है. भो, भो, पौण्ड्रक! कहनेसे भगवान्ने इसका सहज दोष वर्णन कर इसका नाश निरूपण किया है. भगवान् कहते हैं कि दूत द्वारा जो मुझे कहलाया था, वे सहज अस्त्र तेरे

लिये अर्थात् तुझ पर छोड़ता हूं, जिनसे तू जैसा सहज है वैसा बन जायेगा. मेरा नाम जो वासुदेव है, वह तूने अपना धर लिया है, अर्थात् अपनेको वासुदेव प्रसिद्ध कर रखा है, वह भी भगवद्भावसे, प्रथम ही बालकोंके कहनेसे किया है, वह अब छुड़ाऊंगा, जो सहज है, वह दिला दूंगा. जो लड़ाईमें मारूंगा नहीं तो निकट आकर सायुज्यका दान दूंगा, इस समय युद्धकेलिये आया हूं इसलिए सारूप्य ही देता हूं, यह दोष दूत भेजनेसे तूने किया है, यदि दूत न भेजता तो सायुज्य मुक्ति ही मिलती, अर्थात् चुप रहता तो सायुज्य मुक्ति पाता, इससे यह भी सूचन कर दिया है अब भी यदि चरणोंमें पड़ो तो सायुज्य ही दूंगा।।२०।।

आभासार्थ : यों कहने पर भी, वह शरण न आया अतः भगवान्ने मार डाला यह 'इति क्षिप्त्वा' श्लोकमें कहते है :

इति क्षिप्त्वा सितैर्बाणैः विरथीकृत्य पौण्ड्रकम्।
शिरोऽवृश्चद् रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः ।।२१।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार तिरस्कार कर, तीक्ष्ण बाणोंसे पौण्ड्रकको विरथ कर, जैसे इन्द्रने वज्रसे पर्वतके पक्ष काट दिए, वैसे आपने चक्रसे इसका सिर काट दिया।।२१।।

व्याख्यार्थ : इस तरह उसको दोषोंका स्मरण कराते हुए उसे अपमानित किया, अनन्तर तीखे बाणोंसे घोड़ोंका नाश कर उसे बिना रथवाला बनाके, चक्रसे शिर भी काट डाला. पौण्ड्रक भक्त था जिसका वध अनुचित था, इसका उत्तर देते हैं कि वह दूसरोंको कष्ट देनेवाला था इस कारणसे मारा गया. जिसमें दृष्टान्त देते हैं, जैसे विष्णु पर्वतोंका स्वामी है, किन्तु वे पर्वत दूसरोंकेलिये उपद्रव कर्ता बन गये, तब इन्दरूपसे उनके पक्षोंको तोड़ डाला, उनके पक्ष शिरके समान हैं।।२१।।

आभासार्थ : सात्त्विक वध कहकर 'तथा काशिपतेः' श्लोकसे तामस का वध कहते हैं :

तथा काशिपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः।
व्यपातयत् काशिपुर्यां पद्मकोशम् इवानिलः ।।२२।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार काशीके राजाका शिर जैसे वायु कमलकोशको उड़ाता है, वैसे उड़ाया, उसको बाण पर चढ़ाकर काशीमें फेंक दिया।।२२।।

व्याख्यार्थ : विरथी कर, उसको भी दोषोंका स्मरण कराया. वैसे चक्रसे

मारा जायेगा और यदि कटा हुआ उसका शिर भगवान् देखेंगे तो मुक्त हो जायेगा, इसलिए कालके अवयवरूप बाणोंसे शिर काटकर और उनके ऊपर चढ़ाके काशीपुरीमें गिराया. काशीराजने पौण्ड्रककी सहायता शरीरसे की थी, इसलिए शरीरांश[१] ही मुक्त किया. उसका मध्यमें गिरनेकी शंकाका उत्तर देते हैं कि जैसे वायुसे उडाया हुआ कमलकोश बीचमें गिर पड़ता है, वैसे यह भी मध्यमें गिरा. इस मिषसे भगवान्ने इसके शिररूप कमलसे महादेवकी पूजा की यह भावार्थ प्रकट किया है।।२२।।

१.शरीरसे मस्तक पृथक् किया, शरीर पौण्ड्रकके पास, मस्तक काशीमें फेंका.

आभासार्थ : युद्धको पूर्ण करते हुए भगवान् द्वारका पधारने लगे जिसका वर्णन 'एवं मत्सरिणं हत्वा' श्लोकमें कहते हैं :

एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः।
द्वारकाम् आविशत् सिद्धैः गीयमान–कथामृतः ।।२३।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार जिसकी कीर्ति सिद्धपुरुष गा रहे हैं, वैसे भगवान् मत्सरी पौण्ड्रकको सखा सहित मारकर द्वारका पधारे।।२३।।

व्याख्यार्थ : पौण्ड्रक भक्त था तो भी उसको मारा, जिसका कारण मात्सर्य ही था. वैसे ही काशीराजको मारा, जिसका कारण वह मत्सरी पौण्ड्रकका मित्र था. यह भगवान्का कार्य लोक शास्त्र विरुद्ध नहीं है, यह दिखानेकेलिये कहते हैं कि सिद्ध पुरुष इस कथामृतका गान कर रहे हैं. जिससे सिद्ध है कि भगवानका यह कार्य लोक शास्त्र विरुद्ध नहीं है अतः सिद्ध पुरुष इसका गुण गान करते हैं, इस प्रकार सर्व दुःख हर्ता प्रभु उनका दुःख दूर कर द्वारकामें प्रविष्ट हुए।।२३।।

आभासार्थ : पौण्ड्रकके मरनेके अनन्तर जैसी गति हुई उसका वर्णन 'स नित्यं' श्लोकमें करते हैं :

स नित्यं भगवद्ध्यान–प्रध्वस्ताखिलबन्धनः।
बिभ्राणश्च हरे रूपं स्वरूपं तन्मयो–ऽभवत् ।।२४।।

श्लोकार्थ : वह पौण्ड्रक नित्य भगवान्का ही ध्यान करता रहता था, जिससे उसके सर्व बंधन नष्ट हो गए थे और भगवान्का रूप भी धारण किया था, अतः भगवत् स्वरूपमय हो गया।।२४।।

व्याख्यार्थ : वह भगवन्मय हो गया, अर्थात् भगवान्से व्याप्त हो गया.

उसकी आत्मामें परमात्माने प्रवेश किया, इससे आवेशी हुआ. शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण के होते ही उनमें अधिदैविक शरीरादि प्रविष्ट हो गये. यों न हो तो स्वतंत्र आवेशीके समान भगवद्गण हुआ, और वहां भगवान्की तरह उसकी भी लीला होगी, यह मुख्य पक्ष है. विष्णु देवताके अनुरूप होने पर तो वैष्णव लोकमें ही तथात्व (वैसा पन) होता है, इसलिए वहां शंख, चक्र आदि भावका ही प्राधान्य है, इस प्रकार कोई कहते हैं, उसके वैसेपनमें हेतु कहते हैं, नित्य भगवान्के ही ध्यान करनेसे जिसके अविद्या काम कर्मादि, और पश्चात् उत्पन्न मात्सर्य आदि ये दोनों बन्धन नष्ट हो गये हैं. इससे यह सिद्ध हुआ कि, अन्य देहको उत्पन्न करनेवाले कर्म नष्ट हो गये हैं जिससे इसको दूसरी देह धारण करनी न पड़ेगी. ऐसा भगवदावेश क्यों हुआ? जिसका कारण बताते हैं कि हरिका शंख, चक्र, गदा, पद्मवाला रूप उसने धारण किया था, जिससे भगवदावेश उसमें हो गया. इन आयुधोंको तो उसने बाहरसे धारण किया था किन्तु स्वरूपको तो मनसे धारण कर लिया था. 'च' शब्दसे उसकी क्रिया आदि भी उसमें प्रविष्ट हो गई थी. इस प्रकार सर्व सामग्री सिद्ध हो जाने पर 'तन्मय'पन होना योग्य ही है. पौण्ड्रककी गति कहकर, उसके साथ आये हुए काशिराजको भी वैसी गति क्यों न हुई? इस शंकाको मिटानेकेलिये उससे उत्पन्न सबके ही परम दोष, अध्याय समाप्ति पर्यन्त कहते हैं अर्थात् वे भी निरुद्ध हुए, तीर्थ भी निरुद्ध हुआ, यह निरूपण किया है।।२४।।

शिरः पतितम् आलोक्य राजद्वारे सकुण्डलम्।
किम् इदं कस्य वा वक्त्रम् इति संशिश्यिरे जनाः ।।२५।।

श्लोकार्थ : राजद्वारमें गिरा हुआ कुण्डल सहित मस्तक देख, काशीके निवासी संशयग्रस्त होकर कहने लगे कि यह क्या वा यह किसका मुख है? ।।२५।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने बाणोंसे जो शिर धड़से अलग किया था वह काशिराज द्वार पर जाके गिरा, वह देखकर काशी निवासी संशय ग्रस्त हो गये. वह राजा है यह जतानेकेलिये 'स कुण्डलम्' पद दिया है, वह शिर कुण्डल सहित था. कुण्डल राजा धारण करते हैं. मुख तो रुधिरसे लिप्त होनेसे पहचानना कठिन था, अतः कुण्डल पहचान करानेवाले कहे, गिरनेके समय, यह क्या गिरा? ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई, बादमें यह है तो शिर किन्तु किसका है? कुण्डल देखकर समझ

गये कि राजाका होगा, यों समझकर भी निश्चयसे कह न सके, इसलिए कहा है कि काशीकी जनता शंकाशील हो गई।।२५।।

आभासार्थ : पश्चात् अपने अन्तरंग सम्बन्धी आये, जिन्होंने पहचान कर निश्चय किया कि 'काशीपति' राजाका शिर है जिसका वर्णन 'राज्ञः काशिपते' श्लोकमें कहते है :

राज्ञः काशिपतेर्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः।
पौराश्च हा हता राजन्! नाथ! नाथेति प्रारुदन् ।।२६।।

श्लोकार्थ : रानियां, पुत्र, बांधव और सेवक आदिने यह काशीपति राजाका शिर है, यह निश्चय किया, तब हे राजन् ! हे नाथ ! हाय हम मर गए, यों कह कर जोरसे रोने लगे।।२६।।

व्याख्यार्थ : 'महिष्यः' रानियां, 'बान्धवा' गोत्रवाले, 'पौराः' सेवक 'च' पदसे दूसरे भी, साधारणजन वैसा कहना अनुचित है, यह शंका कर उनका समान व्यसनपन कहा है. 'हा हता राजन्' हे राजन् आपके जानेसे हम मारे गये हैं, राजन् पद कहनेसे उसका माहात्म्य वर्णन किया, 'नाथ' पदसे स्नेह प्रकट किया है. जैसे अपने वध पर राजाको सूचित किया जाता है वैसे सूचित करने लगे. 'च' शब्दसे 'पित' 'स्वामिन्' हे पिता हे स्वामी आदि शब्द भी कह दिये. अपने वध होने पर जैसे क्लेशसे रोना आता है, वैसे ही इस समय मुखसे कहते हुए ही रोदन करने लगे।।२६।।

आभासार्थ : पश्चात् वह(सुदक्षिण, काशिराजका पुत्र) क्षत्रिय है, उसने समझा कि मानभंग करनेकेलिए भगवान्ने इस प्रकार प्रदर्शन किया है, इसलिए, वैर लेनेवाले विष्णुके ही समान ब्रह्मा व शिव है यों समझ उनकी आराधनाके लिए प्रवृत्त हुआ, जिसका वर्णन 'सुदक्षिणस्तस्य सुतः' श्लोकमें करते हैं :

सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः।
निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः ।।२७।।

श्लोकार्थ : उसका पुत्र 'सुदक्षिण' था, वह पिताकी उत्तर क्रिया कर, पिताके हत्यारेको मार, पिताका वैर लूंगा तथा पितृ ऋणसे उऋण हो जाऊंगा ।।२७।।

व्याख्यार्थ : पिताके मारनेवाला, पिताका ही सहज देहादि दोष है, इसलिए उसको मारनेकेलिये सुदक्षिण प्रयत्न करता हैं. जिस कारणसे ब्रह्मा

महादेव मौन कर स्थित हैं, वैसे ही अर्थ(मनोरथ, अन्त:करण भाव) सिद्ध हुआ, अर्थात् सुदक्षिण मारा गया. यह सुदक्षिण जिस यज्ञमें बहुत दक्षिणा दी गई थी उस यज्ञसे उत्पन्न हुआ है जिससे इसका नाम सुदक्षिण है और इसकी वैदिक प्रकारकी क्रियामें श्रद्धा है. यदि ऐसा न हो तो जैसे राजा लोग वैर लेनेकेलिये लौकिक क्रिया अर्थात् युद्ध करते हैं वैसे यह भी करता था किन्तु सुदक्षिण होनेके कारण वैदिक प्रकारमें श्रद्धा होनेसे यों नहीं किया. पिताकी उत्तर क्रिया की, कारण कि पुत्रको यों करना आवश्यक है. काशी पति इसका पिता था जिससे प्रथम उत्तर क्रिया की, केवल उत्तर क्रिया करनेसे क्षत्रिय इस प्रकार मरे हुए पिताके ऋणसे उऋण नहीं होता है, इसलिए उसने निश्चय किया कि पिताके हन्ता, अपने अदृष्ट शरीरादिको मारकर ही उऋण बनूंगा तथा पिताका वैर लिया यों समझूंगा।।२७।।

आभासार्थ : 'इत्यात्मनाभिसंधाय' श्लोकमें अपने विचारोंका वर्णन करते है :

इत्यात्मनाभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम्।
सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ।।२८।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार मनमें निश्चय कर ब्राह्मणको साथमें लेकर, चित्त एकाग्र कर महादेवकी पूजा करने लगा।।२८।।

व्याख्यार्थ : पूजा करानेवाला ब्राह्मण साथमें ले महादेवकी पूजा करने लगा, ब्राह्मण (ब्रह्मा)से भी महादेवको विशेष मानता है. कदाचित् ब्राह्मण (ब्रह्मा) भी उत्तम हैं, किन्तु भगवान् ब्रह्मण्य होनेसे उसका पक्षपात करे, इसलिए महादेवका ही अर्चन किया, परम समाधिसे अर्थात् योग द्वारा पूजन किया, क्योंकि महादेव योगसे प्रसन्न होता है. परम शब्दका भावार्थ है कि इस प्रकारकी समाधिसे साक्षात् महादेव प्रीति जनक है. 'समाधि'का आशय चित्तकी एकाग्रता है, यह विषय शैव तन्त्रसे सिद्ध होनेसे वैसे ही किया।।२८।।

आभासार्थ : यों करनेसे महादेवजी प्रसन्न हुए, समाधि तो भगवानके सान्निध्यमें ही फल दायिनी होती है तो यह सान्निध्यके बिना फलीभूत कैसे हुई इस शंकाका 'प्रीतोऽविमुक्ते' श्लोकमें निराकरण करते हैं :

प्रीतोऽविमुक्ते भगवान् तस्मै वरम् अदाद् भवः।
पितृहन्तृ–वधोपायं स वव्रे वरम् ईप्सितम्।।२९।।

श्लोकार्थ : अविमुक्त क्षेत्रमें काशी विश्वनाथने प्रसन्न होकर वर दिया,

उसने जिससे पिताके हन्ताका वध हो, ऐसा इच्छित वर पाया।।२९।।

व्याख्यार्थ : पूर्व समयमें, महादेवने ब्रह्माका पांचवां शिर काटा था, जिससे महादेवको ब्रह्महत्या लगी थी, इस हत्याके निवारणार्थ नारायणाश्रममें जाकर बदरीनाथसे पूछा कि यह ब्रह्महत्या कैसे मिटेगी? तब नारायण भगवान्ने कहा कि अपने स्थान पर जाके रहो, जहां यह कमल गिरेगा वहांसे बाहर न निकलना, पश्चात् महादेव काशीमें आये, वैसे ही हुआ. उस दिनसे महादेवने उस स्थानको नहीं छोड़ा है अर्थात् काशीका त्याग नहीं किया जिससे इसको 'अविमुक्त' क्षेत्र कहा जाता हैं. अतः वहां नित्य सान्निध्य होनेसे ही महादेव प्रसन्न हुए और वह भगवान् है, तामस कल्पोंमें वह ही भगवान् है क्योंकि उद्भवरूप हैं अतः उसको वर दिया अर्थात् कहा कि वर मांग, मैं दूंगा, इन वचनोंको सुनकर उसने, जिससे मेरे पिताके हन्ताका वध हो ऐसा उपाय करो, इस प्रकारका वर मांगा. जो वर महादेवने दिया, जिस वरसे दुःखका अभाव नहीं और सुखकी प्राप्ति नहीं वह वर, वर कैसे समझा जावे? इस शंकाका निवारण 'ईप्तिस' पदसे करते हैं कि उसको ऐसा ही चाहिये था. 'वरसे कोई निश्चित पदार्थ नहीं मिलता है, किन्तु सेवक जो कुछ अपनी इच्छासे चाहता है वह उसकी इच्छानुसार दिया जाता है, वह ही 'वर' है।।२९।।

आभासार्थ : तब महादेवजीने दोनों तरह अनिष्ट समझ, भक्तके हितके लिए, बहानेसे साधनका उपदेश दिया, नहीं तो निवृत्त न होता, 'दक्षिणाग्नि' श्लोकमें शिवने जो कहा वह कहता है :

दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैः समम् ऋत्विजम्।
अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः ।।३०।।
साधयिष्यति सङ्कल्पम् अब्रह्मण्ये प्रयोजितः।

श्लोकार्थ : महादेवजीने सुदक्षिणको कहा कि तू ब्राह्मणोंके साथ ऋत्विजके समान दक्षिणाग्निकी अभिचार विधिसे पूजन कर, वह प्रमथोंके सहित तेरा मनोरथ पूर्ण करेगा, यदि वह प्रयोग अब्रह्मण्य पर किया जाएगा, तो पूर्ण होगा।।३०।।

व्याख्यार्थ : 'अग्नये रुद्रवते' श्रुतिके अनुसार दक्षिणाग्निमें ही अभिचार होम किया जाता है, इसलिए महादेवजीने कहा है कि दक्षिणाग्निकी परिचर्या कर. वह भी अकेले नहीं करनी, किन्तु ब्राह्मणोंके साथ करनी. ऋत्विक् ब्राह्मणोंके

मध्यमें वा उनका सम्बन्धी होकर करनी, अर्थात् चातुर्होत्र विधिसे करनी चाहिए यों कहा, उसमें भी अभिचार विधानसे करनी, यदि इष्टि प्रकृतिक हो तो शरमयादि विधिसे नहीं करनी. पशु प्रकृतिक होने पर तो, 'तू पर' करता, जैसे कि कहा है, 'पशुः स्फयो यूपः शरमयं बर्हिवैभीतिक इध्मः' यहां तो 'पुरोडाश' ही है, क्योंकि यहां अग्नि ही देव है और वह प्रमथोंसे घिरा हुआ है अतः रुद्रवान् ही अग्नि है, अथवा अभिचारकी समानतासे शरमयादि है. उससे जो होगा वह कहते हैं कि वह तो अग्नि है, जो करना है वह करेगी, आपकी कृपा कौनसी हुई? इस पर कहते हैं कि मेरी कृपासे ही अग्नि देव प्रसन्न होगा. इसके सिवाय दूसरी कृपा यह है, कि वह अग्नि मेरे भूतगणोंसे घिरी हुई है, उनके द्वारा ही तेरा संकल्प सिद्ध करेगी, यदि वह अब्रह्मण्य पर काममें लायेगा तो लाभ होगा, नहीं तो विपरीत होकर तेरा ही भक्षण होगा. यों 'तस्मादग्नि-चिह्नाभिचरित' श्रुतिमें कहा है, सुदक्षिण तो भगवान्को ब्रह्मण्य है यों नहीं जानता है, 'च' पदसे वह जताया है कि उसके जो अङ्ग देवता हैं वे भी कार्य करेंगे।।३०।।

आभासार्थ : इस प्रकार महादेवसे आज्ञा प्राप्त कर वैसे ही करने लगा किन्तु उद्देश्य महादेवका कहा हुआ न था यह बतानेकेलिए कहते हैं कि वह ब्रह्मण्य कृष्ण पर करने लगा :

इत्यादिष्टस्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन् कुधीः ।।३१।।

श्लोकार्थ : महादेवजीने इस प्रकार आज्ञा की, किन्तु कुबुद्धि सुदक्षिण उस अभिचारका महादेवोपदिष्ट प्रयोग कृष्णके ऊपर करने लगा।।३१।।

व्याख्यार्थ : श्रीकृष्ण ब्राह्मणोंके फलरूप हैं और ब्राह्मणोंके हितकारी हैं, ऐसे ब्रह्मण श्रीकृष्ण पर सुदक्षिण अभिचार करने लगा, ऐसा क्यों किया? इस पर कहते हैं कि 'कुधीः' कुबुद्धि है इस कारणसे यों किया।।३१।।

आभासार्थ : उत्पादनमें विगुणताके अभावसे अग्नि उत्पन्न हुई, यों 'अग्निरुत्थितः' श्लोकमें कहते हैं :

ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान् मूर्तिमान् अतिभीषणः ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुः अङ्गारोद्गारिलोचनः ।।३२।।

श्लोकार्थ : तब कुण्डमेंसे अतिभयानक मूर्तिमान् अग्नि निकली, जिसके नये तांबेके समान शिखा, दाढी और मूंछ हैं, जिसके नेत्रोंमेंसे अंगारे बरस रहे हैं।।३२।।

व्याख्यार्थ : दक्षिणाग्नि कुण्डमेंसे जो अग्नि निकली वह ज्वालरूप नहीं थी अतः 'मूर्तिमान्' पद दिया है, अर्थात् स्वरूप धारण कर प्रकट हुई. अग्निदेव प्रसन्न होनेसे स्वरूप धारण कर उद्‌भुत हुए होंगे? इसकी प्रसन्नताका निवारण करनेकेलिये कहा है कि अति भयानकरूपधारी प्रकट होनेसे प्रसन्नताका अभाव प्रकट किया है मृत्युरूपता[१]का वर्णन करनेकेलिये दो विशेषण दिये हैं १.तपे हुए ताम्बेके समान शिखा, दाढ़ी और मूछवाली और २.जिससे आंखोंसे कालीयादिकी भांति अंगार बरस रहे हैं।।३२।।

१.संस्कृत सुबोधिनीके पुस्तकमें यहां टिप्पणीमें लिखा है कि 'मृत्युरूपतां वारयति' तप्तताम्रेति पाठः इस पाठसे अर्थ और भाव बदलता है, अतः विचारणीय है (अनुवादक.)

दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटी दण्ड–कठोरास्यः रवजिह्वया।
आलिहन् सृक्किणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिखं ज्वलन्।।३३।।

श्लोकार्थ : दाढें और उग्र भृकुटि दण्डसे विकराल मुखवाली वह अग्नि, अपनी जीभसे गलफरोंको चाटती थी, नग्न होकर देदीप्यमान त्रिशूलको घूमा रही थी।।३३।।

व्याख्यार्थ : दाढ़ोंसे उग्र, भुकुटी दण्डरूप थी, इन दोनोंसे यह भान होता था कि स्वरूपसे भी इसका मुख कठोर है. अपनी जिह्वासे गलफरोंको चाटनेसे यह जताता था कि मेरा अपने कार्य करनेमें अभिनिवेश है. 'नग्न' पदसे जताया कि अपनी देहका भी इसको भान नहीं है, जिसको अपने देहका भान नहीं है वह बिना विचारके ही क्रूर कर्म करेगी, जिसके पास साधन भी इसी प्रकारका है, त्रिशूल घुमा रही थी, वह त्रिशूल क्रोध आदिसे चमक रहा था।।३३।।

आभासार्थ : अग्नि होनेसे स्वभावसे भी गति सामर्थ्य उसमें होती है, जिसका वर्णन 'पद्‌भ्यां तालप्रमाणाभ्यां' श्लोकसे करते हैं :

पद्‌भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन् अवनीतलम्।
सोऽभ्यधावद् वृतो भूतैः द्वारकां प्रदहन् दिशः।।३४।।

श्लोकार्थ : ताल जितने लंबे पांवोंसे पृथ्वी तलको कंपाता हुआ, भूतगणोंसे घिरा हुआ, दिशाओंको जलाता हुआ द्वारकाके सामने दौडा।।३४।।

व्याख्यार्थ : आगे कार्य होगा यह जतानेकेलिये, उसका महान् सामर्थ्य कहते हैं 'कम्पयन् अवनीतलं' पृथ्वी तलको कम्पाता था, उसके उद्यमका वर्णन

करते हैं कि प्रथम गण भूतोंसे घिरा हुआ द्वारकाके सामने दौड़ता था।।३४।।

आभासार्थ : उसके देखनेसे द्वारकाको भी भय हुआ, जिसका वर्णन 'तमाभिचारदहनं' श्लोकमें कहते हैं :

तम् आभिचारदहनम् आयान्तं द्वारकौकसः।
विलोक्य तत्रसुः सर्वे वनदाहे यथा मृगा।।३५।।

श्लोकार्थ : उस अभिचारकी अग्निको आती देख सब द्वारकावासी जैसे वनमें आग लगने पर पशु डरते हैं, वैसे ही ये भी डरने लगे।।३५।।

व्याख्यार्थ : डरनेका कारण बताते हैं, कि वह अग्नि दिशाओंको जलाती हुई आ रही थी, अतः उसको देख डरे और इसकी उत्पत्तिका विचार किया तो यह 'अभिचार'की अग्नि थी तथा वह यहां आ रही है. द्वारकावासी विचारने लगे कि पहले ही अपना स्थान छोड़कर जैसे तैसे यहां स्थित हुए हैं, यदि यह आकर जला देगी तो हम कहां जायेंगे? अब क्या करना चाहिए यों विचार करते थे इतनेमें वह पासमें आ गई, उसको देखते ही डर गये, मारे नहीं गये थे तो भी डर गये. वे बलिष्ठ और शूरवीर थे तो क्यों डरे? वीर और बलिष्ठ तो कभी डरते नहीं फिर भी सब डर गये, कारण जो द्वारका हमारी रक्षा कर रही है, यदि वह जल गई तो, हमारेलिये आपत्ति हो जायेगी. आप डरते क्यों हो? उसकी रक्षा कर लेना, इस पर कहते हैं कि प्रतिक्रिया करनेकी हम लोगोंमें सामर्थ्य नहीं है, जैसे वनमें आग लगती है, तो पशु डर जाते हैं, क्योंकि वे उस वनकी आगको बुझानेमें असमर्थ होते हैं वैसे ही हम भी हैं।।३५।।

आभासार्थ : दूसरा कोई रक्षक देखनेमें नहीं आया इसलिए निश्चित् भगवान्की शरण जाकर प्रार्थना करने लगे उस समय भगवान् सभामें पासोंसे खेल रहे थे :

अक्षैः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः।
पाहि पाहि त्रिलोकेश वह्ने प्रदहतः पुरम्।।३६।।

श्लोकार्थ : वे सब भयसे आतुर हो गए, अतः सभामें पासोंसे खेलते हुए भगवान्के समीप जाकर प्रार्थना करने लगे कि हे त्रिलोकीनाथ! पुरीको जलानेवाली इस अग्निसे रक्षा करो।।३६।।

व्याख्यार्थ : भगवान् उस समय पासोंसे सभामें खेल रहे थे, इससे यह जताया, कि प्रभु अन्दर और बाहर निश्चिन्त होनेसे आनन्द मग्न हैं, भगवान्

सभामें खेलनेसे सभाके सभ्य हैं, जिस कारणसे, सभासे उठ भी नहीं सकेंगे, इस विचारके अनन्तर कहने लगे, कि भगवान् होनेसे सर्व समर्थ हैं, वहां बैठे हुए ही कार्य पूर्ण कर देंगे. वे तो भयसे आतुर हो गये थे, आतुरोंको प्रार्थना करनेका वह अवसर है वा नहीं, इसका ज्ञान नहीं रहता है. डरे हुओंके वे वचन कहते हैं, जो भगवान्को कहे हैं, हे त्रिलोकीनाथ अग्निसे जलनेवाली इस पुरीकी पालना करो, जैसे पुरका दाह न हो, वैसा यत्न करो. मूलमें 'पाहि पाहि' पाठ है किसी पुस्तकमें 'त्राहि त्राहि' पाठ भी है, यहां त्राहि परस्मैपद दिया है, इस शंकाके निवारणकेलिये कितने ही कहते हैं, कि यह पद छान्दस है दूसरे कहते हैं कि यह धातु 'उभयपदी' है, त्रिलोकीनाथ पदसे यह सूचित किया है, कि महादेवादिके निराकरण करनेकी आपमें सामर्थ्य है।।३६।।

आभासार्थ : यदि वे द्वारकावासी एक क्षण भी प्रार्थना करनेमें विलंब करते तो भगवान् तब तक चुप रहते जब तक नगरको आग न लगती, आग लग जाने पर, भगवान्को विशेष क्रोध आता, जिससे शत्रुओंकी जड ही काट डालते, जैसे कभी भी भगवान्के विपक्षी पैदा न होते. आग लगने पर्यन्त सहनेकी शक्ति लोकोंमें नहीं थी, इसलिए पहले ही आकर रक्षाकेलिए प्रार्थना की. भगवान् तो भक्तों पर कृपा करनेवाले हैं, उनकी विक्लवता देख आधा कार्य ही किया, जिसका वर्णन 'श्रुत्वा तज्जन' श्लोकमें कहते हैं :

श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानां च साध्वसम् ।
शरण्यः सम्प्रहस्याह मा भैष्टेत्यवितास्म्यहम् ।।३७।।

श्लोकार्थ : अपने भक्तोंकी व्याकुलता और भय देख, शरणागतकी रक्षा करनेमें प्रवीण परमात्माने हंस कर कहा डरो मत, मैं आपका रक्षक हूं।।३७।।

व्याख्यार्थ : भक्तोंकी प्रकट व्याकुलता देख और उसका कारण तथा भय भी देख, स्वयं शरणके योग्य भगवान् हंसकर कहने लगे कि इसने यह सब अपने नाशकेलिये किया है, आप डरो मत, क्योंकि मैं आपका रक्षक बैठा हूं।।३७।।

आभासार्थ : कारण कि न जानने पर भी, 'सुदर्शन चक्र' सबकेलिए है, इसलिए सुदर्शनके आश्रयसे ही कदाचित् उपाय करे, यों शंका कर रहे थे इतनेमें भगवान्ने जो किया इसका 'सर्व स्यान्तर्बहिः' श्लोकमें करते हैं :

सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः ।

विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रम् आदिशत् ।।३८।।

श्लोकार्थ : अंदर और बाहर सबके साक्षी विभु भगवान्ने महादेवकी कृत्याको जानकर, उसके कार्यको नष्ट करनेकेलिए पासमें स्थित चक्रको आज्ञा दी।।३८।।

व्याख्यार्थ : आप विभु हैं, इसलिए जान गये कि यह महादेवकी कृत्या है, उसके वधकेलिये पासमें रहे हुए सुदर्शन चक्रको आज्ञा दी. चक्र, चक्ररूपसे ही चेतनोंवाला था, श्रीकृष्ण विभु अर्थात् सर्व प्रकार समर्थ हैं, अतः जो कुछ कार्य हुआ जैसे पुरको न जला सकना और सुदक्षिणाका नाश, वह अपनी अर्थात् प्रभुकी सामर्थ्यसे ही हुआ न कि चक्रकी सामर्थ्यसे. उसका विधान पदका आशय है उसके कार्य पुरको जलाना जिसका नाश चक्रने किया न कि कृत्याका स्वरूपसे नाश किया. चक्र समीपमें स्थित होनेसे भगवान्का हृदय सर्व प्रकारसे जानता था।।३८।।

आभासार्थ : 'तत्सूर्य कोटि प्रतिमं' श्लोकमें भगवान्की इच्छानुसार जो किया वह चक्रका कृत्य कहते हैं :

तत्सूर्य–कोटि–प्रतिमं सुदर्शनं जाज्वल्यमानं प्रलयानल–प्रभुम् ।
स्वतेजसा खं ककुभो–ऽथ रोदसी चक्रं मुकुन्दास्त्रम् अथाग्निम् आर्दयत् ।।३९।।

श्लोकार्थ : करोड सूर्यके समान, प्रलयकी अग्निके सदृश कांतिवाला, अपने तेजसे आकाश दिशा, स्वर्ग और पृथ्वीको पीडा करता हुआ, वह मुकुन्दका चक्र कृत्याके पीछे पडा।।३९।।

व्याख्यार्थ : चक्रका करोड़ सूर्यके समान जो तेज था वह उसकी स्वाभाविकी शक्ति थी. चमक रहा था इससे उसका उत्साह प्रदर्शित किया है. उसकी प्रभा प्रलयकी अग्निसे समान थी जिससे दिखाया है, कि वह क्रोध पूर्ण है. पश्चात् क्रोध पूर्ण होनेसे दिये हुए दृष्टान्तोंके समान धर्म इसमें भी प्रकट है, यह बताया है, जैसा कि कहते हैं, अपने तेजसे आकाश, दिशा, स्वर्ग और पृथ्वीको पीड़ा करने लगा. मानो उनको जलाने लगा यह सामर्थ्य चक्रकी अपनी नहीं थी, किन्तु (वह) भगवान्की है, इसलिए 'मुकन्दास्त्रं' पद दिया है. जिसका आशय है कि 'चक्र' साधारण अस्त्र नहीं है किन्तु मोक्षदाता भगवान्का अस्त्र है जिससे इसमें इतनी सामर्थ्य हुई है. इस प्रकार सबको दग्ध कर पश्चात् भिन्न प्रकारसे अग्निको पीड़ा देने लगा अर्थात् अग्निके सब संकल्प नष्ट कर दिये।।३९।।

आभासार्थ : पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'कृत्यानलः प्रतिहतः' श्लोकमें करते हैं :

कृत्यानलः प्रतिहतः स रथाङ्गपाणेः अस्त्रौजसा स नृप भग्नमुखो निवृत्तः ।
वाराणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तं सर्त्विग्जनं समदहत् स्वकृतोऽभिचारः ।।४०।।

श्लोकार्थ : हे नृप ! भगवान्के तेजसे प्रतिहत, भग्न मुख वह अग्नि पीछे लौटती हुई काशीमें आकर, अभिचार करनेवाले सुदक्षिण तथा ऋत्विज आदि जनोंको भस्म करने लगी।।४०।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि वह कृत्यानल स्वतन्त्र तथा श्रुतियोंसे सिद्ध की हुई है, तो भी, भगवान्के सुदर्शन चक्रास्त्रके सामने उसका तेज निर्बल पड़ गया, क्योंकि वह अस्त्र भगवान्का था, भगवान्के होनेके कारण लौकिक वैदिक सामर्थ्यको नाश करनेमें समर्थ है और अस्त्र होनेसे उसके रूपको कोई दमन नहीं कर सकता. इस प्रकारके होते हुए भी उसका तेज ऐसा था जिससे मारा हुआ एवं भग्न मुख ही निवृत्त होने लगा और लौटते-लौटते वाराणसीको घेर लिया. वहां पहुंचकर उस सुदक्षिणको तथा उसके उत्पादक ऋत्विग्जन सहित सबको पूर्ण रीतिसे जला दिया. इस प्रकार ब्राह्मण आदि जल गये जिसका दोष भगवान् पर कुछ भी नहीं है, क्योंकि यह अभिचार सुदक्षिणके कहने पर इन बाह्मणोंने किया था, अतः अपना छोड़ा बाण अपनेको लगे, जिसमें दूसरेका दोष नहीं, वैसे यहां अभिचार करनेवालोंका ही दोष है इसलिए वे अपने उत्पादन किये हुए कृत्यानलसे भस्म हुए हैं।।४०।।

आभासार्थ : अनन्तर भगवान्के हृदयको जाननेवाले सुदर्शनने काशीको भी पीड़ित किया, जिसका वर्णन 'चक्रं' श्लोकमें करते हैं :

चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं वाराणसीं साट्टसभालयापणाम् ।
सगोपुराट्टालककोष्ठसंकुलां सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालाम् ।।४१।।

श्लोकार्थ : उस कृत्यानलके पीछे भगवान्का चक्र भी गया, जिसने मंच, सभा, घर, हाट, दरवाजे, अट्टालिकाएं, भण्डार, हस्तीशाला, अश्वशाला, रथशाला, अन्नके कोठे आदि सबको जला दिया।।४१।।

व्याख्यार्थ : उस कृत्यानलके पीछे प्रविष्ट सुदर्शनने वाराणसीको जला दिया. वह विष्णुका चक्र है, इसलिए निर्भय है, अल्प ही जलाये होंगे? इस शंकाको मिटानेकेलिये ही 'साट्टसभालयापणाम्' कहा है. राजभवन, सभास्थान,

तथा बाजार जहां दुकानें लगी रहती हैं ये सब जला दिये. ये इस समय भी, लोकमें सुधासे धवलित अर्थात् स्वच्छ किये जाते हैं, ये जो जलाये वे तो साधारण थे, अब जो विशेष बड़े स्थान जलाये उनका वर्णन करते हैं. नगरके जो भीतर जानेके बड़े दरवाजे थे वे साहूकारोंके सुन्दर महल, कोठे, दुर्ग आदिमें जो अन्नके संग्रहके स्थान थे, किसी पुस्तकमें 'सगोकुलाट्टाल सगोष्ठसंकुलां' यह पाठ है. गोकुल जहां गौ आदिके रहनेके स्थान हैं, जिसमें प्रसिद्ध गोपोंके अट्टालकों (बड़े-बड़े सुन्दर घर)के साथ सबको कदाचित् जलावें, इस शंकाके मिटानेकेलिये यों कहा है लक्ष्मीके निवास स्थान तो नहीं जलाये होंगे? इस शंकाका निवारण करनेकेलिये कहते हैं कि 'सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालां' अर्थात् लक्ष्मीके निवास स्थान भी जलाये. जैसे कोषागृह(खजाने) जहां थे वे स्थान, हस्ती, घोड़े, रथ और अन्न आदिके गृह भी जला दिये. जहां रथ बनाये जाते हैं, वे रथ शालायें होती हैं. बनाये गये रथ तो घरोंमें स्थापित किये जाते हैं, वहां ही पडे रहते हैं, यों नहीं करें तो धर्मादि उपद्रव हो जाता है।।४१।।

आभासार्थ : यों सामान्य तथा विशेष प्रकारसे जलानेको कहा, जिससे यह शंका होती है कि इससे समग्र काशी नहीं जली अतः विशेष 'दग्ध्वा वाराणसी' श्लोकमें कहकर विषयका उपसंहार करते हैं :

दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णुचक्रं सुदर्शनम्।
भूयः पार्श्वम् उपातिष्ठत् कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः ।।४२।।

श्लोकार्थ : विष्णुका सुदर्शन चक्र इस प्रकार समग्र वाराणसीको जलाकर फिर अक्लिष्टकर्मा श्रीकृष्णके पास शीघ्र ही आ गया।।४२।।

व्याख्यार्थ : द्वारकावासियोंकी इच्छित कार्य-सिद्धि हो गई अर्थात् कृत्यानल तथा उसके उत्पादक सब जलकर नष्ट हो गये. यह कार्य-सिद्धि इसलिए हुई कि सुदर्शन विष्णुका चक्र है, यों कर्ताको भी दोष न लगा. फिर आगे भी ऐसा कार्य होगा? इस शंका निवारणकेलिये कहते हैं कि फिर नहीं होगा, क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्रके पास लौट आया. भगवान् स्वयं करेंगे, सुदर्शनकी क्या आवश्यकता है? भगवान् क्लिष्टकर्म नहीं करते हैं और कदाचित् वैसा कर्तव्य होता है, यह कार्य पूर्ण किया तब सुदर्शन भगवान्के पास गया जिससे सुदर्शनका भी निरोध निरूपण किया।।४२।।

आभासार्थ : यह कथा काशीके दाहका वर्णन करती है, जिससे अपने

धर्मके हेतुवालोंको अर्थात् काशीके भक्तोंको यह कथा नहीं सुननी चाहिए, इस शंकाका निवारण 'य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य' श्लोकसे करते हैं :

य एतच्छ्रावयेन् मर्त्य उत्तमश्लोक–विक्रमम् ।
समाहितो वा श्रृणुयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।४३।।

श्लोकार्थ : जो मनुष्य भगवान्के पराक्रमका यह चरित्र सुनाता है, और जो एकाग्र हो सुनता है, वे दोनों सर्व पापोंसे छुट जाते हैं अर्थात् उनके सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं।।४३।।

व्याख्यार्थ : ये भगवान् उत्तम श्लोक हैं, जिसकी उत्तम पुरुष, भक्त, ज्ञानी सदैव प्रशंसा करते हैं. अतः स्वभावसे ही भगवान्के चरित्र श्रवण करने योग्य हैं, जिसमें भी फिर यह चरित्र तो पराक्रमका है इसलिए जो मनुष्य यह चरित्र अन्यको सुनाता है और जो यह चरित्र एकाग्र होकर सुनता है, और जो तिरस्कार नहीं करते हैं, वे दोनों सर्व पापोंसे छूट जाते हैं, अर्थात् उनके पाप नष्ट हो जाते हैं, इससे यह निरूपण किया है कि जैसे यह चरित्र भगवद्भक्त सुनते हैं, वैसे ही, धर्म परायणोंको भी सुनना चाहिए।।४३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण, अध्याय ६३ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ६४

द्विविदका उद्धार

बलस्य चरितं वक्ष्यन् तदभावात्तु पौण्ड्रकः ।
तथोक्तवान् इति ह्युक्तं अर्थाद् एतद् बलस्य हि ।।का.१।।

कारिकार्थ : पूर्वध्याय १७वेंमें जो यह चरित्र वर्णन हुआ है, वह बलरामजीका ही है; पौण्ड्रकने जो कहा, वह बलरामजीका वहां न होना समझकर ही कहा, बलदेवजीके वहां प्रकट स्थितिके अभावमें जो कुछ चरित्र हुआ, वह वास्तवमें बलरामजीका ही माहात्म्य है।।१।।

बलरूपहरेः कार्यं न समाप्तम् इति स्थितिः ।
अतो विशेषतो वक्तुं प्रश्नो राज्ञो निरूप्यते ।।का.२।।

कारिकार्थ : कारण कि बलाविष्ट हरिका कार्य अभी तक सम्पूर्ण नहीं हुआ है, इसलिए पूर्वाध्यायमें कहा हुआ माहात्म्य भी बलाविष्ट हरि का ही है, यह मर्यादा अर्थात् स्थिति है. इस कारणसे अर्थात् पूर्वाध्यायमें सामान्य प्रकारसे कहा, अब विशेष प्रकारसे कहनेकेलिए राजाके प्रश्नका निरूपण किया जाता है, क्योंकि बलरामजीके कार्यकी समाप्ति नहीं हुई है।।२।।

अष्टादशे तु द्विविद–वधः सम्यङ् निरूप्यते ।
गोपिकानाम् इवात्रापि स्त्रीणां माहात्म्यबोधने ।।का.३।।

कारिकार्थ : यहां अठारहवें अध्यायमें भी बलरामकी स्त्रियां जो गोपियां है, उनकी भांति माहात्म्य ज्ञानकी सिद्धिके लिए द्विविदके वधका सम्यक् प्रकारसे निरूपण किया जाता है।।३।।

बलस्त्रियोऽन्यथा त्वत्र निरुद्धा न भवन्ति हि ।
तदा विभागो व्यर्थः स्याद् निरोधानुपयोगतः ।।का.४।।

कारिकार्थ : यहां दूसरे प्रकारसे अर्थात् आवेशी स्वरूपके बिना केवल साक्षात् भगवत्स्वरूपसे बलकी स्त्रियोंका निरोध होना संभव नहीं था, यदि निरोध सिद्ध न होवे तो शक्तिका विभाग प्रथम किया हुआ है, वह व्यर्थ किया, यों सिद्ध होगा अर्थात् निरोधका न होना स्कन्धके अर्थसे विरुद्ध होगा, यह बतानेके लिए ही 'वि' उपसर्ग दिया है।।४।।

ततः सर्वजनीनं च चरित्रं हि करिष्यति ।
यस्यावेशस्य चरितम् एवं तस्य किम् अद्भुतम् ।।का.५।।

कारिकार्थ : ऊपर गुप्त चरित्र कहा, उसके बाद लक्ष्मणाके प्रसंगमें सर्वजनीन चरित्र करेंगे, इसी तरह विशेष निरोधके प्रकरणमें ४ अध्यायोंसे बलदेवजीके चरित्रका वर्णन किया है. जिसके आवेश स्वरूपका चरित्र ऐसा है तो आवेशीका स्वरूप कैसा अद्‌भुत होगा ? यह इससे ही समझा जा सकता है, कैमुतिक न्यायसे यह भगवच्चरित्र ही है, यह भाव है।।५।।

कारिकार्थ समाप्त

आभासार्थ : पूर्वाध्यायमें 'नन्दव्रजं गते रामे'से बलरामजीका ब्रजमें जाना कहा, जिससे द्वारकामें बलरामजी विद्यमान नहीं थे अतः पौण्ड्रक यों कहनेमें शक्तिमान् हो सका, यों भासनेसे 'भूयोऽहमिति' श्लोकसे बलका विशेष चरित्र पूछता है :

राजोवाच

भूयोऽहं श्रोतुम् इच्छामि रामस्याद्‌भुतकर्मणः।
अनन्तस्याप्रमेयस्य यद् अन्यत् कृतवान् प्रभुः ।।१।।

श्लोकार्थ : राजाने कहा कि मैं, अद्‌भुतकर्मा अनन्त और अप्रमेय बलरामजीने समर्थ होनेसे जो अन्य चरित्र किये हैं, वे भी सुनना चाहता हूं।।१ ।।

व्याख्यार्थ : यमुनाका आकर्षण आदि माहात्म्यवाले चरित्र सुने हैं, दूसरे भी सुनना चाहता हूं, क्योंकि बलरामजीके चरित्र अद्‌भूत हैं, उनके चरित्र अलौकिक ही हैं वे कहने योग्य हैं इस कारणसे राजाने प्रश्न किया है, जैसे भगवान्‌के कार्य करनेकेलिये जानेके अनन्तर भगवान्‌के ऊपर बहुत कार्य आ पड़े अर्थात् भगवान्‌को बहुत कार्य करने पड़े, वैसे दूसरे भी होंगे? इस आशयसे बलरामको अद्‌भुत कर्म कहा है, चरित्र एक नहीं अनन्त हैं, कारण कि आप अनन्त हैं, इसलिए उनके वैसे अद्‌भुत चरित्र भी बहुत हैं. आप अप्रमेय हैं, जिससे उनके चरित्रोंकी भी कल्पना नहीं हो सकती है, अतएव वैसे बलरामजीके अन्य चरित्र सुनना चाहता हूं और वे चरित्र देवसे हुए न कहने चाहिए, किन्तु स्वयं समर्थ होकर जो किये हैं वे ही कहने चाहिए।।१।।

आभासार्थ : निरोधमें स्त्रियां ही मुख्य है, इसलिए उनकेलिए ही दूसरा चरित्र किया है यों निरूपण करते हुए द्विविद वधका चरित्र 'नरकस्य सखा कश्चित्' श्लोकसे कहते हैं :

श्रीशुक उवाच

नरकस्य सखा कश्चिद् द्विविदो नाम वानरः ।

सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ।।२।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि नरकासुरका मित्र कोई द्विविद नामवाला वानर था, वह रामावतारमें सुग्रीवका सचिव था और मैन्दका भ्राता था तथा शूरवीर था।।२।।

व्याख्यार्थ : भगवानने नरकासुरको मारा वह भी स्त्रियोंकेलिये ही, उसका मित्र भी उसी तरह मरना चाहिए. वह मारने योग्य होते हुए भी इतने समय तक उसकी उपेक्षा की, यों कहा. 'कश्चित्' पद कहा, स्पष्ट नहीं कहा कि दैत्य था वा देव था, जिसका नाम 'द्विविद' कहा जिससे यह जताया है कि उसका स्वभाव दो प्रकारका था क्योंकि उसको दो प्रकारका ज्ञान था. इसी कारणसे रामावतारमें भक्त होने पर भी इस जन्ममें अभक्त हो गया, इससे यह बताया कि जो दो स्वभाववाले हों वे मारने योग्य ही हैं. इतना समय उपेक्षा करनेका कारण उसका वानरपन था, भगवान्ने ही उसको आधा मनुष्य बना दिया हैं तो फिर वे किसलिए मारने योग्य हैं? उसका यदि वध किया जावे तो फिर रामचन्द्रका क्या माहात्म्य रहेगा? यों उनके न मारनेसे रामका माहात्म्य बताया है. अब दूसरे प्रकारसे कहते हैं, सुग्रीवके हनुमान आदि ४ सचिव थे जिनमें एक द्विविद भी था जिससे इसकी उनसे समानता बताई, स्वभावसे भी रामायणमें प्रसिद्ध है, मैन्दका भ्राता था, रामायणमें मैन्दकी शूरवीरता निरूपण की गई है, उसका भ्राता भी उसके समान है उससे भी विशेष होनेसे 'वीर्यवान' विशेषण दिया है।।२।।

आभासार्थ : यदि कहो, कि ऐसा महान् और प्रसिद्ध विरुद्ध कैसे हो गया? इसका उत्तर 'सख्युः सोऽपचितिं' श्लोकमें देते हैं :

सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्लवम् ।

पुरग्रामाकरान् घोषान् अदहद् वह्निनोत्सृजन् ।।३।।

श्लोकार्थ : वह बंदर अपने मित्रका बदला लेनेके लिए राष्ट्रमें उत्पात करने लगा, जैसे कि पुर गांव, खान, घोष इनको जला देता था।।३।।

व्याख्यार्थ : नरकको भगवान्ने मारा था वह द्विविदका मित्र था इसलिए उसका बदला लेने लगा. क्षुद्र (नीच) बदला लेते समय यह विचार नहीं करता है, कि किस प्रकार बदला लेना चाहिए, जैसा मैं बदला लेता हूं वह योग्य है कि नहीं.

तुच्छ होनेसे, इसका कुछ भी ध्यान नहीं करता है, शत्रु होनेसे जैसा भी भावे वैसा अयोग्य रीतिसे बदला लेने लगता है, अतः यह द्विविद भी तुच्छ होनेसे, राष्ट्रका विनाश करने लगा. किस प्रकार किया? जिसका वर्णन करते हैं, बड़े नगर, छोटे ग्राम, रत्न आदिकी खान, गोपालोंके ग्राम, जहां गोधन आदि रहता है. तीन प्रकारके लौकिक कहे, घोष जो कहे उससे वैदिक दोषकी सिद्धि बताई. इन सबको छुपकर आग लगा दी, नहीं तो वह्नि पद व्यर्थ हो जाता।।३।।

आभासार्थ : वह्निसे किये हुए उपद्रवका वर्णन कर, अब 'क्वचित् स शैलान्' श्लोकसे पर्वतादिसे किये हुए उपद्रवोंका वर्णन करते हैं :

क्वचित् स शैलान् उत्पाट्य तैर्देशस्थानचूर्णयत्।
आनर्तान् सुतरामेव यत्रास्ते मित्रहा हरिः ।।४।।

श्लोकार्थ : कहीं बडे पर्वतोंको उखाडकर देशोंमें स्थित मनुष्यादिको चूर्ण-चूर्ण कर देता था, आनर्त (देश)में तो विशेष उपद्रव करता, क्योंकि इसके मित्रका हन्ता हरि यहां बिराजते हैं।।४।।

व्याख्यार्थ : पर्वतोंको स्थानसे उखाड़कर देशके ऊपर फेंक देशस्थोंको चूर्ण कर देता था, अधिकतर तो भगवदीय अर्थात् जो आनर्त देशमें रहते थे, (उनको) कारण कि, आनर्त देशमें इसके मित्र नरकासुरका हन्ता हरिका निवास है।।४।।

आभासार्थ: 'क्वचित् समुद्र मध्यस्थ' श्लोक जलसे किये हुए उपद्रवोंको कहते हैं :

क्वचित् समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्याम् उद्धृत्य तज्जलम्।
देशान् नागायुतप्राणो वेलाकूलान् अमज्जयत् ।।५।।

श्लोकार्थ : कभी समुद्रके बीचमें जाकर दोनों हाथोंसे उसके जलको उछाल-उछाल कर तीरस्थित देशोंको डूबा देता. यों इसलिए कर सकता था क्योंकि इसमें दस हजार हस्तियोंका बल था।।५।।

व्याख्यार्थ : 'दोर्भ्यामुद्धृत्य' इससे भुजाओंकी स्थूलता दिखाई हैं, 'देशान्' पदसे समुद्रके किनारे पर स्थित देशोंको कहा है. 'नागायुतप्राणः' पदसे दश हजार हस्तियोंके समान बलवाला था जिससे कोई भी उसको मार नहीं सकता. किनारे पर स्थित कहनेसे डुबानेमें सरलता कही है।।५।।

आभासार्थ: साधारणोंका उपद्रव कहकर 'आश्रमान्' श्लोकसे वैदिकों

का भी उपद्रव कहते हैं :

आश्रमान् ऋषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्तपतीन् ।
अदूषयत् शकृन् मूत्रैर् अग्नीन् वैतानिकान् खलः ।।६।।

श्लोकार्थ : ये खल, इतने उपद्रवोंसे तृप्त न हुआ, फिर मुख्य ऋषियोंके आश्रमोंके वृक्ष, वनस्पतियोंको तोड डालता और आश्रममें जाकर विष्टा, मुत्र आदिसे उनकी यज्ञ सामग्री तथा अग्निको अपवित्र करता।।६।।

व्याख्यार्थ : ऋषियोंके यज्ञका नाश करता था, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वनस्पतिको तोड़ता था, गार्हपत्य जो वैदिक अग्निको मुत्रादिसे अपवित्र करता था, यों करनेसे उसका कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध होता था? कारण कि ब्राह्मण तो नरक वा दूसरे किसीके शत्रु नहीं होते हैं? फिर इसने ऐसोंको क्यों कष्ट दिया? जिसके उत्तरमें कहते हैं 'खल' दुष्ट अन्तःकरणवाला था, इसलिए बिना प्रयोजन भी दूसरोंको दुःख देनेकेलिये यों करता है।।६।।

आभासार्थ : पृथ्वी, जल, और तेजोंसे किये हुए देशके उपद्रवोंको और देशस्थ वैदिकोंसे किये हुए उपद्रवोंको कह कर, अब स्त्री पुरुषादि अन्य साधारणोंको जो दुःख दिए, उनका वर्णन 'पुरुषान् योषितो' श्लोकसे करते हैं :

पुरुषान् योषितो दृप्तः क्ष्माभृद्द्रोणीगुहासु सः ।
निक्षिप्य चाप्यधात् शैलैः पेशस्कारीव कीटकम् ।।७।।

श्लोकार्थ : वह अभिमानी वानर फिर स्त्री और पुरुषोंको पर्वतोकी गुफा और दरारोंमें डालकर बडी-बडी शिलाओंसे वैसे बंद कर देता, जैसे मकड़ी कीड़ेको घरमें डालकर रोक रखती है।।७।।

व्याख्यार्थ: वह उच्छृंखल मनमानी करनेवाला(उद्दण्ड) साथमें रहनेवाले स्त्री पुरुषोंके संगका भंग करनेकेलिये तथा रसमें विघ्न डालनेकेलिये, एवं उनको डरानेकेलिये, पर्वतके गुफाओंमें और दरारोंमें फेंककर कहता था कि अब यहां रमण करो, यों हंसी करता हुआ शिलाओंसे बन्द कर देता, यों करनेका कारण बताते हैं कि जैसे मकड़ी कीड़ेको अपने जैसा बनानेकेलिये बन्द करती है, वैसे इसने भी सारे विश्वको अपने समान बनानेकेलिये यों किया है. यों न समझा कि विश्व भगवदात्मक स्वरूप है, वह मदात्मक कैसे होगा? क्यों न समझा? जिसका हेतु है कि उच्छृंखल था इसलिए 'दृप्त' विशेषण दिया है।।७।।

आभासार्थ : इस प्रकार सहने योग्य उपद्रव कहकर उनका उपसंहार करते

हुए एवं 'देशान्' श्लोकसे असह्य उपद्रवोंका वर्णन करते हैं :

एवं देशान् विप्रकुर्वन् दूषयंश्च कुलस्त्रियः ।
श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ ।।८।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार देशोंमें उपद्रव करता हुआ और कुल-स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करता हुआ, सुंदर गीत सुनकर रैवतक पर्वत पर गया।।८।।

व्याख्यार्थ : उसका कुलकी स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करनेवाला कार्य असह्य था, सामान्य स्त्रियोंको दूषित करे तो इतना दोष नहीं, किन्तु ये स्त्रियां कुलकी थीं, जिनको यह दूषित करता था, उन स्त्रियोंको भगवान् नरकके गृहसे लाये थे, इसलिए यों करता है, यह सूचन किया है. इस प्रकार कार्य करनेसे इसके पाप बढ़ गये अर्थात् पापका घड़ा पूर्ण भर गया जिससे स्वयं ही मरनेकेलिये उद्यत होने लगा. उस समय इसने सुन्दर गीत सुना यद्यपि पशु होनेसे गानेके स्वर आदिका ज्ञान न था, तो भी सुन्दरताके कारण प्रत्येक मनका आकर्षक होनेसे गीत कहा है, जैसे इसने सर्वके सर्व विषयोंका निराकरण किया है वैसे इस सुललित गीतका भी निराकरण करनेकेलिये रैवतक पर गया, क्योंकि मेरे उपस्थित होते हुए अन्य कौन है? जो गान कर रहा है, अतः इसका निराकरण करना ही चाहिए, यों निश्चय कर पर्वत पर गया।।८।।

आभासार्थ : वहां जाकर गानेवालेको देखा, जिसका वर्णन 'तत्रापश्यद्' श्लोकमें करते हैं :

तत्रापश्यद् यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम् ।
सुदर्शनीयसर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम् ।।९।।

श्लोकार्थ : वहां तो कमलोंकी मालावाले, सुंदर अंगवाले स्त्रियोंके यूथके मध्यमें स्थित यदुपति रामको इसने देखा।।९।।

व्याख्यार्थ : उसको मात्सर्य उत्पन्न हो जिसकेलिये श्रीबलरामजीके दश गुणोंका वर्णन करते हैं, इतने ही गुण हैं. उनमें प्रथम ऐश्वर्य गुणको देखा, वह कहते हैं कि यादवोंके स्वामी हैं, स्वामीके चिह्न धारण किये हुए थे जिससे ज्ञान हुआ तथा परिचय भी है ही, इससे कर्तुं अकर्तुं और अन्यथाकर्तुं, सामर्थ्य इनमें हैं यों कहा, यह लौकिक है. अब अलौकिक गुण कहते हैं 'राम' राम हैं, वीर्यके विभक्त होनेसे, सर्व लोकोंको रमणसे प्रसन्न करना इनका असाधारण गुण है, जिससे स्वरूप और कार्यसे उत्कर्ष कहा. कमलोंकी मालासे आवृत थे, जिससे

अलंकृतत्व दिखाया. इस प्रकार ऐश्वर्य आदि तीन गुण कहे. जिनके सर्व अंग देखने योग्य हैं, इस सौन्दर्यसे शरीरकी कीर्ति कही. 'स्त्रियों'के यूथके मध्यमें स्थित कहनेसे बाहिरकी कीर्ति बताई (जो) यहांकी शोभासे उत्पन्न हुई है।।९।।

गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम्।
विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम्।।१०।।

श्लोकार्थ : वारुणी (मदिरा) पीकर गान करते, मदसे घूर्णित नेत्रवाले, मद झरते हुए हाथीके समान श्रीअंगसे शोभते हुए बलरामजीको देखा।।१०।।

व्याख्यार्थ: 'गायन्त' विशेषणसे ज्ञानकी फलरूप स्वानन्दकी पूर्णता दिखाई. 'वारुणी पीत्वा' वारुणी पीकर गा रहे थे, इससे ज्ञानका फल जो देहकी विस्मृति है, यह दिखाया. इसी प्रकार दो प्रकारका ज्ञान फल कहा. मदसे लोचन विह्वल हो रहे थे, वैराग्यकी फलरूप बाहरकी ज्ञान दृष्टि निरूपण की है. 'विभ्राजमानं वपुषा' इस पदसे शरीरसे पूर्ण शोभायमान कहकर यह बताया है कि दोनों वैराग्यके कार्य हैं, पश्चात् वैराग्यका स्वरूप वर्णन करते हैं. 'प्रभिन्नमिव वारणम्' वह हस्ति जिसका मद जल स्रव रहा है अमर्यादित होता है, इसी भांति आप भी अमर्यादित थे, ऐसे बलरामजीमें कारण फल सहित छः गुण निरूपण किये।।१०।।

आभासार्थ : ऐसे बलरामजीको देखकर भी अपनी दुष्टता प्रकट करने लगा जिसका वर्णन 'दुष्टः शाखामृगः' श्लोकसे करते हैं :

दुष्टः शाखामृगः शाखाम् आरूढः कम्पयन् द्रुमान्।
चक्रे किलकिलाशब्दम् आत्मानं सम्प्रदर्शयन्।।११।।

श्लोकार्थ : दुष्ट वानर शाखा पर चढकर वृक्षोंको कम्पाने लगा और अपना गुप्त अंग दिखाता हुआ किलकिला ध्वनि करने लगा।।११।।

व्याख्यार्थ : भगवान् रामको देखकर किल किला शब्द करने लगा, यह किल किला शब्द उसकी जातीय ध्वनि है, जब अपनेको वे महान् समझते हैं तब इस प्रकार ध्वनि करते हैं. प्रकृत विषयमें तो भगवान्को भी देखकर वैसे ही करनेका कारण इसकी दुष्टता है, इसलिए इसको 'दुष्ट' दुष्ट विशेषण दिया है. यह इसका स्वाभाविक दोष है इसलिए इसको शाखा मृग कहा हैं, पृथ्वी वा वृक्षका आश्रय नहीं करता है, किन्तु शाखाका आश्रय लेता है, इसलिए शाखा पर बैठा. क्योंकि तुच्छ, छोटे स्थान पर स्थित होकर भी मदवाला हो जाता है, यों

कहनेसे यह सूचन किया है. पेड़ोंको कम्पाने लगा, इससे यह सूचित किया है कि दुष्ट जो होते हैं अपने आश्रय देनेवालोंको भी, जो आश्रय देते है उनका भी तिरस्कार करते हैं अर्थात् उनकी भी अवगणना करते हैं–ऐसेको ईश्वरकी अवगणना करना योग्य ही है, अर्थात् उसने अपनी योग्यतानुसार कार्य किया हैं. छिपकर रस पैदा करनेकेलिये भी वैसा करे वा करना चाहिए इस पक्षको बदलने केलिये कहते हैं 'आत्मानं सम्प्रदर्शयन्' अपना स्वरूप अथवा गुह्य (गुप्त) भाग दिखाता हुआ यों करने लगा।।११।।

आभासार्थः तुच्छ जीवको यों करना योग्य नहीं है, उसको भण्ड समझकर केवल इस कार्यसे श्रीरामको क्षोभ न भी होवे, इसलिए स्त्रियोंसे हास्य करने लगा, जिससे रामको क्षोभ होवे जिसका वर्णन 'तस्य धाष्ट्र्यं' श्लोकमें करते हैं :

तस्य धाष्ट्र्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जातिचापलाः।
हास्यप्रिया विजहसुः बलदेव–परिग्रहाः ।।१२।।

श्लोकार्थ : स्वभावसे चपल वे तरुण स्त्रियां उस कपिकी धृष्टता देखकर हंसने लगी, क्योंकि उनको हास्य प्रिय था एवं बलरामजीकी स्वीकृत स्त्रियां थी।।१२।।

व्याख्यार्थ : अपराध करनेसे, वधार्ह उस तुच्छ जीव कपिका यों करना देखकर, तरुण स्त्रियां जो जातिसे ही चञ्चल होती हैं, और उनका वय तथा स्वभाव भी अस्थिरता पैदा करता है, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणका धर्म भी उनका वैसा ही हैं, जिससे उनको हास्य ही प्रिय है और वे निर्भय अथवा पूर्वोक्त बलदेवजीकी विवाहित स्त्रियां होनेसे, सर्व प्रकारसे निर्भय थीं. नियमको उल्लंघन करनेवाले चार प्रकारके गुण उनमें विद्यमान थे, जिससे वे अच्छी तरह हंसने लगीं, श्रीरामने तो कुछ भी नहीं कहा क्योंकि वानरके इस कार्यको ध्यानके योग्य न समझ उपेक्षा कर दी।।१२।।

आभासार्थ : स्त्रियोंका यों करना एवं अपने कार्यकी श्रीबलदेवने उपेक्षा की ये दोनों अपनी हीनताके द्योतक है, यों समझ उन स्त्रियोंकी अवगणना करने लगा, जिसका वर्णन 'ता हेलयामास' श्लोकमें करते हैं :

ता हेलयामास कपिः भ्रूक्षेपैः सम्मुखादिभिः।
दर्शयन् स्वगुदं तासां रामस्य च निरीक्षतः ।।१३।।

श्लोकार्थ : वह वानर श्रीरामके देखते हुए उन स्त्रियोंको अपनी गुदा दिखाकर भौंह चढाने और सन्मुख आने आदि क्रियाओंसे उनका अपमान करने लगा।।१३।।

व्याख्यार्थ : उन स्त्रियोंका तिरस्कार वा अपमान मुखसे तथा जातिकी चेष्टासे करने लगा, जैसे कि भौंह चढ़ानेसे सन्मुख आकर विकृत चेष्टाओंसे, इस प्रकारका सन्मुख अपमान कहकर, अब पीठसे भी करने लगे वह कहते हैं कि उनको अपनी गुदा दिखाने लगा, जिससे रामका भी मानो तिरस्कार किया क्योंकि यह सब चेष्टायें राम देख रहे थे और वे भी इस प्रकारकी अयोग्य चेष्टायें देख रही थीं, ऐसी चेष्टाओंके देखनेसे साधारण जीवको भी संकोच (लज्जा, हिचक) होता है, इसको तो यों करनेमें किसी प्रकार हिचक न आई, इसलिए इसका अपराध दिखानेकेलिये ऐसी क्रियाका वर्णन किया।।१३।।

आभासार्थ : श्रीराम विचार करनेके बिना अपने अल्प अपराधके लिए अल्प ही शिक्षा देनी चाहिए, इसलिए वानर पर पाषाण फेंकने लगे, जिसका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं :

तं ग्रावणा प्राहरत् क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः।
स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः ।।१४।।
गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन् हसन्।
निर्भिद्य कलशं धृष्टो वासांस्यास्फोटयद् बलम् ।।१५।।

श्लोकार्थ : प्रहार करनेवालोंमे उत्तम क्रुद्ध बलरामजीने उस पर पाषाणसे प्रहार किया, वह धूर्त वानर अपनेको पत्थर प्रहारसे बचाकर श्रीरामका मदिराका कलश ले गया और यों करनेसे बलरामका अपमान कर यों हंसने लगा, जैसे बलरामजीको क्रोध उत्पन्न हो, फिर उस कलशको तोड डाला और स्त्रियोंके वस्त्र फाडने लगा एवं बलदेवजी सामने मल्लोंके समान भुजाओं पर थपेड करता हुआ लडनेकेलिए उनको बुलाने लगा।।१४-१५।।

व्याख्यार्थ : वानरोंने तो रामका बहुत उपकार किया है और जातिसे दयाके पात्र हैं इसलिए उनके दोषोंकी तो उपेक्षा करनी चाहिए, वह न कर, उस पर पाषाणसे प्रहार करने लगे, इस पर कहते हैं, कि उसके इस प्रकारके अयोग्य कार्य देख क्रोधमें आ गये. छोटा होकर बड़ेका अपमान करना ही क्रोध होनेका कारण हैं, उस समय आवेश न होनेसे हल मुसलको स्मरण करनेसे प्रथम यह सर्व किया,

जिससे बिना विचारसे किये हुए कार्यका दोष नहीं, क्योंकि स्वयं बलदेव हैं, उसका माहात्म्य जानकर भी आपने उससे बलिष्ठ होनेसे ही यों किया, जैसे काकोंको भगानेकेलिये केवल पाषाण फैंकना ही अलं (काफी) है वैसे आप प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ होनेसे पाषाण प्रहार ही किया, यह इसलिए भी किया कि इससे ही थकित हो जाय तो अच्छा है विशेष दण्ड न देना पड़े. वह तो पहले भगवान्का भक्त था, इसलिए भगवत्कृपासे उसमें उत्पन्न सामर्थ्यका वर्णन करते हैं, वह उस सामर्थ्यसे उद्गत हो गया था, जिससे मरणकेलिये ही वह ऐसे दूषित कार्य करनेमें प्रवृत्त हुआ है जिससे वह ऐसा अपराध करने लगा जो असह्य हो. उससे उत्पन्न क्रोधसे मार डाले, यह कहनेकेलिये उसके ऐसे कर्तव्यका वर्णन करते हैं कि पाषाणके प्रहारसे अपनेको बचाकर श्रीबलदेवजीके मदिराका कलश लेकर उनका उपहास करने लगा क्योंकि धूर्त है, जो मदिरा पान करते हैं, वे मदिराको चुरानेवाले पर बहुत क्रोध करते हैं इस बातको वह धूर्त जानता है अपने अपकारकेलिये यों नहीं किया, किन्तु क्रोधित करनेकेलिये अर्थात् चिढ़ानेकेलिये यों किया है. बलरामजी क्रोध प्रदर्शित करें इसलिए ही हंसने लगा तो मदिरा पीनेकेलिये वह कलश लिया होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं, वह घड़ा तो फोड़ दिया जिससे मदिरा बह गई. यों करनेसे जीवन भी जायगा? इस शंकाके मिटानेकेलिये कहते हैं कि ऐसा विचार उस वानरको नहीं आया जिससे वह अन्य अपराध करने लगा. बलराम और स्त्रियोंने जल क्रीड़ाके अनन्तर पहननेकेलिये जो वस्त्र रखे थे वे उठाकर फाड़ डाले, पश्चात् मल्लोंके समान भुजाओं पर थपकी करता हुआ बलरामजीका युद्धकेलिये आह्वान करने लगा।।१४-१५।।

आभासार्थ : अल्प होकर इस प्रकार कैसे करता है? इस शंकाकी निवृत्ति बलवान् कह कर करते हैं :

कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः।
तं तस्याविनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान्।।१६।।

श्लोकार्थ : वह वानर अपनेको बलवान समझकर मदसे उद्गत हो गया, जिससे बलदेवजीका अपमान करने लगा. उसका यह अविनय (घमण्ड) देख और देशोंमें किये उपद्रवोंका भी स्मरण कर विचार किया।।१६।।

व्याख्यार्थ : यदि यह बलवान् है तो बलदेवजी भी तो बलवान हैं, अतः समान बलवालोंमें भी इस प्रकार अवहेलना नहीं की जाती है, इस पर कहते हैं कि

वह वानर मदसे उद्‌गत हो गया था जिससे अन्तःकरणमें बलदेवजीको मनमें ही तुच्छ समझ अपमान करने लगा, यों होनेके अनन्तर बलराम भगवानसे आविष्ट हो विचारपूर्वक उसके वधकेलिये प्रयत्न करने लगे, उसकी अनम्रता देखी, किन्तु यह अपराध तो द्वार मात्र है, मुख्य अपराध तो वह है, जो इसने देशोंमें उपद्रव किये थे, 'ये देश द्रोह तो पहले ही देखे थे अब तो स्मरण हो आये यों कोई कहते हैं' इस कालमें ही बलराममें भगवदावेश हुआ है, उनको तो सर्वत्र अपरोक्ष ज्ञान है ही, इसलिए 'इदानीमेव दृष्ट्‌वा' कहना उचित ही है।।१६।।

आभासार्थ : भगवान्‌के आवेश होनेके साथ ही मुसल आदि भी आ गये, इसके मारनेकी इच्छासे उनको धारण किया. आयुधकी तरह चिह्नकेलिए ये धारण नहीं किये, जिसका वर्णन 'क्रुद्‌धो मुसलमाधत्त' श्लोकमें करते हैं :

क्रुद्‌धो मुसलम् आधत्त हलं चारिजिघांसया।
द्विविदोऽपि महावीर्यः शालम् उत्पाट्य पाणिना ।।१७।।

श्लोकार्थ : क्रोधित श्रीबलरामजीने शत्रुको मारनेकी इच्छासे मुसल और हलको धारण किया, द्विविदने भी एक हस्तसे शाल वृक्षको उखाड कर यह दिखाया कि मैं भी महान् पराक्रमी हूं और लडनेकेलिए उसको ले लिया।।१७।।

व्याख्यार्थ : श्लोकमें 'अरि' शब्द देकर यह सूचित किया है कि द्विविद इस समय भक्त नहीं हैं किन्तु शत्रु है. 'च' पदसे यह बताया है कि भगवान्‌ने अपने अन्य धर्म भी प्रकट किये हैं इसलिए अलौकिक बल भी है यों समझना चाहिए. इतनेसे भी वह निवृत्त न हुआ, इस प्रकार भगवान्‌का अक्लिष्ट कर्मत्व बताते हुए कहते हैं कि 'द्विविदोऽपि' द्विविद भी बली है, उसको युद्‌ध करना है, इसलिए उसका प्रसिद्‌ध नाम कहा है. रामायण आदिमें उसके पराक्रम कहे गये हैं उनका स्मरण करानेकेलिये 'महावीर्यः' विशेषण दिया है, अर्थात् यह महान् पराक्रमी बलवान् है, युद्‌धका स्मरण ही आनेसे यों कहा है–एक हस्तसे शाल वृक्षको उखाडना बलका कार्य है, यह कहना वास्तविक है न कि प्रशंसाकेलिये है।।१७।।

अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्ध्न्यताडयत्।
तं तु संकर्षणो मूर्ध्नि पतन्तम् अचलो यथा ।।१८।।

श्लोकार्थ : उस द्विविदने शीघ्र निकट आकर वह वृक्ष बलरामजीके मस्तक पर पटका, मस्तक पर पटके हुए वृक्षको बलदेवजीने यों समझा जैसे पर्वत पर वृक्ष गिरा।।१८।।

व्याख्यार्थ : पास आकर रामके उद्यम करनेसे प्रथम ही उस शालसे बलदेवजीके मस्तक पर चोट की, शालको लकड़ीकी तरह लेकर प्रहार किया. रामका नाम बल इसलिए दिया है कि श्रोताको भय न हो, पश्चात् उसके निराकरणकेलिये कहा कि 'तं तु संकर्षण' उस प्रहारको बलदेवजीने यों समझा जैसे पर्वत पर वृक्ष गिरे तो पर्वतको किसी प्रकार भय पैदा नहीं करता है वैसे संकर्षणको भी इसके कुछ भी भय न हुआ।।१८।।

प्रतिजग्राह बलवान् सुनन्देनाहनच्च तम्।
मुसलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया।।१९।।

श्लोकार्थ : द्विविदके इस वृक्षको बलदेवजीने हाथसे पकड लिया, और अपने सुनन्द नामक मुसलसे उस पर प्रहार किया, जिससे उसके मस्तककी अस्थि भी टूट गई इसलिए रक्तकी धारासे वह सुशोभित हो गया।।१९।।

व्याख्यार्थ : उसके वृक्ष प्रायः रोवांवाले थे, उनको बलरामजीने हाथसे थाम लिया, यदि न थामते तो भूमि ताडित होती, भूमि भी ताड़ित न हो इसलिए थामना ही उचित था. पश्चात् सुनन्द मुसलसे उसको पीटा. 'च' शब्दका आशय है कि वृक्षको भी तोड़कर उस पर फेंका, उसके वृक्षकी तरह मुसल भी कार्य व्यभिचार होगा? यह शंका मिटानेकेलिये कहते हैं कि मुसलने अपना कार्य सिद्ध कर लिया जिससे वह कार्य व्यभिचारी नहीं, जैसे कि द्विविदके मस्तिष्ककी अस्थि तोड़ डाली, उससे रुधिरकी धारा भी बहने लगी, उस धारासे वह द्विविद शोभा पाने लगा, न मूर्छित् हुआ और न मरा।।१९।।

आभासार्थ : जिस प्रहारने अस्थि प्रहार कर रक्त धारा बहाई उससे शोभा कैसे? जिसके उत्तरमें 'गिरिर्यथा गैरिकया' श्लोकमें दृष्टान्त देकर समझाते हैं :

गिरिर्यथा गैरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन्।
पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पत्रम् ओजसा।।२०।।

श्लोकार्थ : जैसे पर्वत गेरुकी धारासे शोभा देता है वैसे यह भी शोभित हुआ, कपिने प्रहार पर ध्यान न देकर दूसरा शालका वृक्ष उखेड, पराक्रमसे उसके पत्ते तोड डाले।।२०।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि पर्वत और मस्तककी साम्यतासे शोभा कही जा सकती है तो भी अन्तःकरणमें दुःखके अनुभवसे म्लानता ही कहना उचित था, न कि शोभा, यदि यों कहते हो तो इसका यह उत्तर है, कि वानरने प्रहार पर कुछ भी

ध्यान न दिया जिससे उसको अन्तःकरणमें दुःखका अनुभव हुआ ही नहीं, इसलिए कहा कि 'रेजे' शोभावान् हुआ, पश्चात् फिर दूसरा वृक्ष मूलसे उखाड़कर उसके पत्तोंको तोड़कर हाथमें ले लिया, यदि पत्र न तोड़ता तो सर्व शाखाओंको हस्तमें ले नहीं सकता, वृक्षको शाखाओंसे पकड़नेका आशय यह था कि मूल भागसे प्रहार करना था, वह प्रहार भी शीघ्र किया, 'त्रिषत्या देवाः'के अनुसार, समान भी युद्ध तीन बार कहा जाता है।।२०।।

तेनाहनत् सुसंक्रुद्धः तं बलः शतधाभिनत्।
ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तं चापि शतधाभिनत्।।२१।।

श्लोकार्थ : वानरने वृक्षकी जडसे बलदेव पर प्रहार किया जिससे बलराम बहुत क्रोधित हो गये अतः उसके सैंकडों टुकडे किये, पश्चात् उस वानरने क्रोधमें आकर दूसरे पेडसे उनको मारा, बलदेवजीने उसके भी सैंकडों टुकडे बना दिये।।२१।।

व्याख्यार्थ : विशेष क्रुद्ध हुए, यह क्रोध, प्रहार तथा वीर्य दोनोंसे आविर्भूत होनेके कारणसे उसका प्रतिग्रह पौरुषकेलिये नहीं था इसलिए बलरामजीने उसके सैंकड़ों टुकड़े किये, तीसरी बार भी क्रोधसे दूसरे पेड़से मारने लगा, उसके भी सैंकड़ों खण्ड बनाये।।२१।।

आभासार्थ: इसके अनन्तर 'एवं युध्यन्' श्लोकसे अनन्त युद्ध कहते हैं:

एवं युध्यन् भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः।
आकृष्य सर्वतो वृक्षान् निर्वृक्षम् अकरोद् वनम्।।२२।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार लडते हुए भगवान् फिर फिर पेड तोड देते थे, जिससे उस वानरने चारों ओरसे वृक्षोंको उखाड सम्पूर्ण वन पेडोंसे शून्य कर दिया।।२२।।

व्याख्यार्थ : भगवानसे लड़ना था, इससे भगवानने ही क्रमसे वृक्ष तोड़ डाले, जिससे उस वानरने ईखके समान बार-बार वृक्षोंको जड़से उखाड़ दिये, सब जगह यों करनेसे वन भूमिको वृक्ष रहित कर छोड़ा, लता गुल्म आदिके विद्यमान होनेसे बन तो रहा किन्तु पेड़ एक भी नहीं रहा।।२२।।

आभासार्थ : यों उद्यमके निष्फल होने पर पाषाण वृष्टि करने लगा, जिसका वर्णन 'ततोऽमुञ्चत्' श्लोकमें करते हैं :

ततोऽमुञ्चत् शिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः।

तत् सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः ।।२३।।

श्लोकार्थः पश्चात् वह बलराम पर चट्टानोंकी वर्षा करने लगा, मुसलायुधधारी बलरामजीने उन सब चट्टानोंको खेलसे चूर्ण कर दिया।।२३।।

व्याख्यार्थ : वे फैंकी हुई सब चट्टानें चूर्ण कर दी, भगवत्प्रतिकूल उस साधनकी, साधनता ही न रही, उनको साधन हीन बनानेमें क्लेश तो हुआ होगा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'लीलया' खेलसे, अर्थात् जैसे खेल किया जाता है उसमें क्लेश नहीं होता है, वैसे ही चूर्ण करनेमें भी आपको क्लेश नहीं हुआ, तो क्या अलौकिक प्रकारसे यों किया? तो कहते हैं कि नहीं, 'मुसलायुधः' मुसल आयुध धारण किया था, जिससे यह खेल खेला है।।२३।।

आभासार्थ : अनन्तर जब सब साधन निष्फल हो गये तब भुजाओंसे युद्ध करनेकेलिए आया, जिसका वर्णन 'स बाहु' श्लोकमें करते हैं :

स बाहू तालसाङ्काशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः ।
आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत् ।।२४।।

श्लोकार्थः उस कपिराजने ताल वृक्षके समान अपने भुजाओंके हस्तोंको मुठ्ठी बांध बलदेवजी समीप आकर उनसे उनके वक्षःस्थल पर प्रहार किया।।२४।।

व्याख्यार्थ : तालके समान भुजा कहनेका आशय यह है कि उसके सदृश भूजाएं स्थूल, दीर्घ और कठोर थी, मुद्गरकी तरह मुठ्ठी बांधी, उद्यम करनेमें उसको कुछ भी भ्रम न हुआ, क्योंकि वानरोंका राजा है, मारने तक (बलदेवजी) शान्त रहे, इसलिए रोहिणी पुत्र कहा है, बान्धे हुए मुक्केसे छाती पर प्रहार किया, जिससे उनको पीडा होवे।।२४।।

आभासार्थ : बलदेवजीको धर्मका ज्ञान है, इसलिए वे जानते थे कि जिसके पास शस्त्र न हो उससे शस्त्रवालेको शस्त्रसे नहीं लडना चाहिए, वानरके पास शस्त्र नहीं था इसलिए आपने भी मुसल और हल त्याग दिए, सामर्थ्य होने पर बिना शस्त्र लडने लगे, जिसका वर्णन 'यादवेन्द्रोऽपि' श्लोकमें करते हैं :

यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसललाङ्गले ।
जत्रावभ्यर्दयत् क्रुद्धः सोऽपतद् रुधिरं वमन् ।।२५।।

श्लोकार्थ : बलरामजीने भी हल मुसल त्याग, क्रोधकर, दोनों हाथोंसे हंसलियोंको तोड डाला, जिसे वह रक्त उगलते हुए गिर पडा।।२५।।

व्याख्यार्थ : क्योंकि पहले भी वह राम भक्त था यों करना पड़ा, 'जत्रु'

कण्ठके नीचे स्थित अस्थि (हंसलीको कहते हैं) उसके टूटने पर प्राणी मरता ही है, अतः रुधिर उगलता हुआ गिर पड़ा।।२५।।

आभासार्थ : उसके पराक्रमको कहकर उसके देहका भी महत्त्व 'चकम्पे' श्लोकमें कहते हैं :

चकम्पे तेन पतता सटङ्कः सवनस्पतिः।
पर्वतः कुरुशार्दूल वायुना नौरिवाम्भसि ।।२६।।

श्लोकार्थ : हे कुरुशार्दूल ! वह गिरने लगा, तब जैसे जलमें वायुसे नाव काम्पती है, वैसे ही शिखर और वनस्पतियोंके साथ पर्वत काम्पने लगा।।२६।।

व्याख्यार्थ : वनस्पति सहित वह प्रसिद्ध पर्वत, उसका पूर्ण परिज्ञान हो, इसलिए यों कहा है, चारों तरफ काम्पने लगा. टङ्क शब्द ऊपरका भाग शिखरादि समझना, शिखरादि होने पर ही पर्वत कहा जाता है, 'स पर्वत' यह पाठ तो सरल है. 'कुरुशार्दूल' यह सम्बोधन विश्वासकेलिये दिया है, जैसे जलमें वायुसे नौका काम्पती है यह दृष्टान्त, वहां स्थिति करनेवालोंको भय उत्पादन करनेकेलिये दिया है अथवा पर्वत बहुत काम्पनें लगा इसलिए दिया है उसके गिरनेसे जब पर्वत काम्पने लगा, तब डरकर सर्व स्त्रियोंने रामका आलिङ्गन किया, यों करनेसे काम रससे मध्यमें विघ्न न पड़ा, किन्तु वह भय रसका पोषक ही हुआ यों फलितार्थ निकला।।२६।।

आभासार्थ : भक्त होनेसे तथा अल्प होनेसे कदाचित् यह कार्य अनुचित् हो, तो दिखाते हैं कि अनुचित नहीं है, क्योंकि देवताओंकी इस कार्यमें सम्मति है, वह 'जयशब्दो' श्लोकसे स्पष्ट वर्णन करते हैं :

'जय'शब्दो 'नमः'शब्दः साधु साध्विति चाम्बरे।
सुर–सिद्ध–मुनीन्द्राणाम् आसीत् कुसुमवर्षिणान् ।।२७।।

श्लोकार्थ : उस समय आकाशमें देवता, सिद्ध, और मुनि श्रेष्ठ जय शब्द, नमः शब्द और साधु साधु शब्द करने लगे और उन्होंने पुष्प बरसाये।।२७।।

व्याख्यार्थ : बलदेवजीके द्विविदको मारनेमें देव आदि सर्वकी सम्मति है जिससे उत्कृष्टोंने जय शब्दका उच्चारण किया, मध्यमोंने नमः शब्द कहा, शेष साधु साधु कहने लगे. प्रथम जो जय शब्द कहा वह आशीर्वादरूप है, अर्थात् देवता आदिने आशीर्वाद दी है, अनन्तर जो नमः शब्द कहा जिससे वानरको मारनेकेलिये बलदेवजीको प्रार्थना की है और मरनेके बाद 'साधु साधु' शब्द

बधाई एवं हर्षका द्योतक है, 'आकाश'में यदि असत्य बोलें तो पात हो जाय. देव, सिद्ध और मुनिवर तीनोंका भी वैसा ही है, तीनोंने ही कुसुम बर्साये, यह उनका कायिक[१] व्यापार था, इस तरह सब प्रकारसे देवोंने अनुमोदन किया, यह कहा है।।२७।।

१.शरीरसे यह कार्य हुआ, ऊपर जय शब्द आदि वाणीका व्यापार है.

आभासार्थ : भूमि पर स्थितिका भी अनुमोदन 'एवं निहत्य' श्लोकसे कहते हैं :

एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम्।
संस्तूयमानो भगवान् जनैः स्वपुरम् आविशत्।।२८।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार जब लोक नाश करनेवाले द्विविदको मारकर अपनी पुरीकी तरफ आते थे तब जनताने आपके यशका गान किया, उसको सुनते हुए पुरीमें प्रवेश किया।।२८।।

व्याख्यार्थ : द्विविदके मारनेका कारण दिखाते हैं कि जगतको पीड़ा करनेवाला तथा नाशकर्ता था इस कारणसे जनताने स्तुति की है, इतना ऐसा कार्य करनेमें उपपत्ति यह है कि 'भगवान्' हैं. प्रथम उसकी प्रत्यापत्ति नहीं कही है, मध्यमें भगवान्का कार्य आके पड़ा, आगे भी पड़ेगा, यह शंका कर, उसकी निवृत्तिकेलिये कहा है कि आपने अपनी पुरी द्वारकामें प्रवेश किया।।२८।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण, अध्याय ६४ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ६५

कौरव्य पर बलरामजीका कोप और साम्बका विवाह

अत्यलौकिकम् आश्चर्य–चरित्रम् अधुनोच्यते।
एकोनविंशे रामस्य सर्वलोकातिशायिनः ।।का.१।।

कारिकार्थ : अब इस उन्नीसवें अध्यायमें सर्व लोकातीत श्रीरामका अति अलौकिक और आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला चरित्र कहा जाता है।।१।।

एवं रामस्य कृष्णस्य त्रितयं त्रितयं द्वयोः।
चरित्रम् ईरितं च स्यात् षड्गुणानां विभागकृत् ।।का.२।।

कारिकार्थ : इस प्रकार राम और कृष्ण दोनोंके षड्गुणोंके विभाग करनेवाले तीन–तीन प्रकारके चरित्र कहे हुए हैं।।२।।

धर्मः सिद्धो भगवति कामः सिद्धस्तथापरे।
अद्वितीयहरित्वं तु कृष्णे सिद्धं फलत्वतः ।।का.३।।

कारिकार्थ : भगवान्में(बलराममें) धर्म सिद्ध है, वैसे अन्यमें(श्रीकृष्णमें) काम सिद्ध है, फलत्वसे अद्वितीय हरित्व तो कृष्णमें सिद्ध है।।३।।

जगद्दोषनिवृत्तिस्तु रामे सिद्धा हि साधने।
अलौकिकं साधनस्थं रामे कृष्णे फलं तथा ।।का.४।।

कारिकार्थ : साधन द्वारा जगतके दोषकी निवृत्ति राममें ही सिद्ध है, जैसे साधनमें स्थित अलौकिकत्व राममें है, वैसे कृष्णमें अलौकिक फल स्थित है।।४।।

अत्रावान्तरभेदानां धर्मिणः पृथग् ईरिताः।
विभागज्ञापनार्थाय यथैवं विनिरूप्यते ।।का.५।।

कारिकार्थ : यहां अवान्तर भेदोंके विभागोंको समझानेकेलिए जैसे धर्मी पृथक् कहे हैं, वैसा विशेष प्रकार निरूपण किया जाता है।।५।।

यमुनायां पर्वते च कृतं पूर्वं निरूपितम्।
गङ्गायामपि यत् कार्यं तद् अत्र स्फुटम् उच्यते ।।का.६।।

कारिकार्थ : यमुनाजी और पर्वत पर जो किया, वह पहले निरूपण किया है, गंगा पर जो कार्य किया है, वह अब स्पष्ट कहा जाता है।।६।।

लक्ष्मणोद्वहने बद्धः साम्बो रामेण मोचितः।
निगृहीता विपक्षाश्च तद् अत्र विनिरूप्यते ।।का.७।।

कारिकार्थ : लक्ष्मणाको ले आने पर साम्बका जो बंधन हुआ, उससे उसको रामने छुडाया और शत्रुओंको पकडा, वह चरित्र यहां वर्णन किया जाता है।।७।।

कारिकार्थ समाप्त.

आभासार्थ : पूर्व अध्यायमें दुष्टोंका निवारण किया, ऐसे चरित्रको कहा, अब शिष्टोंको शिक्षा दी है वह चरित्र कहते हैं. उस प्रसंगमें साम्बने जो लक्ष्मणाका हरण किया जिसका निरूपण 'दुर्योधनां सुतां' श्लोकमें करते हैं :

श्रीशुक उवाच
दुर्योधनसुतां राजन्! लक्ष्मणं समितिंजयः।
स्वयंवरस्थाम् अहरत् साम्बो जाम्बवतीसुतः ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन्! युद्धमें विजय पानेवाले जाम्बवतीके पुत्र साम्बने स्वयंवरमें स्थित दुर्योधनकी कन्या लक्ष्मणाका हरण किया।।१।।

व्याख्यार्थ : राजन्! इस सम्बोधनसे यह सूचित किया कि राजकन्याका स्वयंवर ही धर्म है, अतः उत्तम लक्षणोंसे युक्त होनेसे लक्ष्मणा नामवाली दुर्योधनकी कन्या भी स्वयंवर स्थान पर आकर मौन होके स्थित थी, सब स्थानों पर जो भगवदीय क्षत्रिय है वे स्वयंवरमें जाते हैं, वहां जाकर चाहनेवाली अथवा न चाहनेवालीको, अथवा बल और अबलका विचार किये बिना उसका हरण करते हैं, वैसे इस साम्बने भी बिना विचारके ही स्वयंवर स्थानमें जो लक्ष्मणा चुप खड़ी थी उसका हरण किया. इस धृष्टताका कारण यह है कि सेनाको जीतनेवाला है. किन्तु विचार क्यों नहीं किया? इस पर कहते हैं कि जाम्बवती ऋक्षकी पुत्री थी जिसका यह पुत्र है ऋच्छ जाति अविचारी होती है।।१।।

आभासार्थ : साम्बने लक्ष्मणाका हरण किया, इस निमित्तसे कौरवोंने भगवन्मार्ग उल्लंघनरूप अपराध किया है, जिसका निरूपण 'कौरवाः कुपिता'से तीन श्लोकोंमें करते हैं :

कौरवाः कुपिता ऊचुः दुर्विनीतोऽयम् अर्भकः।
कदर्थीकृत्य नः कन्याम् अकामाम् अहरद् बलात् ।।२।।

श्लोकार्थ : कौरव कुपित होकर कहने लगे कि यह बालक बहुत अविनीत है, हमको ध्यानमें भी न लाकर बलपूर्वक उस कन्याका हरण कर गया है, जो इसको नहीं चाहती है।।२।।

व्याख्यार्थ : पाण्डव भी कौरव हैं किन्तु वे वहां नहीं थे, यद्यपि भीष्म आदि भगवद्भक्त हैं, तो भी मर्यादामें स्थित हैं, इसलिए बिना शास्त्र मर्यादाके भगवदीयोंको भी नहीं मानते हैं. स्वीकार करनेके बाद ही कन्या उसकी होती है, इस कारण बलात् हरण देखकर वे भी क्रोधमें आ गये. कौरव महान् पुरुष हैं, कुल तथा कर्म दोनोंसे श्रेष्ठ हैं, अपनी ही भाषामें बोलने लगे, कि यह बालक अविनीत है. महान् बालकमें विनय चाहिए, वह नम्रता इसमें नहीं है, इसलिए इसको बान्धनेमें दोष नहीं है, अथवा कोई इसको दुर्विनीत कहने लगे तो कोई कहने लगे कि यह बालक है. यों कहनेसे, यह सूचित किया, कि बालक होनेसे, इसने लक्ष्मणाका हरण किया है, इसलिए वह दूषित नहीं हुई, क्योंकि बालकके स्पर्शसे दूषण नहीं लगता है, इसमें कौनसा दोष है. क्यों लौटाया जाता है? यदि यों कहते हो, तो इस पर दूसरे कहते हैं, कि वह बालकके स्पर्शसे दूषित न भी है किन्तु हमारा तिरस्कार कर अर्थात् क्षत्रियोंका मानभंग कर हम कुलीनोंकी कन्या एक अकुलीन ऋच्छकी कन्याका पुत्र ले जा रहा है, यह बड़ा दोष इसने किया है, और फिर वह कन्या जिसकी इच्छा भी नहीं, वरण तो दूरकी बात है. कन्या तो देनेके ही योग्य है कोई तो ले जायगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'बलात्' (जबरदस्तीसे) ले जाना बलिष्ठ होकर क्षत्रियाभासोंसे ही बलसे कन्या हरण कर सकते हैं, यह अकुलीन होनेसे सर्वथा दोष-पात्र है अतः इसको बान्धना चाहिए जिसका स्पष्ट वर्णन निम्न श्लोकमें करते है.

आभासार्थ : तो इस प्रकार होने पर क्या करना चाहिए ? जिसका उत्तर 'बध्नीतेमं' श्लोकमें कहते हैं :

बध्नीतेमं दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः।
येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीम् ।।३।।

श्लोकार्थ : इस दुर्विनीतको बांधो, वे यादव क्या करेंगे, जो यादव कृपा कर दी हुई हम लोगोंकी पृथ्वीसे अपना पोषण करते हैं ? ।।३।।

व्याख्यार्थ : इसके बान्धनेका कारण ही दुर्विनीतपन है, यदि कहो कि यों करनेसे यादव क्रोध करेंगे? इसका उत्तर देते हैं कि यादव हमारा क्या करेंगे?

क्यों न करेंगे, जिसका उत्तर देते हैं कि, यादव हम लोगोंकी कृपासे जीवन धारण कर रहे हैं अतः हम पर क्रोध नहीं करेंगे, स्वयं आकर युद्ध आदि करनेकी सम्भावना ही नहीं है, कारण कि, हम लोगोंकी कृपासे प्राप्त भूमि द्वारा ही पोषित हो रहे हैं, सेवा करने पर भी, जीवन पर्यन्त आजीविका कृषि आदि द्वारा प्राप्त की जाती है, अतः जो वैसी यह भूमि यादवोंकी अपनी नहीं होती हैं इसलिए वह पराई है यों समझना चाहिए. यदि (कोई) दुर्बल हो जावे तो भी वह भूमि न्यायसे प्राप्त होनेसे सेवाके कारण उससे छीनते नहीं, किन्तु वह यदि पक्षपात करे तो उसकी भूमि छीनी जाती है. इसी प्रकार यादवोंकी यह भूमि हमारे प्रसादसे ही उनके पास अब तक रही है, और विशेष यह है कि मण्डलेश्वर जब सिंहासन पर अभिविक्त होता है अर्थात् सिंहासनारुढ हो राज्य तिलक कराके राज्यकी कार्यवाही हस्तमें लेता है तब माण्डलिक भूपोंको पोषणार्थ भूमि प्रदान करता है अतः पुरुवंशमें उत्पन्न होनेसे हम राजा हैं इसलिए सामान्य वा विशेष प्रकारसे हमारी दी हुई भूमि पर ही अपना पोषण कर रहे हैं।।३।।

आभासार्थ : यदि कहो कि पुत्रके पकडे जाने पर भूमिकी अपेक्षा छोड देंगे और लडनेकेलिए आऐंगे, इसका 'निगृहीत' श्लोकमें उत्तर देते हैं :

निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः।
भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राणा इव सुसंयताः ।।४।।

श्लोकार्थ : यदि पुत्रको कैद किया है, यह सुनकर यादव आवेंगे तो अपना गर्व नष्ट कराके वैसे शांत हो जायेंगे, जैसे योगीके संयत प्राण शांत हो जाते है।।४।।

व्याख्यार्थ : आचार्य श्री 'भग्नदर्पाः' पदके दो अर्थ करते हैं-एक जिन्होंने शत्रुका दर्प तोड़ दिया है. इस अर्थके करनेसे उनकी स्तुति होती है. दूसरा-जिनका दर्प शत्रुओंने तोड़ा है वैसे वे हैं, इस अर्थसे उनकी निन्दा होती है. यदि पदका भावार्थ प्रकट करते हैं कि क्या हम पर वे ऐसा विश्वास न करेंगे कि पुत्रको वे कैदसे निकालकर यहां भेज देंगे क्योंकि जैसे कृपा कर भूमि दी है, वैसे पुत्र भी दे देंगे. ऐसा विश्वास न कर अपनेको बलिष्ठ समझकर युद्धकेलिये आ जायेंगे तो भी यहां इस विषय दुर्गमें उनके पूर्व-सिद्ध गर्वकी उपेक्षा की जायेगी. इस प्रकार वे शान्त ही हो जावेंगे. वे निश्चय पूर्वक हमारे भरोसे पर ही जीवन धारण कर रहे हैं उनका निराकरण नहीं करना चाहिए, किन्तु बहुत समय यहां रोक

रखनेसे जैसे इन्द्रियोंके दमनसे योगीसे प्राण संयत शान्त हो, स्थान पर स्थित हो जाते हैं, वैसे ही ये भी शान्त हो जावेंगे, तब प्रार्थना करने पर घर जावेंगे, अथवा हमारे अधीन होके रहेंगे इस प्रकार अपनेको योगीकी तरह मानते हैं।।४।।

आभासार्थ : यदि भीष्म आदिके भी ऐसे वचन हों तो उनको युक्त अर्थवाला समझना चाहिए, इसलिए कहनेवालोंके नाम 'इति कर्ण' श्लोकमें गिनते हैं :

इति कर्णः शलो भूरिः यज्ञकेतुः सुयोधनः।
साम्बमारेभिरे बद्धुं कुरुवृद्धानुमोदिताः ।।५।।

श्लोकार्थ : कुरु वृद्धोंसे अनुमोदित कर्ण, शल्य, भूरि, यज्ञकेतु, सुयोधन ये सब साम्बको बांधने लगे।।५।।

व्याख्यार्थ : 'इति' शब्द, साम्बको जिस प्रकार बान्धा गया वह बताता है. इस प्रकारके अन्य वाक्य भी है यहां इस प्रकार कहनेवाले भारतमें जो चारों दुष्ट थे वे हैं १.कर्ण, २.शल्य, ३.भूरिश्रवाका भ्राता भूरि, उनमें प्रधान यज्ञकेतु है ४.सुयोधन. जो तीन मध्यमें नाम कहे हैं वे दोषरूप हैं, आदि और अन्तवाले इनमें प्रधान हैं यहां दुःशासनका भी अनुसन्धान करना चाहिए, क्योंकि आगे 'षड्रथान्' यह वचन कहा है. साम्बको चारों तरफसे घेरकर उसको पकड़के बान्धना चाहिए, यह कार्य तो कुल पर कलंक जैसा है, क्योंकि साम्ब तो अब जामाता है, जामाता तो आदरणीय है जिसके बान्धनेसे कुल, कलंकित होगा. इस पर कहते हैं कि कुरुवंशके वृद्धोंसे यह कार्य अनुमोदित है, इस कारणसे कलंकका विचार न कर उसको बान्धने लगे, इससे दशममें इस कथा कहनेका प्रयोजन बताया है, क्योंकि ये भक्त भी बहिर्मुख हो गये हैं, अतः सात्त्विक भी निरोधके योग्य है यों. यदि यों न होवे, तो निरोध उचित न होवे।।५।।

आभासार्थ : इससे साम्ब तीन काम कर सकता है : १.कन्याको लेकर भाग जावे २.उसको दूर कर सन्मुख आकर युद्ध करे ३.दीनता प्रदर्शित करे. इनमें से भागना और दीनता दिखाना योग्य न समझकर, उन दोनोंमेंसे एक भी नहीं किया किन्तु युद्धकेलिए उद्यत हुआ, जिसका वर्णन 'दृष्ट्वानुधावतः' श्लोकमें करते हैं:

दृष्ट्वानुधावतः साम्बो धार्तराष्ट्रान् महारथः।
प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः ।।६।।

श्लोकार्थ : महारथी साम्ब धृतराष्ट्रके पुत्रोंको अपने पीछे दौडते हुए

आते देख, सुंदर धनुष लेकर जैसे सिंह खडा रहता है, वैसे अकेला खडा हो गया।।६।।

व्याख्यार्थ : साम्बने देखा कि मुझे पकड़नेकेलिये मेरे पीछे छः रथ दौड़ते आ रहे हैं, वे रथी भी धृतराष्ट्रके पुत्र ही हैं. स्वयं तो महारथी है, पिता वा माताके आगे भी नहीं बन्धा है, इसलिए अब युद्ध करता है. सुन्दर अपना अभिलषित धनुष लेकर अपने अन्तरंग सेवकोंके भाग जाने पर अकेला ही युद्धकेलिये खड़ा हो गया. मनमें किसी प्रकारकी शंका वा भय उत्पन्न न हुआ, अतः सिंहकी तरह खड़ा हुआ, जिसका आशय है, कि इसको किसीकी सहायताकी भी अपेक्षा नहीं।।६।।

ते तं जिघृक्षवः क्रुद्धाः तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः।
आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः समाकिरन्।।७।।

श्लोकार्थः कर्ण है नेता जिनका, ऐसे क्रोधित, उसको पकडनेकी इच्छावाले वे धनुषधारी, ठहर ! ठहर ! कहते हुए निकट आकर, उस पर बाणोंकी वर्षा करने लगे।।७।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् इन्होंने इसको मारनेकेलिये दूरसे ही बाणोंका प्रयोग नहीं किया, क्योंकि इनकी इच्छा थी, कि हम अपनी वीरता प्रकट कर दिखावें कि हमने इसको पकड़ लिया है, अतः समीप आकर कर्ण जिनमें अग्रणी है ऐसे धनुर्विद्यामें निपुण कौरवोंने बाणोंकी वर्षा की।।७।।

आभासार्थ : बाण वर्षासे डर कर इसने दीनता प्रकट की होगी? इस शंकाका 'सोऽपि विद्धः' श्लोकसे निराकरण करते हैं :

सोऽपि विद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः।
नामृष्यत् तदचिन्त्यार्भः सिंहः क्षुद्रमृगैरिव।।८।।

श्लोकार्थ : हे कुरुश्रेष्ठ ! कौरवोंके बाणोंसे बींधा हुआ भगवान्का बालक यदुनन्दन साम्ब इनके इस कार्यको सहन न कर सका, जैसे क्षुद्र मृगोंके प्रहारको सिंह सहन नहीं कर सकता है।।८।।

व्याख्यार्थ : इनके बाण इसके चारों तरफ आके गिरे यों नहीं, किन्तु उन बाणोंसे यह और इसके घोड़े तथा सारथी भी विद्ध गये. वे बाण फेंकनेमें निपुण थे इसलिए कन्याका कुछ न हुआ. अपने वंशकी हीनता सुनकर, सुननेसे विरक्त होगा? इसलिए उसका निराकरण करनेकेलिये 'कुरुश्रेष्ठ' सम्बोधन दिया है, वे

तो केवल कौरव हैं श्रोता तो कुरुश्रेष्ठ हैं. साम्बको यदुनन्दन कहकर बताया है, कि यह आगे चलकर वीरता दिखायेगा, इसलिए उनके बींधनेको सहन न कर सका. क्योंकि, अचिन्त्य भगवान्का बालक है, जिसका पिता अन्योंसे भी अचिन्त्य है वह स्वयं कैसे चिन्ता करे? मूर्खता एवं ज्ञान दोनोंसे भी चिन्ताका अभाव होता है, इन दोनों पक्षोंके निराकरणकेलिये दृष्टान्त देते हैं कि 'सिंहः क्षुद्र मृगैरिवं' जैसे शृगाल आदिकी पीडाको सिंह ध्यानमें न लाके निश्चिन्त रहता है, वैसे ही साम्ब भी इनको क्षुद्र समझ निश्चिन्त था।।८।।

आभासार्थ : अनन्तर 'विस्फूर्ज्य' श्लोकसे उसका उद्यम कहते हैं :

विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान् विव्याध सायकैः।
कर्णादीन् षड्रथान् वीरः तावद्भिर्युगपत् पृथक् ।।९।।

श्लोकार्थ : इस वीरने अपने सुंदर धनुषका टंकार कर, कर्ण आदि छः रथियोंको साथमें और पृथक् पृथक् इतने ही बाणोंसे वींधा।।९।।

व्याख्यार्थ : क्षत्रिय जातिमें वरकी उत्तमता शूरवीरता दिखानेसे मानी जाती है, अतः मानों परीक्षा देता हुआ साम्ब अपनी लघु हस्तता[१] दिखाने लगा, कर्ण आदि सबको छ-छ बाणोंसे एक-एकको साथमें बीन्धा।।९।।

१.हलके हाथ, अर्थात् बाणोंको जल्दी-जल्दी चलाना.

आभासार्थ : 'चतुर्भिश्चतुरो वाहान्' श्लोकसे षड् बाणोंका उपयोग कहते हैं :

चतुर्भिश्चतुरो वाहान् एकैकेन च सारथीन्।
रथिनश्च महेष्वासान् तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन् ।।१०।।

श्लोकार्थ : चार-चार बाण चार घोडोंके लगाए एक-एक सारथीके और एक-एक बडे धनुषधारी रथियोंको लगाए, साम्बके इस कार्यकी वे भी प्रशंसा करने लगे।।१०।।

व्याख्यार्थ : यह भी कुशलता है, जैसे आये हुए सब बीन्धे गये, यदि यह प्रवीणता न दिखाता तो वे इसको इस प्रकार स्मरण न करते अर्थात् प्रशंसा नहीं करते, एक-एकसे ही सर्व सारथियोंको एक-एकसे ही सर्व कर्ण आदि रथियोंको बीन्ध दिया. वे भी महान् धनुषधारी थे, रिक्त हस्त नहीं थे, वे असावधान होंगे? इसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं, पूर्ण सावधान थे, जिससे महारथी कर्ण आदिने भी साम्बके इस कर्मकी साधु! साधु! (वाह वाह) कहकर प्रशंसा की, यह कार्य ही

साम्बके बान्धे जानेमें कारण बना. जब उन्होंने प्रशंसा की, तब वे उसका प्रतीकार कैसे करेंगे, यदि प्रशंसा न करते तो ब्रह्मास्त्र आदिसे युद्ध करते, वह न कर इसकी शूरवीरतासे प्रसन्न हो केवल (इसे) बांध लिया।।१०।।

आभासार्थ : इस प्रकार इसकी स्तुति जो की वह कपट कर इसे बांधनेके लिए की थी, अनन्तर युद्ध करने लगे जिसका वर्णन 'तं तु ते' श्लोकमें करते हैं :

तं तु ते विरथं चक्रुः चत्वारश्चतुरो हयान्।
एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदान्यः शरासनम् ।।११।।

श्लोकार्थ : अनन्तर उन्होंने मिलकर उसको विरथ किया, चार जनोंने चार घोडे मारे, एकने सारथीको मारा और एकने धनुषको तोडा।।११।।

व्याख्यार्थ : श्लोकमें 'तु' शब्दसे यह सूचित किया है कि कौरवोंने यह युद्धधर्म युद्ध नहीं किया है. एक-एक अश्वका वध कर, चार महारथियोंने मिलकर बहुत बाण आदिसे उस अकेलेको विरथी बनाया, पांचवेने सारथीका वध किया, छठेने धनुष तोड़ डाला, एक-एकके आयुधोंकी और प्रयोगोंकी कोई संख्या न थी।।११।।

आभासार्थ : पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'तं बद्ध्वा' श्लोकमें कहते हैं :

तं बद्ध्वा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि।
स्वकुमारं स्वकन्यां च स्वपुरं जयिनोऽविशन् ।।१२।।

श्लोकार्थ : कौरव, संग्राममें बडे कष्टसे उसको विरथ[ं] कर बांध और जीत कर अपनी कन्या सहित कुमारको लेकर अपने नगरमें प्रविष्ट हुए।।१२।।

व्याख्यार्थ : बड़े कष्टसे प्रथम उसको विरथ किया, पश्चात् लौकिक प्रकारसे उसको बान्धा क्योंकि कौरव हैं. कुरुने बहुत धर्म किया है, उसके वशीकृतोंको भी मनोरथ सिद्धि हुई कारण कि युद्धमें जय प्राप्त की है, बान्धनेमें भी इनको लज्जा न हुई, युद्धमें कौन जीतेगा और कौन हारेगा इसका कोई नियम नहीं है, और विशेषमें 'स्वकुमारं स्वकन्यां च' सुतराम् ही बन्धनमें निन्दा नहीं है, दुर्योधन बलका जामाता है, यह लक्ष्मणा उसकी कन्या है अतः दोनोंमें स्वकीयपन ही है यदि 'कुमारं स्वस्य कन्या' पाठ हो तो अर्थ इस प्रकार करना चाहिए कि अपनी कन्या सहित कुमारको बान्धा, अभी तक विवाह नहीं हुआ है इसलिए साम्ब कुमार है, जिससे जामाता नहीं अतः बान्धा. यदि अपने पुरमें नहीं ले जावे और मध्यमें किसी स्थान पर रखें, तो वहांसे कोई ले जावे वा भाग कर चला

जायेगा इसलिए अपने पुर ले गये, नगरमें प्रवेशसे उनको सन्तोष हुआ कारण कि युद्धमें जय प्राप्त कर आये थे।।१२।।

१. रथ छीन लिया अथवा उससे नीचे उतार फिर बांधा.

आभासार्थ: निश्चयसे नारदजी निरोधके कारण हैं, इसलिए सात्त्विकों की अपने (भगवान्)में आसक्तिकी सिद्धि करानेकेलिए, नारदजीने आकर 'तच्छ्रुत्वा' श्लोकसे वृत्तान्त कहा :

तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्तं राजन् सञ्जातमन्यवः।
कुरून् प्रत्युद्यमं चक्रुः उग्रसेनप्रचोदिताः ।।१३।।

श्लोकार्थ : हे राजन् ! नारदसे वह समाचार सुनकर यादव क्रोधित हुए तथा उग्रसेनकी आज्ञासे कौरवों पर चढाईका उद्यम किया।।१३।।

व्याख्यार्थ : भगवान् तो अक्लिष्ट कर्मा हैं, पुत्रकी सहायता नहीं करेंगे, इसलिए उग्रसेनने ही कौरवों पर आक्रमणकी आज्ञा दी, राजन्! सम्बोधनसे यह दिखाया है कि ऐसे कार्यसे क्षत्रियोंको क्रोध आता ही है अतः यादवोंको भी क्रोध आया, उषाके हरणमें विपक्षका दोष था, यहां तो विपक्षका दोष नहीं हैं अपना दोष है, इसलिए भगवानने मौन धारण कर ली।।१३।।

आभासार्थ : तब साधन शक्ति मुख्य है इसलिए 'बल' यों सान्त्वना देने लगे, यहांका कार्य भगवान्का ही है, कारण कि कुरुका मूल भगवान् है, यदुवंशकी तरह कुरु वंशमें भी देवताओंने अवतार लिया है, देवोंका परस्पर युद्ध धर्म नाशक और पाप पोषक होगा. नाप्त्रीके उपाख्यानमें शपथ ली है कि जो पहले द्रोह करेगा वह नाष्ट हो जायगा, इसलिए कलह बहुत दोषोंवाली होनेसे दुष्टा है इसलिए कलह नहीं करनी चाहिए, जिसको मिटानेकेलिए राम प्रवृत्त हुए, यह 'सान्त्वयित्वा' श्लोकमें कहते हैं :

सान्त्वयित्वा तु तान् रामः सन्नद्धान् वृष्णिपुङ्गवान् ।
नैच्छत् कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः ।।१४।।

श्लोकार्थ : कमर कसे हुए यदुपुंगवोंको देख बलदेवजीने उनको शांत किया, क्योंकि कलियुगके मलको हरनेवाले बलरामजीने चाहा कि यादव और कौरवोंके मध्यमें लडाई न होवे तो अच्छा है।।१४।।

व्याख्यार्थ : 'वृष्णि पुङ्गव' यादवोंमें श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ जो यादव शब्द कहनेसे इनकी महत्ता प्रकट की है. शान्त करनेमें हेतु यह था, कि वे लड़नेकेलिये

तैयार हो गये थे, वे शान्त तब होवे जब यह कार्य बलरामजी स्वयं करें, यह जताया है, काम यह था कि साम्बको स्त्री सहित सकुशल ले आना, वह कार्य यदि प्रेमसे हो जाय तो यादव और कौरवोंका परस्पर कलह व्यर्थ है. इसलिए राम कलह न चाहकर प्रेमसे कार्य पूर्ण करना चाहते थे, क्योंकि दोनोंमें देव भाव था, और श्रीबलरामजी कलिके मलका नाश करनेवाले ठहरे. देवताओंका परस्पर युद्ध हो तो सतोगुण तिरोहित हो जायगा, उसके तिरोहित हो जाने पर तमोगुणका नाश कौन करेगा? यदि सतोगुण तिरोहित हो जायेगा तो तमसे किसीका विरोध नहीं रहेगा जिससे तम और उसके कार्योंका नाश ही नहीं होगा, यदि सतोगुण होगा तो तमका नाश होनेसे उसकी तथा उसके कार्योंकी स्थिति ही नहीं रहेगी. यदि देवताओंका परस्पर युद्ध हुआ तो सतोगुणका तिरोभाव हो जानेसे तमकी और उसके कार्योकी स्थिति रहेगी तो कलियुगमें उत्पन्न जीवोंका उद्धार नहीं है, यों जन्मके कारणका निर्धार व्यर्थ हो जायेगा. 'तु' शब्दसे बताते हैं, कि राम कौरवोंका पक्षपात करनेकेलिये नहीं पधार रहे हैं, 'तान्' शब्दसे यह सूचित किया है, वे यादव, प्रसिद्ध हैं अतः हीन भावका भी आश्रय नहीं करना है, अर्थात् यादवोंकी दीनता भी प्रकट नहीं करनी है. यों कहनेसे यह सूचित किया है कि यदि कौरव सीधे मार्गसे नहीं समझेंगे तो वक्र[१] मार्गसे भी उनका यह कार्य करना ही पड़ेगा. कोई कहते हैं, कि ज्ञान शक्ति पूर्ण नहीं है, ये दुष्ट कौरव भूमि पर भाररूप हैं ही वे आगे चलकर मारने ही हैं, इसलिए युद्धको क्यों रोका? इस शंकाका समाधान करनेकेलिये तीन कारण देते हैं, यहां अब ज्ञान शक्ति पूर्ण नहीं हैं, यों कोई कहते हैं. दूसरे फिर कहते हैं कि अब भगवान् लोकानुकूल कार्य करना चाहते हैं. आचार्यश्री कहते हैं कि वास्तविक सिद्धान्त यह है कि साधन शक्ति नीतिमार्गके पीछे चलती है, और फल शक्ति पुष्टिमार्ग(अनुग्रह मार्ग)के पीछे चलती है।।१४।।

१.कौरव सम रीतिसे लक्ष्मणा सहित साम्बको सादर न देंगे तो युद्धसे भी ले आऊंगा.

आभासार्थ : शांतिकी सिद्धिकेलिए रामके पधारनेका प्रकार जगाम श्लोक में कहते हैं :

जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्चसा।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ।।१५।।

श्लोकार्थ : सूर्यके समान तेजस्वी रथमें विराजकर, ब्राह्मणों और कुल

वृद्धोंको साथमें लेकर, जैसे ग्रहोंके साथ चन्द्रमा शोभायमान होता है, वैसे ही शोभा पाते हुए बलदेवजी हास्तिनपुर पधारे।।१५।।

व्याख्यार्थ : हस्तिनापुर न कहकर हास्तिनपुर कहा है जिसका आशय यह है कि इनका सहभाव नहीं है, अतः जहां सहभाव नहीं हो वहां ऋजुभावसे जाना नीतिके विरुद्ध है. जिस रथमें बिराजकर पधारे, वह रथ सूर्यके सदृश चमक रहा था, जिससे उनको अपने आनेका वा स्वरूपका ज्ञान कराया है. बलरामजीने कार्यकी सिद्धि नीति मार्गसे हो, इसलिए ब्राह्मणोंको और कुल वृद्धोंको अपने साथमें लिया था. 'च' शब्द देनेका भाव है कि इनके सिवाय अन्य विद्वानोंको भी साथमें ले चले थे, यदि किसीको शंका हो कि बलराम, कुरुओंको विशेष ताप देनेकेलिये पधार रहे हैं, क्योंकि साम्बको बन्धनसे छोड़ना उनको अभीष्ट नहीं, इसलिए यह बात सुन वे विशेष क्रोधित होंगे, इस शंकाका परिहार करते हैं, कि नहीं, ये तो उनके तापको मिटाकर शान्ति करानेकेलिये पधार रहे हैं इसलिए इसी प्रकार दृष्टान्त चन्द्रमाका दिया है कि जैसे चन्द्रमा बृहस्पति आदि ग्रहों सहित ताप मिटानेकेलिये प्रकट होता है, वैसे ही राम भी ताप शान्त करानेकेलिये जा रहे हैं।।१५।।

आभासार्थ : यह शांति नितिवाली है, यह जतानेकेलिए लोक दृष्टिसे भी शत्रुओंके नगरमें प्रवेश नहीं करना चाहिए, इसलिए आपने बाहर ही ठहर कर अपने आनेकी सूचना दी यह 'गत्वा' श्लोकमें बताते हैं :

गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनम् आस्थितः।
उद्धवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रबुभुत्सया ।।१६।।

श्लोकार्थ : बलरामजी हस्तिनापुर पहुँच कर नगरके बाहर उपवनमें ठहरे और धृतराष्ट्रको मेरे आनेका ज्ञान होवे, इस इच्छासे उद्धवको उसके पास भेजा ।।१६।।

व्याख्यार्थ : यह शक्ति, नीति परायण है इसलिए ही 'राम' कहा है, बाहर उपवनमें ठहरे यों कहनेसे यह जताया है, कि नगरकी सीमामें प्रवेश किया है. वहां उपवनमें रथ आदि सब खड़े किये हैं, रथोंसे घोड़े छोड़ दिये हैं, धृतराष्ट्र, गन्धर्व देवांश होते हुए भी दैत्यावेश सहित देवांश है, धृतराष्ट्रको मेरे आनेका पूर्ण ज्ञान होवे इसलिए रामने नीतिज्ञ उद्धवजीको धृतराष्ट्रके पास भेजा।।१६।।

आभासार्थ : 'सोऽभिवन्द्य' श्लोकमें कहते हैं कि उद्धवजीने जाकर

यथोचित अभिवादन किया :

सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणं च बाह्लिकम्।
दुर्योधनं च विधिवद् रामम् आगतम् अब्रवीत्।।१७।।

श्लोकार्थ : धृतराष्ट्र, बाह्लिक, भीष्म, द्रोण और दुर्योधन और अन्य कृपाचार्य आदि ब्राह्मणोंको विधिके अनुसार अभिवादन कर अनन्तर बलरामजीके आनेका समाचार सुनाया।।१७।।

व्याख्यार्थ : धृतराष्ट्र, अम्बिकाका पुत्र है, बाह्लिक शन्तनुका भ्राता है, 'च' शब्दसे कृपाचार्य आदि ब्राह्मणोंको और वरके श्वशुर दुर्योधनको तथा अन्य 'च' शब्दसे जो पक्षपाती थे उन सबको प्रणाम किया. इस प्रकार दोनों प्रकारके जो वहां सभामें स्थित थे उनको नमन किया और श्रीरामके आनेका ज्ञान कराया. विधिवत् कहनेका आशय यह है कि अन्तमें समानताकेलिये इस प्रकार प्रणाम किया. आपका पधारना कैसे हुआ? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीबलरामजीके आनेके समाचार सुनाये।।१७।।

तेऽतिप्रीतास्तम् आकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम्।
तम् अर्चयित्वाभिययुः सर्वे मङ्गलपाणयः।।१८।।

श्लोकार्थ : अपने अत्यन्त सुहृत रामका पधारना सुनकर वे सर्व बहुत प्रसन्न हुए, उद्धवका पूजन कर पश्चात् सर्व मंगल पदार्थ हस्तोंमे लेकर रामसे मिलनेकेलिए उनके पास सामने गए।।१८।।

व्याख्यार्थ : वे उस वार्ताको सुनकर ही प्रसन्न हुए, वे एक विशेष सुहृद् है, दुर्योधन का श्वशुर हैं और बड़े हैं, यों है किन्तु यादवोंके पक्षपाती होनेसे अन्य प्रकारके हो जायेंगे, उस उद्धवका पूजन कर शास्त्रानुसार मङ्गल-द्रव्य हस्तोंमें लेकर श्रीरामसे मिलनेकेलिये सामने गये।।१८।।

आभासार्थ : 'तं संगम्य' श्लोकसे कहते हैं कि मिलने पर भी सौहर्दकी दृढता हुई :

तं संगम्य यथान्यायं गामर्घ्यं च न्यवेदयन्।
तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुः शिरसा बलम्।।१९।।

श्लोकार्थ : उनसे यथा योग्य मिलकर गौ अर्पण की और अर्घ आदि दिए. उनमें जो उनके प्रभावको जानते थे, उन्होंने बलरामजीको मस्तक नमा कर प्रणाम किया।।१९।।

व्याख्यार्थ : प्रणाम करनेके अनेक भेद हैं जैसे कि छोटे, मोटे और समानोंका प्रकार पृथक्-पृथक् है, अतः कहा हैं कि 'यथा न्याय' न्यायके अनुसार प्रणाम किया, जैसे अतिथिकी मधुपर्क आदिसे पूजा की जाती है, वैसे मधुपर्क आदिसे पूजन किया इस प्रकारको प्रकट करनेकेलिये कहा है कि 'गामर्घ्यञ्च' गौ दी और अर्घ्य(मधुपर्क आदि) दिया. उन पूजा करनेवालोंमें जो बलरामजीके प्रभावको जानते थे वे माहात्म्यज्ञानवाले बडे थे, तो भी लौकिकी (यह यादव है) इस दृष्टिका त्याग कर मस्तकसे बलरामजी को प्रणाम किया. इससे यह बताया कि बहुतसे तो लौकिक दृष्टिवाले थे, कितने स्वल्प ही उनके प्रभावको जाननेवाले थे. वे जाननेवाले भी बलरामजीके बलकी अधिकतासे माहात्म्य जानते थे, न कि उनके अलौकिक प्रभावको जानते थे. यदि लौकिक प्रभाव जानते होते तो वे विषयोंका भी ज्ञान देते।।१९।।

आभासार्थ : इस प्रकार कायासे जो पूजनादि व्यवहार किया जाता है वह वर्णन कर अब वाणीसे जो कुशलक्षेम पूछा जाता है वह 'बन्धून् कुशलिनः' श्लोकसे कहते हैं :

बन्धून् कुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवम् अनामयम् ।
परस्परम् अथो रामो बभाषेऽविक्लवं वचः ।।२०।।

श्लोकार्थ : परस्पर कल्याण व आरोग्य पूछ कर और बांधवोंके कुशल सुनकर बादमें श्रीरामजीने तेजस्वी वचन कहे।।२०।।

व्याख्यार्थ : 'शिव' शब्दका अर्थ है कल्याण अर्थात् जिसमें सुख ही सुख है, विशेषमें वह सुख भी दुःख रहित है. इस प्रकार बान्धव सर्वथा सुखी हैं, यह सुनकर, यह समाचार भी परस्पर पूछकर मालूम किया जिससे प्रसन्न हुए, अनन्तर बलरामजी दूसरा विषय प्रारम्भ करते हैं-श्रीरामने दैन्य रहित तेजस्वी, ऐसे वचन कहे जिससे यादवोंकी दीनता देखनेमें न आवें, यदि इस प्रकार वचन न कहते, तो यादवोंकी दीनता देखनेमें आती. यह रामकी इच्छा नहीं थी क्योंकि यादव भक्त थे।।२०।।

आभासार्थ : श्रीबलरामजीने कौरवोंको कहा कि भगवान्ने उग्रसेनको सर्व देवोंका अधिपति बनाया है, इसलिए उनकी आज्ञा सर्व देवोंको माननी चाहिए, आप देव हैं उग्रसेन देवाधिपति हैं इस कारणसे, आपको भी यह आज्ञा माननी ही चाहिए, अतः यादवोंका नाम न लेकर उग्रसेनकी आज्ञा 'उग्रसेनः'

श्लोकमें कहते हैं :

श्रीबलराम उवाच

उग्रसेनः क्षितीशेशो यद् व आज्ञापयत् प्रभुः ।

तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वं मा विलम्बितम् ।।२१।।

श्लोकार्थ : महाराजाधिराज उग्रसेनजी प्रभु हैं, उन्होंने जो तुमको आज्ञा दी है, वह सावधान होकर सुनो और शीघ्र उसका पालन करो।।२१।।

व्याख्यार्थ : उन (उग्रसेन)की आज्ञा अन्य भूपति क्यों मानें? इस शंकाकी निवृत्ति केलिये ही कहा है कि सर्व भूपतियोंके वे ईश हैं. इसलिए तुमको आज्ञा करते हैं, कौनसी आज्ञा की है? वह आज्ञा आगे कही जायेगी, कि स्त्री सहित साम्बको हमारे यहां भेज दो, ऐसे वचनोंके सुननेसे प्रथम ही क्रोधमें आकर अश्लील वचन बोलने लग गये, वे कहने योग्य न होनेसे नहीं कहे हैं. उग्रसेनने जो कहा है तदनुसार कार्य करो यही रामका उपदेश हितावह है. देरी मत करो, शीघ्रता करो, क्यों कहता हूं, कि राजा लोगोंकी देरीको ईश्वर सहन नहीं करते हैं. किया हुआ भी कार्य देरीके कारण व्यर्थ होता है. ईश्वरके वचनका उल्लंघन करनेसे शीघ्र ही अनिष्ट हो जाता है. वह ईश्वर है, यह जतानेकेलिये मूलमें 'प्रभु' कहा गया है।।२१।।

आभासार्थ : कदाचित् अपराधका दण्ड करेंगे ? इस शंकाका उत्तर 'यद्यूयं' श्लोकसे देते हैं :

यद् यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाऽधर्मेण धार्मिकम् ।

अबध्नीताथ तन् मृष्ये बन्धूनाम् ऐक्यकाम्यया ।।२२।।

श्लोकार्थ : उग्रसेनजीने कहा है कि तुम बहुतोंने इकट्ठे होकर अधर्मसे जो हमारे धर्मिष्ठ अकेले बालकको जीत कर कैद कर लिया है. बांधवोंमें एकता रहे, इस इच्छासे उस अपराधको सहन कर लेता हूं, अब इसको शीघ्र छोड दो।।२२।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि तुम दण्डके योग्य हो, तो भी बान्धवोंके आपसमें कलह होगी, वह न हो, इसलिए इस अपराधको सहन कर लेता हूं अर्थात् क्षमा करता हूं, यदि राजा दण्ड करे, तो भी, वह दण्ड बान्धवोंने ही कराया है, यों मान कदाचित् उनका परस्पर वैमनस्य हो जाये तो वह अच्छा नहीं, इसलिए वह वैमनस्य इच्छित नहीं है, एकता ही अभिप्रेत है. एकके साथ बहुतोंका लड़ना शास्त्रसे निषिद्ध है. वैसे निषिद्ध कार्य करने पर, राजा अपराधीको अवश्य दण्ड

देवें. तुम्हारा क्या अपराध है वह सुनो, तुम बहुत थे, वह एक था, 'तु' शब्दसे अन्य प्रकार करनेका निवारण करते हैं, महान् अस्त्रका प्रयोग करना अथवा भागना अधर्म है, तुम युद्ध जाननेवाले बहुत हो, एक ही समयमें अधर्मसे स्त्रीकी रक्षा करनेमें व्यग्र अकेले बालकको खण्डशः साधन नाश कर जीता है, यह एक अपराध है. दूसरा दोष, उसको बान्धना है, तो भी इन अपराधोंको हमने सहन कर लिया है।।२२।।

आभासार्थ : इतना सुनकर वे रुष्ट हुए, 'वीर्य शौर्य' श्लोकसे कहते हैं :

श्रीशुक उवाच

वीर्य–शौर्य–बलोन्नद्धम् आत्मशक्तिसमं वचः।
कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः ।।२३।।

श्लोकार्थ : वीर्य, शूरवीरता और बलसे उत्तम और अपनी शक्तिके समान बलदेवके वचन सुनकर कौरव क्रोधित होकर कहने लगे।।२३।।

व्याख्यार्थ : वीर्यका आशय क्रिया शक्ति है, 'शौर्य'का भाव बलदेवजी का स्वभाव ही ऐसा है. 'बल' शब्दसे बलरामजीका शरीर ही बलरूप है यह प्रकट किया है, इन तीन कारणोंसे ही तेजस्वी उत्तम वाक्य बलरामजीने कहे जो फल पर्यवसायी थे. अब एक–एक पदका स्पष्टीकरण करते हैं उग्रसेन तुमको आज्ञा देते हैं ये वाक्य वीर्य पूर्ण होनेसे वीर्यको प्रकट करनेवाले हैं. उग्रसेनजी पृथ्वी पतियोंके भी स्वामी हैं, यह वाक्य शौर्य दिखानेवाला है. देरी न करो, यह वाक्य बलका द्योतक है. 'यत् यूयं' 'कुरव' पदसे उनका अभिमानी स्वभाव प्रकट किया है, उनका धर्म ही युक्त है, न कि वे तदीय हैं. राजाकी कोई आवश्यकता नहीं हैं, यों जानते ही है, यदि बल स्वयं यह वचन कहे कि मेरी आज्ञासे यों करो, तो उचित ही है, तब क्रोध उत्पन्न न होवे. क्योंकि वे वास्तविक हमारे ईश्वर हैं. वे विशेषतया हमारे समान भक्त नहीं है, तो भी उन यादवोंमें ही ऐश्वर्य स्थापन कर पश्चात् हममें ईशपन स्थापन करते हैं. उनमें ईश्वरत्व स्थापन करनेमें हेतु उनकी कुलीनपन नहीं है, यदि वह हो तो, हममें ही स्थापन करना उचित है. यह साधारण लीला नहीं है, इसलिए अपनी इच्छासे जैसा आवे वैसा करना उचित नहीं है, कारण कि, भगवान्ने भक्तोंके हितार्थ अवतार धारण किया है. वह भक्ति कारणके, अनुरोधसे उत्पन्न, कौरवोंमें पुष्ट होनी चाहिए, न कि कौरवेत्तर यादवोंमें, यदि कहो कि ईश्वर होनेसे भक्ति भी उनको ही देते हैं, प्रभु होनेसे ऐसी

ही इच्छा है, इस पर कहते हैं कि, 'नहीं' यों न करना चाहिए. इस प्रकार करनेसे विषमता होती है, अतः सिद्ध हुई, भक्तिका आश्रय कर भगवान् कहते हैं, इसलिए भक्तिको कारणके आधीन जानकर ही अपना उत्कर्ष दिखानेकेलिये वा स्थापन करनेकेलिये कुछ कहने लगे, यों आशय है, क्योंकि उसने ही वाक्योंसे अथवा अन्तर्यामिपनसे उनमें क्रोध उत्पन्न किया है।।२३।।

आभासार्थ : अपना उत्कर्ष प्रसिद्ध करनेवाले वाक्य 'अहो महच्चित्र' श्लोकमें कहते हैं :

कौरवा ऊचुः

अहो महच्चित्रम् इदं कालगत्या दुरात्यया।
आरुरुक्षत्युपानद् वै शिरो मुकुटसेवितम् ।।२४।।

श्लोकार्थ : कौरव कहने लगे कि कालकी गति समझमें नहीं आती है, यह महान् अचम्भेकी बात है कि जिस सिर पर मुकुट धरा जाता है, उस सिर पर जूती चढना चाहती है।।२४।।

व्याख्यार्थ : देह, इन्द्रियों, प्राण, अन्तःकरण और आत्मधर्मोंका उत्कर्ष क्रमसे निरूपण किया जाता है. पहले यादवोंसे अपनी देहका उत्कर्ष बताते हैं, देहके उत्कर्षका वास्तविक रीतिसे विचार किया जावे, तो यादव धर्म रहित, स्वेच्छाचारी केवल चमड़ेसे बने हुए शरीरवाले है. कौरव तो देवाधिष्टित और जिस पर मुकुट धरा जाता है ऐसे शीर्ष जैसे उच्च स्थानीय हैं, यह पारमार्थिक यों होने पर भी कौरवोंसे यादवोंका उत्कर्ष हो, ऐसे किसी प्रकारकी वस्तुके सामर्थ्यका अभाव है किन्तु कालवश ही यों होता हैं, कालको ईश्वर भी नियममें नहीं ला सकता है, पहले कभी भी इस प्रकार नहीं हुआ है अतः महान् आश्चर्य है. इसमें क्या कारण है? जिसका उत्तर देते हैं कालकी गति जानी नहीं जाती है, ईश्वर वाक्य होनेसे दुरत्ययपन है, यों न होवे तो अर्थात् ईश्वर वाक्य होनेसे कालकी गति समझी न जावे तो असम्बद्ध वाक्यतामें(जो वाक्य परस्पर सम्बन्धित न हो सके उनमें) निश्चयसे कुछ दूषण न होवे, इसमें दृष्टान्त देते हैं, जिस मस्तकको मुकुट वस्त्र आदि और व्यास आदि महर्षियोंने उच्च स्थान दिया है वह माना तथा पूजा है जिससे उस मस्तक पर सदैव मुकुट व पुष्प आदि पवित्र वस्तु धरी जाती है उस पर क्या जूता चढ़ना चाहता है? अर्थात् हम जो उच्च हैं उन पर जूतेके समान यादव चढ़ना चाहते हैं।।२४।।

आभासार्थ : 'एते यौनेन सम्बद्धाः' श्लोकसे इन्द्रिय सम्बन्धी विवाह शयन आदि व्यवहारमें यादवोंकी हीनता कहते हैं :

एते यौनेन सम्बद्धाः सहशय्यासनाशनाः ।
वृष्णयस्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः ।।२५।।

श्लोकार्थ : यादवोंके साथ विवाह सम्बन्ध कर, राज्यासन देकर, इनके साथ सोना, बैठना और भोजन करके इनको अपने समान बनाया है।।२५।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि पूर्वमें एकसे उत्पन्न हुए हैं, तो भी ये व्यवहारमें हमसे हीन थे, उस हीनता पर ध्यान न देकर इनसे विवाह सम्बन्ध जोड़ा, पृथा आदि स्त्रियां इनसे ली हैं यदि कहो कि 'स्त्री रत्न दुष्कुलादपि' इस न्यायसे स्त्रियोंके लानेसे समानता नहीं होती है, जिसके उत्तरमें कहते हैं, कि इनके साथ सोना, बैठना और भोजन आदि भी किये जिससे इनकी समानता हो गई, इस प्रकार हमने इनको कृपासे अपने समान बनाया है, यों कहनेसे यह सूचित किया कि वह पक्ष अज्ञानसे कोई निषिद्ध आचरण हो जाए तो उसका प्रायश्चित्त किया जाता है, वह पक्ष अमान्य कर दिया है, इसी तरह कुलके धर्म विचारसे अपना उत्कर्ष बताकर, ऐश्वर्यके विचारसे भी अपनी बड़ाई प्रकट करते हैं कि 'अस्मद्दत्त नृपासनाः' इनके राज्य था ही नहीं वह भी हमने दिया है, जैसे कि पहले ही ययातिने पुरुको राज्य दिया, दूसरे बड़े भी उसके आधीन हुए।।२५।।

आभासार्थ : इस प्रकार साधन अपने आधीन थे कहकर उनका भोग भी अपने आधीन 'चामर व्यजने' श्लोकसे बताते हैं :

चामरव्यजने शङ्खम् आतपत्रं च पाण्डुरम् ।
किरीटम् आसनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया ।।२६।।

श्लोकार्थ : ये यादव चंवर, व्यजन, शंख, श्वेत छत्र, आसन और शय्या; इन सबका भोग तब कर सकते हैं, जब हमने उपेक्षा कर दी है।।२६।।

व्याख्यार्थ : महाराजाओंके सात चिह्न हैं, चामर, व्यजन, शंख, श्वेत छत्र, मुकुट, आसन और शय्या, ये महाराजाओंके पास अवश्य होने चाहिए, दूसरे इन चिह्नोंको रखनेके योग्य नहीं है, उन (दूसरों)के पास देखनेमें आवे तो निषेध किया जाता है. ये सात चिह्न इस प्रकार काममें, लाये जाते हैं, चामर और व्यजन चारों तरफ फिराये जाते हैं, जिससे वायु हो एवं मक्खी आदि महाराजाको श्रम न देवे. शंख आगे ध्वनि करते हुए महाराजाके आनेकी सूचना देता है, छत्र

पीछेके भागमें ऊपर धरा जाता है, जिससे धूप आदिसे रक्षा होती है. मुकुट शिर पर धरा रहता है, आसन बैठनेकेलिये नीचे रहता है, नींदकेलिये शय्याकी आवश्यकता रहती है, इस प्रकार सात चिह्न महाराजाओंके पास रहने ही चाहिए जिनका वे उपभोग कर सकते हैं, किन्तु ये यादव हमारे दिये हुए राज्य और इन चिह्नोंको इसलिए उपभोग कर रहे हैं, क्योंकि हमने उपेक्षा की हैं. भोग, यह प्राणोंका धर्म है इसलिए उसका उत्कर्ष निरूपण किया है।।२६।।

आभासार्थ : आज्ञा आदि देना अन्तःकरणका धर्म है, इसलिए उसको सहन न करते हुए ऐसी अनुचित आज्ञाका हम कैसे पालन करें? अतः इनका अपकर्ष 'अलं यदूनां' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनैः दातुः प्रतीपैः फणिनाम् इवामृतम् ।
ये नः प्रसादोपचिता हि यादवा आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत ।।२७।।

श्लोकार्थ : बडे खेदका विषय है कि हम कौरवोंकी कृपासे बढे हुए ये यादव आज निर्लज्ज होकर हम (दाताओं)को आज्ञा करते हैं, जैसे सर्पको दूध पिलाकर बढाया जाता है तो वह सर्प पिलानेवालेको काटते लज्जाता नहीं, वैसे ही ये यादव हमसे राज्य और राज्य चिह्न पाकर बढे हैं और अब हमारा ही अपमान कर आज्ञा करते हैं, अतः इनसे राज-चिह्न छीन लेने चाहिए।।२७।।

व्याख्यार्थ : पहले बताये हुए राज-चिह्न उपेक्षाकेलिये हैं, 'अलं' यह शब्द निषेध अर्थमें है, अर्थात् अब ये चिह्न यादवोंके पास नहीं रहने चाहिए, अब तक रहे सो रहे आगे वहां रखने अनुचित हैं, देकर लौटाकर लेनेका कारण कि मूलसे दिये हुए हैं. अपने ही पदार्थ अपना अनिष्ट करे तो उनका निवारण करना चाहिए, जैसे सर्प दूध पिलानेवालेका अनर्थ करता है, दूथ पीनेसे वह उन्मत्त हो अन्धा बन जाता है, पालन करनेवालेको काटता है, वही अवस्था हम लोगोंकी हुई है, जो यादव हम लोगोंके प्रसादसे पल कर बढे हैं, वे ही निर्लज्ज हो हमको आज्ञा करते हैं. दुःखका विषय है।।२७।।

आभासार्थः वस्तुको विचारते हुए आत्म धर्मका आश्रय कर 'कथम् इन्द्रोऽपि' श्लोकमें इसका स्पष्टीकरण करते हैं :

कथम् इन्द्रोऽपि कुरुभिः भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः ।
अदत्तम् अवरुन्धीत सिंहग्रस्तम् इवोरणः ।।२८।।

श्लोकार्थ : जैसे सिंहके हाथ आई हुई भेड़ आदि वस्तु उसकी कृपाके

बिना कोई नहीं ले सकता है, वैसे ही भीष्म, द्रोण और अर्जुन आदि कौरवोंके दिए बिना इन्द्र भी साम्बको (छुड़ाकर) नहीं ले जा सकता है।।२८।।

व्याख्यार्थ : भीष्मजी, काल, काम और परशुराम आदिको भी जीतनेवाले है, उससे भी अधिक द्रोणाचार्य विद्यामें समान होते हुए भी ब्राह्मण होनेसे अधिक है, उससे भी विशेष अर्जुन है क्योंकि द्रोणका शिष्य होने पर भी महादेव आदि देवोंके प्रसादोंसे युक्त है, ये आधिभौतिक तीन रूप जिनके आदि (अग्रगण्य) है वैसे कौरवोंके दिये बिना इन्द्र भी इस पकड़े हुए साम्बको नहीं ले सकता है, यद्यपि इन्द्र वास्तविक रीतिसे सर्वके अधिपति है, तो भी ये अधिकृत अर्थात् अधिकारवाले हैं, देह आदि यदि प्रतिकूल हो तो समर्थ भी भोग प्राप्त करने योग्य नहीं होते, (तो फिर) यह तो अपना भाग है, जिसमें दानकी कौनसी अपेक्षा है? इसको दृष्टान्तसे समझाते हैं, सिंह 'ग्रस्तमिवोरण' जैसे तुच्छ मेषकी सन्तान अपना भोग है किन्तु जब उसको सिंह पकड़ लेता है तब वह कृपा कर देवे तो लिया जा सकता है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार साम्ब उनका होते हुए भी हमने उसकी स्त्री समेत पकड़ रखा है अतः भीष्म आदि कृपा कर देवे तो ले सकते हैं।।२८।।

आभासार्थ : इस प्रकार पांच अवयववाला अहंकारयुक्त रामको सुनाकर वहांसे निकले यह वर्णन 'जन्म' श्लोक से श्रीशुकदेवजी वर्णन करते हैं :

श्रीशुक उवाच

जन्मबन्धुश्रियोन्नद्ध–मदास्ते भरतर्षभ!।
आश्राव्य रामं दुर्वाक्यम् असभ्याः पुरम् आविशन्।।२९।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि हे भरतर्षभ ! सत्कुलमें जन्मसे और बांधवोंकी कृपासे प्राप्त लक्ष्मीके कारण जिनका मद बढ गया है, वैसे असभ्य कौरव बलरामजीको दुर्वाक्य कहकर अपने नगरमें चले गए।।२९।।

व्याख्यार्थ : वाणी, काया और मनसे किये हुए अतिक्रमका निरूपण हुआ, अब इस प्रकार अतिक्रम करनेका कारण कहते हैं कि १.सत्कुलमें जन्म, २.बान्धव बहुत थे और, ३.लक्ष्मी, इन तीन कारणोंसे जिनका मद बढ गया है, वैसे कौरव, अथवा इस जन्ममें बान्धवोंके बलसे वा कृपासे प्राप्त लक्ष्मीसे जिनमें अहंकारकी वृद्धि हुई है वैसे कौरव बलरामजीको दुर्वाक्य कहकर पुरमें प्रविष्ट हो गये. भरतर्षभः यह विशेषण राजाको इसलिए दिया कि राजामें माया मोहका

अभाव है. जिसमें प्रमाण देते हैं कि 'दौष्यन्तिरत्यगान्मायाम्' दुष्यन्त कुलमें उत्पन्न राजा मायाको पार कर गये, अन्यथा क्षत्रिय अपना अपकर्ष सहन नहीं कर सके. यह कथा श्रवणको विशेषकर बात करनेवाली होवे, यह वाक्य स्पष्ट रीतिसे रामके प्रति ही है, न कि अन्तःकरणसे भी स्वकीयके प्रति है. जैसा कि 'दुर्वाक्यं राममाश्राव्य पुरमाविशन्' कहा है. गृहमें जानेके अनन्तर यों करना उचित नहीं है, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'असभ्याः' असभ्य हैं. यों तो यह कथा सज्जनोंकी है केवल श्रीके मदसे उनमें असभ्यता आ गई है, यदि यों न होवे तो, आगे चलकर उनमें ऋजुता न आनी चाहिए, जिसका आशय है कि ये सज्जन है किन्तु लक्ष्मीके मदके कारण इनमें असभ्यताने प्रवेश किया है।।२९।।

आभासार्थ : पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'दृष्ट्वा' श्लोकमें कहते हैं :

दृष्ट्वा कुरूणां दौःशील्यं श्रुत्वा–ऽवाच्यानि चाच्युतः।
अवोचत् कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन् प्रभुः ।।३०।।

श्लोकार्थ : कौरवोंका दुष्ट स्वभाव देख और दुर्वचन सुन कोपसे भर गए, जिससे देखे नहीं जाते, वैसे वे अच्युत और प्रभु होनेके नाते हंसते हुए कहने लगे।।३०।।

व्याख्यार्थ : तिरस्कार कर चला जाना ही असभ्यता है, यदि असभ्यता न होती तो बान्धवोंका अतिक्रम और महत्पुरुषोंका अतिक्रम न करते, इस प्रकार न कहने योग्य वचन भी असभ्योंके सुने, वाणीमें न आने योग्य वाक्य तथा अश्लील वाक्य सुने, ऐसे वाक्योंके सुनने पर भी भयका अभाव रहा अर्थात् रामको किसी प्रकार भय न हुआ, क्योंकि 'अच्युतः' आप च्युति रहित है. अनन्तर स्वयं भी उनके वाक्योंको दूषित करनेकेलिये कहने लगे अन्यथा देहसे निराकरण होने पर भी वाक्यसे (न) निराकृत होवे, भगवान्की आज्ञा नहीं मानी, इसलिए कोपसे भर गये, यदि वह क्रोध भीतर समा लेवे तो उसमें अपकार ही होवे, शीघ्रता करे तो क्लिष्टता हो, इसलिए क्रोधको बाहर निकाला जिससे आपकी आकृति ऐसी हो गई जिसको कोई देख नहीं सकता. किन्तु विशेषता यह थी, कि क्रोध प्रकट भी किया तो भी दुःख नहीं था इसलिए हंसते हुए कहने लगे क्योंकि 'प्रभु' सर्व प्रकार समर्थ हैं।।३०।।

आभासार्थ : पांच वाक्योंके अर्थको नव श्लोकोंसे स्थानात्रयसे निराकरण कर तथा उनमें कर्तव्यकी प्रतिज्ञा की है और दशवें श्लोकसे क्रियाको

कहते हैं. वे १० श्लोक 'नूनं नाना' श्लोकसे प्रारंभ होते हैं :

नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः ।
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लकुटो यथा ।।३१।।

श्लोकार्थ : यह निश्चय है कि असाधु पुरुष जब अनेक मदोंसे मत्त हो जाते हैं, तब वे शांति नहीं चाहते हैं, उनको शांत करनेका उपाय डण्डा ही है, जैसे पशु डण्डेसे ही शांत होता है।।३१।।

व्याख्यार्थ : 'विद्यामदो धनमद' आदि वाक्योंसे शास्त्रोंमें मदके प्रकार कहे गये हैं, उन मदसे जो युक्त होते हैं अर्थात् जिसमें इस प्रकारका मद स्थान पा लेता है, वे नीतिके वाक्योंको नहीं मानते हैं, अर्थात् वे नीतिसे नहीं समझते हैं इसलिए इनको समझानेका उपाय क्रिया ही है, न कि वाक्य, इसलिए इनको नीति वाक्योंसे समझाया गया किन्तु उनसे इनको समझ नहीं आई जिससे इन्होंने माना नहीं, कारण कि ये मदसे मत्त हो गये हैं, अतः इन्होंने जो किया वह इनके अनुरूप ही है, अतः शान्तिकेलिये जो वाक्य कहे वे निष्फल(व्यर्थ) हो गये, इसलिए दण्ड स्वरूप क्रियासे ही इनको शान्त करना चाहिए. वह दृष्टान्तसे समझकर कहते हैं कि 'तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लकुटो यथा' जैसे पशु दण्डेसे शान्त होते हैं वैसे ही मदमत्त भी दण्डेसे शान्त होते हैं. ऊपर जो कहा वह उपक्रमके अनुसार, उपक्रमके विचारसे कहा. उपसंहारमें दूसरे प्रकारसे कहना चाहिए, केवल शान्ति हो इतना ही उपक्रम है, मारना उपसंहार है. इससे विरोध[१] है, मारनेका उद्यम ही शान्ति है. शंका करते हैं कि यदि क्रियासे सजा दी जायेगी तो सुतराम ही विशेष कोप होगा? जिसके उत्तरमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे पशु डण्डेको देखते ही शान्त हो जाते हैं लगने पर तो सदैवकेलिये शान्त रहते हैं वैसे ही मदान्ध पशु तुल्य मनुष्योंको डण्डा ही भय पैदा कर शान्त करता है।।३१।।

१.फुट नोटमें 'नापि विरोध' पाठ दिखाया है जिसका अर्थ है कि यों कहते हुए भी विरोध नहीं है.

आभासार्थ : यदि यों है तो यादवोंको क्यों रोका? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि यादवोंको न रोका जाता तो आपसमें विषमता पैदा होती, दण्ड (सजा) न होता. शत्रुको जीत लेना दण्ड नहीं है, अतः हम दोनोंके हित करनेवाले हैं, इसलिए पहले प्रारंभ की हुई अपनी क्रियाका वर्णन इस 'अहो यदून्' श्लोकसे करते हैं :

अहो यदून् सुसंरब्धान् कृष्णं च कुपितं शनैः ।
सान्त्वयित्वाहम् एतेषां शमम् इच्छन् इहागतः ।।३२।।

श्लोकार्थ : अहो ! कुपित यादव लडनेकेलिए उद्यत थे और श्रीकृष्ण भी कुपित थे, इनको धीरे धीरे शांत कराके, दोनोंके हितकी इच्छासे मैं यहां आया हूँ।।३२।।

व्याख्यार्थ : अहो! शब्द कहनेका भावार्थ बताते हैं कि शान्ति करानेवाले पर क्रोध करना आश्चर्य है. यादव सब तैयार थे, मारनेकेलिये आक्रमण करनेवाले थे और यों करनेमें समर्थ भी थे, अदृष्टके वश होनेसे रुक गये. आपका इसमें कौनसा पौरुष है यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि केवल यादव कुपित नहीं थे किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भी क्रोधमें आ गये थे, भगवान्के केवल विचारसे सर्व सिद्ध हो जाता है, फिर कुपित होने पर क्या न होगा? 'कृष्ण' नाम देनेसे यह बताया है कि वे तो भक्तोंके आधीन है अथवा कालात्मा हैं इससे अदृष्ट आदि उनके पीछे ही चलनेवाले गुण हैं, इस प्रकार उन (कौरवों)के प्रतिकूल था उन सर्वको धीरे-धीरे शान्ति कराई, न कि बलसे और न अपना सामर्थ्य प्रकट करनेसे, यों करनेमें कारण 'अहम्'-मैं हूं, क्योंकि इन्होंने अहंकारसे साम्बका बन्धन किया है, उस अहंकारका अधिष्ठाता मैं हूँ इसलिए उन अभिमानियोंको शान्त करनेकी इच्छासे ही मैं यहां आया हूँ।।३२।।

आभासार्थ : वह शांति, वाणीके बोध द्वारा न हुई, इसलिए अन्य क्रियासे होगी, यह 'त इमे' श्लोकसे कहते हैं :

त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः ।
तन् माम् अवज्ञाय मुहुः दुर्भाष्यान् मानिनोऽब्रुवन् ।।३३।।

श्लोकार्थ : ये मन्द बुद्धि, कलह प्रिय, दुष्ट एवं अभिमानी मेरा तिरस्कार कर, न कहने योग्य वचन मुझे बार बार कहने लगे।।३३।।

व्याख्यार्थ : जो वचन नहीं कहने चाहिए वैसे अयोग्य वाक्य मुझे कहने लगे, क्योंकि मन्द बुद्धि हैं, तब लौकिक प्रकारसे युद्धका उद्यम करने पर शान्त होंगे? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि तो भी शान्त न होंगे, कारण कि कलह प्रिय हैं, अर्थात् आपससे लड़ना ही जिनको प्यारा है वैसे हैं, कलह करने पर लड़ाई होगी जिसमें निश्चय मरना ही पड़ेगा शान्ति न होगी. यदि यों है, तो अन्तर्यामी स्वरूपसे प्रेरणा कर शान्ति करा लो, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि यों भी न हो सकेगा, कारण

कि 'दुष्ट' हैं, अर्थात् मूल इच्छासे अन्तर्यामी इनको वैसी ही प्रेरणा करते हैं. तो भी आपने शान्तिकेलिये उद्यम किया है तो अब भी वैसी ही प्रेरणा कीजिये, जिसका उत्तर देते हैं कि वैसी शान्ति चाहनेवाले मुझे अपमानित कर रहे हैं, वह भी बार-बार कर रहे हैं, शान्ति तो तब हो, जब वे कहे हुए शान्तिके वचन माने, न मानने पर शान्ति हो नहीं सकती, ऐसे दुष्टोंकी परीक्षा करनी निषिद्ध है. अवज्ञा करना मानस दोष है, यह बताया. दोष पूर्ण दुर्वचन कहे यह उनका वाचनिक दोष प्रकट किया, अहंकारी है यह कहकर बताया कि आगे भी शान्तिसे समाधान न होगा।।३३।।

आभासार्थ: इनका उग्रसेनकी आज्ञा विषयक कहना उचित है, उग्रसेनके वचनोंसे आप भी क्या कहना चाहते हो? जिसका उत्तर देते हैं 'नोग्रसेन' श्लोकसे उग्रसेन सर्व राजाओंके स्वामी हैं यह सिद्ध करते हैं :

नोग्रसेनः किल विभुः भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः।
शक्रादयो लोकपाला यस्यादेशानुवर्तिनः ।।३४।।

श्लोकार्थ : उग्रसेन केवल भोज, वृष्णि और अन्धकोंके राजा नहीं है, किन्तु जिसके आदेशके पीछे शक्र आदि देव भी चलते हैं, अतः वे सर्व प्रकार समर्थ है।।३४।।

व्याख्यार्थ : 'किल' निश्चय वचन कहकर यह बताते हैं कि केवल मेरे वचनोंसे वैसे नहीं किन्तु नामसे ही उनका ईश्वरपन प्रथम ही सिद्ध है. यदि यों न होता तो उनका पुत्र कंस राजा न बनता, किञ्च अब भोज, वृष्णि और अन्धकोंका ईश्वर अर्थात् स्वामी है, तीन प्रकारके ही यादवोंका प्रभु है, इस प्रकार लौकिक सामर्थ्य दिखला कर अब अलौकिक सामर्थ्य दिखलाते है, 'शक्रादयो लोक पालाः' भगवानकी इच्छासे अथवा आज्ञासे शक्र आदि लोकपाल भी जिस (उग्रसेन)की आज्ञाका पालन करते हैं. 'मयि भृत्य उपासीन' श्लोकमें यह स्पष्ट किया है. यदि यों न हो तो जैसी, जितनी और जब वृष्टि आदि न होवे अर्थात् जैसी चाहते है वैसी ही तब-तब होती है, इस प्रकार लोकपाल भी आज्ञा मानते हैं।।३४।।

सुधर्माक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः।
आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः ।।३५।।

श्लोकार्थ: जो सुधर्मा सभामें अपने बलसे विराज सकते हैं, देवताओंका

पारिजात वृक्ष जो स्वर्गमें है, उसको भी लाकर भोग करते हैं, क्या वे राज्य सिंहासनके योग्य नहीं है।।३५।।

व्याख्यार्थ : जो श्रीकृष्णचन्द्र, सुधर्मा सभाको दबाकर उसमें विराजमान होते हैं, जिस सभाको इन्द्र आदि देव प्रणाम करनेके पश्चात् वहां चढ़ते हैं अर्थात् उसमें बैठ सकते हैं, देवताओंके वृक्ष पारिजातको भी स्वेच्छासे लाकर अपने गृहमें धरते हैं, पारिजात वृक्ष स्वर्गीय वृक्ष है अतः स्वर्गमें रहना चाहिए. उसकी इस मर्यादाको दूर करना अर्थात् मिटाना यह ही उस पर आक्रमण कहा जाता है, इन्द्रादि लोकपालोंकी आज्ञा वा सम्मति लिये बिना ये दोनों कार्य कैसे हुए होगे? ये दोनों कार्य भगवान्के सामर्थ्यसे हुए हैं इसलिए इनमें शंका नहीं करना चाहिए. भगवान्ने ही उग्रसेनमें ऐश्वर्य कला स्थापित की है, इसलिए नरत्वकी तरह उनका आधिनत्व भी अंगीकार किया है. कारण कि शास्त्रमें कहा गया है कि 'अङ्गीकृता ग्लानिर्नदोषाय' छोटी बात भी यदि अंगीकार की जाय तो फिर उसमें दोष नहीं लगता है. ये अधिकारी नहीं थे हम लोगोंके तुल्य कर दिये हैं. कौरवोंने जो कहा कि हमने राज्य दिया है, उसका निराकरण करते हैं जो स्वर्गसे देवताओंका पारिजात वृक्ष पृथ्वी पर लाकर जिसका उपभोग कर रहे है वैसे भी सिंहासन पर बैठने योग्य नहीं है क्या? सर्व राजा नहीं हो सकते हैं, यदि एक राज्यके योग्य न हो तब तो वह वचन सार्थक हो सकता है, उसमें भाग्य और क्रिया(काम करनेकी) शक्ति दोनों प्रयोजक हैं किन्तु उनमें भी क्रिया शक्ति विशेष प्रयोजक है, जैसे कि इन्द्रको जीतकर पारिजात वृक्ष लाकर भोग किया जाता है, यदि कहो कि वह शक्ति अब कुण्ठित (मन्द) हो गई होगी, इस पर कहते हैं कि 'सोऽसौ' वह भगवान् अब भी मेरे पास ही हैं. आप यों मत कहो कि वह शक्ति कुण्ठित हो गई होगी, 'किल' निश्चयसे वह शक्ति अब भी वैसी ही विद्यमान (मौजूद) है, इस प्रकार कहना 'उपालम्भ' देनेके समान है।।३५।।

आभासार्थ : 'यस्य पादयुगं' श्लोकसे भाग्यका उत्कर्ष कहते हैं :

यस्य पादयुगं साक्षात् श्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी।
स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान्।।३६।।

श्लोकार्थ : जिसके चरणोंकी सेवा साक्षात् अखिलेश्वरी लक्ष्मी करती है, वह लक्ष्मीपति क्या राज्य चिह्न धारण करनेके योग्य नहीं है? क्या यों कहना उचित है? ।।३६।।

व्याख्यार्थ : सबके भाग्य लक्ष्मीके आधीन हैं, अतः वह सबकी मालकिन है, वह सर्वेश्वरी होते हुए भी छोटी होकर भगवान्के चरणारविन्दकी सेवा करती है. वह वैसा करनेवाली लक्ष्मी, राज्य लक्ष्मीरूप नहीं है और न दिव्य लक्ष्मी है किन्तु साक्षात् पद देकर यह बताया है कि आधिदैविक स्वरूपा श्री है. यह जो कौरवोंने कहा कि 'चामर व्यजने शङ्ख' चवर आदि राज्य चिह्न भी हमारे दिये हुए हैं, इसे कहनेके हेतु पूर्वक दूषण देकर कहते हैं कि 'स नार्हति किल श्रीश' क्या लक्ष्मी पति इनको नहीं धारण कर सकते हैं, चंवर व्यजन आदि नृपतिके चिह्न हैं, अयोग्यत्वके कारण उसकी उपेक्षासे भोग किया जाता है नहीं तो इन्द्र आदिका भी तथात्व यथात्व हो जाये, अर्थात् वे भी वैसे बन जावे।।३६।।

आभासार्थ : कौरवोंने 'अल यदूनां' श्लोकमें जो कहा वह तब हो सकता है, उनको अपना स्वतः सिंहासन न होवे, यह बतानेकेलिए हेतु पूर्वक अपने सिंहासनकी सिद्धि करते हैं जिसका वर्णन 'यस्याङ्घ्रि' श्लोकमें करते हैं :

यस्याङ्घ्रि–पङ्कज–रजोऽखिल–लोकपालैः–
मौल्युत्तमैर्धृतम् उपासित–तीर्थ–तीर्थम्।
ब्रह्मा भवो–ऽहमपि यस्य कलाः कलायाः
श्रीश्चोद्वहेम चिरम् अस्य नृपासनं क्व? ।।३७।।

श्लोकार्थ : दश दिक्पाल जिसकी चरण रजको अपने उत्तम मुकुटोंसे सिर पर धारण करते हैं और जिसके चरणोंसे उत्पन्न होनेके कारण श्रीगंगाजी तीर्थोकी भी तीर्थरूप हुए हैं, जिसकी कलाके भी कलारूप ब्रह्मा, महादेव और मैं तथा लक्ष्मीजी जिसकी चरण रजको बहुत समयसे मस्तक पर धारण करते हैं उनको यह नृपासन ध्यानमें भी नहीं है।।३७।।

व्याख्यार्थ : चारों तरफ आठ लोकपाल, ऊपर ब्रह्मा, नीचे शेषरूप मैं, दश दिशाओंके पालक इनके मध्यमें 'प्रभु' विराजते हैं, यह ही मुख्य 'राज' शब्दका अर्थ है. 'प्रभुत्व' तब होता है जब दिशाओंके पालक अपना हीन भाव स्वीकार करें, इन दश दिक्पालोंने सर्वथा अपना हीन भाव स्वीकार किया है, यह तो सर्वने प्रत्यक्ष देखा है, इसलिए सिद्ध की हुई क्रियाकी तरह कहा जाता है, प्रथम कहे हुए सर्व लोकपालोंने चरण कमलोंकी रजको धारण करनेकेलिये अपने उत्तम मुकुटोंको साधन बनाया है, उन लोकपालकोंका भगवदीयत्व सिद्ध करनेकेलिये स्वामीकी सेवा करनेमें ही ऐश्वर्यका उत्कर्ष होता है यह लौकिक

न्यायसे सिद्ध कर अब धर्मोत्कर्ष कहते हैं, तीर्थोंकी भी तीर्थरूपी गंगा भी जिसकी चरणरजकी उपासना करती है. अब भगवान्‌की कीर्तिका वर्णन करते हैं. ब्रह्मा, महादेव, मैं जो उनकी कलाके भी कलाएं हैं. भगवान्‌की कोई कला है जो जगतको उत्पन्न पालन और नाश करती है, उस कलाके तीन अंश है जिनके नाम सतो, रजो और तमो गुण है, उनमें रजोगुण ब्रह्मा, तमोगुण महादेव, और सतोगुण मैं हूं, क्योंकि पृथ्वीको धारण करता हूँ. अब लक्ष्मीका वर्णन करते है और लक्ष्मी तथा 'च' पदसे अन्तः स्थित ज्ञान वैराग्यका निरूपण किया है. हम सब ही जिसकी रज शिर पर चढ़ाते हैं उनके समक्ष नृपासन क्या वस्तु है? अर्थात् कुछ नहीं है।।३७।।

आभासार्थ : इस प्रकार अभिप्रेत अर्थका निरूपण कर उन कौरवोंने जो कुछ कहा उसका खण्डन 'भुञ्जते कुरुभिर्दतं' श्लोकसे करते हैं :

भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृष्णयः किल।
उपानहः किल वयं स्वयं तु कुरवः शिरः ।।३८।।

श्लोकार्थ : कौरवोंका दिया हुआ पृथ्वीका एक छोटा हिस्सा ही यादव भोगते हैं, इस प्रकार कहनेका आशय यह है कि हम यादव जूतेके समान और कौरव शिरके सदृश हैं।।३८।।

व्याख्यार्थ : जो कहा केवल भूखण्ड ही दिया है, उसमें भी स्वरूपसे ही हीनपन है, हम जूते हैं, यों कहनेसे उत्कर्षका निरूपण किया है, बाधित अर्थत्व तो स्पष्ट ही है।।३८।।

आभासार्थः यों है तो क्या करना चाहिए जिसका उत्तर 'अहो ऐश्वर्यमत्तानां' श्लोकमें देते हैं :

अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम्।
असम्बद्धा गिरो रूक्षाः कः सहेतानुशासिता ।।३९।।

श्लोकार्थ : अहो! मद्यपान किये हुएके समान, ऐश्वर्य मदसे उन्मत्त अहंकारी पुरुषोंकी असम्बद्ध तथा रुक्ष वाणीको शिक्षा देनेको समर्थ कौन सहन करेगा. अर्थात् कोई नहीं।।३९।।

व्याख्यार्थ : उनके वचन सहने योग्य नहीं है अतः सहने नहीं चाहिए, अनन्तर जो करना चाहिए, वह आगे कहेंगे, जो आदर करनेके योग्य हैं उनका कहना मानना चाहिए. लोकमें भी उन्मत्त, आदर देनेके योग्य नहीं है, उनमें भी जो

ऐश्वर्यसे सदैव उन्मत्त रहते हैं, यद्यपि बाहर व्यवहारमें मान देनेके योग्य हैं, किन्तु ऐश्वर्य मदसे मत्त होनेके कारण अज्ञानी हो जानेसे वैसे हो गये हैं जिसको जतानेकेलिये दृष्टान्त देते हैं, जैसे मनुष्य यों तो व्यवहार आदिमें योग्य हैं किन्तु जब मद्य पान करता है तब मत्त होनेसे अपनी समझ गंवा देता है यथा तथा प्रलाप करता है, वैसे ही ऐश्वर्यसे उन्मत्त भी होते हैं, किन्तु वे अपनेको ही बड़े समझते हैं, जिससे सदैव उन्मत्त बने रहते हैं. अतः वे हमेशा मान देने योग्य नहीं है. इसलिए दो दृष्टान्त दिये हैं, उनके वचन भी असम्बद्ध अर्थवाले होते हैं यदि वैसे भी वाक्य स्नेहसे कहे जावें तो बाधित अर्थवाले होने पर भी प्रयोजनवाले बन जाते हैं. किन्तु उनमें स्नेहका अभाव है, जिससे वे रुक्ष होनेसे अप्रयोजक हैं (१)जो विवेकी होते हैं और (२)जो असमर्थ होते हैं, हम तो दोनों प्रकारके न होकर शासन करनेवाले हैं, लोकमें जो शासन करनेवाले अधिकारी वर्ग हैं उनको सहन नहीं करने चाहिए।।३९।।

आभासार्थ : अनन्तर जो कर्तव्य है उसकी 'अद्य निष्कौरवीं'श्लोकमें प्रतिज्ञा करते हैं:

अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामित्यमर्षितः।
गृहीत्वा हलम् उत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम्।।४०।।

श्लोकार्थ : आज मैं पृथ्वीको कौरव हीन कर डालूंगा, यों क्रोधमें आकर, हल हाथमें लेकर उठ खडे हुए जिससे यों समझमें आया कि अब त्रिलोकीको जलानेकेलिए कदाचित् तैयार हुए हैं।।४०।।

व्याख्यार्थ : उन्होंने यादवोंसे कौरव मात्रका उत्कर्ष निरूपण किया है, भगवान्के हस्तसे जो मरते हैं उनको स्वर्ग मिलता है, इसलिए पृथ्वीको ही बिना कौरववाली करनेकेलिये प्रतिज्ञा करते हैं. पहले मानसिक उद्यम किया जिसकेलिये अमर्षित विशेषण दिया है अर्थात् क्रोध आनेसे मनमें यह निश्चय किया है कि पृथ्वी परसे कौरव मात्रका नाश करूंगा, फिर कायिक उद्यम किया, जैसे हल उठाकर खड़े हो गये. उनका उद्यम सर्वजनिन हो गया, यह जतानेकेलिये दृष्टान्त देते हैं कि मानों तीनों लोकोंको अब जला देंगे. संकर्षण प्रलय करनेके समय इस प्रकार ही उठते हैं, जिनके मुखसे अग्नि प्रकट होती रहती है, त्र्यक्ष अर्थात् महादेवका स्वरूप अब प्रकट किया है।।४०।।

आभासार्थ : अब कौरव नाशकेलिए जो क्रिया की उसका 'लांगलाग्रेण'

श्लोकसे वर्णन करते हैं :

लाङ्गलाग्रेण नगरम् उद्विदार्य गजाह्वयम् ।
विचकर्ष च गङ्गायां प्रहरिष्यन् अमर्षितः ।।४१।।

श्लोकार्थ : हलके अग्र भागसे हस्तिनापुरको खोद कर गंगामें प्रवाहित करनेकेलिए खेंचने लगे।।४१।।

व्याख्यार्थ : युद्धमें स्त्रियां और बालक मारने कठिन हैं, इसलिए उस भूमि पर उत्पन्न कौरव ही मारे गये यों लोकमें प्रसिद्ध होगा. नगरको ही उखाड़कर गंगामें डालते हुए खींचने लगे, इस प्रकार दो कार्य पूर्ण किये, तीसरी क्रिया नहीं की इसलिए 'च' अक्षर मध्यमें दिया है. प्रहरणमें विलम्बका कारण 'अमर्षित' है. अति क्रोधसे नहीं किया अथवा विशेष क्रोध होनेके समय विचार बराबर नहीं रहता है, ऐसे समयमें मारनेका संकल्प किया था अतः तीसरी क्रिया नहीं हुई।।४१।।

आभासार्थ : इतनी शिक्षा कैसे हुई? जिसका उत्तर 'जलयानं' श्लोकमें देते हैं :

जलयानम् इवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।
आकृष्यमाणम् आलोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः ।।४२।।
तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीषवः ।
सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभुम् ।।४३।।

श्लोकार्थ : नावकी तरह घुर घुराते और किसीसे खेंचे जाते नगरको गंगाजीमें गिरते देखकर कौरव घबरा गए।।४२।।

सकुटुम्ब, जीनेकी इच्छावाले वे कौरव लक्ष्मणा सहित साम्बको आगे कर हाथ जोड उन प्रभु श्रीबलरामजीकी शरणमें गए।।४३।।

व्याख्यार्थ : जिसमें चारो तरफ घुर घुरा शब्द होने लगा वैसा वह हस्तिनापुर नगर गंगाजीमें गिरता देख कर समझने लगे कि अब हम अवश्य मरेंगे जिसका कारण अन्य कुछ नहीं है किन्तु बलरामजी इसको खींच रहे हैं. कौरव होनेका स्वाभाविक दोष तो था ही नहीं अतः भयभीत हुए, डर गये. यों कहनेसे यह बताया कि उनका अहंकार नष्ट हो गया, जिससे दोष निवृत्त हो गये, गुण तो विद्यमान ही थे इसलिए उनकी ही शरण गये. यों नहीं था, कि कोई गया कोई नहीं गया सब साथ होकर सम्मत हो शरण गये, इसलिए कहा है कि 'सकुटुम्बा'

कुटुम्ब सहित सब शरण गये. यदि प्रभुकी क्रियासे मरते तो मुक्त हो जाते है, परन्तु वे मोक्ष न चाहकर जीना चाहते थे, 'निमित्त' विद्यमान होने पर शरणागतिको भी अंगीकार न करे इसलिए स्त्री सहित साम्बको साथमें ले आये, हाथ जोड़े, जिसका आशय प्रार्थना करनी है, ऐसे ऐश्वर्य मदोन्मत्तोंने अपना अपकर्ष कैसे अंगीकार किया? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'प्रभुः' श्रीबलरामजी प्रभु हैं अर्थात् सर्व सामर्थ्य युक्त हैं, अतः यदि अपना अपकर्ष न मानते तो नष्ट हो जाते इसलिए नाश होनेसे अपनेको बचानेकेलिये अपना अपकर्ष माना।।४२-४३।।

आभासार्थ : उन (कौरवों)ने पहले यों समझा कि यह बलरामजी केवल संदेश ले आनेवाले है, अनन्तर जब उन्होंने क्रोध किया उस क्रोधको देखकर डर गये जिससे पांच श्लोकोंसे स्तुति करने लगे :

पूर्वं कृतापराधस्य क्षमापनम् इहोच्यते।
क्रीडार्थत्वं तत्र हेतुः महत्त्वं चापि सान्त्वने।
अन्यार्थं च समारम्भः शरणं च वयं गताः।।का.१।।

कारिकार्थ : पहले किये हुए अपराधकी क्षमाका यह वर्णन करते हैं. इस प्रकार लीला करनेका 'हेतु' क्रीडा है शांति करानेमें ही महत्त्व होता है यह समारंभ अन्यकेलिए है, अतः हम (कौरव) शरण गये।।का.१।।

कौरावा ऊचुः

राम! रामाखिलाधार! प्रभावं न विदामहे।
मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुम् अर्हस्यधीश्वरः।।४४।।

श्लोकार्थ : हे राम ! हे राम ! हे सबके आधार ! हम आपके प्रभावको नहीं जानते हैं, हम जो मूर्ख और कुबुद्धि हैं, उनके अपराध आपको क्षमा करने चाहिए, क्योंकि आप ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं।।४४।।

व्याख्यार्थ : कौरवोंने अपराधोंकी क्षमा मांगी, जिसके पांच हेतु कहते हैं: राम! राम! दो बार आदरकेलिये कहा. जो प्रभु रमण करते हैं उनकेलिये आदर होना चाहिए, यह भी (१)हेतु है भगवान् धर्म है, (२)हेतु कहते हैं कि 'अखिलाधारः' सबके आधार हैं, जिससे हम आधेय हो गये अतः जो आधार होकर जिसका पालन करते हैं उसके अपराधको ध्यानमें नहीं लाते हैं, (३)हेतु बताते हैं कि हम आपके प्रभावको नहीं जानते है क्योंकि हममें अज्ञान है,यद्यपि आपका प्रभाव सहज है, सब जान सकते हैं फिर भी आप यहां प्रकट नहीं कर रहे

हैं, इसलिए नहीं जान सकते हैं. यद्यपि सर्वत्र अवतारोंमें प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ मात्रके आप पूरक हैं यों होने पर प्रतिज्ञा सिद्ध ही है, फिर प्रभावको नहीं जान सकते है यों कैसे कहते हो इस पर कहते हैं कि 'मूढानां' हम मूढ़ अर्थात् विचार हीन हैं, सब तो विचार हीन नहीं हो सकते हैं? जिसका समाधान करते हैं कि हम सब कुबुद्धि हैं, दुष्ट बुद्धिवाले होनेसे किसीका भी कहना नहीं माना।।४४।।

आभासार्थ : कौरवोंको बलरामजीने क्षमा दी जिसका कारण कौरवोंमें स्थित तीन हेतु हैं :

बुद्धीर्न शुद्धा नो शास्त्रं नापि ज्ञानं स्वतः क्वचित्।
प्रभुः स्वामी भवांश्चापि धारकः क्षन्तुम् अर्हति ।।का.२।।४४।।

१. देखा कि इनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, २. शास्त्र भी पढा नहीं है और ३. न स्वतः कोई स्वाभाविक ज्ञान इनमें है, इसलिए इन्होंने जो किया अथवा कहा वह ध्यानमें लाने योग्य नहीं है. बलरामजीमें दो गुण स्वतः हैं १.आप प्रभु हैं तथा २.स्वामी हैं अतः आश्रय देनेवाले तो क्षमा करना ही अपनी योग्यता समझते हैं– अतः क्षमा करते हैं।।का.२।।

आभासार्थ : विशेष यह है कि हमको इस प्रकार भी प्रार्थना नहीं करनी चाहिए कारण कि यह जगत् आपका ही लीला स्थान है. कौरवोंके इस लीला स्थान जगत्की पुष्टि श्रीशुकदेवजी 'स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां' श्लोकमें करते हैं :

स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वम् एको हेतुर्निराश्रयः।
लोकान् क्रीडनकान् ईश! क्रीडतस्ते वदन्ति हि ।।४५।।

श्लोकार्थ: इस जगतकी स्थिति, उत्पत्ति और नाशका आप निराधार (स्वाश्रय) ही एक कारण हैं, हे ईश ! ये लोक, आप खिलाडीके खिलौने हैं ।।४५।।

व्याख्यार्थ : अपनेमें ही स्थित एक, इस जगतकी उत्पत्ति पालन और नाश करते हैं, यों करनेका कारण वा प्रयोजन 'लीला' है. इसकी पुष्टिकेलिये कहते हैं, 'लोकान् क्रीड़नकान्' ये लोक खिलौने हैं. ईश! यह सम्बोधन देकर यह समझाया है कि स्वामी हैं अतः लीला करते हैं, यदि स्वामी नहीं होते तो लीला न करते. खिलौने हैं तो कोई भी उनसे खेल सकता वा उनको अपना खिलौना बना सकता है, इस पर कहते हैं कि 'क्रिडतस्ते' आप ईश होनेसे खेलते हो, खिलाड़ीके खिलौने होते हैं, दूसरेके नहीं. अतः ये खिलौने आपके हैं, इसमें

प्रमाण क्या है? तो कहते हैं कि 'वदन्ति' व्यास आदि ऋषीश्वर यों कहते हैं. यह तात्पर्य उचित ही है, क्योंकि जो पूर्ण है उनकी लीलाके सिवाय प्रवृत्ति उचित नहीं कही जाती।।४५।।

आभासार्थ : किञ्च समान हो उनको दण्ड किया जाता है, न कि मच्छर जैसे तुच्छोंको, अतः हम जो अति तुच्छ हैं उन पर क्रोध करना उचित नहीं है, इस आशयको 'त्वमेव मूर्ध्नी' श्लोकमें व्यक्त करते हैं :

त्वमेव मूर्ध्नीदम् अनन्त लीलया भूमण्डलं बिभर्षि सहस्र मूर्धन् ।
अन्ते च यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ।।४६।।

श्लोकार्थ : हे सहस्र मस्तकवाले ! हे अनन्त ! आप ही इस भूमण्डलकी लीलासे अपने शिर पर धारण करते हैं और प्रलय कालमें अपनेमें जगतको समा लेते हैं अन्तमें आप ही एक शेष रहते हो जिससे आपका नाम शेष पडा है।।४६।।

व्याख्यार्थ : हे अनन्त! इस नगरकी क्या कहें, पश्चाशत् कोटि जिसका विस्तार कहा जाता है वैसा भूमण्डल लीलासे मस्तक पर धारण करते हो ऐसे आप सहस्र मूर्धा हैं, अतः भूमण्डलसे आपका अधिक परिमाण आता है न कि व्यापकपन है इसलिए आप अनन्त हैं, इस भूमण्डलको अन्यकी प्रेरणासे आपने धारण नहीं किया है किन्तु अपनी प्रसन्नतासे धारण किया है, क्योंकि अन्तमें अपने विश्वको समाकर आप ही एक शेष पर पोढे रहते हो जिससे आपका नाम शेष है।।४६।।

आभासार्थ : इस तरह भी महानका अति तुच्छों पर क्रियाका आविष्कार करना उचित नहीं है, यह निरूपण कर कहते हैं कि आपके किये हुए क्रोधका विनियोग अन्य प्रकारसे है, जिसका वर्णन 'कोपस्ते' श्लोकमें करते हैं :

कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थं न द्वेषात् न च मत्सरात् ।
गृह्णतो भगवत्सत्त्वं स्थिति पालनतत्परः ।।४७।।

श्लोकार्थ : आप द्वेषसे अथवा मत्सरसे क्रोध नहीं करते हो किन्तु लोककी शिक्षाकेलिये कोप करते हो, सतोगुणको धारण कर अब जगतकी मर्यादाकी रक्षा करनेमें संलग्न हैं।।४७।।

व्याख्यार्थ: लोकमें कोप दो प्रकारसे होता है १.शत्रु पर द्वेषसे २.बड़ेका उत्कर्ष सहन न होनेसे ईर्षासे होता है, वे दोनों ही आपमें इस समय नहीं हैं, किन्तु अखिल (सर्व)के शिक्षार्थ कोप कर रहे हो, 'अखिल' पद देनेका आशय यह है

कि सब भगवान्के बालक हैं, जिसमें कारण यह है कि आपने इस समय सतोगुणको ग्रहण कर लिया है वह सतोगुण भी शुद्ध हैं, अन्य रजो वा तमोगुणने उसका स्पर्श मात्र नहीं किया है, यदि उनसे मिलित न होवे तो जो लीला जिस प्रकार आप कर रहे है वैसे न बनती, आप तो अब 'स्थिति पालन तत्पर' मर्यादाकी रक्षामें संलग्न हैं, यदि इस शुद्ध सत्त्वको धारण न करते तो मर्यादाका संरक्षण न हो सकता।।४७।।

आभासार्थ : शरणागतिकी प्रार्थनाकेलिए नमेंगे, यह 'नमस्ते' श्लोकमें कहते हैं :

नमस्ते सर्वभूतात्मन्! सर्वशक्तिधराव्यय!।
विश्वकर्मन्! नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः।।४८।।

श्लोकार्थ : हे सर्वभूतोंकी आत्मा! हे सर्वशक्तिको धारण करनेवाले! हे अविकारी! हे विश्वकर्मन्! आपको नमस्कार है, हम आपकी शरण आए हैं।।४८।।

व्याख्यार्थ : नमन मात्रसे ही कृपा होती है, केवल नमनसे कृपाका कारण यह है कि आप सर्व भूतोंकी आत्मा है, आत्मा स्वल्पसे भी प्रसन्न होती है, हममें जो तामस गुण है वह भी आपका ही है क्योंकि आप सर्व शक्तियोंको धारण करते है अतः वे तामसादि शक्तियां आपकी ही हैं. हमारा सर्व धर्म तथा अधर्म आप है, यदि यों होगा तो हममें भी दोषोंका सम्बन्ध हो जायेगा, इसका उत्तर देते हैं कि नहीं, क्योंकि आप अव्यय अर्थात् अविकारी है इस नगरीका नाश करोगे तो फिर भी आपको ही बनानी पड़ेगी, कारण कि आप ही विश्वकर्मा हैं फिर भी कोई अतिक्रम न हो इसलिए कहते हैं कि आपको प्रणाम है, इस प्रकार स्तुति पूर्वक प्रणाम करनेसे प्रसन्न कर फिर कहते हैं कि हम आपकी शरण आये हैं।।४८।।

आभासार्थ : कौरवोंका अभिप्राय जानकर प्रसन्न हुए बलदेवजीने उनको अभय दिया, जिसका वर्णन 'एवं प्रपनैः' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी करते हैं :

श्रीशुक उवाच
एवं प्रपन्नैः संविग्नैः वेपमानायनैर्बलः।
प्रसादितः प्रसन्नोऽसौ मा भैष्टेत्यभयं ददौ।।४९।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि इस प्रकार शरणागत, उद्वेगवाले और जिनका पुर कांप रहा था, वैसे कौरवोंकी प्रार्थनासे प्रसन्न हुए बलरामजीने

मत डरो कहकर अभय दान दिया।।४९।।

व्याख्यार्थ : शरणागत होना प्रतीकार (उपाय) है, मनमें जो अहंकार था वह अब नहीं रहा, इतना ही नहीं किन्तु जिनका आश्रय स्थान ग्रह तथा शरीर काम्प रहा था जिसको देख डर रहे थे अतः शरीरमें गर्व न रहा, जिससे उत्तम धर्मवालोंने तीन प्रकारसे बलदेवजीको प्रसन्न किया, प्रसन्न होनेसे जो कार्य किया वह कहते हैं कि मत डरो यों कहनेसे उनको अभय दिया, वाणी और कायिक कार्य न कर मानस अभय दिया।।४९।।

आभासार्थ : दुर्योधनने भयसे कन्या दी, जिसका निवारण करनेकेलिए 'दुर्योधनः' श्लोकमें कहते हैं कि दहेज पूर्वक कन्या दी :

दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान् षष्टिहायनान्।
ददौ च द्वादशशतान्ययुतानि तुरङ्गमान्।।५०।।

श्लोकार्थ : दुर्योधनने कन्या दहेजमें ६० वर्षकी आयुवाले १२०० हस्ती और एक लक्ष बीस सहस्र घोडे दिए।।५०।।

व्याख्यार्थ : साठ वर्षकी आयु अर्थात् पूर्ण आयुवाले १२०० हस्ती और १ लाख २० हजार घोड़े दुर्योधनने पुत्रीको दहेजमें दिये।।५०।।

रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम्।
दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः।।५१।।

श्लोकार्थ : पुत्री पर वात्सल्य भाववाले दुर्योधनने पुत्रीको और भी ६ हजार सूर्य जैसे प्रकाशवाले सुनहरी रथ तथा पदक पहनी हुई हजार दासियां भी दी।।५१।।

व्याख्यार्थ : सुवर्ण जड़ित ६ हजार रथ देकर बलरामजीको प्रीतिका सूचन किया, वे रथ सूर्यवत् चमक रहे थे यों कहकर उनकी सर्व लोकमें प्रसिद्धि प्रकट की, इनकी संख्यासे मास, संवत्सर और ऋतु तीन प्रकारके कालको प्रसन्न किया, अर्थात् कालको तीन प्रकारसे प्रसन्न किया. साम्ब महादेवका अवतार है जिसको, तथा बलदेवजी और क्रोधको भी प्रसन्न किया, हजार दासियोंके दानसे अम्बाको प्रसन्न करते हैं, क्योंकि पुत्री पर वात्सल्य भाव है, दान करनेमें इस (दुर्योधन)का अभिप्राय यह है कि यदि इस प्रकार दहेजमें न दूं तो मेरी पुत्री पर ये (ससुरालवाले लोग) कोप करे अतः इतना भारी दहेज दिया।।५१।।

आभासार्थ : उनकी नम्रता आदि कह कर अब बलदेवजीने दहेज

स्वीकार किया यह वर्णन 'प्रतिग्रह्य' श्लोकमें करते हैं :

प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं भगवान् सात्त्वतर्षभः ।
ससुतः सस्नुषः प्रायात् सुहृद्भिर् अनुमोदितः ।।५२।।

श्लोकार्थ : यादवश्रेष्ठ बलदेवजीने वह सब दहेज लेकर, कौरवोंसे सन्मान प्राप्त कर बेटे और बहूके साथ द्वारकाको प्रस्थान किया।।५२।।

व्याख्यार्थ : दुर्योधनने जो दिया उसकी बलरामजीने प्रशंसा की, इसलिए 'प्रतिग्रह' पद दिया है. आप (बलदेवजी)ने तो अभय दिया है, और उनका दिया हुआ दहेज ग्रहण किया. वह सब ग्रहण किया, सब शब्द कहनेका आशय संकोच न कर शुद्ध भाव स्थापित किया. इसमें कारण दान नहीं है, किन्तु अपने पक्षमें भगवान् हैं उनके पक्षमें यादव श्रेष्ठ हैं, भक्तोंके स्वामी हैं, दूसरे जीव अपराधवाले होते हैं यदि उनका दिया हुआ ग्रहण न किया जावे तो भक्ति मार्ग छिन्न-भिन्न हो जाये अतः ग्रहण किया, किन्तु पुत्र तथा बहुकेलिये लिया, जिसकेलिये कहते हैं कि 'स सुतः सस्नुष,' बेटे और बहूके साथ मित्रोंसे सम्मान पाकर प्रस्थान किया, पराक्रमसे विषमताका अभाव कहा।।५२।।

आभासार्थ : बलभद्र चरित्रकी प्रत्यापत्ति[१] 'ततः प्रविष्टः' श्लोकमें कहते हैं :

ततः प्रविष्टः स्वपुरीं हलायुधः समेत्य बन्धून् अनुरक्तचेतसः ।
शशंस सर्वं यदुपुङ्गवानां मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ।।५३।।

श्लोकार्थ : बलदेवजी अपनी पुरीमें प्रविष्ट हुए, वहां प्रेमी बांधवोंसे मिलकर, यादव श्रेष्ठोंकी सभामें सबके सामने जो कुछ वहां कौरवोंके साथ चेष्टा की, वह सुनाई।।५३।।

व्याख्यार्थ : यदि आप ही अपनी चेष्टा न कह सुनाते तो 'नन्द व्रजं गत'की तरह भगवान्को कुछ कर्तव्यकी शंका हो जाय, अतः स्वयं कहा, कारण कि अपनी पुरीमें पधार गये है, पुरीमें प्रवेश बिना विचारे ही किया क्योंकि 'हलायुद्धः' हैं जिससे उनमें विचारका अभाव रहता है. सर्वको जलाकर समलंकृत नगरमें प्रवेश करना चाहिए, अथवा दोनोंमें मैत्री होनेसे विचार करना आवश्यक न समझा वा अभाव ही था, नगरमें प्रवेशके अनन्तर बान्धवोंके पास आकर वा बान्धवोंमें मिलकर अपना पौरुष बिना पूछे अपने आप ही कहने लगे, सम्मति भी नहीं ली, कौरवोंके अहंकार नाशार्थ आपने जो नगरका आकर्षण

आदि किया वह सर्व कहा।।५३।।

१. चतुर्थ अध्यायमें भगवानने बलदेवजीमें प्रविष्ट होकर रूप चरित्र किया. अनन्तर बलदेवजी स्वयं निरोध करेंगे. इस समय बलदेवजीमें भगवदावेश नहीं है. अब बलदेवजीमें विचारका अभाव है यह कह कर सिद्ध किया है.

आभासार्थ : उनका चरित्र लोक प्रसिद्ध हो गया है यह 'अद्यापि' श्लोकसे कहते हैं :

अद्यापि च पुरं ह्येतत् सूचयद् रामविक्रमम्।
समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायाम् अनु दृश्यते।।५४।।

श्लोकार्थ : अब भी यह हस्तिनापुर, बलदेवजीके पराक्रमकी सूचना कर रहा है जैसा कि दक्षिणकी ओर ऊंचा और गंगाजीकी और ढालू मालूम हो रहा है।।५४।।

व्याख्यार्थ : यह हस्तिनापुर इस समय यों देखनेमें आता है कि गंगाके समीप अथवा मानों गंगाके मध्यमें है, उसका यह रूप स्वाभाविक नहीं है. तो ऐसा क्यों दीखता है जिसका उत्तर देते हैं कि 'सूचयद्रामविक्रमम्' यों दीखनेका कारण यह है कि इससे बलरामजीके पराक्रमको सूचना देकर कह रहा है कि मेरा रूप ऐसा नहीं था किन्तु बलरामजीने ऐसा किया है, अतः दक्षिणसे मेरा भाग उन्नत है, जिससे यों दीखता है कि अब नगर गंगाजीमें गिरता है. ऐसा होना तो विपरीत है कि यह रूप रामजीके पराक्रमका सूचक है, 'गजा ह्वये ह्रते नद्या' यह द्वादशमें कहेंगे. अतः देखनेमें विरोधकी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि भागवतके कहनेके समय तो यों दीखता ही था।।५४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण, अध्याय ६५ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ६६

देवर्षि नारदजीका भगवान्‌की गृहचर्या देखना

सात्त्विकानां निरोधे तु मुख्यो नारद ईरितः ।
अतस्तस्यापि वक्तव्यं पूर्वबुद्धेर्निवारणम् ।।का.१।।
भक्तिमार्गानुरोधस्य पृथक्त्वं स्याद् यतः स्फुटम् ।
विंशे नारददृष्टानां कृष्णानां चरितं महत् ।।का.२।।
अलौकिकत्वसिद्ध्यर्थं निरोधे विनिरूप्यते ।
प्रकीर्णके प्रकरणे न सङ्गतिरिहोच्यते ।।का.३।।
तथापि साम्बकथने समायातस्तथाकरोत् ।
भ्रान्त्यभावाय भगवान् बोधयामस तादृशम् ।।का.४।।
निरोधस्तेन संसिद्धः सात्त्विकानाम् अतः परम् ।

कारिकार्थ : सात्त्विकोंका निरोध करना है, उनमें नारद मुख्य है, इसलिए पहले जो संसारमें उसकी आसक्त बुद्धि थी, उस बुद्धिको मिटा और उसका वर्णन भी करना चाहिए. स्नेह ही भक्ति है, वह निरोधरूप तब हो, जब प्रपञ्चकी विस्मृति होवे. अतः नारदकी प्रपञ्च विस्मृतिका प्रथम वर्णन करनेसे ही नारदके निरोधका प्रकट ज्ञान होगा. तात्पर्य यह है कि नारदमें प्रथम केवल भक्ति थी, जब प्रपञ्चकी विस्मृति हुई, तब निरोध सिद्ध होकर प्रकट देखनेमें आया. इस उत्तरार्धके अध्यायमें नारदने कृष्णके अनेक स्वरूप तथा महान् चरित्र देखे. गृहस्थ धर्म भी अलौकिक है, यह समझानेके लिए वा सिद्ध करनेके वास्ते निरोध प्रकरणमें भगवानने नारदको यह लीला दिखाई है. इस प्रकीर्ण प्रकरणमें यद्यपि इसकी संगति नहीं कही जाती, तो भी साम्ब हस्तिनापुरमें बंधनमें पडा है, यह समाचार सुनाने आए हुए नारदको भगवानने संशय ग्रस्त देखा; क्योंकि उस समय भगवान् नरकासुरको मार कर षोडश सहस्र स्त्रियां ले आए थे और उनसे विवाह किया था, यह जानकर नारद संशयमें पड गया था कि कृष्ण एकने इतनी स्त्रियोंसे विवाह कैसे किया और प्रत्येकको कैसे मिल सकेंगे? उसका यह संशय भगवानने सर्वत्र अपने स्वरूपसे लीला करते हुए दर्शन देकर मिटा दिया, जिससे उसका निरोध सिद्ध हो गया, इसके बाद सात्त्विकोंका निरोध सिद्ध किया है।।१-४।।

आभासार्थ : पूर्वाध्यायमें साम्बका समाचार सुनानेकेलिए नारदजी आए,

शास्त्र दृष्टिसे भगवान् निर्दोषपूर्ण गुण विग्रह हैं अर्थात् भगवान्में किसी प्रकार दोष नहीं है. नारदने आकर सुना कि भगवान् नरकको मार कर १६ हजार स्त्रियां ले आए है और उनसे विवाह भी किया है. यह कार्य लोकमें शास्त्र विरुद्ध देख नारद शंकाशील होने लगा, अतः इस विरोधको अपनी आंखोसे जाकर देखूं तो सही यह है क्या? अनन्तर दूसरा निर्धार करूंगा, यह विचार कर स्वयं भगवान्को देखनेको प्रवृत्त हुआ, 'नरकं निहतं' श्लोकमें कहते हैं :

श्रीशुक उवाच

नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम् ।
कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद्दिदृक्षुः स्म नारदः ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि नरकासुरको मार, अकेले भगवानने बहुत स्त्रियोंसे विवाह किया है, यह सुनकर उसको देखनेकेलिए नारदजी आए।।१।।

व्याख्यार्थ : कितनेक यहांसे सात्त्विक प्रकरण कहते हैं तेतीस अध्यायोंसे पूर्व यों है. वहां नारद सात्त्विकोंमें मुख्य है, यों निरूपण कर दिया है. वहां ही पर ११-११ अध्यायोंसे अवान्तर प्रकरणोंकी व्यवस्था कही है, क्योंकि सात्त्विक दो प्रकारके हैं एक सकाम सात्त्विक और दूसरे निष्काम सात्त्विक हैं. उनके मतमें दश इन्द्रियां और एक अन्तःकरणका जब निरोध होता है तब निरोधकी सिद्धि होती है, इस मतको लेकर हमने निबन्धमें लक्ष्मणा हरणकी अवधि पर्यन्त निरूपण किया है, एतावता स्त्रियां समाप्त हुई. उनमें भगवत्कृत भोग शास्त्रसे विरुद्ध होनेसे नहीं मानना चाहिए यों प्रमाणकेलिये नारदकी दृष्टिसे वर्णन किया है, नारदने भगवदीय शास्त्रोंमें भगवान्के अक्लिष्ट चरित्र ही सुने हैं. नरक वध आदि चरित्र पहले नहीं सुने हैं, यद्यपि केवल नरक वध पहले ही सिद्ध है तो भी उसके अवरोधसे विवाह तो अब ही सुना है, इसलिए वह विचार करने योग्य है. इस प्रकार इस चरित्रका ऋषियोंने पहले विचार नहीं किया है इसके अनन्तर भगवान्के अनेक चरित्रोंमेंसे जो चरित्र मीमांसा करने योग्य हैं उसका विचार किया जाता है. अतएव इस चरित्रमेंसे जो लौकिकी दृष्टि उत्पन्न हुई है, उसका निवारण भगवान् ही आगे करेंगे. जब ही नरकासुर मरा तब ही उस ही प्रक्रमसे स्त्रियोंका विवाह भी सुना, एक ही क्षणमें अनेक गृहोंमें एक कृष्णका विद्यमान होना यद्यपि वहां 'उरुरूप' इस वाक्यसे रूप भेद स्पष्ट ही है. यदि यों हैं, तो अवतारान्तर न्यायसे

पृथक् अवातरत्व होना चाहिए, इससे, कृष्णसे ही विवाहित हुई न होनी चाहिए, वे सर्व देवकीके पुत्रकी पत्नियां नहीं हो सकती हैं, उसके ही अनन्त रूपत्व पूर्वावतारोंमें सिद्ध नहीं हुआ है, इसलिए इस पर विचार करना उचित ही है, वाणीसे कहे हुएको तो युक्तिसे बाध किया जा सकता है किन्तु प्रत्यक्ष देखे हुएका बाध नहीं हो सकता है, देखे हुएमें कुछ अनुपपन्न(अनुचित) नहीं है, बहुत स्त्रियोंका एक कृष्णसे विवाह होना विचित्र चरित्र है इसलिए उसको देखनेकी इच्छासे नारदजी वहां आये।।१।।

आभासार्थ : भगवानके चरित्रमें आश्चर्य कैसे? जिससे नारदको देखनेकी इच्छा हुई यह शंका कर इसकी विचित्रता प्रतिपादन करते हैं :

चित्रं बत तदैकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ।।२।।

श्लोकार्थ : यह बडी आश्चर्यकी बात है कि जो अकेले भगवान्ने एक शरीरसे एक साथ अलग अलग घरोंमें सोलह हजार स्त्रियोंका पाणिग्रहण किया।।२।।

व्याख्यार्थ : श्लोकमें 'बत' पद यहां हर्ष वाचक है, तब सब स्थान पर स्थित भक्तों पर भगवान् स्वतः स्वयं अनुग्रह करते हैं, इसलिए कहीं भी जानेका क्लेश नहीं, 'एक शरीरसे' इसकी व्याख्या करते हुए विचार विमर्श करते हैं. 'शरीर' है इसलिए इसमें ब्रह्मके समान अचिन्त्य ऐश्वर्य मान लेना शास्त्रसे सिद्ध नहीं है, यदि शरीरमें भेद माना जाय तो उस सर्व स्त्रियोंमें कृष्ण पत्निपन सिद्ध नहीं हो सकता है, अतः शरीरमें ब्रह्म धर्म पन अथवा ब्रह्मत्वकी कल्पना करनी चाहिए. यदि ब्रह्मत्व माना जाय तो लौकिकधर्मसे सम्बन्ध उचित नहीं है. ब्रह्म धर्मत्व माननेसे विलक्षणता आवश्यक है, ब्रह्मका भी जो धर्म एक स्थान पर है, वह दूसरे स्थान पर नहीं है, लोकमें इस प्रकार देखनेमें आता है, नारद तो सूक्ष्मदर्शी हैं, इससे दोनों उचित नहीं है, इसलिए आश्चर्य है. एक ही कालमें साधनरूप एक ही शरीरसे भिन्न-भिन्न गृहोंमें १६ हजारोंमें व्याप्त हैं, आनन्त्य पक्षमें भी ध्रुवाका आनन्त्य नहीं होता है इसलिए सोलह हजारोंमें विचित्रता होती ही है. 'स्त्रियः' शब्द देकर उनका योगज धर्मका निवारण किया जिससे एक स्थान पर प्रकट हुआ देखनेमें आवे, आकाशकी तरह परिच्छेद भेदसे मायाकी तरह असत् पनसे विवाह पक्षको एक पदसे असिद्ध करता है और विवाह जब तक

अवतार है तब तक विवाहिताओंका पूर्ण रीतिसे पालन करना चाहिए, इसलिए यह विवाह केवल दिखावा नहीं है ।।२।।

आभासार्थ : इस कारणसे नारदजीको इस लीलाके देखनेकी लालसा उत्पन्न हुई, तदर्थ द्वारका आये जिसका वर्णन 'इत्युत्सुको' श्लोकमें करते हैं :

इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुम् आगमत् ।
पुष्पितोपवनाराम–द्विजालिकुलनादिताम् ।।३।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार उत्सुक हो नारदजी द्वारका आए, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जहां फुलवाडी और आरामोंमें पक्षी तथा भौंरोंके झुण्ड नाद कर रहे हैं।।३।।

व्याख्यार्थ : वे नारदजी देवोंकी गुप्त बातें भी जानते हैं, इस कारणसे देवोंमें भी ऋषि(मन्त्र द्रष्टाको ऋषि कहते हैं) होनेसे, देवर्षि कहे जाते हैं, क्योंकि ये गुप्त अर्थोका उपदेश करनेवाले हैं अतः देखनेकेलिये आये हैं. नारदजीकी द्वारकामें लौकिक बुद्धि सिद्ध करनेकेलिये द्वारकाका साढे तीन श्लोकोंसे वर्णन इस तरह करते हैं कि जहां फुलवाड़ियोंमें जो आराम अर्थात् क्रीड़ाके स्थान थे, उनमें अनेक प्रकारके पक्षी तथा भौंरें प्रचुर मधुर गुञ्जार कर रहे हैं।।३।।

आभासार्थ : द्वारका वन, जल और स्थल रूपसे तीन प्रकारकी है जिसमें वनरूपाका वर्णन किया अब जल रूपाका 'उत्फुल्लेन्दु' श्लोकमें वर्णन करते हैं :

उत्पुल्लेन्दीवराम्भोज–कल्हारकुमुदोत्पलैः ।
छुरितेषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंस–सारसैः ।।४।।

श्लोकार्थ : फूले हुए इन्दीवर, अम्भोज, कल्हार, कुमुद और उत्पलोंसे व्याप्त सरोवरोंमें हंस और सारस पक्षी ऊंचे स्वरसे कूज रहे हैं।।४।।

व्याख्यार्थ : इन्दीवर आदि पांच प्रकारके पुष्पोंसे व्याप्त सरोवरमें मधुर शब्द करनेवाले हंस और सारसोंसे(वह नगरी) शोभायमान थीं।।४।।

आभासार्थ: 'प्रासादलक्षैः' श्लोकसे भूमिरूपा द्वारकाका वर्णन करते हैं:

प्रासादलक्षैर्नवभिः जुष्टां स्फाटिकराजतैः ।
महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः ।।५।।

श्लोकार्थ : स्फटिक मणि और चांदीके बने हुए रथ थे, जिनमें अमूल्य मरकत मणियां जगमगा रही थीं और रत्नोंसे जड़ित अन्य वस्तुएं रखी हुई थी, जिनसे वे नव लक्ष गृह शोभित थे।।५।।

व्याख्यार्थ : जिस द्वारकामें महान् पुरुषोंके नव लाख घर थे, जिन घरोंके स्तम्भ तथा भित्तियां(भींते) स्फटिक मणि एवं चान्दीसे बनी हुई थी. चान्दीके स्तम्भ थे महा मरकत मणिसे पृथ्वी जड़ी हुई थी, इस प्रकारसे बने हुए महल प्रसिद्ध थे. जैसे साधारण गृहोंमें काष्ट(लकड़ी)के छज्जे होते हैं वैसे यहां रत्नोंसे बनाये हुए छज्जे थे. परिच्छद शब्दसे गृहके पात्र आदि भी कहे हैं अर्थात् वे उपकरण भी सोनेके बने हुए तथा रत्नोंसे जड़ित थे, तो भी अवसर ही न मिलता जो उन उपकरणोंको काममें लाया जावे अर्थात् अनेक प्रकारके अनन्त उपकरण थे।।५।।

आभासार्थ : इस प्रकार पूरीके बाहरी भागका वर्णन कर भीतरका वर्णन करते हैं :

विभक्तरथ्या–पथ–चत्वरापणैः शाला–सभाभी रुचिरां सुरालयैः ।
संसिक्तमार्गाङ्गण–वीथि–देहलीं पतत्–पताका–ध्वज–वारितातपाम् ।।६।।

श्लोकार्थ : जिस नगरीकी गलियां संकडी नहीं थी, अलग अलग थीं और राज मार्ग विशाल थे, वैसे चौहट्टे, दुकानों, शालाओं और सभाओंसे तथा देव मन्दिरोंसे शोभायमान थे एवं सर्वत्र मार्ग, मैदान, गलियां और दहेलियों में छिरकाव हो गया था. व उडती हुई ध्वजाओं और पताकाओंसे धूप देखनेमें नहीं आती थी।।६।।

व्याख्यार्थ : द्वारकाकी गलियां और राज–मार्ग अलग–अलग बड़े–बड़े थे संकीर्ण नहीं थे. जिससे आने जानेमें किसी प्रकार घबराहट नहीं होती थी, अतः रथ, अश्व आदि और पैदल चलनेवाले सरलतासे निर्भय होकर आवागमन करते थे, मैदान, बाजार ये सब आने जानेके मार्ग वैसे स्वच्छ तथा बड़े थे. ठहरनेके स्थानोंको बताते हैं, 'शाला' अन्न आदि भोजनके स्थान 'सभा' बैठनेके स्थान वे भी सुन्दर बने हुए थे जिससे नगरी सुन्दर दीखती थी, ये दो तो ऐहिकार्थ हैं, अब पारलौकिककेलिये कहते हैं कि देव मन्दिरोंसे मनोहर थी, निमित्तसे उसकी विशेषताका वर्णन करते हैं कि जिसमें मार्गों पर देहली तथा सर्वत्र छिरकानसे स्निग्धता एवं ठण्डक दृष्टिगोचर होती थी. ऊपरकी शोभाका वर्णन करते हैं उड़ती हुई ध्वजा तथा पताकाओंने धूपको हटा दिया है।।६।।

आभासार्थ : नगरीका सामान्य प्रकारसे वर्णन कर अब नारदने जो भगवद्गृहकी विशेषता देखी जिसका 'तस्यामन्तःपुरं' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

तस्याम् अन्तःपुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः ।
हरेः स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कात्स्न्येन दर्शितम् ।।७।।

श्लोकार्थ : उस द्वारकामें सर्व लोकपालोंकी सम्पत्तिसे सजाये और उनसे पूजित भगवान्का अन्तःपुर था, जिसमें विश्वकर्माने अपना सर्व चातुर्य दिखलाया है।।७।।

व्याख्यार्थ : नारदने इस प्रकारसे जो देखा तो उससे लौकिक उत्कर्ष प्रकट होने लगा, वह उसको अभिप्रेत नहीं था. लौकिक सिद्ध होनेसे उसमें बुद्धिकी स्थिरतासे लौकिक निरोध होता है, उस द्वारकामें भगवानका अन्तःपुर स्वतः शोभासे युक्त था, इससे उसमें वैकुण्ठका आवेश निरूपण किया है अथवा लक्ष्मी यहां ही विराजती है यह सिद्ध किया है. अन्य अवतारोंमें लक्ष्मी अवतार लेकर आती है, यहां तो मूलरूपसे ही रहती है. उपपत्तिसे द्वारकामें दो प्रकारसे अन्तःपुरका वर्णन करते हैं (१)सर्व लोकपालोंसे पूजित और दूसरा विश्वकर्माने अपना कौशल्य सम्पूर्ण प्रकार प्रकट किया है. रत्न और सुवर्ण आदिका तो नगरमें ही निरूपण किया है. भगवानके अन्तःपुरमें वर्णन नहीं किया, वहां तो विशेषता दिखाते हैं, और उसमें विशेष ही कहना चाहिए. अतः भूमिमें स्थित पदार्थ साधन भावने निरूपण किये हैं. इन्द्र आदि जो लोकपाल हैं उनके पास परम्परासे इकट्ठे किये हुए जो दुर्लभ रत्न आदि हैं वे पूजाके साधन होते हैं अर्थात् वे पूजनीय होते हैं, उनसे वह अन्तःपुर सुशोभित था, कितनेक कहते हैं कि अन्तःपुरके निर्माणकेलिये लोकपालोंने वे रत्न दिये थे, जिनसे शिल्पके आचार्य विश्वकर्माने भगवानकेलिये अन्तःपुरमें अपना कौशल्य दिखलाया है अर्थात् विशेष निपुणता (चतुराई) प्रकट की है. सारांश (तात्पर्य) यह है कि वहां जो रत्न जड़े हुए थे वे लोकपालोंने दिये हैं और विश्वकर्माने उनको सम्यक् प्रकारसे जोड़ा है, जिससे प्रभुका गृह विशेष दीप्तिमान् था।।७।।

आभासार्थ : इस प्रकार सामान्य रीतिसे अन्तःपुरका वर्णन कर उसमें स्थित प्रत्येक गृहका विभाग कर एक गृहका वर्णन करते हैं :

तत्र षोडशभिः सद्म–सहस्रैः समलङ्कृतम् ।
विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत् ।।८।।

श्लोकार्थ : वहां उन दीप्तिमान् अन्तःपुरमें भगवान्की पत्नियोंके सोलह सहस्र पद्म सुशोभित थे, जिनमें से एक बडे भवनमें नारदजीने प्रवेश किया।।८।।

व्याख्यार्थ : वे सब गृह स्वतः अपने आपमें प्रधानभूत होते हुए भी प्रत्येक गृह सर्व द्रष्टाओंको अपनी ओर आकर्षण कर रहा था, यदि सबकी समान प्रधानता वा शोभा होती तो विशिष्ट रस पैदा न हो सकता, इस कारणसे जो गृह नारदके समीप होता, उसमें ही नारदकी विलक्षण श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न हो जाती, इसलिए उस एकमें प्रवेश किया. एक भी गृह अर्थात् प्रत्येक गृह सोलह हजार पद्मोंसे समलंकृत था, वे गृह भगवत्पत्नियोंके थे. 'महत्' शब्दका भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि किसी भी घरके निकट जानेवालेको वह ही घर महान् देखनेमें आता था इसलिए भवनको 'महत्' विशेषण दिया है, घरोंमें न्यून वा अधिक भाव नहीं है, सर्वमें समानता न होती तो भगवान्में वैषम्य दीखता, सर्वत्र विवाह रमण पुत्रादि सम्पदा समान थीं अतः न्यूनाधिक भाव नहीं था।।८।।

आभासार्थ : अतः 'स्थाली पुलाक न्यायसे' उसका वर्णन 'विष्टब्धं' श्लोकसे करते हैं :

विष्टब्धं विद्रुमैः स्तम्भैः वैडूर्यफलकोत्तमैः ।
इन्द्रनीलमयैः कुड्यैः जगत्या चाहतत्विषा ।।९।।

श्लोकार्थ : विद्रुम मणिके खम्भे जिसमें लगे हुए हैं, उन पर वैदूर्य मणिके उत्तम पट्टे लगे हैं, इन्द्र नील मणिकी भीतें और अखण्ड कान्तिवाली इन्द्र नील मणियोंके कारण सबकी कान्ति बढ रही है, जिससे महलकी शोभा विशेष हो रही थी।।९।।

व्याख्यार्थ : प्रवाल युक्त चार स्तम्भोंसे यह जताया है कि यह गृह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंसे युक्त हैं. वे स्तम्भ वैदूर्य मणिके पट्टोंसे आच्छादित हैं, इससे यह समझाया है कि स्तम्भ दो प्रकारके थे. ऊपर जो प्रसारित थे वे काष्टरूप थे, और उनके ऊपर जो पट्टे लगे थे वे वैदूर्य मणिके थे. वे स्थूल बड़े-बड़े पट्ठे काष्टके स्तम्भों पर जड़े गये थे. इन थम्भोंमें भी जो कटिके अन्तर्गत स्तम्भ थे वे वैसे थे, और जो दूसरे जो पृथ्वी पर स्तम्भ खड़े किये गये थे वे विद्रुम मणियोंसे जड़ित थे, इन्द्र नील मणियोंसे भीतें और पृथ्वीके फर्श भी उनके थे, जिससे सारा महल उत्तम प्रकारसे चमक रहा था, वहांके प्रकाशको सूर्यादिका प्रकाश भी कम नहीं कर सकता था।।९।।

वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः ।

दान्तैरासनपर्यङ्कैः मण्युत्तमपरिष्कृतैः ।।१०।।

श्लोकार्थ : मोतियोंकी झालर लटक रही है, ऐसे विश्वकर्माके बनाए हुए चंदोवा, हाथी दांतके उत्तम मणियोंसे खचित आसन व पलंगोसे घर सुशोभित था।।१०।।

व्याख्यार्थ : विश्वकर्माके निमित्त चन्दवाओंसे अद्‌भुत शोभित हो रहा था उनमें मोतियोंकी झालरें लटक रही थी, हाथी दान्तोंसे बने हुए आसन और पलंगोंसे गृह सजाया हुआ था, वे आसन और पलंग उत्तम मणियोंसे अलंकृत थे।।१०।।

आभासार्थ : पुरुष तथा स्त्रियां दास और दासियोंके रूपमें जो वहां रहती थी उनकी भी शोभा अवश्य कहनी चाहिए इसलिए 'दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः' श्लोकसे उनका वर्णन करते हैं :

दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कृतम् ।
पुम्भिः सकञ्चुकोष्णीष–सुवस्त्रमणिकुण्डलैः ।।११।।

श्लोकार्थ : गलेमें पदक पहिरे तथा सुंदर वस्त्रोंसे अलंकृत दासियां और अंगरखा, पगडी एवं सुंदर वस्त्र तथा मणियोंके कुण्डलोसे सुशोभित पुरुष थे, वैसे दास–दासियोंसे घर अलंकृत था।।११।।

व्याख्यार्थ : 'निष्ककण्ठीभिः'. पदक आभूषण तो नित्य पहिना जाता है अतः यहां 'निष्ककण्ठीनां' कहनेसे बताया है कि पदकके सिवाय अन्य जो सुवर्णके बड़े कुण्डल आदि होते हैं वे भी पहने थे, सुन्दर–सुन्दर वस्त्र भी धारण किये थे, जिससे चारों तरफ शोभाका होना कहा है, जिस प्रकारके वस्त्रोंसे शोभा हो वैसे वस्त्र धारण किये थे, नहीं तो शोभाका कहना ही व्यर्थ हो जाता. न केवल स्त्रियोंसे शोभित था किन्तु पुरुषोंसे भी अलंकृत था. पुरुषोंका वेष पाश्चात्य था, उत्तम अङ्गरखे, पगड़ी और मणियोंसे जड़े हुए कडे और कुण्डल जिन्होंने धारण किये हैं वैसे दास थे. भगवान्‌के गृहमें जो दास और दासियां थीं वे इस प्रकार अलंकारादि धारण किये हुए थे जिससे गृहकी शोभा बढ रही थी।।११।।

आभासार्थ : सर्व समयकी सब शोभाका वर्णन कर रात्रिकी विशेष शोभा 'रत्न प्रदीप' श्लोकसे कहते हैं :

रत्न–प्रदीप–निकरद्युतिभिर्निरस्त–ध्वान्तं विचित्र–वलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपम् अक्षैः निर्यान्तम् ईक्ष्य घनबुद्‌धय उन्नदन्तः ।।१२।।

श्लोकार्थ : रत्नोंके समूहकी कान्तिसे गृहका अन्धकार नाश हो रहा है और महलकी जालियोंसे निकले हुए अगरके धूपको देख, उसे मेघ समझ मयूर छज्जों पर बैठ शब्द करते हुए नृत्य कर रहे थे।।१२।।

व्याख्यार्थ : जहां घरमें रत्न समूहके प्रकाशोंसे अन्धकार नष्ट हो गया है, गार्हस्थ्यमें रात्रिके समय कामरसका वर्णन किया जाता है, इसलिए कामको जगानेवाले विभावोंका वर्णन करते हैं. विचित्र भीतों पर बनाये हुए मणि निर्मित छज्जों पर मयूर खड़े हो नाच करते हैं. हे अङ्ग! यह सम्बोधन स्नेहका सूचक है, इससे यह कथा, भगवद्भोग सम्बन्धी होनेसे योनियोंके ही चिन्तन करने योग्य है, न कि बाह्यपनसे इस कथाका साधारणत्व है यह सूचन किया है. मयूरोंके नृत्यमें अलौकिक हेतुका वर्णन करते हैं–गृहको शुद्ध एवं सुगन्धित करनेकेलिये जो अगुरु धूप किया है वह धूप जालियोंसे बाहर निकलता देख, मयूरोंने समझा कि ये मेघ हैं, जिससे वे जोरसे केका ध्वनि करने लगे, क्योंकि जब मेघ आते हैं तब उनको देख मयूर नृत्य भी करते हैं. उनका नृत्य देखनेसे रस प्रकट होता है, गीत तथा वाद्यके बिना नृत्यकी शोभा नहीं होती है, इसलिए यहां मयूरोंकी केका गीत तथा वाद्य दोनों प्रकट करती है अतः दोनों प्रकारकी हैं यह दिखाया हैं।।१२।।

आभासार्थ : जिसकेलिये इतना निरूपण किया, अब उसका 'तस्मिन्' श्लोकसे निरूपण करते हैं :

तस्मिन् समान–गुणरूप–वयस्सुवेष–दासी–सहस्र–युतयानुसवं गृहिण्या।
विप्रो ददर्श चमर–व्यजनेन रुक्म–दण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या।।१३।।

श्लोकार्थ : उस गृहमें अपने समान वय रूप, सुन्दर वेष और गुणोंवाली सहस्र दासियोंसे मिलकर श्रीमति रुक्मणीजी सोनेके दण्डवाला चंवर हस्तमें लेकर जिस समय यादव पति श्रीकृष्णको पवन कर रही थी, उस समय नारदजीने भगवान्का दर्शन किया।।१३।।

व्याख्यार्थ : दासियोंमें भी श्रीरुक्मिणीजी जैसे गुण थे उनका वर्णन करते हैं. १.उदारता आदि गुण अथवा रति क्रीडाके उपयोगी मृदुत्व आदि गुण उनमें भी थे, २.सौन्दर्य, ३.युवावस्था, ४.सुन्दर वस्त्र आदि इत्यादिमें समानता प्रकट की है, इस प्रकार समानतावाली इतनी दासियोंकी क्या आवश्यकता है? शंकाका समाधान करते हैं कि काम रसका भोग एकान्तमें ही होता है, जिससे उस समय मनमें यह शंका बनी रहती है कि कोई प्रतिबन्ध करनेवाला तो आता नहीं? मनमें

इस प्रकार शंका उत्पन्न होनेसे रस उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए प्रतिबन्धको रोकनेकेलिये दासियोंकी आवश्यकता थी, यदि काम क्रीड़ा स्वल्प समय हो तो वह नायिकारूप विभाव रस पोषक नहीं होता है उस समय रस पुष्ट न होनेसे पूर्ण महान् रसकी प्राप्ति नहीं होती है, अतः महान् रसके अनुभव करनेकेलिये दासियोंका निरूपण करते हैं, यदि अनेक नायिकारूप विभाव होवे तो रस उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि प्रत्येकका स्वभाव पृथक्-पृथक् होता है अतः रसोत्पत्ति उनसे नहीं होती है, इसलिए नायिका एक ही गृहिणी दिखायी है, अन्य दासियों अनेक प्रकारके कटाक्षादिसे पोषित रस विशेष उद्दीप्त होता है जिसका अनुभव मुख्य नायिका गृहिणीसे प्राप्त होता है, इसलिए वे दासियां केवल उद्दीपन करनेकेलिये हैं न कि भोगार्थ हैं. भोगार्थ महान् रसानुभवकेलिये तो 'गृहिणी' मुख्या नायिका है. वह सर्व काल सहस्त्र दासियोंसे युक्त हो, चंवरके पवनसे यादवपतिकी वस्तुतः अपने पतिकी सेवा कर रही थी, तब नारदजीने जाकर उस लीलाके दर्शन किये, चंवरका वायु उद्दीपन करनेवाला है, उसमें भी सुवर्ण दण्डवाला विशेष है यह अद्भुत प्रकार भगवान्में निरूपण किया, वह प्रकार सामान्य और समानोंमें नहीं होता है इससे यह दिखाया कि नारदजी रात्रिमें भोगके समय वहां गये हैं।।१३।।

आभासार्थ : 'तं संन्निरीक्ष्य' से तीन श्लोकोंमें भगवान्ने जिस प्रकार अतिथि सत्कार किया उसका वर्णन करते हैं :

तं सन्निरीक्ष्य भगवान् सहसोत्थितः श्री-पर्यंकतः सकल-धर्मभृतां वरिष्ठः ।
आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट-जुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे ।।१४।।

श्लोकार्थ : नारदजीको देखते ही सकल धर्मधारियोंमें परम श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी तुरन्त रुक्मणीजीके पलंगसे उठ खडे हो गए और किरीट सहित मस्तकसे नारदजीके चरणोंको प्रणाम कर हाथ जोड उनको अपने आसन पर बिठाये।।१४।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने नारदजीका कायिक, मानसिक और वाचिक तीनों प्रकार आतिथ्य किया जिसका तीन श्लोकोंसे वर्णन करते हैं. कायासे अतिथिका पूजन सत्कार सबको अपनी योग्यतानुसार करना ही चाहिए अतः भगवान्ने भी उनको देखते ही लाकर अपने स्थान पर विराजमान किया, यों निरूपण किया जाता है क्योंकि कायिक पूजन इससे विशेष अन्य कोई नहीं है

और, दूसरी जो लौकिक कायिक सेवा है वह अन्य शोषत्वसे निरूपण की जाती है, इस प्रकार करनेमें कारण दिखाते हैं कि आप भगवान् हैं, यों न करें तो दूसरोंसे भगवा्नमें कौनसी विशेषता देखनेमें आवें, यदि अपने स्थान पर उनको विराजमान न करें. तुरन्त उठ खड़े हुए जिससे उनके प्रति लौकिक भावकी स्थिरता दिखाई, यदि लौकिक भाव न होवे तो और अपना भगवद्धर्म प्रकट करते तो सेवकके आने पर उठकर खड़ा होना उचित न होता. भगवद्गीतामें भगवान्ने प्रतिज्ञा की है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' जो मेरे पास जिस भावसे आते हैं वा शरण लेते हैं उनका भजन मैं उसी भावसे करता हूँ, अतः नारद इस समय लौकिक भावसे भावित होकर आया था जिससे भगवान्ने भी उसका आतिथ्य लौकिक भाव प्रकट करते हुए किया है, 'श्रीपर्यंकत' रुक्मिणीजीके पलंगसे, यह तो अनुचित निरूपण किया है, केवल लौकिक प्रकारसे भी वैसे हो सकता है, इसलिए वैदिक प्रकार भी दिखाते हैं कि आप समस्त धर्मधारियोंमें परमोत्तम हैं, 'धर्मधारी वे कहे जाते हैं, जो निरन्तर धर्मकर्ता होते हैं अर्थात् सर्व समयमें धर्म पर चलनेवाले हो, वे जीव होते हैं, उनमें श्रेष्ठ हैं', इस प्रकार सजातीय उत्कर्ष दिखाकर नारदकी बहिर्दृष्टि ही स्थिर की जाती है, इस कारणसे ही भगवान्ने नारदके चरणोंमें मुकुट सहित सिरसे प्रणाम किया है, सिरसे प्रणाम कर अपनी धर्ममें निष्ठा प्रकट कर दिखाई है और मुकुटसे लोक-निष्ठाको सूचित किया है, केवल आपने उसके धर्मोंका अवलम्बन नहीं किया है, किन्तु उसमें भी अपने धर्मोंको प्रवेश कराया है. वे कहते हैं कि हाथ जोड़कर उसको अपने आसन पर विराजमान[१] किया, भगवान्ने ही वास्तविक रीतिसे अपने धर्म उसमें स्थापित किये, यों 'अवीविंशत्' पद कहकर धर्म व्यत्यास स्थापन किया, यह दिखाया है अर्थात् जहां आप विराजे थे, वहां नारदको बिठाया और जहां नारदके बैठनेका स्थान था, वहां आप विराजे, इस प्रकार धर्म व्यत्यास प्रकट दिखाया. यहां 'आसन' तो रुक्मिणीजीका पलंग ही था, यों समझा जाता है, उससे ही आप खड़े हुए थे, 'स्व' अपना स्थान कहा, जिसमें भी पर्यंक ही आसन था, यों जाना जाता है, 'आसन' पदसे 'अपना सिंहासन' इतना ही कहा है, तो भी पृथुकोपाख्यानमें 'निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यंके' इस वाक्यसे पलंग ही आसन है।।१४।।

१.'अवीविशत्' यह प्रयोग अन्तर्भावितणिच् प्रयोग है.

तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना बिभ्रद् जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि।

ब्रह्मण्यदेव इति यद् गुणनाम युक्तं तस्यैव यत् चरणशौचम् अशेषतीर्थम् ।।१५।।

श्लोकार्थ : जगतके जो गुरु है, उनमें भी भक्तोंके पति भगवान्ने उसके चरण धोकर वह जल अपने मस्तक पर चढाया, जिस भगवान्के चरणोंका जल (गंगा) सबको पवित्र करनेवाली तीर्थरूप है, ऐसे प्रभु ब्राह्मणोंके हितकर होनेसे इसको देव मानते हैं, भगवान्ने अपने गुण और नामके अनुरूप उचित कार्य ही किया।।१५।।

व्याख्यार्थ : पलंग पर विराजमान करनेके पश्चात् भगवान्ने नारदजीके चरण धोये, यह धोनेका कार्य कायिक होते हुए भी मानस शेषत्वसे निरूपण किया जाता है. स्वतः पादों (चरणोंका) धोना भक्तिसे ही होता है, पाद प्रक्षालन का वह जल भगवान्ने अपने मस्तक पर पधराया, क्योंकि उस समय भगवान्में नारदजीके धर्मका आवेश था. अतः भक्तोंको भगवच्चरणारविन्दका जल अपने मस्तक पर धारण करना चाहिए. इस प्रकार होवे तो भी भगवान्के माहात्म्यको जाननेवाले इस बातको कैसे मानेंगे ? इस पर कहते हैं कि जगत्के बहुत गुरु हैं, जैसे कि शास्त्र बनानेवाले, उपदेश देनेवाले, प्रेरणा करनेवाले इत्यादि हैं, इन सबमें भगवान् ही उत्तम महान् गुरु हैं, तो भी भक्तोंके पति हैं, 'यद्यदा चरति श्रेष्ठः' इस गीता वाक्यानुसार जो कुछ आचरण भगवान् करते हैं, उनको देखकर भगवदीय भी करते हैं, इसलिए भक्तोंके रक्षार्थ भगवान्ने यों किया है, यों न करते तो गजेन्द्रकी तरह वैष्णवोंको उपद्रव भी हो सकता. 'हि' शब्द इसलिए दिया है कि भगवान्ने यह कार्य जो किया है, वह भक्तोंकी रक्षाकेलिये किया है, इसलिए योग्य ही किया है. यदि यों है तो भक्तिमार्गमें विरोध होगा. इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'ब्रह्मण्य देवः'. ब्राह्मणोंके हितको सिद्ध करनेवाले देव हैं अर्थात् वह कार्य करते हैं, जिससे ब्राह्मणोंका हित होवे, ब्रह्मण्य और वही देव हैं, अतः उनका ही पूज्य है, भगवान् नाम और गुण तब ही सार्थक हो, जब ऐसा कार्य करे, जिससे ब्राह्मणोंका मनोरथ सिद्ध हो जाय, ब्राह्मण तो पूजा सत्कार चाहते हैं, न कि अन्नका सत्र अर्थात् भरपूर अन्न मिले, किन्तु अनादर हो, वह नहीं चाहते हैं, केवल सत्कारसे प्रसन्न होते हैं. यह तब हो सकता है, जब धर्म प्रवर्तक भगवान् इस प्रकार कर मार्ग बतावें, न कि जैसा-वैसा अन्य बतावें तो हो सकता है, एतावता भी लोक कैसे प्रवृत्त होंगे ? इस पर उत्तर देते हैं कि उस भगवान्के चरणसे निकला जो जल है, 'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च' इस शास्त्रानुसार उसमें सब तीर्थ

हैं, इतना होते हुए भी नारदके चरणका जल सिर पर चढ़ाकर अपने अपकर्षका अभाव भी निरूपण किया है।।१५।।

आभासार्थ : 'सम्पूज्य' श्लोकसे स्तुति करते हैं :

सम्पूज्य देव–ऋषि–वर्यमृषिः पुराणो नारायणो नरसखो विधिनोदितेन।
वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया तं प्राह प्रभो भगवते करवाम ते किम् ।।१६।।

श्लोकार्थ : नरके मित्र नारायण, पुराण ऋषि देवर्षि श्रेष्ठ नारदजीका विधि अनुसार पूजन कर, अमृत समान मिष्ट स्वल्प वाणीसे वार्तालाप कर पूछने लगे कि हे प्रभो! आपकेलिए मुझे क्या कर्तव्य है? ।।१६।।

व्याख्यार्थ: उत्तर शेषत्वसे पूजाका अनुभव है, इससे वाक्यकी अपेक्षासे पूजा हीन निरूपण की है. 'देवर्षिवर्यमिति' इससे देव और ऋषि पूजित होनेसे प्रसन्न होते हैं, गृहस्ताश्रममें तीन ऋणोंका उतारना आवश्यक है, दो तो इससे ही उतर जाते हैं इसलिए उसकी आवश्यकता सूचित की है. 'ऋषिरिति' इस पदका भावार्थ बताते हैं कि, यह नारायण अनिरुद्धका अंश है अतः यों करता है, पुराण ऋषि नारायण ही है तो वेदोद्गमरूप भी होते हैं इसलिए उसके निराकरणकेलिये कहा है कि यह नारायण नरका सखा है, उसकी और इसकी भी प्रकरणके अन्तमें प्रत्यापत्ति (निर्णय) कहेंगे, 'प्रत्येष्यतां निकाशं म इति' वाक्ये. विधि नोदितेन पदसे पूजाका प्रकार कहा है, जो यों नहीं कहते तो ऐश्वर्यके कारण विधि अनुसार पूजा न होकर राजसी पूजा हो जाती. अति मिष्ट अमृतसम वाणीसे भो भो नारद! यों सप्रेम सम्बोधन कर नारदको तीन पदों १)भगवते, २)हे प्रभो, ३)ते–से सूचित करने लगे कि १.आप सब ऋषि आदिमें श्रेष्ठ हैं, २.अपना स्वामीपन, ३.हम आपके आज्ञाकारी हैं, अतः आज्ञा कीजिए. आपकेलिये हमारा क्या कर्तव्य है? तीन पदोंका यह भी भावार्थ है कि आपकी तीन प्रकारकी सेवा भी हमको करनी चाहिए, वह बतलाइए आज्ञा कीजिए।।१६।।

आभासार्थ : 'नैवाद्भुतं' श्लोकसे नारदजी उत्तर देते हैं :

नारद उवाच

नैवाद्भुतं त्वयि विभो–ऽखिल–लोकनाथे मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम् ।
निःश्रेयसाय हि जगत्स्थिति–रक्षणाभ्यां स्वेच्छावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु।।१७।।

श्लोकार्थ : नारदजीने कहा कि हे सर्व समर्थ! हे सकल लोकोंके नाथ! हे उरुगाय! आप सब सज्जनों पर स्नेह रखते हैं, क्योंकि लोकनाथ हैं, दुष्टोंका

दमन करते हैं कारण कि जगत्का धारण, पालन और कल्याण करनेके वास्ते ही यह आपका इच्छानुसारी अवतार है, अतः यह ब्राह्मण पूजन करना आपकेलिए कोई अद्भुत कर्म नहीं है।।१७।।

व्याख्यार्थ : कहने योग्य तो नवीन कुछ नहीं है केवल किये हुए कार्यका अनुमोदन करना है, यदि किये हुए कार्यकी अंगीकृति न की जावे तो की हुई पूजा, मानों की ही नहीं है यों समझा जाये. स्वतः अंगीकार करनेमें भी औचित्य नहीं, अतः भगवदीय धर्मपनसे अभिनन्दन कहा जाता है. हे विभो! अर्थात् सर्व करण समर्थ, यह जो आपने ब्राह्मणका पूजन किया है, वह आपमें अद्भुत नहीं है, भगवान् होनेसे आप अखिल लोक नाथ हैं, जिससे सब लोकोंको आपको शिक्षा देनी है, आप लोक रक्षाकेलिये तीन प्रकारके कर्म करते हो–१.खलोंका दमन करते हो, २.अन्तर्यामी होनेसे सबसे मैत्री करते हो और ३.इस प्रकारकी ब्राह्मण पूजा करते हो. इस प्रकार त्रिविध कर्म करनेसे तो बन्धन होगा? जिसके उत्तरमें कहा है कि निःश्रेयसाय, यह कर्म दूसरोंके भी मोक्षकेलिये करते हो, इन कर्मोंके श्रवण करनेवाले तथा कीर्तन करनेवालोंका भी मोक्ष हो, अतः यह अर्थ उचित है, अन्यथा ये लोकोंके त्रिविध कर्म सजातीय निवर्तकके अभावसे, शान्त न हो सके. यह जीव भी तो कर सकते हैं तो भी भगवान्में इनकी विशेषता दिखाते हैं कि भगवान् ये कर्म जगतकी स्थिति तथा रक्षणके साथ करते हैं, जीव यों नहीं कर सकते हैं. प्रभु जगतको अपने स्वरूपमें धारण करते हैं एवं पालन करते हैं कारण कि स्वेच्छावतारीके भी ऐसे कर्म लीलार्थ ही हैं, यह सूचन होता है. 'त्वयि' सप्तमी विभक्ति हेतु कहनेकेलिये है, नहीं[१] तो लोक, उन कर्मोंका कीर्तन कैसे करें? और उनकी मुक्ति कैसे हो? इसमें प्रमाण देते हैं, कि हम अनुभव और शास्त्र श्रवणसे अथवा वेदोंकी श्रुतियोंसे इसको अच्छी तरह जानते हैं, न कि केवल तर्कोंसे जानते हैं।।१७।।

१.यदि भगवान् इस प्रकारकी लीलाकर कर्म न करें .

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्के किये कर्मोंका अभिनन्दन कर भगवान्का कहा हुआ अन्यथा नहीं करना चाहिए, यों ध्यानमें लाकर प्रसंगसे अपने कुछ अभिलषितको 'दृष्टं' श्लोकसे प्रार्थना करते हैं :

दृष्टं तवाङ्घ्रि–युगलं जनतापवर्गं ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यम् अगाध–बोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात्।।१८।।

श्लोकार्थ : अगाध ज्ञानवाले ब्रह्मादि देव, जिन चरणोंका ध्यान करते हैं, जो चरण मनुष्य मात्रके मोक्षरूप है और संसार कूपमें पडे हुओंका उससे निकलनेकेलिए आश्रय है, उन चरणोंके मैंने दर्शन किये, अतः अब आप ऐसी कृपा करो जिससे उन चरणोंका सदैव ध्यान करता हुआ भ्रमण करूं एवं ऐसी स्मृति सर्वदा रहे.।।१८।।

व्याख्यार्थ : मेरा यही सदैव उद्यम वा कार्य रहे, जिन चरणोंके दर्शन किये हैं, उनका ध्यान करता हुआ अटन करूं, अध्यवसाय(व्यापार)की जैसे स्मृति बनी रहे, वैसी कृपा कीजिये. इस प्रकार अनुग्रह करनेकी प्रार्थना इसलिए की है कि एक तो आपका ध्यान सदैव रहे यह दुर्लभ है, और दूसरा यदि ध्यान किया जाये वा होवे तो भी उसमें बाधक बहुत होते हैं, अतः भगवान्के चरणोंके ध्यान करनेकी स्मृति रहेगी, ऐसा विश्वास नहीं होता है. इसके सिवाय मेरा दूसरा कर्तव्य ही नहीं है, अतः चरणोंकी स्मृतिकेलिये आपको मेरे ऊपर अनुग्रह ही करना चाहिए, आपके अनुग्रह बिना यह दुर्लभ एवं बहुत बाधकोंवाला ध्यान हो नहीं सकता है, अतः कृपा करो, यह प्रार्थना है. केवल मुझे ऐसा ज्ञान है, इस पक्षका भी निराकरण करनेकेलिये कहा है कि मैंने प्रत्यक्ष दर्शन किये, भगवच्चरण जीव और ब्रह्मरूप होनेसे अपनी आत्मा और परमात्माका साक्षात्कार सिद्ध ही है अर्थात् भगवान्के चरण अक्षर ब्रह्मरूप हैं और जीव अक्षरका अंश है, अतः अंशका अंशी अक्षरसे अभेद होनेसे जीव अक्षररूप ही है, जिससे जीवको अक्षरका साक्षात्कार सिद्ध ही है. मोक्षकेलिये प्रार्थना करना, इस पक्षका भी निराकरण करता है, जब ये चरण ही जनताका मोक्ष करते है, तब हम लोगोंके मोक्षमें कौनसा सन्देह है? जो हम मोक्षकेलिये प्रार्थना करें, इनसे अन्य कोई भी दुर्लभ नहीं है, इस अभिप्रायको प्रकट सिद्ध करनेकेलिये नारदजी कहते हैं कि ये चरण पूर्ण ज्ञानी ब्रह्मादिको भी चिन्तन करने योग्य है, क्योंकि ये चरण ऐसे दुर्लभ हैं कि साक्षात् देखनेमें अशक्य हैं, इस कारणसे ब्रह्मादिकोको भी इनके दर्शन दुर्लभ है, इनसे परे कुछ ढूंढने योग्य नहीं है. यों कहकर ऐहिक और पारलौकिक फलोंसे भी चरणोंका महत्त्व निरूपण किया है और विशेषता यह है कि भक्तिमार्गके प्रवर्तक ये चरण ही हैं, जब तक मनुष्य शरीर है, तब तक शास्त्रोंमें कहे हुए अपने धर्मोंका पालन करना चाहिए, किन्तु जो इस प्रकार धर्मोंका पालन न कर अपना हित नहीं कर सकते हैं, उनको विषय संसार कूप(अहन्ता ममतारूप कूप)में ढकेल

देते हैं. वह कूप कर्म बेलोंसे बन्द हो जानेके कारण उससे निकलना कठिन हो जाता है, ऐसे कूपमें पड़े हुएको निकालनेकेलिये तीर्थकी भी सामर्थ्य नहीं, ज्ञान भी सूत्रकी तरह ऊपर नहीं खींच सकता है, ऐसी अवस्थामें केवल भगवच्चरण युगल ही संसार कूपमें पतितोंका अवलम्बन है, अतः कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनोंके होते हुए भी यह चरण युगल ही रक्षक हैं. इसलिए इसका ध्यान करता हुआ घूम रहा हूं, इतना कहकर भगवान्से आज्ञा लेकर पधार गये, यों जानना चाहिए।।१८।।

आभासार्थ : 'ततोऽन्यदाविशद् गेहं' श्लोकमें कहते हैं कि वहांसे गए हुए, नारदजीने दूसरे गृहमें प्रवेश किया :

ततोऽन्यदाविशद् गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः ।
योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग! योगमायाविवित्सया ।।१९।।

श्लोकार्थ : हे अंग! पश्चात् वह नारदजी, कृष्ण पत्नीके दूसरे गृहमें, योगेश्वरोके ईश्वरकी योग मायाको जाननेकी इच्छासे गए।।१९।।

व्याख्यार्थ : दूसरा सर्व, पहले कहे हुएके समान है, कृष्ण पत्नीके दूसरे गृहमें गये, यों कहनेका आशय यह था कि नारदजीने मनमें समझा था कि इस घरमें तो कृष्ण विराजते हैं दूसरे गृहमें केवल कृष्णकी दूसरी पत्नी ही होगी, इसलिए कृष्ण पत्नीके गृहमें कहा है, वह नारदजी, कृपा हो यह प्रार्थना कर वहांसे निकले. इसके अनन्तर भी नारदजीमें बहिर्मुखता थी जिससे दूसरे गृहमें देखनेकेलिये गये. क्योंकि नारदजी व्यसनोंको खण्डन करनेवाले हैं इसलिए खण्डनार्थ व्यसनोंकी पर्यालोचना करनेके स्वभाववाले होनेसे बहिर्मुख कहा है. उनका गृहान्तर प्रवेशमें जो विचार था वह कहते हैं, 'योगेश्वरेश्वरस्य' योगकी ही गति नहीं जानी जाती है क्योंकि अलौकिक है, उसमें फिर योगेश्वरोंकी गति कैसे जानी जायेगी? जो योगेश्वर योगको अपने वशमें रखते हैं, उन योगेश्वरोंके भी थे, भगवान् ईश्वर हैं उनकी भी फिर योगमाया, उसको जाननेकी इच्छासे गृहान्तरमें प्रविष्ट हुए थे, जिसके वैभवको भगवान् भी नहीं जान पाता है, हे अङ्ग! यह सम्बोधन इसलिए दिया है, कि इसमें प्रतारणा(छल) नहीं है।।१९।।

आभासार्थ : उस अन्य गृहमें स्थित भगवान् पहले गृहमें देखे हुएकी अपेक्षासे दूसरी ही लीला कर रहे हैं जिसका वर्णन करते हैं :

दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च ।

(पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ।।२०।।)

श्लोकार्थ : वहां भी देखा तो भगवान्, उद्धवजी और प्रियाके साथ चौपड खेल रहे हैं, भगवान् नारदजीको देखते ही उठ खडे हो गए और परम प्रेमसे आसन आदि देकर उनकी पूजा की।।२०।।

व्याख्यार्थ : सब स्थानोंमें वैसा ही सम्यक् प्रवेश कहना चाहिए, जिससे पहले घरमें बैठे हुएकी यहां शीघ्र आ जानेकी शंका भी न हो सके, वहां भी भगवान्को देखा पहले कही हुई क्रियाका अनुसन्धान करना चाहिए, विशेषमें प्यारी भार्या तथा उद्धवजीसे चौपड़ खेलते हुए प्रभुको देखा।।२०।।

आभासार्थ : भगवान् यह सब मायासे दिखा रहे हैं, नारदकी ऐसी बुद्धिको बदलनेकेलिए भगवान् 'पृष्टाश्चाविदुषेवासौ' श्लोकमें कुछ कहते हैं :

पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदायातो भवान् इति ।
क्रियते किं नु पूर्णानाम् अपूर्णैरस्मदादिभिः ।।२१।।

श्लोकार्थ : मानो अनजान है, ऐसे बनकर भगवान्ने नारदजीसे पूछा कि आप कब पधारे हैं? आप तो पूर्ण हो, हम अपूर्ण आपकी क्या सेवा कर सकते हैं?।।२१।।

व्याख्यार्थ : यह भगवान् पहले देखे हुए ही हैं इस प्रकारका पूर्ण ज्ञान दृढ़ है, तो भी आप कब आये? यों पूछे गये इस नारदसे भगवान्ने पूछा. जिस प्रकार नारदजी परीक्षार्थ अपने स्वरूपको छिपाते हैं, वैसे भगवान् भी अपनेको छिपाते हैं, इसलिए कहा है कि 'अविदुषा' मानों अनजानकी तरह पूछा. 'च' पदसे पूजा की है, जो कर्तव्य करना चाहिए वह सब किया और स्तुति की. वह कहते हैं कि 'क्रियते किं नु पूर्णानाम्' हम अपूर्ण, आप पूर्णोंकी क्या सेवादि कर सकते हैं, यों कहकर नारद और भगवान्के धर्मका परस्पर व्यत्यास(बदलना) बताया है, अथवा यों कहनेसे भगवान् और नारदमें धर्मका व्यत्यास देखना चाहिए, तब ही यह कहना बन सकता है. पूर्ण जो आप(नारद) हैं उनका अपूर्ण हम क्या कर सकते हैं? जैसे अज्ञानसे नाट्य किया जाता इसी तरह यह कार्य नाट्यका वाक्य भी है, यों कोई कहते हैं, अथवा यह लौकिकी भाषा उसको मोहित करनेकेलिये है उसकी(नारदकी) बुद्धिमें भगवान् परिछिन्न भासते हैं, यों 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार भगवान्के वाक्य हैं, यों अन्य कहते हैं।।२१।।

आभासार्थ : तो भी भगवान्के गुणोंका निर्धार करनेकेलिए जो सभामें

आया है उसका हित करना चाहिए, यों भक्ति शास्त्रका अनुसरण कर 'अथापि' श्लोकमें कहते हैं :

अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन् जन्मैतच्छोभनं कुरु ।
स तु विस्मित उत्थाय तूर्णम् अन्यद् अगाद् गृहम् ।।२२।।

श्लोकार्थ : तो भी हे ब्रह्मन्! कुछ आज्ञा कर जन्म सफल करो, नारदजी तो विस्मयमें पड गए और वहांसे उठकर अन्य गृहमें शीघ्र चले गए।।२२।।

व्याख्यार्थ : हमको कहो, अर्थात् प्रार्थना करो. हे ब्रह्मन्! इस सम्बोधन देनेका आशय प्रकट करते हैं कि ब्राह्मणोंको याचना करनी योग्य ही है, और विशेष यह है कि मेरा यह अवतार भक्तोंके उद्धारकेलिये ही है, उनमें मुख्य भक्त आप हैं, इसलिए अपनी आत्माको पूर्ण बनाकर मेरा जन्म वा अवतार सफल करो अथवा अपना जन्म सफल करो. भगवान्के इन वचनोंके कहनेके पश्चात् जो कुछ हुआ वह कहते हैं. नारदने सोचकर निश्चय किया, भगवान् जो कुछ वचन कह रहे हैं वे पारमार्थिक नहीं है, यों कहकर मुझे ठगते हैं, इस प्रकार सम्भावना कर, वहांसे शीघ्र उठकर दूसरे गृहमें गये. भगवान्ने कोई हेतु नहीं दिखलाया इससे अचम्भेमें पड़ गये. 'तु' शब्दसे भगवान्के वैभवसे समागमनका निराकरण करते हैं।।२२।।

आभासार्थ : वहां प्रवेशके अनन्तर जो देखा वह कहते हैं :

तत्राप्यचष्ट गोविन्दं लालयन्तं सुतान् शिशून् ।
ततोऽन्यस्मिन् गृहे–ऽपश्यन् मज्जनाय कृतोद्यमम् ।।२३।।

श्लोकार्थ : वहां भी भगवान्को छोटे–छोटे बालकोंको खिलाते देखा, वहांसे फिर अन्य गृहमें देखा तो भगवान् स्नानकी तैयारी कर रहे हैं।।२३।।

व्याख्यार्थ : छोटे–छोटे पुत्रादिकोंको न कि प्रोढ़ोंको खेलाते भगवान् स्थित थे, वहां दूरसे ही प्रवेशानन्तर, भगवान्को उस–उस भावमें स्थित अन्य–अन्य गृहोंमें और प्रवेश कर २४ प्रकारसे देखता हुआ निकल गया, अन्यत्र देखा तो प्रभु शरीरका मर्दन (मालिश) कर स्नानकेलिये तैयारी कर रहे हैं।।२३।।

जुह्वन्तं च वितानाग्नीन् यजन्तं पञ्चभिर्मखैः ।
भोजयन्तं द्विजान् क्वापि भुञ्जानम् अवशेषितम् ।।२४।।

श्लोकार्थ : कहीं आह्वनीय अग्निमें होम करते थे, कहीं पञ्च यज्ञ कर रहे थे, कहीं ब्राह्मणोंको भोजन कराते थे और कहीं पांच यज्ञोंसे शेष अन्नसे स्वयं

भोजन करते थे, इस प्रकार भगवान्‌को पृथक्-पृथक् कार्य करते नारदने देखा।।२४।।

व्याख्यार्थ : गार्हपत्य आदि अग्निमें होम कर रहे थे, 'सोमं विधाय' मन्त्रमें कहा है कि, सोम यज्ञको करनेके बाद यज्ञीय स्नान कर उसके अनन्तर रात्रि हो जाय तो मध्य रात्रिमें भी अग्नि होत्र होम करना ही चाहिए. इसी प्रकार अन्य गृहोंमें पञ्च यज्ञ अर्थात् देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, और ब्रह्मयज्ञ आदि पांच यज्ञ गृहोंमें कर रहे थे, किसी गृहमें, ब्राह्मणोंको रात्रि भोजनसे, भोजन कराते थे, दूसरे गृहमें उससे बचे हुए अन्नसे स्वयं भोजन करते थे, ये नवगृह, पूर्व कहे हुए गृहों सहित द्वादश हुए।।२४।।

आभासार्थ : पुरुषार्थ चतुष्टयकी सिद्धि कर रहे भगवान्‌का 'क्वापि सन्ध्या' श्लोकमें करते हैं :

क्वापि सन्ध्याम् उपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ।
एकत्र चासिचर्मभ्यां चरन्तम् असिवर्त्मसु ।।२५।।

श्लोकार्थ : कहीं सन्ध्योपासना कर रहे थे, कहीं वाणीका संयम कर ब्रह्मका जप करते थे, कहीं तो तलवार और ढाल लेकर यह किस प्रकार चलानी चाहिए? इसका शास्त्रोंमें कही हुई नीति-अनुसार अभ्यास करते थे।।२५।।

व्याख्यार्थ : वहां धर्म पुरुषार्थकी सिद्धिकेलिये कहीं सन्ध्योपासना करते थे, अन्यत्र जप करते थे, 'वाग्यतं' पद 'जपन्तं'का विशेषण है, अतः मौन व्रत धारणके साथ ब्रह्मका जप कर रहे थे. एक किसी स्थान पर तलवार और ढालका अभ्यास शास्त्रानुसार कर रहे थे।।२५।।

अश्वै रथैर् गजैर् क्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् ।
क्वचित् शयानं पर्यङ्के स्तूयमानं च बन्दिभिः ।।२६।।

श्लोकार्थ : नारदने कहीं घोड़े, हस्ती और रथ पर बैठे फिरते हुए भगवानको देखा, कहीं तो आप पलंग पर पोढ़े-पोढ़े बन्दीजनोकी स्तुति सुन रहे हैं।।२६।।

व्याख्यार्थ : कहीं देखा तो भगवान् भक्तोंकी रक्षाकेलिये घोड़े, रथ और हस्ती पर चढ़ फिर रहे हैं, कहीं पलंग पर पोढे हुए बन्दी जनोंकी की हुई स्तुति सुन रहे हैं।।२६।।

आभासार्थ : 'मन्त्रयन्तं' श्लोकमें 'अर्थ'का निरूपण करते हैं :

मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिद् मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः ।
जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याबलावृतम् ।।२७।।

श्लोकार्थ : किसी गृहमें उद्धवादि मन्त्रियोंसे मन्त्रणा कर रहे हैं, कहीं वार-विलासितियोंसे वेष्टित हो जलक्रीडा कर रहे हैं।।२७।।

व्याख्यार्थ : इस २७वें श्लोकके प्रथम अर्ध 'मन्त्रयन्तं'में अर्थ विषयक मन्त्रणाका वर्णन है और उत्तरार्ध 'जल क्रीडारतं'में कामका निरूपण है।।२८।।

आभासार्थ : मोक्षका निरूपण करते हुए सर्व अंगोका 'कुत्रचित्' श्लोकसे निरूपण करते है :

कुत्रचिद् द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलंकृताः ।
इतिहास-पुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च ।।२८।।

श्लोकार्थ : किसी स्थान पर देखा तो अलंकृत की हुई गौ ब्राह्मणोंको दान कर रहे है और अन्यत्र इतिहास, पुराण और भगवदगुणोंको सुन रहे हैं।।२८।।

व्याख्यार्थ : इतिहास पुराण सुनते थे यह विशेष है, मङ्गलानि भगवद्गुणोंको भी सुन रहे थे।।२८।।

आभासार्थ : मानो ऋणको उतार कर 'हसन्तं' श्लोकमें कहते हैं :

हसन्तं हास्यकथया कदाचित् प्रियया गृहे ।
क्वापि धर्मं सेवमानम् अर्थ-कामौ च कुत्रचित् ।।२९।।

श्लोकार्थ : कभी गृहमें हास्य कर प्यारीके साथ हंस रहे हैं, कहीं धर्मका कार्य कर रहे हैं और कहीं अर्थ तथा कामका सेवन कर रहे हैं।।२९।।

व्याख्यार्थ : 'धर्म सेवमानं' इस श्लोकमें यहां ही त्रैवर्गिक शेषरूपसे वर्णन कर दिया है ।।२९।।

ध्यायन्तम् एकम् आसीनं पुरुषं प्रकृतेः परम् ।
शुश्रूषन्तं गरून् क्वापि कामैर्भोगैः सपर्यया ।।३०।।

श्लोकार्थ : कहीं प्रकृतिसे परे पुरुषका एकान्तमें ध्यान कर रहे हैं, कहीं इच्छित काम और भोगादि योग्य पदार्थोंसे गुरुओंकी सेवा कर रहे हैं, ऐसे श्रीकृष्णको नारदजीने देखा।।३०।।

व्याख्यार्थ : अकेले प्रकृतिसे परे पुरुषका ध्यान करते हुए, अर्थात् निदिध्यासन करते हुए, और तीन प्रकारकी गुरु सेवा करते हुए, प्रभुके नारदजीने दर्शन किये।।३०।।

आभासार्थ : इस प्रकार अलौकिक पुरुषार्थोका वर्णन कर 'कुर्वन्तं विग्रहं' श्लोकसे लौकिक व्यवहार कहते हैं :

कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित् सन्धिं चान्यत्र केवलम् ।
कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम् ।।३१।।

श्लोकार्थ : कहीं किसीके साथ विग्रह कर रहे हैं तो कहीं संधि कर रहे हैं, कहीं बलरामजीके साथ मिल सज्जनोंके कल्याणका विचार कर रहे हैं, ऐसे प्रभुको नारदजीने देखा।।३१।।

व्याख्यार्थ : अन्य राज्योंके शिष्टोंका यों ही अंगीकार नहीं किया, किन्तु सन्धिमें अंगीकार किया. 'केवल' पद देकर यह सूचित किया है कि समय भेदसे सन्धि और विग्रहका निरूपण किया, अर्थात् सन्धिके समय सन्धि और विग्रहके समय विग्रह करते थे. इस कारणसे लोक न्यायानुसार बलभद्रके साथ यह मन्त्रणा करते थे कि सत्पुरुषोंका कल्याण कैसे हो? कलियुगमें उत्पन्न हुए पुरुषोंका तो अलौकिक प्रकारसे ही कल्याण हो सकेगा।।३१।।

पुत्राणां दुहितणां च काले विध्युपपादनम् ।
दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्तं विभूतिभिः ।।३२।।

श्लोकार्थ : कहीं बड़ी धूम धामके साथ पुत्रोंका योग्य वधूओंके साथ और कहीं कन्याओंका योग्य वरोंके साथ विधिवत् विवाह कर रहे हैं।।३२।।

व्याख्यार्थ : पुत्रोंका और कन्याओंका, उचित समयमें अर्थात् शुभ मुहूर्त योग्यवयमें शास्त्र विधि अनुसार विवाह कर रहे थे और विशेषमें कहते हैं कि पुत्र तथा पुत्रवधुओंको बहुत आभूषण वस्त्रादि विभूतियोंसे विभूषित किया था, किसी गृहमें स्त्री सहित पुत्रको परमोत्सव युक्त करते थे, वैसे ही कन्याओंको भी उनके समान वरोंके साथ अलंकार वस्त्र आदि विभूतियोंसे सुसज्जित किया था, अर्थात् जवांईयों सहित बेटियोंको ऐश्वर्यादि युक्त किया था।।३२।।

प्रस्थापनोपानयनैर् अपत्यानां महोत्सवान् ।
वीक्ष्य योगश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ।।३३।।

श्लोकार्थ : कहीं अपनी(सन्तानोंको) कन्याओंको वरके घर रवाने करते और कहीं पीछा बुलानेके कार्योमें तत्पर तथा योगेश्वरके ईश्वरके किये हुए अपने बालकोंके महोत्सवोंको दिखाकर लोगोंको विस्मयमें डालते हुए भगवान्को नारदजीने देखा।।३३।।

व्याख्यार्थ : कन्याओंको ससुराल भेजते फिर वहांसे मंगाते, और पुत्रवधुओंका तथा पुत्रोंका महोत्सव करते हुए भगवान्‌को नारदने देखा. ये कार्य आवश्यक करने होनेसे, अभिनिवेशके सिवाय करना सम्भव होता है जिसकी व्यावृत्तिकेलिये महती समृद्धि तैयार करते हैं, जिसका वर्णन 'वीक्ष्य योगे विसिस्मिरे' कहकर किया है, आप योगेश्वरोंके भी स्वामी हैं अतः बिना परिश्रमके अनेक प्रकारकी सामग्री आपने शीघ्र तैयार कर ली है, महोत्सवसे सम्बन्ध रखनेवाले लोक उन अभूतपूर्व सामग्रियोंको देखकर चकित हो गये।।३३।।

आभासार्थ : इस प्रकार लौकिक कर्मोंमें केवल लौकिकका वर्णन कर उनके योग्य धर्मोंको 'यजन्तं स्वकलान्' श्लोकमें वर्णन करते हैं :

यजन्तं स्वकलान् देवान् क्वापि क्रतुभिरूर्जितैः ।
पूर्तयन्तं क्वचिद् धर्मं कूपारामालयादिभिः ।।३४।।

श्लोकार्थ : कहीं बड़े-बड़े यज्ञों द्वारा अपनी कलायुक्त देवोंका यजन करते हुए और कहीं कूप, आराम और मठ आदि बनाकर उनके वास्तु पूजन धर्मको करते हुए भगवान्‌को नारदजीने देखा।।३४।।

व्याख्यार्थ : जिन देवोंमें अपनी कला है, अर्थात् जो देव भगवदावेश युक्त हैं, उनका पूजन, लौकिक साधनोंसे पुष्ट, शान्तिक और पौष्टिक यज्ञों द्वारा कर रहे हैं, भगवान्‌को नारदजीने देखा और कहीं देखा तो प्रभु कूप, आराम एवं मठ आदिकी प्रतिष्ठाकेलिये देवताओंका आवाहन कर अधिवासनमें बैठे हैं, आराम (बाग) उसमें विश्रामकेलिये गृह अथवा देव स्थान, तामस आदि भेद कहे हैं, 'आदि' पदसे अन्य भी समझ लेने।।३४।।

चरन्तं मृगयां क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम् ।
घ्नन्तं ततः पशून् मेध्यान् परीतं यदुपुङ्गवैः ।।३५।।

श्लोकार्थ : कहीं तो अश्व पर चढ़कर शिकार खेलते हुए, वहां यादव श्रेष्ठोंसे घिरे हुए, मेध्य पशुओंको मारते हुए श्रीकृष्णको नारदजीने देखा।।३५।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् अन्तःपुरस्थ पर्वत और उपवन आदिमें समुद्रसे उत्पन्न अश्व पर बैठकर शिकार खेलते हुए प्रभुको नारदने देखा, रात्रिके समय गृहमें प्रविष्ट हुए, गृहस्थोंने वैसा ही कहा, अर्थात् शिकार खेलनेके स्थान पर वैसा देखनेमें आये, उसी तरह कहीं श्राद्ध आदिकेलिये मेध्य पशुओंका वध करते हुए प्रभुको नारदने देखा, यादव श्रेष्ठोंसे घिरे हुए थे जिसका आशय है कि

पशुओंका वध दूसरोंकेलिये भी कर रहे थे।।३५।।

आभासार्थ : छिपे हुए कार्य करते हुएको देखा जिसका वर्णन 'अव्यक्त लिंग' श्लोकमें करते हैं :

अव्यक्त–लिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु ।
क्वचित् चरन्तं योगेशं तत्–तद्भावबुभुत्सया ।।३६।।

श्लोकार्थ : अपनी प्रजा अथवा अन्तःपुरवाला कोई भी न जान सके, इसी प्रकार प्रजा तथा अन्तःपुरस्थोंके भावोंको जाननेकी इच्छावाले प्रभु गुप्त प्रकारसे फिर रहे थे, जिनको नारदने देखा।।३६।।

व्याख्यार्थ : जिनके चिह्न (भावादि) प्रकट नहीं ऐसी स्त्रियोंके, और अन्तःपुरमें गृहोंवाले पुरुषोंके, सत् अथवा असत् भावोंको जान लेनेकी इच्छासे राजाओंकी तरह गुप्तरूपसे फिरते हुए भगवान्को नारदने देखा, उस समय नारद भी गुप्तरूपमें था 'नारदादीन् भगवान् पुनरन्वेषतीति', 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इन वाक्योंके अनुसार समान शील होनेसे भगवान्ने नारदको देखा और नारदने भगवान्का साक्षात्कार किया।।३६।।

आभासार्थ : पश्चात् ऐसे निकटमें मिले जो नारद भाग भी न सका, अतः लज्जित होके भगवान्को कुछ 'अथोवाच' श्लोकमें कहने लगा :

अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।
योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो (र/)गतिम् ।।३७।।

श्लोकार्थ : इन्द्रियोंके ईश भगवान्ने मनुष्य भावको स्वीकारते हुए जो योगमायाका प्रभाव नारदको दिखाया, उसको देख मानो हंसता हुआ भगवान्को कहने लगा।।३७।।

व्याख्यार्थ : नारदने भगवान्को हृषीकेश कहा, जिसका भावार्थ है कि आप इन्द्रियोंके स्वामी हैं जैसे इन्द्रियोंको प्रेरणा देते हो वैसे ही इन्द्रियां करती हैं, अतः मेरी इन्द्रियोंको भी आपने ही इस प्रकार प्रेरित किया है जिससे यों करनेमें मेरा दोष नहीं है. परस्पर देखनेसे पहले हंसने लगे, पश्चात् लज्जा आई, मानों अपना विषाद् प्रकट करने लगा. इस प्रकार दर्शन करनेसे क्या मूर्ख वा अज्ञान हुआ? या भगवान्के अचिन्त्यैश्वर्य ज्ञानके होनेसे पुरुषोत्तमके स्वरूपका ज्ञान हुआ? अथवा नारदने यों समझा कि यह माया ही है, यदि यह माया ही है ऐसा ज्ञान हुआ तो सर्वथा बुद्धि प्राकृत बनी रहेगी, प्रथम पक्षमें तो नारदका सर्व

प्रकारसे प्राकृतपन होगा, मध्यम पक्षमें[२] तीनों भी बुद्धि विशेष, नारदकी बुद्धिमें स्फुरित न हुए, किन्तु यह योग गति है अपना और भगवान्का सादृश्य है ऐसा मध्यम भावका ज्ञान स्फुरित हुआ यह जताते हुए कहते हैं कि 'योगमायोदयं' योगमायाकी गतियां दिव्य होती है तो कैसे यह ही लीला देखी. इस शंकाके निवारणकेलिये कहते हैं कि 'मानुषीमीयुषो गतिं' योगेश्वर जिस रतिकी इच्छा करते हैं उसके अनुरूप सर्व क्रिया होती है, 'योगमाया' योगकी आधिदैविकी देवता है अथवा साधनरूप भगवच्छक्ति नानारूप है।।३७।।

१. मौढ्य पक्षमें नारदका प्राकृतत्व होगा तो भगवत्स्वरूपका अज्ञान रहेगा.

२. मध्यम पक्षमें ब्रह्म ही अनन्त मूर्ति है यह भाव उत्तम है, अर्थात् योग बलसे नानारूप धारण करते हैं यह मध्यम भाव उत्तम है, यह मध्यम भाव प्रमाण मार्गमें उत्तम है.

आभासार्थ : मध्यम पक्ष मात्रसे जो जान लिया उसका ही निश्चय कर उसमें ही बुद्धि स्थिर कर दी, क्योंकि अधिक अर्थका ज्ञान नहीं था. नायकके उत्कर्षको भी न समझ सका जिससे ऐसी बुद्धि हुई कि प्रमेय भक्ति मार्ग अच्छा नहीं है इसलिए उससे निवृत्तिकी मानों इच्छा करता हुआ, प्रमाण बलसे ही भक्ति मार्गका उपदेश करूंगा, यह निश्चय कर भगवान्को 'विदाम' और 'अनुजानीहि' दो श्लोकोंसे नारद प्रार्थना करता है :

नारद उवाच

विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि योगिनाम् ।
योगेश्वरात्मन् निर्भाता भवत्पादनिषेवया ।।३८।।
अनुजानीहि मां देव–लोकांस्ते यशसाप्लुतान् ।
पर्यटामि तवोद्गायन् लीला भुवनपावनीः ।।३९।।

श्लोकार्थ : हम जानते हैं कि आपकी योगमायाको योगी भी नहीं जान सकते हैं, योगेश्वरात्मन् उस योगमायाको आपके चरणोंकी सेवासे मैंने अब जाना है।।३८।।

व्याख्यार्थ : आप मुझे अब आज्ञा दो कि मैं जगतको पवित्र करनेवाली आपकी लीलाओंका गान उन लोगोंमें करता फिरूं, जो लोग आपके यशसे पूर्ण हो अर्थात् आपके भक्त हो।।३९।।

व्याख्यार्थ : हम जानते हैं कि आपकी योगमायाएं, जो मनुष्य जैसी–जैसी इच्छा करते हैं, उनकी ये इच्छाएं पूर्ण करती हैं. यह ज्ञान मुझे ही असाधारण

है, यह जतानेकेलिये कहता है कि आपकी योगमायाओंके प्रभावका ज्ञान योगियोंकी भी दुर्दर्शा है अर्थात् जाननेमें नहीं आता है. इसका क्या कारण है जिसको योगी भी नहीं जान सकते हैं. लौकिक परिज्ञान होनेसे कार्यके कारणकी जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) ही उत्पन्न नहीं होती है यदि यों है तो तुझे जाननेकी इच्छा कैसे जगी? इसके उत्तरमें कहता है कि 'योगेश्वरात्मन् भवत्पाद निषेवया निर्भाता' अस्मदादि योगेश्वरोंकी आप आत्मा हैं, ऐसी स्फुरणा होनेसे ही आपके चरणोंके भजन करनेमें प्रवृत्ति हुई अर्थात् हम लोग आपके चरणोंका भजन करते हैं इसमें आत्मा होनेसे आप ही हेतु हैं, इसलिए 'योगेश्वरात्मन्' सम्बोधन दिया है. चरण सेवा तो योगमायाके परिज्ञानमें हेतु है, अतः इतने समय तक की हुई प्रमेय बल भक्ति इसके अर्थके परिज्ञानमें समाप्त हो गई, इसलिए यह मत छोड़ कीर्तन मार्गसे ही रहूंगा, यों प्रार्थना करता है कि आज्ञा दीजिये कि आपके यशसे पूर्ण इन्द्रादि देवोंके स्थानोंमें भुवनोंको पवित्र करनेवाली आपकी पूर्व सिद्ध लीलाओंका गान करता हुआ भ्रमण करता रहूं. इन अदृष्ट गुप्त लीलाओंकी शास्त्रोंमें प्रसिद्धि न होनेसे वे असम्मत हैं ।।३८-३९।।

आभासार्थ : इस विषयका विचार कर भगवान्ने जान लिया कि नारद इसके तत्त्वको न जाननेसे खिन्न हुआ है, अतः इस मार्गको छोड़ना ही चाहता है, इसलिए 'ब्रह्मन् धर्मस्य' श्लोकसे नारदको समझाते हैं :

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता ।
तच्छिक्षयँल्लोकमिमम् आस्थितः पुत्र मा खिदः ।।४०।।

श्लोकार्थ : श्रीभगवान्ने कहा कि हे ब्रह्मन्! धर्मका वक्ता, कर्ता और अनुमोदक भी मैं हूं, अतः उसकी शिक्षाकेलिए मैं आचरण करता हुआ रहता हूं, हे पुत्र! खेद मत कर।।४०।।

व्याख्यार्थ : यदि मैं धर्मका केवल वक्ता रहूं और वैसे आचरण न करूं तो लोग मेरे कथनको माने ही नहीं, तथा लोग धर्मका आचरण ही न करें, इसलिए मैं आचरण कर उसका अनुमोदन भी हूं, अतः लोकमें धर्मकी प्रवृत्ति हो, तदर्थ उसको सिखाते हुए, लोकमें मनुष्योंको धर्मका ग्रहण कराते हुए स्थित हूं, इसलिए यह मानुष भाव स्वीकार किया है, यों आपने जो नाना प्रकारके कर्म किये, उनका अभिप्राय वर्णन किया. 'पुत्र' यह सम्बोधन देकर नारदको निश्चय कराया कि यह

जो मैंने लीलाएं तुझे दिखाई वह माया नहीं थी किन्तु लोगोंके शिक्षार्थ आचरण था, तू इस तत्त्वको नहीं जानता है इसलिए खेद करता है अतः खेद न कर मैंने अब तत्त्व तुझे बता दिया है।।४०।।

आभासार्थ : पश्चात् देखा, देखनेके अनन्तर उसने जो उद्यम किया उसका वर्णन दो श्लोकोंसे शुकदेवजी कहते हैं :

श्रीशुक उवाच

इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम् ।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तम् एकं ददर्श ह ।।४१।।
कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् ।
मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद् विस्मितो जातकौतुकः ।।४२।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजीने कहा कि इस तरह गृहस्थको पवित्र करने-वाले, पवित्र सद्धर्मोंका सब गृहोंमें आचरण करते हुए एक ही उसी श्रीकृष्णको नारदजीने देखा।।४१।।

व्याख्यार्थ : अनन्त शक्ति भगवान्की योगमायाका महान् उदय बार-बार देखकर नारदजीको अचम्भा लगा और कौतुकमें पड गए।।४२।।

धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंवाले गृहस्थी सत्पुरुषोंके जो भी पवित्र करनेवाले सब धर्म हैं उनको इस प्रकार यदि कोई करता है, तो भगवान्ने कर दिखाये हैं. इनको जब गृहस्थी करता है तब पवित्र होता है, अतः उस एक ही अनन्त मूर्तिको सब गृहोंमें देखा. पश्चात् जो हुआ वह कहते हैं, 'कृष्णस्य... कौतुकः' अनन्त वीर्यवाले कृष्णकी स्त्रियोंमें जो इस प्रकार स्थित है, वह लीलासे है, न कि वस्तु स्वरूपसे है क्योंकि यह सर्व शक्तिमान् हैं. इसमें भी यह लीला योगमायाका महान् उदय है, इस प्रकार कभी भी न देखा, अतः धर्म और धर्मी दोनोंका अलौकिक भाव देखा, इसलिए चकित हुआ, फिर दर्शन किया तो पुनः कौतुकमें पड़ गया।।४१-४२।।

इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना ।
सम्यक् सभाजितः प्रीतः तमेवानुस्मरन् ययौ ।।४३।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार धर्म, अर्थ और काममें जिसकी श्रद्धा है, वैसे श्रीकृष्णने नारदजीकी सम्यक् प्रकारसे पूजा की, जिससे नारदजी प्रसन्न हो, उनका ही स्मरण करते हुए रवाने हुए।।४३।।

व्याख्यार्थ : आदर सहित दर्शन कर लेनेके बाद अर्थ, काम और धर्ममें श्रद्धावाले भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मण बुद्धिसे और ऋषि बुद्धिसे नारदजीको यथेष्ठ भोजनादिसे सन्तुष्ट करते हुए सत्कार किया, अनन्तर उन ही श्रीकृष्णको स्मरण करते हुए नारदजीने प्रस्थान किया. प्रमेय मार्गका त्याग करनेकी इच्छावाले नारदजीका भगवान्ने जो सत्कार किया, वह प्रमेय बलका आश्रय लेकर ही किया न कि प्रमाण बलका आश्रय लिया।।४३।।

आभासार्थ : इस प्रकार नारदकी देखी हुई लीलाका प्रतिपादन कर अब 'एवं मनुष्य पदवी' श्लोकसे उपसंहार करता है :

एवं मनुष्य–पदवीम् अनुवर्तमानो नारायणो–ऽखिल–भवाय गृहीतशक्तिः ।
मेनेऽङ्ग! षोडश–सहस्रवराङ्गनानां सव्रीड–सौहृद–निरीक्षण–हासजुष्टः ।।४४।।

श्लोकार्थ : जिन्होंने सबके उद्धारकेलिए सकल शक्तियोंको धारण कर, मनुष्योंके मार्गका स्वीकार किया है, वे प्रभु नारायण ये ही हैं, सोलह हजार उत्तम स्त्रियोंने लज्जा, सौहृद और हास्यसे जिनकी सेवा की है, वे नारायण ही हैं, यों नारदने मनमें निश्चय कर लिया।।४४।।

व्याख्यार्थ : यदि प्रभु स्वयं धर्म, अर्थ और कामका आचरण कर स्वयं न दिखाते तो लोकमें उनका आचरण कोई नहीं करता, अतः भगवान्ने मनुष्य नाट्य कर स्वयं आचरण कर मनुष्योंको आचरणकी शिक्षा दी है. मनुष्यरूपमें सोलह हजार उत्तम स्त्रियोंसे लज्जा सौहृदसे निरीक्षण तथा हास्य द्वारा सेवित हो रमण कर रहे हैं, इस प्रकार मनुष्यरूपमें आकर लीला करते हुए भी आप मूलरूप ही हैं, यह सिद्ध करनेकेलिये श्लोकमें नारायण कहा हैं. जब आप नारायण ही हैं तो इस प्रकार मानवरूप क्यों धारण किया? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि, सकलोंके उद्धारकेलिये ही सब सात्त्विक शक्तियां धारण कर मनुष्यरूपसे प्रकट हुए हैं. मनुष्य धर्माचरणमें स्वतः स्वयं प्रवृत्त न होंगे, यदि धर्माचरण न करेंगे तो उद्धार न होगा, इसलिए आपने शिक्षार्थ स्वयं करके दिखाया है. हे अङ्ग! यह सम्बोधन देकर बताया है, कि इसमें किसी प्रकार प्रतारणा(ठगी) नहीं है यहां आठ पटराणियोंका विवाद नहीं है, इसलिए नरकासुरके यहांसे लाई हुई सोलह हजार श्रेष्ठ स्त्रियोंको कहा है. 'वर' शब्दसे वहांसे लाई दासियोंको पृथक् कर दिया है, अथवा अन्य गोपियोंका संग्रह किया है, क्रीड़ा सहित जो यह सौहृद निरीक्षण पूर्वक हास उससे सेवित, अर्थात् उन षोडश सहस्त्र वराङ्गनाओंने भगवान्की सेवा

लज्जायुक्त प्रेम सहित निरीक्षण कर हास करते हुए की है, जिससे तामस सात्त्विक राजस भेदसे त्रिविध भाव निरूपण किया है।।४४।।

आभासार्थ : इस प्रकार रमणका उपसंहार कर, अब यह लौकिकी लीला धर्मार्थियोंको न सुननी चाहिए इस शंकाका समाधान करनेकेलिए इसको सुननेका फल क्या होगा ? वह बताते हैं :

यानीह विश्व–विलयोद्भव–वृत्तिहेतुः कर्माण्यनन्य–विषयाणि हरिश्चकार ।
यस्त्वङ्ग! गायति शृणोत्यनुमोदते वा भक्तिं लभेत भगवत्यपवर्गमार्गे।।४५।।

श्लोकार्थ : विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलयके कारण रूप हरिने जो असाधारण कर्म किये है, वे दूसरा कोई नहीं कर सकता है अथवा समझो कि ये कर्म अपने लिए ही किये हैं, हे अंग! उन्हें जो मनुष्य गाते हैं, सुनते हैं और अनुमोदन करते हैं, वे मोक्ष मार्गरूप भगवान्में भक्ति प्राप्त करते हैं।।४५।।

व्याख्यार्थ : भगवान् जो कुछ कार्य करते हैं, उसमें कोई कारण होता है, अतः सर्व प्रकारके इतने कर्म करनेमें हेतु कहते हैं. प्रथम विश्वके संहार, उत्पत्ति और पालन इनका हेतु कहते हैं भगवानने वे कर्म किये जो अन्य नहीं कर सकते हैं अतः आप ही इनके कारण हैं. दूसरा जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार नहीं कर सकता है, जिससे दूसरा इनका कारण बन ही नहीं सकता है. लीलामें दूसरेका प्रवेश नहीं कराते हैं, किन्तु स्वयं ही वहां–वहां प्रविष्ट हो वैसी–वैसी लीला करते हैं, अतः अन्य विषय नहीं है अर्थात् केवल भगवान्की लीला ही है. लीला कार्य है भगवान् कारण हैं. कार्य कारणसे पृथक् वस्तु नहीं है, इसलिए यह सर्व लीलामात्र जगत् भी भगवद्रूप ही है, जिसका कारण भी भगवान् ही है. अतः कहते हैं कि 'विशेष लीलाका प्रयोजन हरि है, अतः जो इस लीलाका गान करता है, स्वतः ही आनन्दसे कीर्तन करता है और दूसरोंसे गाई हुई श्रवण करता है, निकट वा दूर बैठकर अथवा कालान्तर या कथाके अन्तमें सुनता है वा श्रोता एवं वक्ताकी कथाका अनुमोदन करता है वह पूर्ण पुरुष भगवान्में भक्तिको प्राप्त करता है, उस भक्तिका विनियोग भी मोक्ष मार्गमें होता है अर्थात् उस भक्तिसे मोक्ष मार्गकी प्राप्ति होती है, इस भक्तिके बिना मोक्षकी प्राप्तिका दूसरा मार्ग नहीं है।।४५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण, अध्याय ६६ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ६७

भगवान् श्रीकृष्णकी नित्यचर्या और उनके पास जरासन्धके कैदी राजाओंके दूतका आना

सात्त्विकानां निरोधे तु प्रमेयबलतः पुरा।
षड्भिः सर्वे निरुद्धास्ते साधनेनोच्यतेऽधुना।।का.१।।

कारिकार्थ : पहले ६ अध्यायोंसे सात्त्विकोंका निरोध प्रमेयबलसे भगवान्ने किया, अब इस अध्यायमें साधनसे करेंगे, जिसको कहा जाता है।।१।।

षड्भिरेव तथाध्यायैर्धर्मोऽत्र भगवत्कृतः।
कारितश्च द्विरूपो हि वर्ण्यतेऽन्यनिषेधने।।का.२।।

कारिकार्थ : निरोध प्रकरणमें छः अध्यायोंसे कराया हुआ भगवत्कृत धर्म दो रूपोंसे अन्यका निषेध करते हुए वर्णन किया है।।२।।

तत्रैकविंशे त्वध्याये धर्मो हि भगवत्कृतः।
निरूप्यते यतो लोका जाता हरिपराः स्वतः।।का.३।।

कारिकार्थ : यहां पुनः इक्कीसवें अध्यायमें भगवत्कृत धर्मका निरूपण किया जाता है, जिससे लोक स्वतः हरिके परायण हुए।।३।।

सर्वान् धर्मान् विशेषेण तत्–तद्भेदेन चैव हि।
पूर्वाध्याये निरूप्यैव ह्याह्निकं ह्यत्र रूप्यते।।का.४।।

कारिकार्थ : पहले छः अध्यायोंमें सर्व धर्मोंका और उन धर्मोंके विशेष भेदोंका वर्णन कर, इस अध्यायमें आह्निकका निरूपण किया गया है।।४।।

तेनैव शुद्धचित्तास्ते राजानः सात्त्विकास्तथा।
प्रपन्नाः सर्वथा कृष्णे प्रयोजनम् इदं मतम्।।का.५।।

कारिकार्थ : उस आह्निक करनेसे सात्त्विक राजा शुद्ध चित्तवाले हुए और कृष्णकी शरण गए, यही प्रयोजन है।।५।।

अन्यथा ह्याह्निको धर्मो निष्प्रयोजनतां व्रजेत्।
सभायां गमनं चैव रक्षां सूचयति क्षतात्।।का.६।।

कारिकार्थ : यदि वे राजा लोग शुद्ध चित्त होकर श्रीकृष्णकी शरण न लेते तो कृष्णका आह्निक धर्म करना ही व्यर्थ हो जाता, श्रीकृष्णका सभामें पधारना सूचित करता है कि वे उनको मरनेसे बचानेकेलिए ही पधारे है, क्योंकि

क्षत्रिय हैं, यों करनेसे क्षात्र धर्म पालन कर दिखाया है।।६।।

कारिकार्थ सम्पूर्ण.

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्ने छः अध्यायोंमें प्रमेयबलका आश्रय कर अर्थात् प्रमेय बल द्वारा सबको अपनाया, अब धर्मादि साधनोंसे अपनाते हैं अर्थात् निरुद्ध कर अपनी शरणमें लेते हैं, वहां पहले भगवान्के आह्निक धर्मका निरूपण किया जाता है, पश्चात् धर्म परायणके जो कृत्य हैं, वे काल निमित्तक हैं, अरुणोदय तक सर्व पूर्वाह्ण कृत्य 'अथोषसि' श्लोकसे निरूपण करते हैं :

श्रीशुक उवाच

अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन्।
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिः माधव्यो विरहातुराः ।।१।।

श्लोकार्थ : गलेमें बांह डाल पतियोंसे आलिंगन की हुई श्रीकृष्णचन्द्रकी पत्नियां उषा काल होते ही मुर्गोके शब्द सुन समझने लगी कि अब प्यारे उठ जायेंगे, अतः विरह होगा, जिससे आतुर हो उन मुर्गोंको शाप देने लगी।।१।।

व्याख्यार्थ : यहां श्लोकमें 'अथ' शब्द अवान्तर प्रकरणमें भेदका प्रतिपादन करनेवाला है, प्रातःकालकी चार घड़ी अरुणोदय है, जिसका अब प्रारम्भ हुआ है, अतः भगवान् धर्म, अर्थ और काम धर्मकी आवृत्ति करते हैं अर्थात् आह्निक कर्म करना प्रारम्भ करते हैं, जिससे भगवान् उठ रहे हैं, यह प्रभुका धर्मकार्य काम परायण स्त्रियां सहन न कर सकीं, अतः शब्द करनेवाले कुक्कुटों(मुर्गों)को शाप देने लगी, इसका कारण यह था कि उस समय वे गलेमें बांह डाल पतियोंसे आलिंगन की हुई थी, वे समझ गई कि कुक्कुटोंने शब्द कर प्रातःकालकी सूचना दी है. अब प्यारे उठेंगे तो हमको विरहसे व्याकुल होना पड़ेगा, जिससे शाप दिया. भोजनकी तरह गृहस्थधर्ममें भोगका भी समय नियत होनेसे कुक्कुटोंने शब्द कर प्रातःकालकी सूचना दी, जिसमें कुक्कुटोंने कौनसा दोष किया, जो उनको शाप दिया. उनका दोष यह हुआ कि इनके शब्दोंसे माधवकी स्त्रियोंको विरह दुःख सहना पड़ा. इन पत्नियोंने समझा कि श्रीकृष्ण लक्ष्मीजीके पति हैं, अब हमसे पृथक् होते ही लक्ष्मीजीसे सम्बन्ध होगा. हमको विरहाग्निमें जलना पड़ेगा. जिसका कारण कुक्कुटोंकी ध्वनि है, यही दोष कुक्कुटोंका है, अतः उनको शाप दिया. अपनेको जो फल मिल रहा है, वह यदि दूसरेको मिले और उसके मिलनेमें जो साधन होगा, उससे द्वेष होना उचित है, यों

और भगवत्कृत धर्म सात्त्विकोंके निरोधके परायण होनेसे जो उससे सम्बन्धित होते हैं, उनका निरोध इच्छा मात्रसे ही सिद्ध हो जाता, इसलिए कुक्कुटोंको शाप देना योग्य है।।१।।

आभासार्थ : कुक्कुटादि भगवान् अनभिप्रेत क्यों करने लगे? इस शंकाके होने पर कहते हैं :

वयांस्यरूरुवन् कृष्णं बोधयन्तीव बन्दिनः।
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवन–वायुभिः ।।२।।

श्लोकार्थ : मन्दार वनके वायुसे आनन्दित भ्रमरोंके गान करने पर, जगे हुए पक्षी भी बन्दियोंकी तरह श्रीकृष्णको जगानेकेलिए शब्द करने लगे।।२।।

व्याख्यार्थ : ये पक्षी भी अपने स्वार्थकेलिये भगवानको जगाते हैं, इनकी भी इच्छा थी कि कृष्ण जगे तो हम उनके लावण्यमृतका पान करें, यों स्वार्थकेलिये तो करते हैं तो भी अपराध तो होगा, इस शंकाको मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'बन्दिन इव' जैसे बन्दीगणोंको राजाके जगानेका अधिकार मिला हुआ होता है वैसे इन पक्षियोंको भी जगानेका अधिकार था, यह इस दृष्टान्तसे सूचित किया है. ये पक्षी तो बहिरंग हैं जब इनको भीतरका अधिकार नहीं है तब भगवदाभिप्राय न जानकर कैसे नित्य शब्द कर जगाते हैं? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि जो अन्तरंग भ्रमर हैं वे भगवान्के अभिप्रायको जानकर ही जब गाते हैं, जब ये जगते हुए पक्षी भी उनकी गुञ्जार सुनकर शब्द करने लगते हैं न कि स्वतः स्वभावसे पक्षी शब्द करते हैं. जगनेके कारण भ्रमरोंकी गुञ्जार समझते हैं, कि रात्रि सम्पूर्ण हो गई, प्रातः काल हुआ है अतः शब्द करना चाहिये. मन्दार वनकी वायुके आमोदसे आकृष्ट चित्त होनेसे ही पक्षियोंको नींद न थी, देवताके अधिष्ठान होनेसे साक्षात् भोगमें भी अशक्त थे, अतः आकांक्षाके विद्यमान होनेसे जगे हुए ही थे।।२।।

आभासार्थ : यह समस्त स्त्रियोंको न हुआ होगा? इस शंकाको दूर करनेकेलिए, 'मुहूर्त' श्लोकमें कहते हैं रुक्मिणीको भी हुआ :

मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यद् अतिशोभनम्।
परिरम्भणविश्लेषात् प्रियबाहवन्तरं गता ।।३।।

श्लोकार्थ : प्यारेके भुजान्तर्गत रुक्मिणीने, प्यारेसे अब विरह होगा, यों जानकर इस उत्तम ब्राह्म मुहूर्तको उत्तम न माना।।३।।

व्याख्यार्थ : ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाले उस सुन्दर समयको 'तु' शब्दसे अन्यथा पक्षका निवारण करते हैं, रुक्मिणी लक्ष्मीका अवतार है वह यों कैसे कहती है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि लक्ष्मीका अवतार होते हुए भी 'वैदर्भी' है अर्थात् विदर्भ देशमें उत्पन्न हुई है, उस देशमें कर्मकी मुख्य वस्तु दर्भोंका अभाव होता है जिससे रुक्मिणीमें कर्म निष्ठाका अभाव होनेसे जो सर्वको जगानेवाला तथा सर्व पुरुषार्थ साधक है ऐसे अति पवित्र सुन्दर समयको भी रुक्मिणीने सुन्दर न समझा कारण कि प्यारेकी भुजाओंके अन्तर्गत ही फलका अनुभव कर रही थी, अब यह समय इस फलानुभवसे वञ्चित करेगा, अतः यह उत्तम नहीं है।।३।।

आभासार्थ : इस प्रकार यह ब्राह्म मुहूर्त श्रीकृष्णकी सर्व स्त्रियोंको अच्छा न लगा, अतः यदि भगवान् स्त्रियोंके अधीन होते तो वे भी न उठते, इसका निराकरण करनेकेलिए भगवान्ने उठकर जो क्रियाएं की उन सबका 'ब्राह्मे मुहूर्त' श्लोकसे निरूपण करते हैं :

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्।।४।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णचन्द्रने ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर पहले आचमन किया, फिर प्रसन्न चित्त होकर तमसे परे जो आत्मा उसका ध्यान किया।।४।।

व्याख्यार्थ : शय्यासे उठे, अर्थात् निद्राको तिरोहित करनेकी लीला की, पश्चात् जलका स्पर्श किया, इन शब्दोंका आशय कोई कहते हैं कि भगवान्ने हस्तादि धोये. दूसरे कहते हैं कि स्नान किया, वास्तवमें सिद्धान्त यह है कि केवल आचमन किया, ध्यान भी शुद्धिकेलिये करना है प्रथम अन्तःशुद्धि लीला कर पश्चात् बाहरकी शुद्धिकी लीला करनी चाहिए, जैसे स्नानके पहले शौच, स्नान करनेके अनन्तर कर्म, वैसे ध्यानमें भी समझना चाहिए.

भगवान् तो परमानन्द स्वरूप ही हैं अतः उनमें अन्तःकरणादिका अभाव है, फिर ध्यान कैसे किया होगा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'माधवः' लक्ष्मी शक्तिका इस समय स्वीकार किया हैं, और मधुवंशमें अवतार लिया है, जैसे यह सब लीला है वैसे ध्यान भी लीला ही है. प्रसन्न इन्द्रियवाले थे, यों कहकर सूचित किया है कि, सर्वत्र शुद्ध सतोगुणका आविर्भाव हुआ हैं, इस कारणसे आत्माका ही ध्यान किया क्योंकि आत्मासे अतिरिक्त देवताके ध्यानका 'योऽन्यां देवतामुपासत' यह श्रुति निषेध करती है.

प्रकाशित सूर्य आदिके आगे रखे हुए घटकी तरह प्रत्यक्ष प्रकाशमान आत्माको ध्यानसे क्या? इसका उत्तर देते हैं कि 'तमसः परम्' तम, कालसे भी आगे है उससे भी आगे भगवान् हैं. 'स एव तमोगुण' यों कितने ही कहते हैं, सत्त्वगुण बाहर आवरणकी तरह है।।४।।

आभासार्थ : सर्व आत्मा हैं तब तो किसीके भी उपासक आत्माके उपासक होंगे? इस शंकाको मिटानेकेलिए केवल आत्मोपासकत्वकी सिद्धि केलिए 'एकं स्वयं' श्लोकमें आत्माके गुणोंका वर्णन कर स्वरूप ज्ञान कराते हैं :

एकं स्वयंज्योतिरनन्यम् अव्ययं स्वसंस्थया नित्यनिवृत्तकल्मषम् ।
ब्रह्माख्यम् अस्योद्भव–वनाशहेतुभिः स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ।।५।।

श्लोकार्थ : आत्मा कैसा है? वह बताते हैं कि एक स्वयं प्रकाश, आपके समान दूसरा नहीं है, नित्य एक रस है, अपने स्वरूपमें स्थितिसे समस्त पापादिको निवृत्त करनेवाला है, ब्रह्म जिसका नाम है, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण अपनी शक्तियोंसे जो जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी जिसमें निवृत्ति है।।५।।

व्याख्यार्थ : छ ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त वह आत्म स्वरूप ब्रह्म ही है. यों कहनेकेलिये आत्माके सात विशेषण कहे जाते हैं–१.एक है, यों कहकर बताया कि उसको किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि स्वयं 'ऐश्वर्य' गुणवाला है. २.'स्वयं ज्योति' स्वयं ही प्रकाशमान स्वरूप है. इससे आपमें अलौकिक वीर्य गुण है यह सूचित किया है. ३.'अनन्य' है आपके समान गुणवान् कोई अन्य नहीं है इससे 'कीर्तिगुण'का सूचन किया है. ४.'अव्यय' आपमें कभी भी विकार उत्पन्न ही नहीं होता है नित्य एक रस होनेसे 'श्री गुण'का सूचन किया है, ५.अपने स्वरूपमें स्थितिसे ही जिसके कल्मषादि नित्यकेलिये निवृत्त हुए हैं. ६.जिसका 'ब्रह्म' नाम है जिससे दिखाया है कि प्रापञ्चिक सर्व पदार्थोंसे आत्मा विलक्षण है. इससे वैराग्य गुण सूचित किया है, आत्माके धर्म स्वरूपका वर्णन कर अब धर्मी स्वरूपको कहते हैं. 'जन्माद्यस्ययतः' इस सूत्रके न्यायसे, इस जगतकी उत्पत्ति(वृद्धि)में सतोगुण हेतु है, नाशमें तमोगुण हेतु है, स्थितिमें रजोगुण हेतु है, ये तीन ही शक्तियां अपनी अर्थात् आत्माकी हैं, उन हेतुओंसे लक्षित सात्त्विक आदि भाव अन्तःकरणके हैं. उन भावोंकी आत्मामें निर्वृत्ति है, अथवा भावोंके सहित जो आनन्द है, उससे आत्मायुक्त है, इस प्रकार दोनों पक्ष

कहकर सिद्धान्त बताया है कि आत्मा विरुद्ध धर्माश्रयी होनेसे प्रपञ्चकर्ता और प्रपञ्च रहित भी है अतः धर्मी स्वरूपका निरूपण किया है, अथवा इससे[१] वैराग्य कहा है, ब्रह्म नामसे धर्मीका सूचन किया है, आत्मपनसे सर्वत्र भेदका निराकरण किया है. 'एक' पद कहकर पांच धर्मोंके भेदका निराकरण किया है. प्रमाणके अभाव केलिये 'स्वयं' 'ज्योतिपन' कहा है. 'अनन्य पन' भिन्न धर्मोंके निराकरण केलिये कहा हैं. 'अव्यय' पदसे ब्रह्म धर्मोंकी नित्यता दिखाई है. सांख्यादिकोंके मतमें जो ब्रह्मके धर्म नहीं हैं, वे भी ब्रह्ममें आ जाते हैं, इस सिद्धान्तके निराकरणकेलिये यह 'अव्यय' विशेषण अवश्य कहना चाहिए. 'स्वरूप स्थिति' इसलिए कही है, जो उससे संसारी आत्माओंकी अविद्या नष्ट होती है. 'नित्य' पदसे ज्ञानके अनन्तर निवृत्तिका निराकरण किया है. 'ब्रह्म' पदसे सर्व श्रुतियोंका समन्वय किया है, सबको बन्ध मोक्ष देनेवाले होनेसे आप विरुद्ध धर्मवाले कहे गये हैं।।५।।

१.इस पाठसे वैसे भाववाले होनेसे ब्रह्ममें प्रपंच कर्तापन है, निर्वृत्तपन प्रपंच राहित्य कहा है.

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान् पनको धारण कर उसका कार्य स्वनिष्ट होते हुए भी उस निष्ठाका त्याग कर भीतर वैसे होते हुए भी भिन्न प्रकारसे लोक शिक्षार्थ धर्मोंको ही करने लगे, जिनका वर्णन 'अथाप्लुतो' श्लोकमें करते हैं :

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्कृतो हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ।।६।।

श्लोकार्थ : जिस स्वरूपका ध्यान करते थे, वह स्वरूप स्वयं ही है, तो भी लोक शिक्षाकेलिए ही धर्मोंको बाहर कर दिखलाते हैं. पवित्र जलमें स्नान कर शुद्ध हो वस्त्र धारण किया. अनन्तर मौन हो सन्ध्यावन्दनादि क्रिया की, पश्चात् अग्निहोत्र होम किया, शांत होकर जप करने लगे।।६।।

व्याख्यार्थ : गोमती आदि नदियोंमें डुबकी मारकर स्नान करना चाहिए, न कि नदीसे जल बाहर निकाल उससे स्नान करना चाहिए, अतः नदीमें भीतर जाकर डुबकी लगाके स्नान करनेके अनन्तर, शुद्ध हो वस्त्र धारण कर लिये, यहां 'अमले' विशेषण 'वाससी' विशेष्यका है, यों तो 'अमले' और 'अम्भसि' साथमें है किन्तु अमले पद 'अम्भसि'का विशेषण नहीं है इसलिए आचार्यश्रीने विशेषण 'विशेष्ययोर्दूरे समन्वयः' पंक्ति कहकर बता दिया है कि दूर होते हुए भी

'अमले' विशेषणका 'वाससी' विशेष्यसे समन्वय है, स्नान करते समय भी रात्रिमें पहने हुए वस्त्रोंका त्याग कर शुद्ध वस्त्र पहनने चाहिए. स्नानके बाद पुनः अन्य शुद्ध वस्त्र धारण करने चाहिए अतः प्रभुने लोक शिक्षार्थ यों ही किया. रात्रिके पहने हुए वस्त्रोंको त्याग, धुले हुए वस्त्रोंको पहन स्नान किया, स्नानानन्तर शुद्ध हो, वस्त्र धारण कर सर्व सन्ध्यावन्दनादि क्रिया कलाप करते समय मौन रखा, क्योंकि मौन कर्माङ्ग है, अन्यथा अङ्ग विच्छिन्नसे कर्मसाङ्ग सिद्ध नहीं होता है. अर्घ्यदान तक सन्ध्या है, पश्चात् 'अग्निहोत्र' होम है वह किया, बादमें गायत्रीमन्त्रका जप किया, जपके अनन्तर तिलक आदि आवश्यक भूषणादिसे अपनेको सुसज्जत किया, इस प्रकार ही किया हुआ 'धर्म', धर्म होता है. यों क्रिया कर कर्म करनेका क्रम और विधान दोनों बताये. अरुणोंको किरणोंके ग्रास होनेसे प्रथम 'ध्यान' करना चाहिए, उनके ग्रास होनेके बाद स्नान करना उचित है पश्चात् अर्घ्य पर्यन्त सन्ध्या करनी चाहिए, अनन्तर 'अग्निहोत्र' कर जब तक सूर्योदय हो तब तक जप करना चाहिए।।६।।

आभासार्थ : सूर्यके उदय होने पर 'उपस्थान' करना चाहिए, यह 'उपस्थायार्कमुद्यन्तं' श्लोकमें कहते हैं :

उपस्थायार्कम् उद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः ।
देवान् ऋषीन् पितन् वृद्धान् विप्रान् अभ्यर्च्य चात्मवान् ।।७।।

श्लोकार्थ : उदय हुए सूर्यका उपस्थान कर आत्मवान् भगवान्ने अपनी कलारूप देव, ऋषि, पितर, वृद्ध और ब्राह्मणोंका पूजन किया।।७।।

व्याख्यार्थ : 'आत्मनः कलास्तर्पयित्वा' इससे देवर्षि पितृ (अग्निष्वात्त आदि सामान्य पितरोंका) तर्पण कहते हैं–'ऋषयो मनवो देवाः' इस शास्त्र वाक्यानुसार ये भगवान् की कला ही हैं जैसे अवयवी अवयव आदिकी पुष्टिकेलिये यत्न करता है प्रभुका भी कलाओंके पुष्ट करनेकेलिये यह यत्न है. 'कला' पद देकर यह बताया है, कि यह मेरा कर्म इनकी उपासना नहीं है, किन्तु इनका पोषण है क्योंकि मैं अवयवी कलाधारी हूं अतः मुझे अपनी कलाओंका पोषण करना आवश्यक है. 'ततः प्रभृति पूज्यते' इस वाक्यसे यह भी सूचित किया है, कि यह कर्म लोक शिक्षार्थ है यों भी सिद्ध होता है. यदि 'सप्तम' यों पाठ माना जाय तो जिसका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये, कि सातवां धर्मी भगवान् है, जिन्होंने देशादि निरूपित षड्विध धर्म किये, इस 'सप्तम' पदसे इस प्रकारके

अर्थको सूचित किया है. भगवत्कलाओंको गिनते हैं. देवान् ऋषीन्, पितृन्, वृद्धान् (स्वजातीयान् क्षत्रियान्) विप्रान् सर्वानेव, इनका गन्ध आदिसे पूजन किया. 'आत्मवान्' पदसे भगवान्की निष्कामता प्रकट की है अर्थात् यह सर्व कर्म कामना रहित होकर किया है, यों कहनेका कारण यह है कि इनका पूजन कामनासे भी होता है, इस विशेषणका आगे भी सम्बन्ध है।।७।।

आभासार्थ : गौका दान प्रतिदिन करना चाहिए, एक गौके दानकी बजाय समुदायका दान उत्तम है, किन्तु समुदाय दानमें शृंगार कराना (बनाना) कठिन है, यह विचार कर अलंकारोंके गुणोंका निरूपण करते हुए 'धेनूनां' 'ददौ' इन दो श्लोकोंसे दानका वर्णन करते हैं :

धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम्।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम्।।८।।
ददौ रौप्यमयाङ्घ्रीणां क्षौमाजिनतिलैः सह।
अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्धं बद्धं दिने दिने।।९।।

श्लोकार्थ : सुवर्ण शृंगोवाली, शांत स्वभाववाली, मुक्तामालाओंवाली, दूधवाली, प्रथम ही ब्याइ हुई, वत्सों सहित, सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित, रूपेके खुरोंवाली, गौ, जो भी गोष्टमें बंधी हुई थीं, वे सब नित्य अलंकृत ब्राह्मणोंको दानमें देते थे और साथमें रेशमी वस्त्र और तिल भी दानमें देते थे।।८-९।।

व्याख्यार्थ : गोष्ठमें जो गौ थी, वे सब बछड़ोंवाली तथा दूध देनेवाली थीं, इससे पशुओंके विशेष भाग्यका निरूपण किया है तथा इसलिए भी यों कहा है कि द्वारकामें कभी भी कोई अनुचित अदृष्ट नहीं होता है. यों न कहते तो गौओंकी बद्धता[1] नहीं बन सकती. गौओंके गुणोंका वर्णन करते हैं, गौओंके सोनेके सींग थे, चान्दीके खुर थे, सुन्दर वस्त्र थे, और उनका स्वभाव शान्त था, उनमें बहुत दूध था एवं वे पहली बार ही ब्याइ थी. सबके बछड़े जीते थे इसलिए उनको बछड़ोंवाली कहा हैं. गलेमें मोतियोंकी माला पड़ी थी, यह पूर्वार्धका विशेषण है, ऐसी गौ भगवान्ने दानमें दी. कोई कहते हैं कि दान क्रियाओंके समुदायसे बद्ध संख्याका सम्बन्ध है, दूसरोंका कहना है कि समुदायका ही दान है, पट वस्त्र और तिलोंका दान गौ दानके साथ करना शास्त्रीय पद्धति है. तब एक ही उत्तम दान हो जाता है, केवल अलंकृत ब्राह्मणोंको कहा, उनकी संख्या न कही, जिसका आशय है गौओंके समान ब्राह्मणोंकी भी संख्या थी, गौके समान संख्या अथवा

बद्‌ध समान संख्या ब्राह्मणोंकी कही, 'बद्‌धं-बद्‌धं' यह ही पाठ है 'बद्‌धं-बद्‌धं' यह वैदिक शब्द है, वह यहां नहीं लेना चाहिए, वहां (वेदमें) भी 'बद्‌ध' शब्द 'बद्‌ध' पर्याय है, कोई कहते हैं कि तेरह सहस्त्र ८४ गौ दानकी है जिसका नवममें विचार कर निराकरण किया है, इससे बद्‌ध गोष्ठ वाचक है, यहां विशेष संख्या कही है, इसके उपयोगका अभाव है कारण कि नित्य दानमें अयुत लक्षादिके दानका उपयोग है, प्रति दिन उपयोग है, गार्हस्थ्यमें नहीं है तथा प्रत्येक गृह वर्षमें भी नहीं आ सके, अतः उपक्रममें बहुवचन कहनेसे यों ध्यानमें लेना चाहिए।।८-९।।

१.गोष्ठमें वे ही गौ बन्धी रहती है जो बछड़ोंवाली हो और दूध देती हो.

आभासार्थ : 'दानानान्तर' प्रणाम किया, जिसका वर्णन 'गो विप्र देवता' श्लोकमें करते हैं :

गो-विप्र-देवता-वृद्‌ध-गुरून् भूतानि सर्वशः।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीः मङ्गलानि समस्पृशत्।।१०।।

श्लोकार्थ : गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्‌ध और भूतोंको अपनेसे उत्पन्न विभूति जानकर नमस्कार की, अनन्तर मंगल पदार्थोंको स्पर्श किया।।१०।।

व्याख्यार्थ : गौ हवि और विप्र तथा मन्त्र एवं देवता, ये तीनों मिल याग होता है, इस प्रकार क्रमका निरूपण किया है, सब सभासद वृद्‌ध हैं, कर्मके उपदेष्टा गुरु है, सब कहनेसे शिष्य प्राशिष्योंके साथ उनको नमस्कार कर अनन्तर मङ्गल[१] पदार्थोंका स्पर्श किया, इनको नमस्कार करनेसे हीनता होती है, इस शंकाको मिटानेकेलिये कहते हैं कि ये सब आपकी ही सम्भूतिरूप थे, अतः जैसे अपने पाद प्रक्षालनसे हीनता नहीं होती है क्योंकि पाद अपनी सम्भूति है, उसी तरह ये भी श्रीकृष्णकी सम्भूति हैं जिससे हीनता नहीं।।१०।।

१.गौ, सुवर्ण आदि मङ्गल पदार्थ हैं.

आभासार्थ : धर्मकी शोभा कहकर अब 'आत्मानं भूषयामास' श्लोकमें धर्मीकी शोभाका वर्णन करते हैं :

आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम्।
वासोभिर्भूषणैः स्वीयैः दिव्यगन्धानुलेपनैः।।११।।

श्लोकार्थ : नर लोकके(जगतके) विशेष भूषणरूप अपनी आत्माको वस्त्र, आभूषण, दिव्य गन्ध आदिसे भूषित किया।।११।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने वस्त्र आभूषण दिव्य गन्ध आदिके अनुलेपनसे आत्माको ही भूषित किया है, न कि देहको. यद्यपि आत्मा शब्द अध्यानसे देहकेलिये भी दिया जाता है, किन्तु वह जीवोंके विषे हैं, न कि भगवान्के विषे होता है, अतः अपने सच्चिदानन्दरूप देहको भूषित करते हैं, इस पक्षका निवारण किया, जिसकेलिये ही 'आत्मानं' शब्द दिया है. भूषित करनेका प्रयोजन कहते हैं कि 'नरलोक विभूषणं' अपने लिये शृंगार नहीं करते हैं, क्योंकि आप निरतिशय आनन्दरूप हैं ही, उनको भूषित होकर आनन्द प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु उनका रूप जो जगत् रूप है वह लौकिकमें अपना उत्कर्ष चाहता हैं, अतः जैसे संस्कार किया हुआ आभूषण विशेष शोभित होता है वैसे ही यह जगत् भी भगवान्ने संस्कृत अर्थात् भूषित वा शोभित किया. प्रथम पहने हुए वस्त्रादिकी अपेक्षासे ये वस्त्रादि भिन्न हैं यों जतानेकेलिये उनके नामका निरूपण करते हैं, कञ्चुक, उष्णीष आदि वस्त्र और अपने असाधारण मकर कुण्डलादि आभूषण धारण किये, तथा दिव्य गन्धोंका अनुलेपन आदि लगाये, इस तरह सर्व आभरणोंसे आत्माको भूषित किया।।११।।

अवेक्ष्याज्यं तथादर्शं गो–वृष–द्विज–देवताः।
कामगं सर्ववर्णानां पौरान्तःपुरचारिणाम्।
प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ।।१२।।

श्लोकार्थ : घृतको देख तथा आरसी देख, गौ, बैल और देवताके दर्शन कर, नगरी तथा जनानेके सर्व वर्णके लोगोंके मनोरथोंको गुप्त प्रकारसे पूर्ण कर, सबको संतोषित कर आप प्रसन्न हुए।।१२।।

व्याख्यार्थ : अपनेको तेजोमय करनेकेलिये घृतका दर्शन किया, जिससे लोक दृष्टि द्वारा सब ही रोग निवृत होते हैं, अनन्तर कान्तिकेलिये आरसी देखी, गौ, बैल और देवालयमें स्थित देवोंके दर्शन किये, पश्चात् लौकिकमें उचित दान किया जिसका वर्णन करते हैं, सबको एक विषय(वस्तु) इच्छित नहीं होती है, यह जतानेकेलिये गौण और मुख्य सब तरहके नगरी तथा अन्तःपुरमें फिरने–वालोंको दान दिया, किन्तु प्रत्यक्ष मिला हुआ दान उनको अभीष्ट नहीं होता है, अतः गुप्त दिया अर्थात् अन्य द्वारा दिया, इसलिए 'प्रदाप्य' पद दिया है, 'प्रकृतीः' पदसे मन्त्री और अन्तःपुरकी स्त्रियां कही है, उनके रुच्यनुसार देकर उनको प्रसन्न किया, उनका जो दानादिसे सत्कार किया, उससे स्वयं भी प्रसन्न

हुए।।१२।।

आभासार्थ : पश्चात् भोगको कहनेकेलिए मुख्यपनसे ताम्बूलादिके स्वीकारका 'संविभज्य' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

संविभज्याग्रतो विप्रान् स्रक्–ताम्बूलानुलेपनैः।
सुहृदः प्रकृतीर्दारान् उपायुङ्क्त ततः स्वयम् ।।१३।।

श्लोकार्थ: माला, ताम्बूल तथा अनुलेपन आदि ब्राह्मणोंको, सुहृदोंको, मंत्रियोंको और स्त्रियोंको देकर अनन्तर अपने उपयोगमें लिया।।१३।।

व्याख्यार्थ : प्रथम ब्राह्मणोंको माला, ताम्बूल और अनुलेपन आदि दिया, अनन्तर सबको सब पदार्थोंका विभागानुसार दिया. लौकिक प्रकारमें देनेके समय पहले सुहृदोंको, बादमें मन्त्री उनके पश्चात् स्त्रियोंको देना चाहिए, यों ही किया, यद्यपि प्रथम अपनेको उपयोगमें लेना चाहिये था, किन्तु यों नहीं किया, कारण कि भगवान्के उपभोगके अनन्तर पदार्थ शेष नहीं रह सकता है जो किसीको दिया जा सके, अतः प्रथम ही सबको पूरे हिस्सेसे क्रमानुसार देकर पश्चात् आपने ग्रहण किया. शिष्ट पुरुष सदैव सेवकोंको देकर अथवा भोजन कराकर बादमें स्वयं लेते हैं जिससे वे(सेवकादि) प्रसन्न रहते हैं।।१३।।

आभासार्थ : इस प्रकार आह्निकादि सर्व प्रातःचर्या कर त्रैलोक्यकी रक्षाकेलिए सुधर्मा सभामें जानेकेलिए तैयार हुए, जिसका वर्णन 'तावत्सूत' श्लोकसे ४ श्लोकोंमें करते हैं :

तावत् सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम्।
सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः ।।१४।।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं सारथेस्तम् अथारुहत्।
सात्यक्युद्धव–संयुक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः ।।१५।।
ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवीक्षितैः।
कृच्छ्राद् विसृष्टो निरगाद् जातहासो हरन् मनः ।।१६।।
सुधर्माख्यां सभां सर्वैः वृष्णिभिः परिवारितः।
प्राविशद् यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षड्भयः ।।१७।।

श्लोकार्थ : इतनेमें दारुक सारथी सुग्रीव आदि घोड़ोंसे जोड़े हुए रथको लाकर प्रणाम कर सामने खड़ा हुआ।।१४।।

अपने हाथसे सारथीका हाथ पकड़ सात्यकि और उद्धवजीके साथ जैसे

सूर्य उदयाचल पर्वत पर चढ़ता है, वैसे आप रथ पर चढ़े।।१५।।

अन्तः पुरकी स्त्रियां जो बड़े कष्टसे भगवान्को छोड़ सकी थी, वे लाज भरी प्रेम युक्त दृष्टियोंसे देख रही थीं, मुस्कुराते हुए भगवान् उनका मन हरण कर बाहर निकले।।१६।।

सब यादवोंसे वेष्टित प्रभु सुधर्मा सभामें पधारे, जिस सभामें बैठे हुए सभ्योंको, क्षुधा और प्यास आदि छ ऊर्मियां नहीं थीं।।१७।।

व्याख्यार्थ : रथ परम अद्भुत है, यों कहकर यह सूचित किया है कि यह रथ वैकुण्ठसे नहीं आया है किन्तु 'धर्ममय' रथ है. वह संकर्षणका उपकारी है क्योंकि संकर्षणके कार्यमें सैन्याश्वकी प्रधानता है इसलिए वे आदिमें कहे हैं. अनिरुद्धकी प्रधानतासे सुग्रीव आदि कहे हैं, सुग्रीवका भावार्थ है कि यहां रज और तमोगुणका अभाव होनेसे यह रथ धर्मोपयोगी है. वह तो सैन्यकी तरह संहारक होनेसे अधर्मके संहार करनेमें उपयोगी है जिससे धर्मोपयोगी है. दारुकने आकर प्रणाम किया यह प्रथमसे विशिष्टता प्रकट करता है, आगे मौन रहना इसलिए है कि यह कार्य लौकिक नहीं है. पश्चात् बिना कहे हुए भी भगवान् सारथीके हस्तको अपने हाथसे पकड़कर रथमें चढे, उसकी क्रिया शक्ति अपनी क्रिया शक्तिसे जोड़ ली, यों न करते तो धर्मके प्रेरक अन्य प्रकार प्रेरण करते, तो संहारार्थ रथारोहण जो किया उसमें प्रतिबन्ध हो जाता, क्योंकि पूर्वावशिष्ट हो जानेसे, भगवदारुढ धर्म सर्वत्र अच्छी तरह स्थिर हो जाता है, इसलिए 'तं' शब्द दिया है, अर्थात् भगवान् धर्ममय रथ पर आरूढ़ हुए हैं अतः धर्म ही स्थिर होगा अधर्मका नाश होगा. रक्षारूप क्रिया शक्ति है, धर्ममें भक्ति साधनपनमें ग्रहण करने योग्य है, इसलिए सात्यकि और उद्धवजीको साथमें लिये है. उद्धव भक्ति रूपा है. अधिकारियोंका ही प्रकाशक होगा ? इस प्रकारकी शंकाको दृष्टान्त द्वारा मिटा देते हैं, कि जैसे प्रातःकालमें जब सूर्य उदय होता है तब सब ही जगते हैं, न कि केवल अधिकारी, अर्थात् सब उजाला देख अपने-अपने कार्यमें तत्पर होते हैं. धर्ममें कामकी निवृत्ति होगी, ऐसी शंकाका निवारण करनेकेलिये 'ईक्षितो-ऽन्तःपुर स्त्रीणां' कहा है, यहां 'स्त्रीणां' षष्ठी विभक्ति कहकर सूचित किया है, कि स्त्रियां केवल देख न रही थी किन्तु भगवान् उनके सम्बन्धी भी थे, ज्ञान द्वारा सम्बन्ध है, आन्तर, बाह्य और निवर्त्तक, इस तरह ज्ञानमें त्रैविध्य दिखलाया है, 'सव्रीड प्रेम वीक्षितैः' व्रीडा(लज्जा) तामसी है, प्रेम राजस है, देखना सात्त्विक

है, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार भावसे बद्ध है, उनकी अपेक्षासे स्वच्छन्द धर्म परता न होगी, इसलिए उनके निर्बन्धका अभाव कहते हैं कि उन्होंने भगवान्को बहुत कष्टसे जाने दिया है, यों तो जाने नहीं देती किन्तु विचार किया कि धर्मकेलिये पधार रहे हैं अतः भले जावें, पश्चात् पधारते हुए प्रभु हंसते हुए जाने लगे, क्योंकि भगवान्को उनका धर्मानुरोध देखकर हंसी आई, स्त्रियोंकी कामसे शान्ति नहीं है, तो भी वे धर्म परायण भी न होनी चाहिए अतः भगवान्ने हंसकर इनके मनका निरोध करनेकेलिये अपनी तरफ खींच लिया, यदि भगवान् मनको अपनी तरफ खींच अपनेमें आसक्त न करते तो ये लोक वा धर्ममें आसक्त हो जाती. भगवान् इनसे बाहरसे अलग हो सुधर्मा सभामें पधारे, सभाके नामसे ही प्रसिद्ध होता है कि यहां उत्तम धर्म है, 'सभा' स्वभावसे भी धर्म निर्णयका स्थान है. सब यादव साथमें थे जिससे दिखाया है, सबकी एक ही राय है, उस सभामें आधिदैविक धर्मपन जतानेकेलिये कहा है कि वहां कालके धर्म बाधा नहीं कर सकते हैं. सभामें बैठे हुओंको देह धर्म, भूख प्यास आदि छ ऊर्मियां हैं ही नहीं जब ये आवश्यक भी नहीं है तो अनावश्यक तो सुतराम् ही नहीं होंगे।।१७।।

आभासार्थ : इस प्रकार सुधर्मा सभाके माहात्म्यका वर्णन कर वहां बैठनेमें केवल धर्म ही है यों शंका कर उत्तर देते हैं कि वह तो निर्बन्धात्मक होता है यों कहकर 'तत्रोपविष्ट' श्लोकसे सुखसे विराजनेका वर्णन करते हैं :

तत्रोपविष्टः परमासने विभुः बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।
वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो यथोडुराजो दिवि तारकागणैः ।।१८।।

श्लोकार्थ : वहां उत्तम आसन पर विराजमान यदूत्तम भगवान् अपनी कान्तिसे दिशाओंको प्रकाशमान करते हुए पुरुष सिंह यादवोंके साथ यों सुशोभित लगते थे, जैसे आकाशमें तारागणके साथ चन्द्रमा शोभायमान होता है।।१८।।

व्याख्यार्थ : वहां सभामें भी भगवान्के विराजमान होनेका स्थान उच्च सुन्दर सिंहासन था, पश्चिम भागके एक तरफ मित्तिके समीप राजाके बैठनेका स्थान होता है. बराबर मध्यमें उसके सामने भगवान्के विराजनेका स्थान (सिंहासन) था, सभासदोंके बाद(पीछे) भगवानने प्रवेश किया, जिसका निवारण करनेकेलिये कहते हैं कि, अपने तेजसे दिशाओंको प्रकाशित करते हुए प्रवेश किया. जिसका भावार्थ है कि सभासद भगवान्के पीछे आ रहे थे जिससे सभामें चारों तरफ भगवान्का पूर्ण प्रकाश मित्ति आदि पर हो रहा था. इस प्रकार

प्रकाशित करनेका सामर्थ्य आपमें है क्योंकि 'विभु' सर्व समर्थ हैं. सभामें राजा मुख्य होता है उसका ही तेज वा प्रकाश देखनेमें आता है इस शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं कि 'बभौ' राजासे भी आप विशेष प्रकाशमान हो रहे थे. भगवान् सभाधर्मसे अथवा देवधर्मसे प्रकाशमान होते होंगे इस शंकाको 'स्वभासा' पदसे मिटाते हैं कि भगवान् सभा वा देवधर्मसे नहीं किन्तु अपने तेजसे प्रकाशमान हो रहे थे. कभी-कभी अप्रधानसे भी प्रधानका भान हो जाता है इस प्रकारके भ्रम वा शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि न केवल वहां बैठे हुए प्रकाशित हुए किन्तु दश दिशाएं भी प्रकाशित होने लगी, इससे सभासे भगवान्का प्रकाश हुआ इसका निवारण किया. यदि यों है तो सभासदोंका कोई प्रयोजन न रहा, इस शंकाको मिटाते हैं कि मनुष्योंमें सिंह(उत्तम) यादवोंसे घिरे हुए पधारे थे, वे पिछे नहीं आये थे, यदि नृसिंह शब्दका विशेष्य 'यदुर्भिः' न कहते तो 'नृसिंह'से परशुराम, व्यास आदि समझे जाते, तब उनसे इनकी समानता होगी? इसके निराकरण करनेकेलिये कहा है कि ये यादवोंमें श्रेष्ठ हैं, उनका एक स्थान पर ही बैठना है, अतः भगवान्का उससे भी उत्तमपन ही होना चाहिए अर्थात् है, न कि नियामकत्व ही है, इस कारणसे धर्म एक मुख नहीं होता है, क्योंकि उनका स्वामी भगवान् है, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, 'दिवि' पद देकर आधिभौतिक-ताका निवारण किया है जैसे देवरूप, 'तारकागणै' पदसे बताया है कि नक्षत्रोंका भी किसी अंशसे समतापोषकत्व है 'उडुराज' कहकर जताया है कि जैसे तारागण चन्द्रमाके आधीन है क्योंकि वह उनका स्वामी है वैसे ही स्वकीयोंका भी अपने स्वामीका आधीनत्व कहा हुआ समझना चाहिए।।१८।।

आभासार्थ : पश्चात् मानों धर्मफल कहते हुए, 'तत्रोपमन्त्रिणो' श्लोकमें मनके प्रसन्नतार्थं कहते हैं :

तत्रोपमन्त्रिणो राजन् नानाहास्यरसैर्विभुम्।
उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक्।।१९।।

श्लोकार्थ : वहां जो उपमन्त्रि आए थे, वे हास्य रसकी वार्ताओंसे भगवान्को प्रसन्न करते थे, नटाचार्य तथा नृत्य करनेवाली स्त्रियां पृथक्-पृथक् ताण्डवोंसे भगवान्की सेवा करती थी।।१९।।

व्याख्यार्थ : हे राजन्! यह सम्बोधन सभामें क्या क्या होता है उसका तो आपको ज्ञान ही है, इसलिए दिया है, देश विदेशसे कलाः दिखानेकेलिये आए

हुओंकी पहचान 'उपमन्त्रिणः' पदसे दी है, उन्होंने भगवान्के पास आकर उनको प्रसन्न करनेकेलिये अनेक प्रकारकी हास्य रसकी कलाएं दिखाई क्योंकि धर्ममें चित्तके उद्वेगका होना अच्छा नहीं, इसलिए उस उद्वेगको मिटानेकेलिये इन कलाओंका दिखाना आवश्यक है, यह लौकिकी भाषा है, भगवान्ने उनको यों कर दिखलानेकी प्रेरणा नहीं की, तो भी उन्होंने यों किया जिसका कारण है कि भगवान् 'विभु' हैं अर्थात् सर्व समर्थ हैं. प्रत्यक्ष प्रेरणा दिये बिना भी कार्य करा सकते हैं, केवल हास्य रस ही नहीं किये, किन्तु विभावादिकोंसे शृंगार आदि भी दिखाये इसलिए 'उपतस्थुः' पद दिया है. 'नट' वे हैं जो ऐसा अभिनय करके दिखावे जिससे रस उत्पन्न हो जाय, तथा शुद्ध स्वाङ्ग कर सकें, स्त्रियां जिनको 'नर्तक्यः' कहा है वे नाचकर प्रसन्न करनेवाली होती हैं, यह सभा है इसलिए दोनों प्रकारके स्त्रियों अथवा पुरुष अपनी-अपनी कला ताण्डवोंसे पृथक्-पृथक् दिखाने आये।।१९।।

१.कौतूकिनः - आश्चर्यमें डालनेवाले तमाशे दिखानेवाले.

आभासार्थ : सभामें भगवान्का पधारना उत्सव रूप है इसको बतानेके लिए 'मृदंगवीणा' श्लोकमें बाजोंका बजना कहते हैं :

मृदङ्ग-वीणा-मुरज-वेणु-ताल-दर-स्वनैः।
ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूत-मागध-बन्दिनः ।।२०।।

श्लोकार्थ : सूत, मागध और बन्दीजन, मृदंग, वीणा, मुरज, वेणु, ताल तथा शंख ; इन शब्दोंके साथ नाचते थे, गाते थे और स्तुति करते थे।।२०।।

व्याख्यार्थ : छ प्रकारके वाद्योंकी ध्वनिके साथ सूत, मागध और बन्दीजन नाचते, गाते और स्तुति करते थे, नट आदि स्तोत्रको अच्छी तरह नहीं जानते इसलिए सूत, मागध और बन्दीको कहा है।।२०।।

आभासार्थ : लौकिक उत्सवका वर्णन कर उसके धर्म फलपनको 'तत्रस्था' श्लोकमें जताते हैं :

तत्रस्था ब्राह्मणाः केचिद् आसीना ब्रह्मवादिनः।
पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन् कथाः ।।२१।।

श्लोकार्थ : कितनेक ब्रह्मवादी ब्राह्मण वहां बैठे थे, वे पुण्य यशवाले पूर्व हुए राजाओंकी कथाएं कहने लगे।।२१।।

व्याख्यार्थ : सभामें धर्मका निर्णय करनेकेलिये उनको सभासद बनाकर

अधिकार दिया था, क्योंकि ब्रह्मवादी होनेसे सर्वज्ञ थे. दूसरे तो धर्मको नहीं जानते, कितने ही अन्य बैठे थे वे तो साधारण थे, न कि वसिष्ठ आदि. धर्म तो परम्परागत ही पालन करना चाहिए, इसलिए भगवान् उसी प्रकार करते हैं, यों जतानेकेलिये ब्राह्मण वैसे निरूपण करते हैं जिसको कहते हैं, जिनकी लोकमें निन्दा नहीं हुई है, जिनके पवित्र यशका ही गान हो रहा है ऐसे इक्ष्वाकु प्रभृति राजाओंकी धर्ममें जिस प्रकार प्रवृत्ति थी वह प्रकार, तथा वैसे ब्राह्मणादिकोंकी धर्मोपयुक्त कथाएं कहने लगे, धर्म सभामें तो धर्मकी वार्ताओंके सिवाय अन्य वार्ताएं नहीं होती है यह बताया।।२१।।

आभासार्थ: जिस निरोधकेलिए यह धर्म कथा निरूपण की, सात्त्विकोंके उस निरोधका निरूपण करनेकेलिए 'तत्रैकः' श्लोकसे तीन श्लोकोंमें उसकी प्रस्तावना कहते हैं :

तत्रैकः पुरुषो राजन् नागतोऽपूर्वदर्शनः।
विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ।।२२।।
स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः।
राज्ञाम् आवेदयद् दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ।।२३।।
ये च दिग्विजये तस्य सन्नतिं न ययुर्नृपाः।
प्रसह्य रुद्धास्तेनासन् अयुते द्वे गिरिव्रजे ।।२४।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! वहां एक जिसका आगे दर्शन नहीं हुआ है, वैसा अनजान पुरुष आया, जिसने अंदर आनेकेलिये भगवानको विनती की, भगवदाज्ञासे द्वारपाल भीतर ले गए।।२२।।

व्याख्यार्थ : परब्रह्म श्रीकृष्णको हाथ जोड़कर उसने प्रणाम किया, अनन्तर जरासन्धने जिन राजाओंको कैद कर रखा था, उनके दुःखका वर्णन कर सुनाया।।२३।।

जरासन्धके दिग्विजयमें जो राजा शरणागत नहीं हुए, उन बीस सहस्र (२०,०००) राजाओंको गिरिव्रज दुर्गमें बलात्कारसे कैद कर रखा है।।२४।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि भगवान्ने धर्मसे अर्थात् अलौकिक प्रकारसे उन राजाओंका निरोध कर लिया था, तो भी भगवान् जो लीला करते हैं वह लोक न्यायसे ही करके दिखाते हैं, अतः बाहर दिखानेकेलिये जरासन्धसे छुड़वानेके वास्ते राजाओंसे दूत भिजवाकर अपनेको प्रार्थना करवाई, उस (दूत)के

आगमनका निरूपण करते हैं कि वह अकेला था उसका कोई सहायक नहीं था, 'पुरुषः' शब्द देकर यह जताया है कि असहाय था तो भी समर्थ था, राजन्! सम्बोधन जतानेकेलिये है. वह दूत अनदेखा हुआ था, आगे कभी नहीं आया था. यों भिन्न प्रक्रमकेलिये कहा है, उसने आकर प्रथम द्वारपालोंको विनय की, कि प्रभुसे भीतर आनेकी आज्ञा लेनेकी कृपा करो, ये राजधर्म है. अर्थात् राजाके पास इस प्रकार जाना होता है. पश्चात् भगवान्ने आज्ञा दी, तब आज्ञा पाकर दरबान उसको भीतर ले गये, यह नीति है. उस (दूत)का कार्य कहते हैं, भीतर आकर श्रीकृष्णको नमस्कार की न कि राजाको, अलौकिक होनेसे अर्थात् वह दूत लौकिक नहीं था, श्रीकृष्णको नमस्कार करनेका कारण यह था कि श्रीकृष्ण, जो कालादि पर हैं उनका भी स्वामी अर्थात् नियामक हैं, राजा आदि कालको हटानेमें समर्थ नहीं होते हैं.

नमस्कार तो दूतने की अनन्तर प्रार्थनाकेलिये हस्त जोड़कर खड़ा हुआ, जिससे दूत सात्त्विक है यह निरूपण किया. राजापनसे दुःखका अनुभव था, इस कारणसे ही जरासन्ध द्वारा कैद होनेसे ही उत्पन्न हुआ दुःख भगवान्को कहने लगा. भगवद्भक्तोंको दुःख होना उचित नहीं है इस शंकाका समाधान करते हैं कि भक्तिके विरुद्ध यह धर्म इसलिए दुःख है यों कहनेकेलिये अभिमान प्रकट करता है कि 'ये च दिग्विजये' जरासन्धने जब दिग्विजय की उस समय दूसरे राजा गये किन्तु जो भगवदीय थे वे इसके शरण न गये क्योंकि वे तो भगवान्की शरण जाते हैं न कि राजाके, यह राजा था इसलिए इसकी शरण न ली. यह जरासन्ध राजा भगवद्विमुख है, अतः अन्तर्यामीकी प्रेरणासे उसने ही बीस सहस्र राजाओंको कैदकर बलात्कार(जबर्दस्ती)से गिरीव्रज दुर्गमें बन्द कर रखा है, अहन्ता और ममताके चौदह स्थान हैं, उनकी हजार और सौ वृत्तियां हैं, यों गिनतीसे बीस हजार आठसौकी संख्या होती है, आठ सौका निरूपण उपसंहारमें है. शेष बीस हजार अब कहा है, जहां कूटवत् चारों तरफ पर्वत ही पर्वत हैं, इसलिए उसको गिरिव्रज कहा है उसमें बीस हजार कैद कर रखे हैं।।२४।।

आभासार्थ : दूत उनके(कैदमें पडे हुए राजाओंके) वचन (कृष्ण-कृष्ण) श्लोकसे ६ श्लोकोंमें कहता है :

राजान ऊचुः

कृष्ण! कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्नभयभञ्जनः।

वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ।।२५।।

श्लोकार्थ : हे कृष्ण! हे अप्रमेयात्मा! हे भयको नाश करनेवाले! हम संसारसे भय पाकर, भेद बुद्धिवाले हो गए हैं, वैसे हम सब आपकी शरणमें आए हैं।।२५।।

व्याख्यार्थ : भगवदीय ऐश्वर्यादि धर्म क्रमसे निरूपण किये जाते हैं, भगवान् ही जीवोंको अपने गुणों द्वारा संसार भयसे छुड़ानेवाले हैं, उनमेंसे ऐश्वर्य गुणका निरूपण करते हैं. स्नेह और आदरमें ऐश्वर्य बाधक नहीं है, अदृष्ट तथा काल आदि ही बाधक होते हैं, क्योंकि साधारण अधिकारी हैं. यदि आप कहो, कि तुम्हारे दुःखोंकी निवृत्ति कैसे होगी? जिसके उत्तरमें कहता है, कि आप अप्रमेयात्मा हैं अतः कैसे दुःखोंकी निवृत्ति होगी? इसका विचार आपके आगे ठहर नहीं सकता है. जो प्रमा करने योग्य है उसके आगे काल आदिका विचार हो सकता है, यों है, किन्तु यदि हम उदासीन होवें तो? जिसका समाधान करता है कि आप उदासीन नहीं हैं, क्योंकि शरणागतोंके दुःखोंको नाश करनेवाले हैं, 'संग्रामे विप्रपन्नानां' इस वाक्यके प्रमाणानुसार शरण आये हुओंके भयका निवारण करना आपकेलिये आवश्यक है, अतः हम शरण हुए हैं, केवल जरासन्धसे ही हम छुटकारा चाहते हैं यों नहीं है, किन्तु संसारसे भी अब डर गये है, जब आपसे सर्व भयोंका नाश हो सकता है तो कोई भी एक भयसे निवृत्ति कैसे चाहेगा? बहिर्मुखोंको संसारमें चारों तरफसे भय रहता है जिसकेलिये कहा है कि हम 'पृथग्धियः' भेद बुद्धिवाले हैं, इससे ज्ञानादि पक्षोंका निवारण किया।।२५।।

आभासार्थ : सब जिस प्रकारसे संसारसे निवृत्ति चाहते हैं, उसी प्रकार तुमको भी संसार निवृत्त करना चाहिए मेरी शरणमें आनेसे क्या लाभ है? इसका उत्तर 'लोको विकर्म निरतः' श्लोकमें देता है :

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ।।२६।।

श्लोकार्थ : यह लोक, जो कर्म करनेके योग्य नहीं है, उन कर्मोंमें लग्न है और जो सत्कर्म करने योग्य है, उनमें उदासीन है, वह सत्कर्म जिनको आपने कहा है, वे उन भगवत्सेवा आदिमें आलस्य कर रहे हैं, तो भी उसको जीनेकी बलवती आशा है, उसको बलवान् काल तोड़ देता है, वह काल भी आपका ही स्वरूप है, उसको नमस्कार है।।२६।।

व्याख्यार्थ : कालरूप आप ही हैं अतः आपकी शरण लेनेसे ही भयकी निवृत्ति होती है, अन्य प्रकारसे नहीं, क्योंकि आपकी आज्ञाके उल्लंघन करने पर आप ही भक्षण करते हैं, आज्ञाके उल्लंघन करनेका वर्णन करते हैं, जैसा कि जिन कर्म करनेका शास्त्रमें निषेध है उनको आदरसे करते हैं, और जिन शुभ कर्मोंके करनेकी आज्ञा हैं उनका उल्लंघन कर रहे हैं, लोककी निषिद्ध कर्ममें ही विशेष श्रद्धा होती है, इसलिए शास्त्रमें कहे हुए कर्मोंमें असावधान रहते हैं, शास्त्रमें जो कर्म हैं वे आपके ही कहे हुए हैं अतः ईश्वराज्ञाका उल्लंघनरूप दोष भी करते हैं क्योंकि वेदादि शास्त्र कहनेवाले आप ही हैं अत: सर्वत्र तन्त्र आदिमें आपकी सेवा पूजा आदि भी साक्षात् भगवद्रूपसे अवतीर्ण होकर ही कही है, वहां भी श्रवणादिरूप भी कहे हैं, यों भगवान्ने तीन प्रकारके कर्म कहे हैं, १.वैदिक, २.पाञ्चरात्र और ३.भागवत. वैदिकसे पाञ्चरात्र धर्ममें उससे भी भागवत धर्ममें कम श्रद्धा है, अतः लोक प्रमत्त हैं. भगवान् प्रमत्तकी तरह मौन कर नहीं रहते हैं, क्योंकि वेदादि[१]के आप ही बनानेवाले हैं, आपके ही अधिकारमें सब हैं, कालको भी मारनेका अधिकार आपने दिया है, क्योंकि आपका ही रूप है अर्थात् आप ही है. यदि यों न होता तो प्रलय न हो सकता, जीवोंके धर्मोंसे ब्रह्मके धर्म महान् हैं, जब तक लोक संसारमें प्रमत्त हो रहता है तब तक जीविताशा बनी रहती है. इतनेमें ही, काल उस आशाको तोड़ देता है, आज्ञोल्लंघनके बाद ही नीचे गिरते हैं. उससे ऊपर आना, उसमें अपना अनुभवरूप प्रमाण कहते हैं. इसको करनेमें जो गुण मुख्य है उसको दिखाते हैं कि, वह बलवान है, वह साक्षात् मारना नहीं जानता है, मरनेमें वा जन्मान्तरमें मरनेके क्लेशकी स्मृति नहीं रहती है, अतः रोग आदिसे जीविताशाका निराकरण करता है, जिससे सबको मरनेकी प्रतीति हो जावे, आज्ञाका उल्लंघन करने पर सर्व प्रकारसे महान् रोगोंको उत्पन्न करता है. जीवके समान कभी भगवान् भी असावधान हो जावे तो, जिसके उत्तरमें कहा है कि, आप बहुत सावधान हैं, अतः आप, कालरूप भगवान्को पूर्व अपराधोंके क्षमा करनेकेलिये हम नमन करते हैं. शरणागति तो मोक्षकेलिये ली है, अपराधोंके होते हुए साधनोंसे भी मोक्ष दुर्लभ है।।२६।।

१.जगतके कर्ता होनेसे वेदके भी आप ही कर्ता हैं.

आभासार्थ : इस प्रकार ऐश्वर्य और वीर्यका निरूपण कर यशका निरूपण करते हुए उद्धरणके अभावमें वहां न्यूनता समझ, सिद्धान्तके अज्ञानसे

मानों पूछ रहे हैं यों 'लोके भवान्' श्लोकमें कहते हैं :

लोके भवान् जगदिनः कलयावतीर्णः सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः।
कश्चित्त्वदीयमतियाति निदेशमीशकिंवा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः।।२७।।

श्लोकार्थ : यद्यपि आप लोकमें सत्पुरुषोंकी रक्षाकेलिए एवं खलोको दण्ड देनेकेलिए कलाके साथ प्रकट हुए हैं, तो भी हम जैसे आपके सेवक दुःख भोग रहे हैं, तो जो आपकी आज्ञाका उल्लंघन करते हैं, वे अपने कर्मानुसार दुःख भोगे तो इसमें क्या कहें? आपने कैसा निर्णय किया है, वह हम नहीं जानते हैं, हम शरण आए हैं, अतः रक्षा करो।।२७।।

व्याख्यार्थ : जगतके स्वामी आप लोकमें कलाके साथ प्रकट हुए हैं, कला लाई है इसलिए आपका सहायक भी है, यों करनेमें दो प्रयोजन हैं, एक सत्पुरुषोंका रक्षण और दूसरा खलोंका निग्रह करना. ईश्वर साधारणतया पालनेकेलिये ही सुतरां विशेष प्रयत्नवाले हो यों करते हैं, 'च' पदसे जताया है. भक्तोंकी रक्षाकेलिये भी, इस प्रकार आपके तीन प्रकारके कार्य होने पर भी, हम पर, किस कारणसे क्यों? दूसरा जो ईश्वर नहीं है, तुच्छ है, वह कारण और कार्यके प्रेरक आपकी आज्ञाका अपने गर्वसे उल्लंघन कर दुःखकी वर्षा कर रहा है, 'हे ईश'! आप ईश हैं फिर यह आपकी आज्ञाका उल्लंघन कैसे करता है? आपके ये वाक्य हैं कि ''**मां प्रपन्नो जनः कश्चिद् न भूयोऽर्हति शोचितुम्, संग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत्, अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम**'' जो कोई मनुष्य मेरी शरण आता है वह फिर शोक करनेके योग्य नहीं हो सकता हैं, अर्थात् उसको किसी प्रकार दुःख नहीं होता है, और जो संग्रामके समय शरण आकर कहते हैं कि 'तवास्मि' 'आपके हैं', केवल इतना जो कहता है वह भी निर्भय हो जाता है, सर्व प्राणी मात्रको मैं अभयदान देता हूं यह तो मेरा व्रत है.

साधारण तो अपने प्रारब्धके भोगका अनुभव करता है, यह 'किंवा जन' पदसे कहते हैं–इस प्रकार भगवद्वाक्य साधारण है यों मानते हुए हम दुःखका अनुभव करें, यहां यों निर्णय किया है क्या? वह हम नहीं जान सकते हैं, दुःखका अनुभव तो निर्णय करानेवाला नहीं है, यों हो तो शास्त्र मात्रके उच्छेदका प्रसंग आ जायेगा, यों कहनेका तात्पर्य यह है कि अपने वाक्योंका पालन करनेकेलिये हमको छुड़ाओ।।२७।।

आभासार्थ : प्रत्यक्षके विरोधी इस सन्देहवाले मार्गका त्याग कर सर्व

त्यागरूप, अभिमान रहित ज्ञान मार्गका आश्रय क्यों न लेते हो? इस शंकाको मिटाते हुए, भगवान्के 'श्री'का 'स्वप्नायितं' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रम् ईश! शश्वद् भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ।।२८।।

श्लोकार्थ : हे ईश! यह राज्य सुख स्वप्न समान तथा परतन्त्र है, हम निरंतर भयसे मृतकके समान ही इस भारको वहन कर रहे हैं, बिना किसी भी चेष्टाके प्राप्त होनेवाले आत्म सुखको त्याग आपकी मायासे मोहित होनेसे दीन बन दुःख भोग रहे हैं।।२८।।

व्याख्यार्थ : वास्तविक रीतिसे यह विषय ज्ञान मार्गीय त्यागके योग्य है, तो भी उस प्रकारके त्याग न हो सकनेके कारण आपकी 'श्री' रूपा माया है, अतः आप आपके वचनोंका पालन करो अथवा मायाको मिटाओ. माया मात्र स्वप्न है, लोकमें राजाओंका सुख प्रसिद्ध है वह मायिक ही है, उसके व्यवहारमें कापट्य विशेष है क्योंकि माया कपटके आधीन है. लोकके अन्तर्यामीके प्रतिनिधित्वसे निरूपण करते हुए कहते हैं कि भगवान् ही प्रतिकूल हैं, जिससे यह प्राप्त राजसुख परतन्त्र है. यहां भगवान् क्यों प्रतिकूल हैं इसको समझाया है कि भगवान् अन्तर्यामीरूपसे जैसी प्रेरणा करते हैं मनुष्य त्यों करता है अतः अन्तर्यामी सखा है. यों कहना अनुचित है इस प्रकार शंका कर सम्बोधन देते हैं कि हे ईश! आप सबके ईश हैं, अर्थात् ईश होनेसे सबके सखा हैं, जो कुछ कराते हो वह हितकेलिये ही है. माया अपने कार्यसे भोग्य है नही कि आत्मासे भोग्य है, यह जतानेकेलिये साधन कहते हैं 'मृतकेन' चेतनके सम्बन्ध न होनेकेलिये यह वचन कहा है, मायाका कार्य साधनसे स्पष्ट है. यों कहते हैं 'शश्वद्भयेन' निरन्तर भयसे, इस कारणसे भारका वहन करना अत्यन्त मायासे मोहित होनेका कार्य है. लोक मरे हुएको ही उठाके ले जाते हैं अथवा वहां ही छोड़ देते हैं, मरा हुआ, किसीको नहीं ले जा सकता है. हम तो उससे अच्छी तरह भारको वहन करते हैं सुखमें आसक्ति होनेसे मनुष्य जो असाधन है उसमें भी प्रवृत्त होता हैं, यदि अन्य प्रकारसे सुखको प्राप्त न हो तो कहते हैं कि 'हित्वायेदात्मनि' तत् पदसे सुखका परमोत्कर्ष कहा. 'आत्मनि' पदसे बताया कि जानेका कोई क्लेश नहीं है, उसकी प्राप्तिमें किसी प्रकारकी क्रिया करनेका भी कष्ट नहीं है क्योंकि 'अनीह लभ्यं' बिना चेष्टाके प्राप्त करने योग्य है. 'तु' शब्दसे न्याय सिद्धान्तमें आत्मा निरानन्द

कहा है उस पक्षका निराकरण किया है. सुखकी प्राप्ति ज्ञानसे और चेष्टाके बिना होती है, यह निरीहा तब होती है जब निरोध सिद्ध हो जाता है. निरोध सिद्ध होनेसे 'सर्व प्रकारकी इच्छा शान्त हो जाती है' इस वाक्यानुसार तब सुखकी प्राप्ति हुई समझी जाती है, तो भी अन्यके अभिनिवेशसे वह हीन है. 'भोक्ता तारतम्यको जानता है' इस न्यायसे विषय सुख ही सर्वोत्कृष्ट बन जायेगा. यों नहीं होवे तो चित्तकी उसमें कैसे प्रवृत्ति होगी? यों शंका कर कहते हैं कि 'क्लिश्यामहे' उससे तो हम दुःखी हो रहे हैं. 'त्वदनीहलभ्यम्' इस पाठमें आपके स्मरणसे उस सुख प्राप्तिकी सुलभता दिखाई है. अनुभवसे सिद्ध है कि क्लेश पा रहे हैं, क्योंकि विषय सुखके भोगनेसे, अन्तमें क्लेश ही होता है. अलौकिक सुख प्राप्तिमें अनेक अन्तरीय होते हैं, अन्तमें क्लेशका अनुभव करते हुए भी उसको त्यागते नहीं है जिसका कारण कि हम अति कृपण हैं. आलोचना न करनेसे, याचना आदिसे, अति दीन हैं, इसमें कारण आपकी ही माया है इसलिए प्रार्थना करते हैं. यदि आपकी माया न होवे, तो इस जगतमें विषयोंकी इच्छा ही न होवे, वैराग्यके अनन्त कारण हैं।।२८।।

आभासार्थ : इस प्रकार श्रीका निरूपण कर भगवान्की ज्ञान शक्तिका निरूपण करते हुए उसके फल मोक्षकी 'तन्नो भवान्' श्लोकसे प्रार्थना करते हैं :

तन्नो भवान् प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो बद्धान् वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात्।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको बिभ्रद् रुरोध भवने मृगराडिवावीः।।२९।।

श्लोकार्थ : जैसे भेड़ीको सिंह रोक रखता है, वैसे दस सहस्र(हजार) हस्तियोंके समान वीर्यवाले हमको इस जरासन्धने पकड़ रखा है, अतः हे शरणागतोंके शोकको नाश करनेवाले आपके चरण हैं, अतः आप जरासन्धके कर्म बंधनमें पड़े हुए हमको छुड़ाओं।।२९।।

व्याख्यार्थ : ब्रह्म ज्ञान, मोक्ष होनेका कारण है, वह ब्रह्म अक्षर है, अवतार समयमें उस अक्षरका पादत्व है, क्योंकि भक्तोद्धारकेलिये ही अवतार है, इसलिए हम लोगोंके बिना व्यापारके भी स्वतः ही आपके चरण युगल, शरणागतोंके शोकका हरण करनेवाले हैं, इससे आपकी जो ज्ञान शक्ति है, वह धर्मरूप ज्ञानात्मक चरणोंसे मिलकर शरणागतोंके शोकको हरती है, उसमें भी समान कालमें जन्मे हुए हम जो बन्धनमें पड़े हैं उनको छुड़ाओ. इस प्रकारका लौकिक बन्धन, ज्ञानसे नहीं छुड़ाया जाता है, इसलिए असाधनसे साध्यकी

प्रार्थना कैसे करते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मागध(जरासन्ध) कर्मपाशका ही दूसरा नाम है. 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इस वाक्यसे, देश नामसे स्थिति होनेसे अधिक कर्मोंकी उत्पत्तिका सम्भव है, जिससे उनका भोगसे क्षय होनेका नहीं. मागध कर्म है, इसमें क्या प्रमाण है? इसके उत्तरमें 'यो भूभुजोऽयुत' कहा है. दश सहस्र हस्तिओंमें जितना पराक्रम होता है उतना इस एकमें है, इतना वीर्य किसी एक कर्माधीनमें नहीं होता है, इसलिए वह कर्मरूप है, अतः हम राजाओंका भोगका हेतु आधिभौतिक कर्म निवारण कर स्वयं आधिदैविक बन बैठा है, अतः केवल एक ज्ञानसे निवृत्तके योग्य है. यदि यों है तो उसको राज्य देकर उसके सेवक ही क्यों नहीं बन जाते हो, इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'मृगराडिवावीः' जैसे सिंह भेड़को खानेकेलिये ही पकड़ लेता है वैसे ही इसने भी हमको प्रथम नाथके यज्ञमें बलि देनेकेलिये बन्धनमें रखा है, अतः तामस देवताको जो समर्पित हो, उनका वहां ही प्रवेश होनेसे कालान्तरमें भी मोक्ष नहीं होता है, इसलिए मरणसे पहले ही हम छुड़ानेके योग्य हैं, कहनेका यह ही भाव है, यदि कहो कि भाग जाओ तो वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि उसके घरमें हम कैद हैं।।२९।।

आभासार्थ : भगवान्की भोगासक्तिका मानों निवारण करते हुए, रक्षा शक्तिको प्रकट करते हुए, अपना भगवदीय कहते हुए, भगवान्की वैराग्य शक्तिको स्वीकार करते हुए भगवान्के वैषम्य नैर्घृण्य[१] दोषोंके परिहार करनेके लिए भगवान्के पूर्व वृत्तान्तको 'यो वै त्वया' श्लोकसे कहते हैं :

यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र–भग्नो मृधे खलु भवन्तम् अनन्तवीर्यम् ।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद् विधेहि ।।३०।।

श्लोकार्थ : जिसको आपने अठारह बार युद्धमें अपने चक्रसे भगाया है, वह आपको केवल एक बार जीतकर अभिमानमें आ गया है, जिससे आपकी प्रजा जो हम हैं, उनको दुःख दे रहा है, अतः हे अजित! हम लोगोंकी रक्षा कर इसको जीत अपने 'अजित' नामको सार्थक करो।।३०।।

व्याख्यार्थ : वास्तविक रीतिसे अठारहवेंमें भी कार्य असिद्ध होनेसे भंग ही हुआ, अतः 'द्विनवकृत्व' यों कहा. प्रजापति अथवा विद्या उसके जयका कारण नहीं, इसलिए रजोगुण और तमोगुण परस्पर मिलनेसे आधिदैविकादि भेदको प्राप्त हुए वे ही हेतु है, इसलिए नव संख्याकी आवृत्ति कही है. 'उदातचक्रभग्न' पदसे यह सूचित किया है कि आधिदैविकादि भेदको प्राप्त हेतुओंसे भंग न हुआ है, किन्तु

भगवान्के माहात्म्यसे भक्षणकेलिये व्याप्त काल शक्तिसे ही युद्धमें चक्र द्वारा वह भग्न हुआ, निश्चयसे इसमें कुछ भी तिरोहित नहीं है यह सूचित किया है. जय और पराजय निश्चित न होनेसे कैसे एकको ही पराजय कहते हो ? यदि यों कहो तो कहते हैं कि जय और पराजयकी व्यवस्था परिमित बलवालोंकी ही कही जाती है, आप तो अनन्तवीर्य हैं वहां यह व्यवस्था नहीं है वहां तो जय ही निश्चित है, तो भी कपट वेषकी लीलाके प्रकट होनेसे उसका विरोध न होवे इसलिए मनुष्य लोकमें आप नितराम् रत हैं, अतः एक बार धुणाक्षर न्यायसे अथवा इसमें कोई गूढ़ हेतु छिपा हुआ है जिससे वह जीतकर महान् अभिमानी हो गया है. हम तो केवल आपके परिपाल्य ही हैं, क्योंकि हमने मर्यादाका त्याग कर अनुग्रह मार्गका आश्रय लिया है अतः जिसको आपकी अपेक्षा नहीं है उससे सर्व प्रकारसे ही हम दुःखी हो रहे हैं इसलिए आपकी प्रजा जो हम हैं वे दुःखी हो रहे हैं कारण कि वह हमको पीड़ा कर रहा है. हमने तो अब लोक न्यायका स्वीकार किया है अतः कैसे छुड़ावें ? यदि यों कहते हो तो कहते हैं कि आप 'अजित' हैं आपका स्वरूप किसीसे जीता नहीं जाता है, 'द्रव्य और संस्कारका जहां विरोध होता है वहां द्रव्य बलवान् होता है' इस न्यायसे लीलाका प्रदर्शन दूर कर हमारी पालना करते हुए, वह अपना अजितपन पालन करो, यों कहकर सर्व सन्देह और अनुपपत्तियोंका निवारण किया।।३०।।

१. पूर्व वृत्तान्त कहनेसे यह दिखाया है कि यह अभिमानी हो गया है, अतः इसके हित केलिए इसको मारना चाहिए, यों कह कर वैषम्य नैर्घृण्य दोषका परिहार किया है.

आभासार्थ : यद्यपि उनकी प्रार्थना आज्ञापनरूप जैसी होनेसे दोषकेलिए न हो, इसलिए उन प्रार्थनाकी शरणरूपता सम्पादन करनेकेलिए, 'दूत' इति श्लोकसे यों कहनेका तात्पर्य कहता है :

दूत उवाच

इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम् ।।३१।।

श्लोकार्थ : दूतने कहा कि मागधने जिनको कैद कर रखा है, वे आपके दर्शनकी इच्छावाले हैं, आपके चरण मूलकी शरण ली है, अतः इन शरणागत दीनोंका कल्याण करो अर्थात् इस बन्धनरूप दुःखका नाश कर सुख दीजिए।।३१।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार उन्होंने आपके चरणकी शरण ली है, मागधने तो

कैद कर रखे हैं. यदि कहो कि वहां ही मेरा स्मरण करते रहते, जिसका उत्तर देते हैं कि 'दृष्टं स्मृतेर्बलिष्ठं' स्मरणसे प्रत्यक्ष दर्शन बलवान् है, स्मरणसे कार्य सिद्ध नहीं होगा, इसलिए दर्शनकी इच्छावाले हैं, दीनोंने जो प्रार्थना की है, उसका दान कर कल्याण कीजिये, दूतको भगवान्का साक्षात्कार होने पर जो प्राप्त हुआ, उस फलकी तरह प्रार्थना की है, जिससे दो प्रार्थना और दर्शन फल यों तीन साधक हो गये।।३१।।

आभासार्थ : इस प्रकार राजसोंकी भगवद्धर्मसे भगवत्परताका निरूपण कर, सात्त्विकोंकी भी भगवत्परता निरूपण करनेकेलिए, सात्त्विकोंके कार्यके परायण नारदजीका आगमन निरूपण किया जाता है. यदि यह निरूपण न किया जाय तो भगवान्का कार्य केवल राजस पर्यवसायी हो जाए, भगवान् क्षण मात्र भी भक्तोंके दुःख सहन करनेमें विलम्ब होना नहीं चाहते हैं, अतः राजदूतके इतना कहते ही भगवान् नारद आ गए, 'राजदूते' श्लोकमें शुकदेवजी यों कहते हैं :

श्रीशुक उवाच

राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः परमद्युतिः।
बिभ्रत् पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद् यथा रविः ।।३२।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी बोले कि राजदूत इस तरह विनती कर रहा था, इतनेमें पीली जटा धारण किये, परम कान्तिवाले नारदजी वहां सूर्यके समान प्रकट हो गए।।३२।।

व्याख्यार्थ : देवता मन्त्रद्रष्टा हैं, अतः उस समय इनका आना उचित ही है. अन्य बाधकोंका तेज दूर करनेकेलिये आप पधार रहे हैं, इसलिए कहा है कि परम कान्तिवाले हैं अर्थात् अपनी कान्तिसे बाधकोंका तेज मिटा देंगे. अधिकारी का वचन अत्यन्त आदर देनेके योग्य नहीं है, इस शंकाको मिटानेकेलिये कहा है कि उनके सिर पर पीली बड़ी जटाएं थी, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह नारदजी तपोरूप हैं, अतः इनके वचन आदरणीय हैं, वहां बैठे हुए लोगोंके तमोगुणके दोषोंको मिटानेकेलिये पधारे हैं. अतः कहा है कि 'यथा रविः' जैसे सूर्य अन्धकार मिटाता है, वैसे रवि पद कहकर यह भी सूचित किया है कि भगवान्के सान्निध्यमें अन्धकार भी रहता है, यदि भगवान्के पास अन्धकार न रहे तो दिन और रात्रिकी व्यवस्था ही न हो सके. 'प्रादुरासीत्' पद कहकर यह सूचना दी है कि दूतकी तरह आपका पधारना न हुआ, किन्तु सूर्यकी तरह प्रकट हो गये ।।३२।।

आभासार्थ : आ जानेके अनन्तर आए हुए उनका वाक्योंसे सन्मान करनेकेलिए लौकिक सन्मान 'तं दृष्ट्वा'से लेकर तीन श्लोकोमें निरूपण किया जाता है :

तं दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः ।
ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो मुदा ।।३३।।

श्लोकार्थ : अब लोकपालोंके ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सब सभासदों और अनुजोंके साथ नारदजीको देखते ही उठकर खड़े हो गए, और सिर नमाकर प्रणाम किया।।३३।।

व्याख्यार्थ: कायिक, मानसिक और वाचनिक; यों तीन प्रकारसे सन्मान किया. उनमें से प्रथम कायिक किस प्रकार किया? वह कहते हैं, सब सभासद एवं अनुजोंके साथ उठकर खड़े हुए और नमस्कार किया. हर्षसे किया, यह मानस आदर किया. यद्यपि भगवान् होनेसे नारदजीके आने पर उठना तथा उनको प्रणाम करना उचित नहीं था, तो भी अब कृष्णरूपसे अवतार लिया है, अतः अवतार दशामें यों करना योग्य है. यों करना अन्योंको शिक्षा देनेकेलिये है कि गृहमें आये हुएका इस प्रकार सन्मान करना चाहिए. देखो! कि मैं सर्व लोकपालकोंका ईश्वर होकर भी गृहागतका किस प्रकार आदर करता हूं? नारदजीका इस प्रकार आदर करनेसे भगवान्की हीनता, दोषकेलिये नहीं है, क्योंकि ऋषिपनसे लोक स्थानीय है अर्थात् लोकमें मन्त्रद्रष्टा होनेसे श्रेष्ठ हैं, गुरु होनेसे ईश्वर सम है. 'सर्व' पदसे देवर्षिपनसे जो उत्कर्ष है, उसका भी निवारण किया।।३३।।

सभाजयित्वा विधिवत् कृतासन–परिग्रहम् ।
बभाषे सूनृतैर्वाक्यैः श्रद्धया तर्पयन् मुनिम् ।।३४।।

श्लोकार्थ : नारदजीका विधि अनुसार पूजन कर, उनको आसन दिया, मधुर वचनोंसे और श्रद्धासे मुनिको प्रसन्न करते हुए भगवान् बोलने लगे।।३४।।

व्याख्यार्थ : 'सभाजनं' अर्थात् उनके मनको प्रसन्न करना, यह लौकिक है, ऋषिपनसे वेदमें भी पूर्ण प्रवेश है, अतः उनका पूजनादिसे आदरादि विधिवत् किया. ईश्वर धर्मके विचारसे यदि कदाचित् वह पूजनादि स्वीकार न करे तो किया हुआ व्यर्थ होगा, इसके उत्तरमें कहते हैं कि उन्होंने पूजन स्वीकार किया जैसा कि 'कृतासन परिग्रह' भगवान्के दिये हुए आसन पर बिराजे, पश्चात् वाचनिक सत्कार करने लगे, वह कहते हैं कि 'बभाषे सुनृतैः' मधुर वाक्य कहने लगे, वे भी

श्रद्धापूर्वक कहकर उनको प्रसन्न किया, क्योंकि श्रद्धा मानस-पूजन है, वह मुनि भी उससे ही प्रसन्न होता है।।३४।।

आभासार्थ : वाचनिक 'अपि स्वित्' दो श्लोकोंसे कहते हैं :

श्रीभगवान् उवाच

अपि स्विदद्य लोकानां त्रयाणाम् अकुतोभयम्।
ननु भूयान् भगवतो लोकान् पर्यटतो गुणः ।।३५।।

श्लोकार्थ : भला अभी तीनों लोक निर्भय है, आप भगवान्के लोकोंमें पर्यटनसे महान लाभ है।।३५।।

व्याख्यार्थ : सर्व लोकोंमें जानेके अधिकारीके तीनों लोक गृह हैं, उससे कुशल प्रश्न ही करना योग्य है और वह स्तुतिरूप होता है. 'अपि स्वित्' इस पदसे सन्देहकी गर्भित संभावना जाननेमें आती है, राजाओंके बन्धन सुननेसे सन्देह होता है. 'अकुतोभयम्' पदका निगूढ आशय यह है कि अन्य किसीसे भय नहीं है, किन्तु केवल अपना अज्ञान होनेसे ही भय है. लोकेश्वर भ्रमण कैसे करते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि लोकोंमें भगवान्के भ्रमण होनेसे बड़ा गुण है अर्थात् लाभ है कारण कि इनका भ्रमण सर्व लोकोंके हितकेलिये है, यों कहनेसे उनकी स्तुति कही है।।३५।।

आभासार्थ : प्रकृतोपयोगी कार्यके पूछनेकेलिए उसका ज्ञान 'न हि ते' श्लोकसे कहते हैं :

न हि तेऽविदितं किञ्चिद् लोकेष्वीश्वरकर्तृषु।
अथ पृच्छामहे युष्मान् पाण्डवानां चिकीर्षितम् ।।३६।।

श्लोकार्थ : ईश्वरके बनाए हुए लोकोंमे जो कुछ है, वह आपसे गुप्त नहीं है, इसलिए पाण्डवोंकी क्या इच्छा है? वह आपसे पूछते हैं।।३६।।

व्याख्यार्थ : यह नारद, ईश्वरकी इच्छाशक्तिका आधिभौतिकरूप है, भगवान् जो चाहते हैं और करते हैं, वह सब इनको मालूम है; क्योंकि 'ईश्वर' हैं, मूलभूत काल है, यों विमर्श है, अतः ईश्वरकी इच्छासे पाण्डव जो करना चाहते हैं, वह आपको मालूम ही है, इसलिए आपसे हम पूछते हैं अथवा हे आयुष्मन्! यों पाठ समझना. 'अथ' शब्द यहां हेतु अर्थमें है वा आनन्तर्यका पर्यायवाची है।।३६।।

आभासार्थ : भगवान्ने जो कायिक और वाचनिक जिस प्रकार किया,

वह उचित नहीं, यों कदाचित् उपस्थित भगवत्प्रश्न मेरा जन अन्य प्रकारसे करे. अर्थात् अनुचितत्त्व ज्ञान होने पर न कहे, भगवान्केकिए हुए कार्यकी अनुचितताका जो ज्ञान होता है, वह मायाका कार्य है, इसलिए उस मायाका अभाव हो, वैसी प्रार्थना 'दृष्ट्वा' श्लोकसे तीन श्लोकोंमें करते हैं :

श्रीनारद उवाच

दृष्ट्वा मया ते बहुशो दुरत्यया माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः ।
भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभिः वह्नेरिवच्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ।।३७।।

श्लोकार्थ : हे भूमन्! आप, जो ब्रह्माजीको भी मोहित करनेवाले और अपनी शक्तियोंसे प्राणियोंमें अन्तर्यामी रूपसे जैसे काष्ठमें अग्नि प्रकाशको छिपाकर विचरण करती है, वैसे आप भी तेजको छिपाकर विचरण कर रहे हैं, अतः यों प्रश्न करना मेरे लिए किसी प्रकार अद्भुत नहीं है।।३७।।

व्याख्यार्थ : नारदजी कहते हैं कि मैंने जहां अनेक प्रकार सर्वजनोंको मोहित करनेवाली, विविध प्रकारसे प्रवृत्त हुई आपकी मायाएं देखी हैं, वहां अपने अज्ञान प्रकट करनेसे और हीन भाव प्रकट करनेसे, केवल अकेले मुझको मोहित करना, इसमें मुझे कौनसा आश्चर्य होगा? यों वाक्यार्थ है. मायाके स्वरूपका ज्ञान ही उसका अतिक्रमण करना है. भगवन्मायाओंका वह स्वरूप ज्ञान किसीको भी नहीं होता है, इसलिए मायाएं दुरत्यय हैं अर्थात् उनका अतिक्रमण कर पार पहुंच जाना कठिन है. यदि कहो कि वस्तुका व्यभिचार करनेसे देखनेमें आई मायाको एक बार समझा जावे, तो मायाके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है, इस प्रकारकी शंकाको मिटानेकेलिये 'बहुशः' एक, हजार प्रकारसे वा हजार बार दिखाई हुई भी समझमें नहीं आती है, यों करनेमें सामर्थ्य है, जिसको कहते हैं कि 'विभो' आप सर्व प्रकार सामर्थ्यवान हैं. प्रयोजन कहते हैं, 'विश्वसृजः' आप विश्वको रचते हैं, यदि मायासे जीव व्यामोहमें न पड़े तो विश्वकी उत्पत्ति ही न हो सके. 'च' पदसे विश्वकी स्थिति और प्रलय भी कही है, 'किञ्च' और विशेष भगवान् मायी हैं, मायाओंके एक आप ही आश्रय स्थान हैं. उन मायाओंका यदि प्रदर्शन न किया जाय तो प्रचार ही न हो सके, इसलिए यों करना आवश्यक कहा है. मायाओंके प्रकट न कर दिखानेमें महत्त्वकी उत्पत्ति नहीं होगी, इस अभिप्रायसे कहा है. 'भूतेषु भूमञ्श्चरत' चरणकी आवश्यकता सिद्ध करनेकेलिये भूमन्! यह पद सम्बोधनमें कहा है. समस्त भूतोंमें जिसका सम्बन्ध है, ऐसा भूमा है अर्थात् भूत मात्रसे उसका

सम्बन्ध है. यदि भूतोंसे सम्बन्धवाला भूमा है, तो उनके दोष भूमामें आ गये होंगे, उनके दोषोका सम्बन्ध भूमासे नहीं है यह जतानेकेलिये कहा है कि 'स्वशक्तिभिः' अपनी असाधारण शक्तियोंके होनेसे दोषोंका सम्बन्ध नहीं होता है. अन्यथाका तात्पर्य 'अभिमान मात्रे' पद है, सचमुच भूतोंमें 'चरण' नहीं है, किन्तु केवल अभिमान है, ऐसे जीवमें सर्व प्रकारकी अवस्थाएं और प्रवृत्तियां नहीं होनी चाहिए. भगवान् सर्वगुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं. मायागुण कहां प्रसिद्ध है? अर्थात् प्रसिद्ध नहीं है, इस शंकाको मिटानेकेलिये दृष्टान्त देते हैं. 'वह्नेरिव छन्न रुच' जैसे अग्नि उष्ण जल आदिमें प्रविष्ट होकर अपना कार्य धूम्र आदि करती हुई भी प्रकट देखनेमें नहीं आती है तथा अग्निसे जल उत्पन्न होनेसे जल अग्निका कार्य है अर्थात् धर्म है, उस धर्मरूप जलसे अग्नि छादित है, जिससे देखनेमें नहीं आती है, वैसे भगवान् सबको प्रकाशित करते हुए भी स्वयं अपनी शक्ति मायासे अपने स्वरूपको छिपा देते हैं, जिससे मायागुण की प्रसिद्धि है. अग्निके धर्म, रूप और स्पर्शको जाननेवाले पुरुषके आगे वह्निका रूप और वायुके मिलापसे आया हुआ स्पर्श, इन दोनोंमेंसे जैसे एक स्पर्शका ही प्राकट्य होता है, वैसे ही जलकी भांति मायाने ही भगवानके स्वरूपका आच्छादन किया है. इस माया गुणसे ही मायाकी प्रपञ्चमें प्रसिद्धि हुई है. जो मनुष्य जीवोंमें समानतादि भगवानके माहात्म्यको देखता है, उसको विरुद्ध धर्मोंके दर्शनसे अद्भुत ज्ञान होता है, मुझे दर्शनमें भी सिद्धान्तके तत्वज्ञान होनेसे, न कुछ अद्भुत वा आश्चर्य ज्ञानजनक देखनेमें आता है, इसी अर्थको आगे कर मायासे विरोधका समाधान है, इस प्रकारके वाक्यको किसीने भ्रमसे अन्य प्रकारसे लगाया है।।३७।।

आभासार्थ : भगवान् अद्भुत कर्म करनेवाले हैं, तब उनके चरित्र दर्शनसे आश्चर्य कैसे? यदि यों कहो तो 'तवेहितं' श्लोकसे इसका उत्तर देते हैं :

तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः ।
यद् विद्यमानात्मतयावभासते तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ।।३८।।

श्लोकार्थ : अपनी कर्तृत्वादि माया शक्तिसे जगतको उत्पन्न कर फिर अपनेमें लीन करते हो, ऐसे आपकी क्या-क्या करनेकी इच्छा है, जिसको कौन जाननेके योग्य है? जो नहीं है, वह भी भास रहा है, वैसे विलक्षण स्वरूपवाले आपको मेरा प्रणाम है।।३८।।

व्याख्यार्थ : आपके चरित्रको, यह इस तरह है, जानने पर आपके जो

नियत धर्म हैं, उनके भी जान लेने पर चरित्र और नियत धर्मोंमें विरोध देखनेमें आता है, जिससे आश्चर्य होता है. वह तो सम्भव ही नहीं है फिर भी जो विरोध समझा जाता है, उसका कारण यह है कि आप कौनसा चरित्र किस भावसे और किसलिए कर रहे हैं इस आपके हार्दको कोई जाननेके योग्य नहीं है. जिसका कारण यह है कि अपनी मायासे इस जगतको रचते हो फिर लीन कर डालते हो. मायासे जो बहिर्भूत है अर्थात् जिस पर मायाका प्रभाव नहीं है, वह ही वस्तुके तथा मायाके सच्चे स्वरूपको जानता है, दूसरा कोई नहीं, क्योंकि विश्वको ही मायासे बनाते और हरण करते हो, इससे इस लोक और परलोकमें कोई भी तत्त्वको नहीं जानता है. यदि कहो कि बाधितार्थ होनेसे मायाका तत्त्व क्यों नहीं जाना जाता है? इस पर कहते हैं कि जो विद्यमान नहीं है, वह भी विद्यमान आत्मपनसे निश्चय किया जाता है. जैसे कि वास्तवमें सर्व आत्मा है, अन्य कुछ नहीं है तो भी अविद्यमान जो घटत्व है, उसका ही विद्यमानत्व निश्चय किया जाता है, अतः भगवान्के ज्ञानाभावसे इस प्रकारके भगवान्की स्थिति होने पर प्रपञ्चका हीनत्व कथन ही बाधितार्थ है, इस प्रकारके ज्ञानाभावसे आच्छादन करनेवाला माया तत्त्व भी नहीं जाना जाता है, हममें ज्ञानका अभाव है, इसलिए हम वैसे आपको केवल नमस्कार ही करते हैं, आपका स्वरूप स्वतः ही सर्व विलक्षण है, जिससे जीव स्वरूप हम आपको नमस्कार करनेके ही योग्य हैं।।३८।।

आभासार्थ : यदि यों हैं तो अनर्थके हेतु भगवान् कैसे सेवनके योग्य हैं? इसका उत्तर 'जीवस्य' श्लोकमें देते हैं :

जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः ।
लीलावतारैः स्वयशःप्रदीपकं प्राज्वालयत्त्वा त्वामहं प्रपद्ये ।।३९।।

श्लोकार्थ : अनर्थ रूप शरीरोंको ग्रहण कर संसारमें विचरण करता हुआ जीव संसारसे कैसे छूटे, इसको नहीं जान सकता, यदि आप लीलावतारोंसे प्रकट होकर अपना यश रूप दीपक प्रज्वलित कर अज्ञानान्धकार मिटा कर शरण मार्ग न दिखाते. वैसे जो आप दयालु है, उनकी हम शरण आए हैं।।३९ ।।

व्याख्यार्थ : जिसने अपने यशरूप दीपक जलाये हैं, उस आपकी शरण मैं ले रहा हूं, यों सम्बन्ध है. भगवान् अनर्थके हेतु तब बनें, जब अनन्त संसारको रचें, किन्तु उनसे छूटनेका द्वार न रखें अथवा अज्ञान ही रहे. बल्कि आपने तो उनसे छूटनेकेलिये, सर्व पदार्थोंका जैसे सच्चा ज्ञान हो जावे, इसकेलिए वेद और

पुराणोंमें प्रसिद्ध लीलावतार धारण कर अपना यशरूप दीपक जला दिया है, जिस प्रकाशसे जीवका अज्ञानान्धकार मिट जाता है. जीव बिना क्लेश शरण लेकर संसारसे पार हो जाता है. यदि आप (भगवान्) यों कृपा कर न करते तो शब्द मात्रमें निष्ठावालेको कभी भी धर्म सिद्ध न होता. भगवान्के मायान्धकारको नाश करनेकेलिये यश ही दीपक हैं, न ज्ञान आदि. 'ज्ञानकाशया' इस वाक्यसे दीपक प्रज्वलित करनेवाले कारण भी दुःखसे सम्पादन करने योग्य नहीं अर्थात् वे भी सरल हैं; क्योंकि 'लीलावतार' हैं, उनकी शरण जाते ही वे यश दीपक स्वतः प्रकाश दे देते हैं, इसलिए ऐसे आपकी शरण मैं आया हूं।।३९।।

आभासार्थ : अतः यद्यपि जानकर ही अज्ञानका नाट्य करते हैं तो भी जो आपने प्रश्न किया है, उसका उत्तर दूंगा, यों 'अथापि' श्लोकसे कहते हैं :

अथाप्याश्रावये ब्रह्मन्(/भूयन्) नरलोकविडम्बनम्।
राज्ञः पैतृष्वस्रेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम्।।४०।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन्! यद्यपि आप मनुष्य नाट्य दिखा रहे हैं, तो भी आपकी बूआ(भूवा)के बेटे एवं आपके भक्त राजा युधिष्ठिरकी इच्छाको सुनाऊंगा।।४०।।

व्याख्यार्थ : आपको अपनेको छिपाना आवश्यक है; क्योंकि आप 'ब्रह्म' हैं, यों कहनेसे यह सूचित किया कि वेदकी तरह आपकी आज्ञा सबको माननी चाहिए. आपने जो मुझसे लोक कुशल पूछा, वह मेरे सन्तोष करनेकेलिये पूछा है और वह स्तुति परायण है, अतः उसका उत्तर न दूंगा, किन्तु आपके भक्त तथा बूआके बेटे राजा युधिष्ठिरकी क्या करनेकी इच्छा है, वह बताऊंगा. राजा जो करना चाहता है, वह कार्य प्रजाओंका हित करनेवाला होता है, बन्धु जो करना चाहता है, वह बान्धवोंका हितकारी होता है, भक्त जो करना चाहता है, वह भगवान्का हितकारी होता है. 'च' पदसे यह जताया है कि भगवान् जो करना चाहते हैं, वह सबका हितकारी होता है।।४०।।

आभासार्थ : जो युधिष्ठिर करना चाहता है, वह कहते हैं :

यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः।
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिः तद् भवान् अनुमोदताम्।।४१।।

श्लोकार्थ : युधिष्ठिर पारमेष्ठ्य सम्पत्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे राजसूय यज्ञसे आपका यजन करना चाहता है, उसका आप अनुमोदन करो।।४१।।

व्याख्यार्थ : यज्ञ तीन कार्योंकेलिये होता है, इसलिए उसकी 'कृति' तीन प्रकारकी है, जो यज्ञ फलकी कामनासे किया जाता है, वह भौतिक 'कृति' है, जो अन्तःकरणादिकी शुद्धिकेलिये किया जाता है, आध्यात्मिकी 'कृति' है और जो निष्काम भगवदर्थ किया जाता है, वह 'आधिदैविकी' कृति है. 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' श्रुतिसे वह आधिदैविकी कृतिका वर्णन किया है, उसमें यदि कोई प्रतिबन्ध करनेवाला होता है तो उसका निवारण भगवान् ही करते हैं, यह यज्ञ किसी प्रकार दूसरा नहीं है, इसमें आपको ही पूजेगा, क्योंकि 'यज्ञो वै मखः' इस श्रुत्यनुसार आधिदैविक यज्ञ ही 'मख' है, प्रकरण वश क्षत्रियकेलिये राजसूयसे श्रेष्ठ दूसरा कोई यज्ञ नहीं है, संसारमें उपरत क्षत्रियोंका और ब्राह्मणोंका ही लम्बे समयमें होनेवाले बड़े यज्ञोंमें अधिकार है और बड़े यज्ञोंमें बहुत विघ्न पड़ते हैं. यदि यों है तो क्यों करते हैं? जिसका उत्तर देते हैं कि 'पाण्डवः' पण्डु वाक्य कहकर बताया है कि इनका अवश्य कर्तव्य है, भगवान् प्राणीसे सर्व भावसे सेवाके योग्य हैं, किन्तु वैसी सेवा कदाचित् बन सकती है, जब नियत कालमें साधन सम्पत्ति हो, तब अवश्य करनी चाहिए, वह सम्पत्ति परमेष्ठीकी ही है, न अन्यकी. अतः उसकी कामनावाला है, उस सम्पत्तिकी प्राप्तिसे ही नित्य सेवा पूर्ण रीतिसे हो सकेगी.

वैसे अन्तः सेवामें अनधिकार हैं, क्योंकि राजा है, इसलिए यज्ञ करनेकी सम्पत्ति प्रयोजिका है. सम्मतिके अभावमें प्रसन्नता न होगी, फल देवतासे मिलेगा, इस पक्षमें कर्मका फल नहीं. कर्मका फल है इस पक्षमें देवताकी प्रीति साधनपनसे सिद्ध होगी, इसलिए उसके अभावमें फलकी प्राप्ति नहीं. 'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति' इस श्रुतिके अनुसार प्रसन्न हुआ इन्द्र इस यज्ञ करनेवालेको सब तरह समृद्ध कर प्रसन्न करता है, अतः पूजा करनेकेलिये पूज्यका अनुमोदन आवश्यक है, इसलिए आप अनुमोदन कीजिये, यह अनुमोदन भी समीपमें स्थित होकर कीजिये. पूजा और पूज्य दोनोंका दूसरा देश होना असम्भव होनेसे, इससे ही स्वर्गका हेतुभूत यश और अन्तःकरणकी शुद्धि दोनों होंगे।।४१।।

आभासार्थ : अतः एकसे ही तीन प्रकारके कार्य सिद्ध होंगे, इस अभिप्रायको 'तस्मिन्' श्लोकमें प्रकट करते हैं :

तस्मिन् देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः।
दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ।।४२।।

श्लोकार्थ : हे देव! इस उत्तम यज्ञमें देवों और यशस्वी राजागण आपके दर्शन करनेकी इच्छासे आएंगे।।४२।।

व्याख्यार्थ : दोनों लोकोंमें देवता और राजाओं द्वारा यश होता है. वहां यद्यपि यज्ञमें देवोंका भाग न होनेसे वे नहीं आवेंगे, तो भी अन्य देखनेकी इच्छावाले तो आयेंगे, राजा लोग ईर्ष्या(डाह) व क्रोधवाले होते हैं, तो भी कौतुककेलिये आवेंगे, यद्यपि इस प्रकार आनेमें यश नहीं है. देव! यह संबोधन है, जैसे महान् उत्सव करनेवालेका, महोत्सवमें देव दर्शन, यश करनेवाला होता है अर्थात् यदि कोई भक्त भगवान्के यहां अन्नकूट आदि महोत्सव कराता है तो दर्शनार्थी भगवद्दर्शनकेलिये आते हैं. दर्शन करते हुए उत्सव करनेवालेका यशोगान करते हैं एवं यहां उत्सव यज्ञमें जो दर्शनार्थ आवेंगे, वे आपका दर्शन कर, प्रसन्न हो यज्ञ करानेवाले युधिष्ठिरजीका यशोगान करेंगे, उनका भी यश यहां मिला हुआ होता है, यों कहा हुआ है. 'आदि' शब्दसे सिद्ध आदि भी समझने चाहिए।।४२।।

आभासार्थ : प्रसंगसे ही 'श्रवणात्' श्लोकसे शुद्धि भी कहते हैं :

श्रवणात् कीर्तनाद् ध्यानात् पूयन्तेऽन्तेवसायिनः।
तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः ।।४३।।

श्लोकार्थ : हे ईश! जिसके ध्यान, कीर्तन और श्रवणसे चाण्डाल भी पवित्र होते हैं, वैसे ब्रह्ममय आपके साक्षात् दर्शन और स्पर्श करनेवालोंकेलिए शेष क्या बचेगा? अर्थात् उन्होंने सब पाया।।४३।।

व्याख्यार्थ : प्रमाण बल जहां है, वहां प्रथम श्रवण, कीर्तन और स्मरण कहे हैं, एकाग्र चित्त होकर जो स्मरण किया जाता है, उसको ध्यान कहते हैं, इस प्रकार भक्त ही कर्म त्याग आदिसे वैसे पनको प्राप्त हुए, इस प्रकार ध्यान किया. पूर्व वासनासे श्रावणादि किया, जिससे उसके दोषको नष्ट करते हैं, यों कोई कहते हैं. अन्य प्रकारसे चाण्डाल आदिको भी श्रवणादिका सम्भव होने पर, उस प्रकार(चाण्डालादि)के जन्मको देनेवाला दोष नाश होता है. 'तव' यह युष्मत्का प्रयोग आपकी सम्मतिकेलिये है, मर्यादा भक्तोंके मतमें प्रमेय बल नहीं है, इसलिए वे मानते हैं कि प्राकृत बुद्धिसे श्रवण आदि करनेका कोई फल नहीं है. यदि तो भी फल माना जायेगा तो सब नाम भगवद्वाचक है, अतः हर एक कोई न कोई नाम सर्वदा लेता रहता है, अतः सबका मोक्ष हो जायेगा, किसीका भी बन्ध

न होगा. जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'ब्रह्ममयस्य' ब्रह्म प्रचुर परमानन्द स्वरूप सच्चिदानन्द रूप और सर्व वेदमय आपके नाम लेनेसे बन्धका नाश, आनन्दकी प्राप्ति होती है. आपके दर्शनको, शुद्धि करनेकी सामर्थ्य है, दर्शन और विचार यह प्रमेय बल है, साक्षात्कार और सम्बन्ध ये दोनों फलरूप हैं, उनके सिद्ध हो जानेसे साधन सिद्धि अन्तरीयकी नहीं होती है, यह कैमुतिक न्यायसे है, अतः कहते हैं 'किमुत' चाण्डाल आदिकी व्यावृत्तिकेलिये ईक्षा और अभिमर्शका साथमें प्रयोग किया है।।४३।।

आभासार्थ : भगवद्दर्शन स्पर्श पवित्र करनेवाले हैं, जिसको कैमुतिक न्यायसे सिद्ध करनेके लिए, चरणोदकका माहात्म्य कहते हैं :

यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम् ।
मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् ।।४४।।

श्लोकार्थ : हे भुवन मंगल! आपका निर्मल यश स्वर्ग और सर्व दिशाओंको पवित्र करता है तथा आपका चरण जल आकाशमें मन्दाकिनी रूपसे, रसातलमें भोगवती रूपसे एवं पृथ्वीमें गंगा रूपसे तीन लोकको पवित्र करता है।।४४।।

व्याख्यार्थ : भगवान्के दो चरणोंसे निकले हुए दो तीर्थ हैं, एक यशरूप और दूसरा जलरूप, वे दोनों ही भक्तोंके हित करनेकेलिये निकले हैं. उनमेंसे एक पवित्र निर्मल यश आकाश अर्थात् 'स्वर्ग'में है और दूसरा पृथ्वी पर है. 'सर्वारम्भा हि दोषेण' इस वाक्यानुसार सर्व कर्म दोषवाले हैं, यों माना जाता है, किन्तु भगवान्का यह 'तीर्थ द्वय' वैसा नहीं है, किन्तु निर्दोष स्वच्छ है, क्योंकि भगवान् निर्दोष हैं. इसलिए उनके वे गुण रूप भी निर्दोष हैं, अतः भगवान् समस्त भुवनोंमें मङ्गलरूप हैं अथवा भुवनोंके मङ्गलरूप होनेसे वहांवालोंका तीनों लोकोमें यशोगान हो रहा है, वह यश किन हिस्सोंमें होगा ? जिसके अभावको दिखाते हैं कि 'न हि सर्वत्र' है. यह बतानेकेलिये 'दिशामाच्छादकम्' कहा है अर्थात् यशसे सब दिशाएं आच्छादित हो गई है. अब दूसरे जलरूपको कहते हैं, स्वर्गमें मन्दाकिनी रूपसे, नीचे भोगवतीरूपसे और भूमि पर गङ्गारूपसे व्याप्त है, चरणाम्बुरूप कमण्डलुसे उत्पन्न यह तीर्थरूप जल समग्र विश्वको पवित्र कर रहा है।।४४।।

आभासार्थ: अब श्रीशुकदेवजी, दूत और नारद दोनोंने जो अपना-अपना आशय प्रार्थनामें कहा उसका वर्णन 'तत्र तेष्वात्म' श्लोकमें करते हैं :

श्रीशुक उवाच

तत्र तेष्वात्मपक्षेष्वगृणत्सु विजिगीषया।

वाचःपेशैः स्मयन् भृत्यम् उद्धवं प्राह केशवः ।।४५।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि दूत और नारदके वचनोंको सुन लेनेके बाद अब क्या करना चाहिए? भगवान्की इच्छा तो युधिष्ठिरके यहां जानेकी थी, किन्तु उद्धवजी यों न कहे, इसलिए चतुर वाणीसे अपनी मायारूप स्मय प्रकट करते हुए उद्धवजीसे पूछने लगे।।४५।।

व्याख्यार्थ : अब इस प्रसंगमें किस स्थान पर जावे तो प्रथम लौकिक बुद्धिसे जरासन्धके वधकेलिये ही जाना चाहिए, क्योंकि अपने पक्षवाले यादव उसको जीतना चाहते हैं. यों करनेसे नारदजीका इच्छित न होगा तो उनके पक्षकी हानि होगी एवं जरासन्धके मारनेसे महादेवके पक्षकी हानि होगी, क्योंकि जरासन्ध महादेवका भक्त है, इसलिए तो नारदका ही कहना करना चाहिए. दोनों पक्षोंके समाधानार्थ उभय मतोंके जाननेवाले, उद्धवजीको अपना मध्यस्थ बनाकर ब्रह्मा और शिवका भी नियन्ता और सुखदाता प्रभु, मुसक्यानसे उनको भी मोहित करते हुए मीठी और उत्तम वाणीसे कहने लगे, जिससे वह आदरसे सुने अन्यथा मेरे सर्वेश्वरत्वको जानता ही है, इसलिए न सुने, इसलिए मोहिनी स्मित एवं मधुर वाक्योंसे कहने लगे. नारदजीका पक्ष न लेंगे तो ब्रह्म पक्षकी हानि होगी, जरासन्ध वधकेलिये जावें तो इससे महादेवका पक्ष नाश होगा, इसलिए यज्ञकेलिये युधिष्ठिरके यहां जाना ही योग्य जचता है, अतः अङ्ग और प्रधानके विरोध हो जाने पर क्रीड़ा सुख देनेवाली नहीं होती है, इसलिए अभिज्ञ सर्व सम्मत उद्धवजीसे सलाह लेने लगे।।४५।।

आभासार्थ : भगवान्के वचन 'त्वं हि नः' श्लोकसे कहते हैं :

श्रीभगवानुवाच

त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित्।

अथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत् ।।४६।।

श्लोकार्थ : भगवान् कहने लगे कि आप हमारे सुहृद और गुप्त विचारोंको जाननेवाले एवं नेत्र रूप हैं अर्थात् मार्ग दिखानेवाले हो, अब ये दो कार्य साथ साथ आ पड़े हैं, इनमेंसे हमको मुख्य कौनसा कार्य है, जो प्रथम मुझे ही करना चाहिए जैसे आप कहोगे, वैसे हम करेंगे।।४६।।

व्याख्यार्थ : सर्वज्ञको तो स्वयं ही जानकर करना चाहिए न कि जो सर्वज्ञ नहीं है, उसके कहनेसे करना चाहिए. वह मोहमें डालनेवाला हो जावे, उद्धवजी इस प्रकार कहे, जिसके परिहारकेलिये उद्धवजीको अपना अंग बताते हैं कि आप मेरे नेत्र हैं, आधिदैविक परमानन्दरूप है. 'चक्षुषश्चक्षुर्वा' इस श्रुतिसे उनका ही यह अवतार है और लोकोक्ति भी है कि 'मन्त्री ज्ञानचक्षुः' मन्त्री ज्ञानरूप नेत्र हैं, आप मन्त्री हैं, इसलिए ज्ञान नेत्र हैं, अतः 'नः' यह बहुवचन दिया है, केवल शास्त्रीय विषय नहीं है, इसलिए कहते हैं कि आप हमारे सुहृद भी हैं एवं मन्त्रके अर्थ एवं फलके तत्त्वको जानते हो, इस कारणसे इस विषयमें जो उचित कर्त्तव्य है, वह कहिये. हमारी दोनोंमें श्रद्धा है, जो आप कहेंगे वह ही हम करेंगे, एकमें भी अश्रद्धा और न करनेका विचार नहीं है।।४६।।

आभासार्थ : पश्चात् महामंत्री उद्धव भगवान्के वचनोंको मोहक न मानकर उत्तर देनेके लिए तैयार हुए :

श्रीशुक उवाच

इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत्।
निदेशं शिरसाधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ।।४७।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि आप सर्वज्ञ होते हुए भी मुग्धकी तरह उद्धवजीसे पूछने लगे, स्वामी(भगवान्)की आज्ञाको शिरोधार्य कर उद्धवजी उत्तर देने लगे।।४७।।

व्याख्यार्थ : उद्धवजी ज्ञानांश होनेसे युद्ध आदिका उपदेश नहीं करते हैं, यदि ज्ञानमें न जोड़ें तो उसका भरण व्थर्य हो जाय, इसका सूचन 'भर्त्रा' पदसे करते हैं. 'सर्वज्ञेन' पदसे दोषका निवारण करते हैं, इसलिए आज्ञाको शिरोधार्य कर कहने लगे कि विचार कर उत्तर दूंगा।।४७।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण, अध्याय ७० की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

सात्त्विक साधन प्रकरण

अध्याय ६८

भगवान् श्रीकृष्णका इन्द्रप्रस्थ पधारना

द्वाविंशे धर्मरक्षार्थं धर्मस्थानगतिर्हरेः ।
सर्वसंमतियुक्तस्य शोभा युक्ता निरूप्यते ।।का.१।।

कारिकार्थ : उत्तरार्धके इस २२वें अध्यायमें धर्मकी रक्षाकेलिए भगवान् सर्व सम्मतिसे इन्द्रप्रस्थ पधार रहे हैं, इससे उनकी जो शोभा होने लगी, उसका निरूपण किया जाता है।।१।।

एका कृतिर्हरेरत्र बहुकार्यनिरूपिका ।
निर्धार्यते सर्वसुखा धर्मे सर्वाधिकारिणी ।।का.२।।

कारिकार्थ : भगवान्की एक क्रिया बहुत कार्योंको सिद्ध करनेवाली होगी, अतः प्रथम धर्मावतार युधिष्ठिरके यहां जानेकेलिए तैयारी की, वह क्रिया सर्वकी अधिकारिणी और सर्वको सुख देने वाली होगी, यह निर्धार किया जाता है, इस सुहृत् कार्यद्वारा भक्तरक्षण भी सिद्ध होगा एवं नारद तथा दूत दोनोंका कथन बिना विरोधके सिद्ध हो जाएगा।।२।।

कारिकार्थ सम्पूर्ण

आभासार्थ : पूर्वाध्यायके अन्तमें उद्धवजीने भगवान्के वाक्यको शिरोधार्य किया, उसके अनन्तर यदि केवल भगवदिच्छानुसार ही कहनेमें मन्त्रीपनकी हानि होती है, इसलिए उद्धवजीको पूर्वापरका अनुसन्धान है, यह सिद्ध करनेकेलिए उद्धवजीका प्रकरण ज्ञानपूर्वक 'इत्युदीरितमाकर्ण्य' श्लोकमें उत्तर देनेका आरम्भ करते हैं, यों श्री शुकदेवजी वर्णन करते हैं:

श्रीशुक उवाच

इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत् ।
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ।।१।।

श्लोकार्थ : शुकदेव कहने लगे, कि देवर्षि नारदजीका इस प्रकारका कहना सुनकर, श्रीकृष्ण और सभासदोंका मत भी जानकर, महाबुद्धिमान् उद्धवजी कहने लगे।।१।।

व्याख्यार्थः श्रीशुकदेवजीने श्लोकमें 'देवर्षेरुदीरितं' कहा, 'दूतस्य उदीरितं' भी न कहा, जिसका आशय यह है कि दूतके कहे हुए वाक्यमें किसीका भी विवाद नहीं था. केवल नारदजीके वाक्यमें विवाद था, इसलिए विवादग्रस्त वाक्योंको ही उद्धजीने ध्यानपूर्वक सुना, उन पर ही विचार कर निर्णय देना था कि क्या किया जाय? भगवान्के वाक्योंके श्रवणके अनन्तर उत्तर कहना था, तो भी फिर नारदजीके वचनोंके अनुसंधानसे ही उसका समाधान करना है, यों विचार कर उद्धवजी कहने लगे.

धर्म और ब्राह्मण ही पुष्टिमार्गमें बाधक हैं अर्थात् यहां राजाओं पर अनुग्रह होनेमें धर्म(राजसूय यज्ञ) और ब्राह्मण(नारद) प्रतिबन्धक हुए हैं, उन दोनोंका जो प्रतिविधान है, वह कुछ पुष्टिके निरोधार्थ होनेसे प्रकरणार्थ है.

जब मत भेद हो, तब मन्त्रीके वचन मान्य होते हैं, इसलिए दोनों पक्षोंका निरूपण करते हैं. सभ्योंका तथा श्रीकृष्णका मत पूर्ण रीतिसे समझकर पीछे नारदके वचनोंको भी सुना और विचारकर कहने लगे. सभासदोंका मत था कि प्रथम जरासन्धसे युद्धकेलिए जाना चाहिए, उसको जीतकर पश्चात् युधिष्ठिरके पास यज्ञकेलिए चलना चाहिए. दुःखका अभाव करना और सुख करना, इन दोनोंमेंसे प्रथम दुःखका कार्य(युद्ध)कर दुःखका अभाव करना अर्थात् युद्धद्वारा जरासन्ध वधकर राजाओंको छुड़ाकर उनको सुखी करना, पश्चात् सुख कार्य राजसूयमें चलना चाहिए, भगवान्का भी यह मत है. 'च' पदसे विपरीत भी है अर्थात् राजसूयमें युधिष्ठिरके पास चलनेमें भी सम्मति थी, इस प्रकार विचारोंमें विभिन्नता होने पर निर्णयकी आवश्यकता है, किन्तु इसके निर्णयकेलिए बुद्धिकी आवश्यकता है, वैसा निर्णयकर्ता हो जो बुद्धिमान् हो, इस पर कहते हैं कि उद्धवजी 'महामति' बड़े बुद्धिमान् हैं, अतः उनसे निर्णय कराना योग्य जानकर भगवान्ने उद्धवजीसे पूछा कि क्या करें? भक्तिमार्ग और नारदजीका कोप झेल लेना, जहां तक बन सके मर्यादाकी भी स्थापना करनी चाहिए, अतः धर्म, ब्राह्मण और मर्यादा, ये तीन एकत्र विरुद्ध होते हैं और दूसरी ओर भक्तिमार्ग एक ही है।।१।।

आभासार्थ : अतः 'बहूनामनुग्रहः' इस न्यायानुसार कहना चाहिए, यों निश्चयकर दोनों पक्षोंका अनुवाद 'यदुक्तं' श्लोकसे उद्धवजी कहते हैं:

उद्धव उवाच

यद् उक्तम् ऋषिणा देव! साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया।

कार्यं पैतृष्वस्रेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ।।२।।

श्लोकार्थ : उद्धवजीने कहा कि हे देव! नारदजीके कहनेके अनुसार यज्ञ करनेकी इच्छावाले बूआके बेटे राजा युधिष्ठिरका मन्त्रीत्व करना है और दूतके कहनेसे शरणागत राजाओंकी रक्षा करनी है।।२।।

व्याख्यार्थ : 'देव' यह सम्बोधन है. 'साचिव्य' पदसे यह कहा है कि आप केवल परामर्श देना, न कि युद्धसे सहायता करनी. परामर्शमें अलौकिक प्रकार तो नहीं कहना चाहिए, अतः नारदने जो साचिव्य कहा, उसका ही अनुवाद करते हैं. 'कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुः' इस वाक्यके अनुसार उसी प्रकार करनेमें धर्म है. बूआके बेटेका कार्य करना, यह लौकिक है, इससे इसमें लोक और वेद विरुद्ध नहीं हैं, इसलिए दोनों कहे हैं. दूसरा पक्ष कहते हैं कि शरणागतोंकी रक्षा करनी, 'च' वान्धवोंके वाक्य भी मानने, दोनों पक्ष हैं तो भी इस प्रकार क्रिया करनी चाहिए, जैसे दोनोंमें एकता हो, यों देखनेमें आवे।।२।।

आभासार्थ : इन दोनों पक्षोंमें राजाओंके छुड़ानेके कार्यमें यज्ञका कार्य भी हो सके, यह अशक्य है, इसलिए छुड़ानेका कार्य यज्ञके साथ हो सकेगा. अतः छुड़ानेका कार्य यज्ञके साथ जोड़ लो अर्थात् यज्ञमें पधारकर दोनों कार्य सिद्ध कर लो, इसलिए 'यष्टव्यं' श्लोकमें वह मार्ग उद्धवजी बताते हैं:

यष्टव्यं राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो ।
अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम ।।३।।

श्लोकार्थ : हे विभा! राजसूय यज्ञ दिग्विजय कर लेनेके पश्चात् होता है, अतः प्रथम दिग्विजय अवश्य करना है, उस प्रसंगसे जरासन्ध भी जीता जाएगा, इसलिए इन्द्रप्रस्थ चलनेसे दोनों कार्य सिद्ध होंगे, मेरा तो यह मत है।।३।।

व्याख्यार्थ : दिशाओंका चक्र अर्थात् दस दिशाओंको जीतनेवालेको ही राजसूय यज्ञ करना चाहिए, अतः जो दिशाओंको जीतेगा, वह ही जरासन्धका घात करेगा. यज्ञकेलिए मारने पर कोई दोष नहीं लगता है, यों होने पर जो दोष लगते हैं, उनका परिहार आगे हो जाएगा. 'आदि'में यज्ञकेलिए उसके वधको स्थापन करता है, वहां चलकर दिग्विजयार्थ जानेसे वहां जरासन्धका वध होगा, तब तो भक्तिमार्ग बाधित ही होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मैं जैसा कहता हूं, यों करनेसे दो अर्थ सिद्ध होंगे. १.यज्ञकी सिद्धि होगी और २.राजाओंका छुटकारा होगा, यह पक्ष मुझे पसन्द है, यह ही उचित है, यों करनेसे नारदादि भी

प्रसन्न होंगे. उनको किसी प्रकारसे क्रोध करनेका अवसर नहीं मिलेगा।।३।।

आभासार्थ : जो पक्ष मैंने कहा है, उसमें जो दोष हैं, उनका परिहार 'अस्माकं च'से ढाई श्लोकोंमें वर्णन करते हैं:

अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति।
यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बन्धाद् विमुञ्चतः ।।४।।

श्लोकार्थ : अपने पक्षको यों करनेसे महान् लाभ होगा, हे गोविन्द! राजाओंको छुड़वानेसे आपका बहुत यश फैलेगा।।४।।

व्याख्यार्थ : पराक्रमसे जरासन्धका वध करनेसे उसका धन हमको मिलेगा, यज्ञार्थ वध किया जायगा तो धन नहीं मिलेगा. यवनके जीतनेसे जो धन प्राप्त हुआ था, वह भगवान्का धन उसने हड़प लिया था, उसको लौटाकर लेना. 'च' पदसे छुड़ाए हुए राजाओंसे भी जो धन लिया, वह भी लौटाकर लेना, यह सब यज्ञकेलिए मारनेसे भी हो जायगा, क्योंकि युधिष्ठिर वह धन अपनेको ही दे देंगे, कारण कि वे समझेंगे कि यह भगवत्कार्य है और दूसरा समझेगा कि यवन जयका भी धन वहां है, अतः स्वयं नहीं लेंगे. उस प्राप्त धनसे जो भक्त छुड़ाए जायेंगे, उनका पोषण होगा, अन्यके मेलसे यदि उसको मार, राजाओंको छुड़वाएंगे तो यश नहीं होगा, यों करनेसे आपका ही यश होगा. 'च' शब्दसे आपकी 'अभयं सर्व भूतेभ्यः' प्रतिज्ञाका भी पालन हो जायगा, केवल उसके मार डालनेसे राजाओंका बन्धनसे छूटना न होगा, क्योंकि उसके पुत्रसे भी बन्धन हो सकता है, अतः विशेष प्रकारसे बन्धनसे छुड़ानेमें हेतुपनसे उपदेश देते हैं. 'राज्ञो बन्धात्' बन्धन दो प्रकारका है, एक शरीरका और दूसरा आत्माका, दोनों प्रकारके बन्धनसे छुड़वाना ही विशेष मोचन है, उसके करनेसे आपका यश होगा।।४।।

आभासार्थ : इसमें क्या विशेषता है? ऋषिको ही कह देना चाहिए कि जरासन्धका वध आवश्यक है. उसे कर फिर यहां इन्द्रप्रस्थ पधारेंगे. यदि यह पक्ष स्वीकार किया जायगा तो इन्द्रप्रस्थ स्त्रियोंके साथ लीलासे जानेमें जो शोभा आदि होगी, उसका बाध होगा, मर्यादामें यह पक्ष अवश्य है, यों कहनेकेलिए जरासन्धके स्वरूपका 'स वै दुर्विषहः'से दो श्लोकोंमें वर्णन करते हैं:

स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले।
बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना ।।५।।

श्लोकार्थ : दस हजार हस्तियोंके समान बलवान् होनेसे, सबसे बलवान्

है, किन्तु समान बलवाले भीमके सिवाय अन्य बलवान् राजाओंसे भी वह (जरासन्ध) जीता नहीं जाएगा।।५।।

व्याख्यार्थ : कोई भी यादव इसके बलको सहन न कर सकेगा, क्योंकि यह क्षत्रिय राजा बहुत कर दबाने योग्य नहीं है, यह अलौकिक बल है. उसके बलका वर्णन करते हैं कि दस हजार हस्तियोंके बलके समान बल इसमें है, ऐसे तो अन्य राजा लोग भी हैं. इसके उत्तरमें कहते हैं कि दूसरे जो बलवान् हैं, उन सबसे यह विशेष बलवान् है, अन्य सब बली राजाओंका बल इकट्ठा किया जाय तो वह जितना हो, उतना इस एकमें बल है. 'च' शब्दसे यह बताया है कि ब्राह्मणादिके वरदानसे भी इसका बल सिद्ध है, यदि यों है तो मर्यादानुसार तो यह अवध्य ही है. इसका उत्तर देते हैं कि अन्यसे जीता नहीं जायगा, केवल एक भीमसेन ही इससे लड़ सकेगा और जीत जाएगा, क्योंकि वह भी वैसा ही बलवान् है, तो भी जैसे भीमकी जीत होगी, वह आगे कही जाएगी।।५।।

आभासार्थ : जरासन्धमें वरसे प्राप्त अन्य सामर्थ्य भी है, यह 'द्वैरथे स तु जेतव्यः' श्लोकमें कहते हैं:

द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुतः।
ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित्।। ६।।

श्लोकार्थ : शत अक्षौहिणीसे भी यह नहीं जीता जाएगा, किन्तु बाहु युद्धसे ही इसको जीतना चाहिए, यह ब्राह्मणोंका भक्त है, यदि ब्राह्मण इससे कुछ भी याचना करें तो वह कभी भी देनेमें आनाकानी किए बिना दे देता है।।६।।

व्याख्यार्थ : इसको द्वन्द्व युद्धसे ही जीतना चाहिए, अगणित अक्षौहिणी ले जाकर भी नहीं जीतना चाहिए, यो कहनेसे यह इंगित(इशारा) किया है कि इसके पास अधिक सेना है. इस प्रकार उसके गुणोंको कहकर कहते हैं कि कोई एक ऐसा गुण भी होता है, जो किसी विशेष समय पर दोष रूप हो जाता है, जिससे हानि होती है. वह गुण कहते हैं कि वह ब्राह्मण भक्त है, स्वभावसे ब्राह्मणोंका हित करनेवाला है. यदि कोई ब्राह्मण उससे कुछ याचना करे तो उसको मना नहीं करता है, यह ब्राह्मण नहीं है, किन्तु ब्राह्मण-वेश धारण कर आया है तो भी अपने धर्मकी दृढ़ता सिद्ध करनेकेलिए उसकी मांगको स्वीकार कर लेता है, अतः यह एक ही इसके मारनेकेलिए अवसर है।।६।।

आभासार्थ : तो क्षत्रियोंको क्या करना चाहिए? इस शंकाका उत्तर

'ब्रह्मवेष'श्लोकमें देते हैं:

ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः ।
हनिष्यति न संदेहो द्वैरथे तव सन्निधौ ।।७।।

श्लोकार्थ : भीमसेन ब्राह्मणका वेष धारणकर इससे द्वन्द्व युद्धकी याचना करे, आप भी उसके साथ होंगे, जिससे द्वन्द्व युद्धमें भीम जरासन्धको जीत जाएगा, इसमें संशय नहीं है।।७।।

व्याख्यार्थ : चोला, अचकन आदिके बिना केवल दो वस्त्र, एक धोती, एक उपरना एवं यज्ञोपवीत तथा तिलक यह ब्राह्मण-वेश है, यद्यपि इस वेशमात्रसे ब्रह्मतेज तो नहीं आवेगा तो भी जिस दानको मांगेगा वह मिल जायगा और युद्धमें जरासन्धको मार सकेगा, ऐसा सामर्थ्य आपकी सन्निधिसे उसमें हो जाएगी।।७।।

आभासार्थ : यदि मैं परब्रह्म और सर्वात्मा हूं तो उदासीन हूं, यदि विष्णु हूं तो पालक हूं, घातक नहीं हूं, यदि कहो मेरा तेज यों करेगा तो ब्रह्मण्यमें वैष्णव तेज कुछ नहीं कर सकता है, अतः वध कैसे होगा? जिसका उत्तर 'निमित्तं परमीशस्य' श्लोकमें देते हैं:

निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः ।
हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव ।।८।।

श्लोकार्थ : निराकार कालरूप ईश्वर आप ही जगत्की सृष्टि और प्रलय करते हैं, जैसे ब्रह्मा और शिव तो निमित्तमात्र हैं, वैसे यहां भीमसेन निमित्तमात्र होगा।।८।।

व्याख्यार्थ : कालरूप ईश्वर भी आप ही हैं, जब अपनी इच्छाकी पूर्ति करनी चाहते हो, तब संनिधिमात्रसे इस विश्वको उत्पन्न करते हो तथा लीन भी कर लेते हो. ब्रह्मा और महादेव तो तलवारकी तरह निमित्तमात्र हैं, क्योंकि कालरूप आपने कालकी गोदमें जिनको लाए हो, उनकी ही उत्पत्ति और प्रलय होती है, जैसे जो कर्मकी गोदमें बैठे हैं, उनकी सृष्टिका निमित्त कारण 'पिता' और नाशका कारण 'व्याघ्र' कहा जाता है. यदि मैं ही सर्वदा मारनेवाला हूं, तो तब सबका अनुपलम्भ कैसे हूं? जिसके उत्तरमें कहते है कि आप निराकार हैं, वह निराकार ही आप अब यहां रूपसे विराजमान होकर जगत्को सुशोभित कर रहे हो यह ही तात्पर्यार्थ है।।८।।

आभासार्थ : यों है तो भी यश न होगा? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं:

गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोचनं च ।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ।।९।।

श्लोकार्थ : आपका यश त्रिलोकीमें फैला हुआ है, जब आपने हिरण्यकशिपुको मार, देवोंको छुड़ाया, तब देवोंकी स्त्रियोंने अपने शत्रुका नाश होना, स्वयं शत्रु भयसे मुक्त हुईं, यह जानकर आपका यश गाने लगीं हैं. गजेन्द्रको आपने नक्रसे छुड़ाया, जिससे उनकी स्त्रियां आपका यश गा रहीं हैं. सीता भी आपका यशोगान कर रही है, क्योंकि उसने भी देखा कि मुझे हरण करनेवाले मेरे शत्रुको आपने ही नाश किया है. गोपीजन भी शंखचूड़ वधसे आपका गुणगान कर रहीं हैं. आपने कंसको मारकर माता-पिताको कैदसे छुड़ाया, जिससे वे भी आपका यश गा रहे हैं. मुनिगण और हम आपकी शरणसे रक्षित हैं, अतः हम भी आपका यश गा रहे हैं।।९।।

व्याख्यार्थ : आपका यश प्रथम ही त्रिलोकीमें फैला हुआ है, अब उस यशको उत्पाद करनेका क्लेश क्यों किया जावे ? यों वाक्यार्थ है. इससे भगवान्का भगवान्पनसे और भगवदीयोंका भगवदीयपनसे यश सिद्ध ही है, नूतन यश उत्पादन नहीं करना है.

आपके विशद कर्म हैं, जैसे हिरण्यकशिपु, रावण वध आदि अनेक कर्म हैं. देवोंकी स्त्रियां जिनको हिरण्यकशिपु आदिने बन्दीखानेमें बन्द किया था, उन शत्रुओंको आपने मारा तथा विशेषता यह है कि अविद्यासे भी छुड़ाया आदि कर्मोंका यश घरोंमें गा रहीं हैं. इसी तरह जिनको नरकासुरने कैद किया था, वे भी आपके यश गा रहीं हैं, क्योंकि नरकासुरका भी आपने नाश किया था. इसी प्रकार कंसको मारकर उग्रसेनादि राजाओंको मुक्त किया और राज्य दिया इत्यादि आपका यश स्त्रियां सर्वत्र गा रहीं हैं. पिता वसुदेव, माता देवकी भी आपके गुणोंका गान कर रहे हैं, अन्य भी बहुत गा रहे हैं. आपने शत्रु शंखचूड आदिको मारा, जिससे गोपियां तथा 'च'से सम्बन्धवाली अन्य स्त्रियां भी आपका यशोगान करती हैं, जिस प्रकार अपने शत्रुके वधकी कथाओंका गान करती हैं, वैसे ही गजेन्द्रके शत्रु मगरमच्छके वधका तथा जनककी पुत्री सीताके शत्रु रावणके वधका एवं वसुदेव-देवकीके शत्रु कंसके वधका गान करती रहती हैं. इसी तरह त्रिविध प्राकृत मनुष्य भी अपने अथवा अन्यके दोषोंका नाश आपकेद्वारा होनेसे आपका यश गाते हैं, वैसे ही जिन कर्मिष्ठ, ज्ञानी तथा भक्तोंको आपकी शरण

प्राप्त हुई है, वे तीनों ही आपका गुणगान करते हैं. 'मा भैष्टेत्यभयारावौ' 'तस्माद् मच्छरणं गोष्ठम्' 'एतद्व्रतं मम' इत्यादि सहस्रों वाक्योंमें निष्ठावाले, कर्मी, ज्ञानी और भक्तोंने आपकी शरणागति ग्रहण की है. पाण्डवोंने आपकी शरण प्राप्ति की है, वे भी गुण गाते हैं, यों कोई कहते हैं. 'मुनि' शब्दसे दण्डकारण्यवासी व विश्वामित्रादि और हम सब ही भक्त लिए जाने चाहिए. 'च' पदसे यों समझना चाहिए कि जो निर्गुण हैं, वे भी अन्योंके शत्रुओंका वध गाते हैं, क्योंकि वे समदृष्टि हैं, अतः उनकी दृष्टिमें कोई उनका शत्रु नहीं है, इससे आपकी कीर्ति तो सिद्ध ही है, कहनेका तात्पर्य यों है।।९।।

आभासार्थ : अलौकिक उपायसे राजाओंको शीघ्र छुड़वाकर क्यों नहीं राजसूय यज्ञकेलिए युधिष्ठिरके पास पधारते हैं? जिसका उत्तर 'जरासन्धवधः' श्लोकमें देते हैं:

जरासन्धवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्पते।
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ।।१०।।

श्लोकार्थ : हे कृष्ण! जरासन्धके वधसे कई प्रयोजन सिद्ध होंगे, मैं समझता हूं कि जरासन्धके कर्मोंका विपाक आ गया है, इसलिए आपकी भी रुचि यज्ञ होनेकेलिए हुई है।।१०।।

व्याख्यार्थ : 'कृष्ण' यह सम्बोधन कहकर सूचित किया है कि बालरूप का यही कृत्य है, 'केवल' सम्बोधन कर्तापनके अभिनिवेशसे, प्रमादसे व पापक्षयार्थ है. जरासन्धका वध अनेक प्रयोजन सिद्ध करनेकेलिए करना है, भक्तद्रोह करने पर नाश होगा, यों भक्तिमार्गकी सिद्धि शरणागतोंकी रक्षा, यज्ञ, कीर्ति, पूर्व-वैरका प्रतिकार और भूभार हरण इत्यादि सहस्र प्रयोजन सिद्ध होंगे. भक्तिमार्ग सबसे विशेष है, 'किं च' और विशेष(बहुत) करके जरासन्धके कर्मोंकी समाप्ति हुई है अर्थात् बहुत द्रोहसे पुण्योंकी समाप्ति हो गई है, राजसूय यज्ञसे यह सिद्ध होगा कि पृथ्वी पर अब कोई वीर नहीं है, इसलिए आपको भी यज्ञ करना पड़ा. 'च'से यह आशय है कि यज्ञसे बहुत कार्य सिद्ध होंगे जैसे कि शिशुपाल-वध और दुर्योधनका मान भंग आदि अर्थ सिद्ध होंगे।।१०।।

आभासार्थ : यद्यपि यादवादि जरासन्धके वधार्थ युद्ध करनेकेलिए उद्यत थे, किन्तु युद्धसे वह न मरेगा, इसलिए युद्धसे उनको रोका. युद्ध न किया जाएगा, तो यश प्राप्ति कैसे होगी? इसका उत्तर देते हैं कि उसका वध तो यज्ञमें जानेसे

सिद्ध ही होगा, इसलिए यशकी उपेक्षा नहीं की है, छुड़ानेकेलिए आते हैं, यह शंका उसके मनमें हो जाएगी तो महादेवकेलिए पहले ही दे देंगे, ऐसा विचार उसके मनमें उत्पन्न न होवे, इसलिए उद्धवका वाक्य ही सर्व प्रकार कल्याणकर है, इससे भगवान्ने उद्धवका कहा हुआ वाक्य ग्रहण किया, यह 'इत्युद्धववचः' श्लोकमें शुकदेवजी कहते हैं:

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धववचो राजन् सर्वतोभद्रम् अच्युतम्।
देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन्।।११।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! इस उद्धवजीके वाक्यको देवर्षि नारद, वृद्ध यादव और श्रीकृष्णचन्द्रने सर्व प्रकार श्रेष्ठ माना।।११।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार कपटसे जरासन्धको मारनेमें कोई दूषण नहीं है, क्योंकि 'मायेत्यसुराः' असुरोंका प्रभु माया है अर्थात् कपट है, इस कारणसे दोष नहीं है. 'तद्धैतान् भूत्वावति' यह माया इनको बार-बार बचाती है, अतः बिना कापट्यके दैत्योंका वध सिद्ध नहीं होता है, इसलिए कापट्यके स्वीकार करनेमें दोष नहीं है. 'राजन्' सम्बोधनसे बताया है कि राजधर्म भी वैसा ही है अर्थात् इसमें भी बिना कापट्य किए सिद्धि नहीं मिलती है, इस उद्धवकी कही हुई रीतिसे कार्य करनेमें किसी प्रकार त्रुटि नहीं है, इसलिए 'अच्युतं' विशेषण दिया है, त्रुटि न होनेसे सर्व प्रकार हितकर निरूपण किया है, यह प्रकार भगवद्रूप है, अतः दोषरहित पूर्ण गुणोंवाला है, इसी कारणसे ही सबको पसन्द है. देवर्षि नारद, वृद्ध यादव 'च'से दूसरे भी जो सभ्य थे, उन सबको यह मत जच गया, ये नाम आदि कहकर यह सूचित किया कि जो वीर युवक लड़नेके उत्सुक थे, उनके मनमें यह राय अच्छी नहीं लगी. 'कृष्णश्च' कृष्ण और 'च'से वसुदेव तथा जो भगवद्भक्त थे, उन सबने उद्धवका वाक्य हितकर जाना, जिससे सबने साधु-साधु कहकर उद्धवके वाक्यको समादर किया और मान लेनेकी प्रतिज्ञा की।।११।।

आभासार्थ : अब भिन्न प्रकारसे कहते हैं कि लौकिकोंके सुखार्थ और गृहकी स्थितिमें किसी प्रकार क्लेश नहीं है, यह जतानेकेलिए प्रस्थानके उत्सवका 'अथादिशत्'से साढे छः श्लोकोंमें वर्णन करते हैं:

अथादिशत्प्रयाणाय भगवान् देवकीसुतः।
भृत्यान् दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून् विभुः।।१२।।

श्लोकार्थ : देवकीके पुत्र भगवान्ने बड़ोंसे आज्ञा लेकर दारुक, जैत्र आदि भृत्योंको प्रयाणकेलिए आज्ञा की।।१२।।

व्याख्यार्थ : यह लौकिकी भाषा है, 'देवकीसुतः' कहनेका भाव यह है कि स्त्री प्रभृति सबको सुख देनेवाले हैं. 'भृत्य' पदका आशय है कि काम करनेवाले अन्तरंग सेवकोंसे है. 'जैत्र'का तात्पर्य जो रथका योजक जयशील है. 'गुरुन्' पदसे पिता आदि अथवा ब्राह्मण समझने चाहिए . 'विभुः' शब्दसे यह कहा कि देवकीका सुत कहनेसे साधारण मानव न समझना, किन्तु ये सर्वकरण समर्थ भगवान् हैं।।१२।।

निर्गमय्यावरोधान् स्वान् ससुतान् सपरिच्छदान्।
संकर्षणम् अनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन्।।
सूतोपनीतं स्वरथम् आरुहद् गरुडध्वजः।।१३।।

श्लोकार्थ : हे शत्रु घातक! अन्तःपुरसे पुत्र और सामान सहित सबको निकाल आगे कर संकर्षण और उग्रसेनजीसे आज्ञा लेकर, आप(श्रीकृष्णचन्द्र) सारथीके लाए हुए अपने रथ पर चढ़े।।१३।।

व्याख्यार्थ : पहले ही अन्तःपुरसे स्त्रियोंको बाहर किया, 'अवरोध' शब्द पुल्लिंग है, वह स्त्रियोंकेलिए देनेका आशय यह है कि उनमें स्त्रीभावका अभाव था. 'संकर्षण' नाम इसलिए दिया है कि वह सहाय करनेवाले हैं. 'यदुराज' शब्द उग्रसेनकेलिए दिया है, इन नामोंको देनेका भाव यह है कि भगवान्ने राजस और तामसको यहां ही छोड़ा, शेष अन्यको साथ ले गए. 'शत्रुहन्' विशेषणसे बहिर्मुखताका अभाव दिखाया है, सूतके लाए हुए अपने रथमें चढ़े, लिखनेका तात्पर्य यह था कि कदाचित् कौतुकसे प्रद्युम्नादिक रथ ले आए हों अथवा कौतुकसे भगवान् अन्य रथमें बैठे अथवा स्त्रियोंसे परिवृत होकर पधार जावें, इन शंकाओंको यह वाक्य देकर टाल दिया है कि वह रथ गरुड़की ध्वजावाला है, इसलिए सहायताकी अपेक्षा नहीं है।।१३।।

ततो रथद्विपभटसादिनायकैः करालया परिवृत आत्मसेनया।
मृदङ्ग-भेर्यानक-शङ्ख-गोमुखैः प्रघोषघोषैः ककुभो निराक्रमत्।।१४।।

श्लोकार्थ : रथ, हस्ती, प्यादे, घोड़े सवार और इनके नायकोंसे भयंकर दीखती हुई अपनी सेनासे आवृत्त हो, मृदंग, शंख, भेरी, आनक और गोमुख इनके शब्दोंसे दिशाएं व्याप्त हो गईं, इस प्रकार भगवान् रवाना हुए।।१४।।

व्याख्यार्थ : वहांसे सेनाके साथ एवं अनेक प्रकारके वाद्यों सहित तथा उन वाद्योंके ध्वनिकी प्रतिध्वनि दिशाओंमें जिस समय आ रही थी, उस समय रवाना हुए चतुरङ्ग नायकोंवाली रथ, हस्ती, घोड़े सवार आदि सहित एक ही भगवान्‌की सेना थी, जिसके दर्शनमात्रसे भय उत्पन्न होता था।।१४।।

आभासार्थ : पश्चात् असाधारणीय और साधारणीयोंके प्रस्थान प्रयाणका प्रकार 'नृवाजि'से दो श्लोकोंमें कहते हैं:

नृवाजिकाश्चनशिबिकाभिरच्युतं सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ।
वराम्बराभरणविलेपनस्रजः सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ।।१५।।

श्लोकार्थ : तलवार और ढाल हस्तमें लिए हुए पुरुषोंसे वेष्टित हो, उत्तम आभूषण वस्त्र अरगजा और मालाओंको धारणकर, पुत्रोंको संग ले प्रभुकी पतिव्रता स्त्रियां बग्घी, पालकी तथा तामजाम(चोंडोल)में बैठ भगवान्‌के पीछे-पीछे जाने लगीं।।१५।।

व्याख्यार्थ : 'नृ' शब्दसे 'डोली' कही है, केवल घोड़े और रथोंमें जोड़े हुए ऐसे दो प्रकारके अश्वोंके थे, सोनेकी शिबिकाएं जिनको चोंडोल या तामजाम कहते हैं, उनमें मनुष्य वा घोड़े जुड़े हुए थे अर्थात् शिबिकाओंको मनुष्य खेंचते थे अथवा घोड़े खेंचते थे, अपने अच्युतपतिके पीछे मार्गमें भी चतुर्विध अलंकार धारण की हुई रुक्मिणी आदि पतिव्रता स्त्रियें पुत्रों सहित जाने लगीं, स्वतः भी रक्षित थीं एवं मनुष्योंसे भी अच्छी तरह घिरी हुई थीं।।१५।।

आभासार्थ : साधारण सेना आदिका वर्णन 'नरोष्ट्र' श्लोकसे कहते हैं:

नरोष्ट्र-गो-महिष-खराश्वतर्यनःकरेणुभिः परिजन-वारयोषितः।
स्वलंकृताः कटकुटिकम्बलाम्बराद्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वशः ।।१६।।

श्लोकार्थ : मनुष्य, उष्ट्र(ऊंट), घोड़े, महिष(भैंसे) गर्दभ(गधे), खच्चर, रथ और हस्तिनियां, ये सब सुसज्जित थे, परिचारगी करनेवाले मनुष्य तथा वारांगनाएं आदि तथा चटाईयोंके डेरे, कम्बल तथा वस्त्र आदि सब सामान उन पर लाद तथा मनुष्य आदि रथ पर बैठ नगरसे जाने लगे।।१६।।

व्याख्यार्थ : मनुष्यसे लेकर हस्तिनियों तकके आठ, परिचारगी करनेवाले और वाराङ्गनाएं ये सब नगरसे जानेकेलिए निकले. 'गो' शब्द यहां बैलोंके अर्थमें है. अश्वतरी(खच्चर) 'अनः' शकट और करेण यानि हस्तिनी, ये सब ही अलंकृत थे, अब उनकी अपनी जाति स्वभावानुसार जो सामान उनके

पास था, उसका वर्णन करते हैं, चटाईयां, कम्बल आदि वस्त्र जिनसे वृष्टिसे अपनी रक्षा की जाती है. केवल पत्नियां ही पीछे गईं, यों नहीं है, किन्तु सर्व ही पीछे चलने लगे।।१६।।

आभासार्थ : सामान्य रूपसे भगवान्की सेवाका 'बलं' श्लोकसे वर्णन करते हैं:

बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरैर्वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ।
दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवेर्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः ।।१७।।

श्लोकार्थ : जैसे क्षुभित समुद्र, तिमिंगिल मत्स्य और बड़े तरंगोसे शोभा पाता है, वैसे ही बड़ी ध्वजा, छत्र, चंवर, उत्तम आयुध, आभरण, किरीट तथा जो कवच(बख्तर) थे, उन पर पड़ती हुई सूर्यकी किरणोंसे तुमुल ध्वनिवाली सेना शोभावती हुई।।१७।।

व्याख्यार्थ : वस्त्र, आयुध और सूर्यकी किरणोंसे सेना शोभा पाने लगी, बड़ी-बड़ी ध्वजाएं, ऊपर ढांकनेवाली थीं, वस्त्र सहित छत्र अलग थे, आयुध आभरण किरीट और कवच थे, सेनामें तुमुल ध्वनि हो रही थी, जिससे भीतरका शौर्य प्रकट हो रहा था, वह शौर्य अगणित था, जिसकेलिए समुद्रका दृष्टान्त दिया है कि जैसे तिमिंगिल मत्स्य(मगरमच्छ) और लहरें क्षुभित हो (ऊपर उठ-उठकर) समुद्रके भीतरका अपना शौर्य प्रकट करते हैं।।१७।।

आभासार्थ : इस प्रकार निकलकर जैसे नारदने कहा, मानों उसी प्रकार किया, उस कारणसे नारदजीको प्रथम भेजा. जिसका वर्णन 'अथो मुनिः' श्लोकमें करते हैं:

अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः प्रणम्य तं हृदि विदधद्विहायसा ।
निशम्य तद्व्यवसितम् आहृतार्हणो मुकुन्दसंदर्शननिर्वृतेन्द्रियः ।।१८।।

श्लोकार्थ : फिर नारदजी भगवान्से आदर पाकर, भगवान्के दर्शनसे परमानन्दमें मग्न चित्तवाले होकर भगवान्का निश्चय सुन, उन्हें प्रणामकर हृदयमें उनका स्मरण करते हुए पूजाको स्वीकारकर आकाश मार्गसे चले।।१८।।

व्याख्यार्थ : यह प्रक्रम पृथक् है क्योंकि समाधिभाषा है. भगवान्को छोड़ भक्तका पहले जाना उचित नहीं? इस शंकाकी निवृत्यर्थ कहते हैं कि मनमें भगवान्को विशेष प्रकारसे धारण करते हुए जाने लगे, आकाशमार्गसे चले. चलनेसे पहले, भगवान् इन्द्रप्रस्थमें युधिष्ठिरके यहां पधारेंगे, यह निश्चय निर्णय

सुन लिया था, बाहर और भीतर आनन्दपूर्ण होकर चले, जिसकेलिए दो विशेषण 'आहृतमर्हणं' 'मुकुन्द-संदर्शननिर्वृतेन्द्रियः' दिए हैं. जाते समय भगवान्से पूजित होकर गए. मुकुन्दके दर्शनसे जिसकी इन्द्रियां आनन्दपूर्ण हो गईं हैं अतः स्वतः और कार्यसे सफल होकर रवाना हुए।।१८।।

आभासार्थ : पश्चात् दूतका समाधान 'राजदूतं' श्लोकसे कहते हैं:

राजदूतम् उवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा।
मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम्।।१९।।

श्लोकार्थ : भगवान् वाणीसे दूतको प्रसन्न करते हुए कहने लगे, मत डरो, आपका कल्याण होगा, क्योंकि मागधका नाश कराऊंगा।।१९।।

व्याख्यार्थ : 'इदं' पदका भावार्थ है कि यह, जो अब कहना है, वाक्यसे ही उसको प्रसन्न करते हुए कहने लगे कि 'मा भैष्ट' मत डरिये. 'भैष्ट' यह क्रिया मध्यम पुरुषका बहुवचन है जिसका भावार्थ है कि 'मत डरो' यह शब्द राजाओंको कहे हैं. 'दूत' यह सम्बोधन इसको इसलिए दिया है, राजाओंको जाकर कहना कि आप डरो नहीं, यदि सम्बोधनका यह आशय नहीं तो भगवान्ने ही राजाओंको यों कहा तो दूतका आना और राजाओंका संदेश सुनाना व्यर्थ हुआ. भगवान्ने 'भद्र' शब्द कहकर यह बताया है कि आप केवल बन्धनसे नहीं छूटोगे किन्तु आपका कल्याण भी होगा, यह आशीर्वाद भी दिया है. यों होनेमें जो हेतुभूत कर्तव्य है वह भी प्रकट कह देते हैं कि मागधका घात कराऊंगा।।१९।।

आभासार्थ : पश्चात् दूतने कर्तव्यादि कहा वह 'इत्युक्तः' श्लोकसे कहते हैं:

इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन् नृपान्।
तेऽपि संदर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन्त मुमुक्षवः।।२०।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने जो इस प्रकार कहा, वह सुनकर दूत रवाना हुआ, वहां जाकर जैसे भगवान्ने कहा था, वैसे सब राजाओंको कहा, वे भी मुक्त होनेकी इच्छावाले भूपतिगण भगवान्के दर्शनकी प्रतिक्षा करने लगे।।२०।।

व्याख्यार्थ : जैसा जो कुछ हुआ बह सब प्रारम्भसे लेकर अन्त तक दूतने राजाओंको सब सुनाया, सुननेवाले राजाओंके मनकी वृत्ति तब कैसी होने लगी, वह कहते हैं कि भगवान्द्वारा ही मोक्ष होगा और भगवान्के दर्शन भी होंगे, यह कब होगा ऐसी प्रतिक्षामें ही स्थित हुए, यों करनेसे यह सूचित किया है कि

मोक्षका एक ही उपाय मेरी शरण आना है।।२०।।

आभासार्थ : इन्द्रप्रस्थ तक भगवान् पहुंचे, मध्यमें जो देश और नदी आदि आए उनका वर्णन 'आनर्त' श्लोकसे करते हैं:

आनर्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः।
गिरीन् नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान्।।२१।।

श्लोकार्थ : ओखामण्डल, सौराष्ट्र, मारवाड़, कुरुक्षेत्र देशोंसे होते हुए, गिरि और नदियोंको पारकर पुर, ग्राम, व्रज और खानोंके देशोंका उल्लंघनकर इन्द्रप्रस्थ पधारे।।२१।।

व्याख्यार्थ : 'आनर्त' द्वारकादेश, 'सौवीर' सु 'सौ'राष्ट्रदेश, 'मरवो' मरुदेश(मारवाड़) वहांसे हो कुरुक्षेत्रमें आए, यों घूमकर भी जल्दी पहुंचनेका कारण यह है कि वहां बड़ी नदियां व पहाड़ तथा वन नहीं आए, क्योंकि आप 'हरि' हैं. बादमें रैवतक पर्वत और उनसे निकली हुई नदियोंको पैदल ही पारकर, पुर, गांव, व्रज और खानवाले देशोंका उल्लंघनकर 'अन्तमें' इन्द्रप्रस्थ पधारे।।२१।।

ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम्।
पाञ्चालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत्।।२२।।

श्लोकार्थ : पश्चात् मुक्ति देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण दृषद्वती और सरस्वतीको पार कर, पाञ्चाल और मत्स्य देशोंका अतिक्रमण कर इन्द्रप्रस्थ आए।।२२।।

व्याख्यार्थ : दृषद्वती और सरस्वती उस समयमें बहुत बड़ी और गम्भीर नदियां थीं. दृषद्वती और सरस्वतीके मध्य भागमें जो देश हैं उनमेंसे होकर पधारे, पधारनेका कारण मोक्ष देना है इसलिए 'मुकुन्द' नाम दिया है. 'अथ' पदसे यह जताया है कि आगे धीरे-धीरे पधारेंगे, पांचाल देश तथा मत्स्यदेश, मार्गके बीचमें ही आएंगे किन्तु यहां उनका अंशभेदसे विचार किया अर्थात् मत्स्यदेश अथवा पांचालदेशका समग्र भाग नहीं फिरे किन्तु मध्य भाग भी अंशभेदसे फिरकर इन्द्रप्रस्थ आ गए. 'इन्द्र' नामसे ही उसके गुणोंका ज्ञान हो जाता है।।२२।।

आभासार्थ : अनन्तर जब सुना कि भगवान् निकट आ गए हैं तब महाराजा युधिष्ठिरने जो स्वागत कृत्य प्रेमपूर्वक किया जिसका वर्णन 'तमागतं' श्लोकसे चार श्लोकोंमें करते हैं:

तम् आगतम् उपाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम् ।
अजातशत्रुर्निरगात् सोपाध्यायः सुहृद्वृतः ।।२३।।

श्लोकार्थ : जिनका दर्शन प्राणीमात्रको कठिन है, वे निकट पधार गए हैं, यों सुन प्रसन्न हुए युधिष्ठिर उपाध्याय और मित्रों सहित महलसे बाहर निकले।।२३।।

व्याख्यार्थ : प्राणीमात्रको जिनका दर्शन होना दुर्लभ है उनका दर्शन होता है जो यों कहकर बताया है कि यह अलभ्य लाभ प्राप्त हुआ है, युधिष्ठिरको 'अजातशत्रु' कहकर यह सूचित किया है कि इस गुणसे ही वह भगवान्के दर्शन करनेका अधिकारी हुआ है, उपाध्याय और सुहृदोंको साथ यह बतानेकेलिए लाए कि हमको तो अभिमान नहीं है किन्तु हमारे यहां जो विद्यावाले हैं और जो हमारा परिजन(मित्र बान्धवादि) हैं उनमें भी अभिमान नहीं है तथा उनमें आपकेलिए आदर और प्रेम भी है।।२३।।

गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
अभ्ययात् स हृषीकेशं प्राणः प्राणमिवादृतः ।।२४।।

श्लोकार्थ : गाजे-बाजे और भारी वेद ध्वनीके साथ भगवान्से मिलनेकेलिए गए, जैसे प्राण फिर प्राणोंमें लीन हो जाते हैं, वैसे युधिष्ठिर प्रेमसे भगवान्से मिले।।२४।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् निकट आए, गीत, वाद्य, वेदघोषके साथ आए, क्योंकि वह प्रसिद्ध निकट आनेके योग्य था, इतना प्रेम जब था तो भक्तिसे मार्गमें ही विकल क्यों न हो गए. यहां कैसे आ गए? इस शंकाका निवारण करते हैं कि जिनके पास आए हैं वे इन्द्रियोंके स्वामी हैं, अतः वहां इन्द्रियां स्वतः स्वयं पहुंच गईं न कि युधिष्ठिर अपनी इन्द्रियोंके प्रयत्नसे पहुंचे, जिसको समझानेकेलिए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे बाहर निकला हुआ प्राण बिना प्रयत्नके प्राणमें ही पहुंच जाता है वैसे ही यह भी भगवान्से मिले और महान् आदर पाया।।२४।।

आभासार्थ : निकटमें आकर युधिष्ठिरने जो कृत्य किया वह 'दृष्ट्वा विक्लिन्न' श्लोकमें कहते हैं:

दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः ।
चिराद् द्रष्टं प्रियतमं सस्वजे स्म पुनः पुनः ।।२५।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णका दर्शन करते ही युधिष्ठिरका हृदय स्नेहसे आर्द्र

हो गया और चिरकालसे देखे हुए प्रियतमका बार-बार आलिंगन करता रहा ।।२५।।

व्याख्यार्थ : 'स्म' पद यहां प्रसिद्धिके अर्थमें दिया है, अन्यथा जीव इस प्रकार धृष्टता करे जिसका वर्णन करना अनुचित है, भगवान्ने इसकी धृष्टता कैसे स्वीकार की? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि उसका स्नेहसे आर्द्र हृदय हो गया था, वह देखकर भगवान्ने धृष्टताको स्वीकार किया. युधिष्ठिर बिना विचार किये बार-बार आलिंगन करता रहा जिसका कारण कृष्ण भगवान्को वह अपना प्रिय नहीं बल्कि प्रियतम समझता था जिससे अन्तःकरणके आनन्दमें लीन हो गया जिससे बाहरका ज्ञान ही न रहा यह सूचित किया।।२५।।

आभासार्थ : अनन्तर जो कुछ हुआ वह 'दोर्भ्यां' श्लोकमें कहते हैं:

दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः ।
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ।। २६।।

श्लोकार्थ : लक्ष्मीजीका निर्मल निवास स्थान जो भगवान्का श्रीअंग उसको आलिंगन किया, जिससे उसी क्षण उसके सब अशुभ नष्ट हो गए और ऐसे आनन्द मग्न हो गए, जो नेत्रोंमेंसे प्रेमाश्रु बहने लगे, शरीर पुलकित हो गया, जिससे सर्व लौकिक व्यवहार भूल गया।।२६।।

व्याख्यार्थ : महाराज युधिष्ठिरने भगवान्के श्रीअंगका आलिंगन किया, प्रभुका श्रीअंग लक्ष्मीका निर्मल निवास स्थान है, अतः उस श्रीअंगके आलिंगन आदिसे महाराजके सब दोष नष्ट हो गए और सुखकी प्राप्ति हुई, यों कहकर लौकिक न्यायसे भी दोषोंके अभाव तथा सुखकेलिए यह हेतु कहा है. 'मुकुन्दगात्र' पदसे यह बताया कि इससे मोक्षानन्द भी मिला, उससे सर्व पापोंका क्षय हो जानेसे परमानन्दकी भी स्फूर्ति हो गई, नेत्र और शरीरमें अन्दर और बाहर उसका उल्लास हो गया, जिससे लौकिक मोहकी निवृत्ति हो गई।।२६।।

आभासार्थ : उत्तम अधिकारी होनेसे इसका इतना निरूपणकर, उससे भीमका कृत्य न्यून है, यों 'तं मातुलेयं' श्लोकसे निरूपण करते हैं:

तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो भीमः स्मयन् प्रेमजवाकुलेन्द्रियः ।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ।।२७।।

श्लोकार्थ : भीमसेन, मामाके पुत्र, श्रीकृष्णसे हंसते हुए मिला तब प्रेमके वेगसे उसकी इन्द्रियां व्याकुल हो गईं. अर्जुन, नकुल और सहदेव प्रिय

श्रीकृष्णचन्द्रसे आनन्दपूर्वक मिले, तब उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगी।।२७।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि भीमादिके हृदयमें सम्बन्ध ही देखनेमें आया तो भी वस्तुके सामर्थ्यसे उसकी निवृत्ति होकर आनन्दकी प्राप्ति हुई, क्योंकि भगवत्सम्बन्धसे बलका आविर्भाव हो गया था. 'स्मयन्' पदका तात्पर्य है कि मिलनेके समय मन्दहास करते थे, भगवान्से मिलनेके अधिकारी होनेसे अन्तःकरणमें जो प्रेमका वेग बढ़ा, उससे इन्द्रियां व्याकुल होने लगीं, नकुल और सहदेव ये दोनों लौकिक होनेसे भीमके पीछे कहे हैं और अर्जुन भी. 'च' पद राजधर्म और अन्य धर्मोंको दिखाता है, मिलनेमें कारण बताते हैं कि श्रीकृष्ण इनके हार्दिक मित्र थे, इसलिए प्रसन्नतासे मिले. विशेषमें नेत्रोंसे आंसू आने लगे, इससे अविचार प्रकट किया है, भगवान् स्वयं तो अच्युत हैं, इसलिए उनकी तो कुछ भी हानि नही हुई, इससे भीम आदिको मिलनेके कार्यका अनुमोदन किया, यह सूचित होता है।।२७।।

आभासार्थ : अर्जुन आदिका प्रेम कृत्य कहकर अब लौकिक कार्यका 'अर्जुनेन' दो श्लोकोंसे निरूपण करते हैं:

अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्याम् अभिवादितः।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः ।।२८।।

श्लोकार्थ : अर्जुनसे भगवान् आलिंगन कर मिले, नकुल और सहदेवने भगवान्को प्रणाम किया, अनन्तर भगवान्ने ब्राह्मणोंको और बड़ोंको जैसे योग्य था, वैसे ही प्रणाम किया।।२८।।

व्याख्यार्थ : समानसे आलिंगन, छोटे हो वे प्रणाम करें, इस लौकिक नीतिके अनुसार अर्जुन बराबर उमर वाला था, इसलिए भगवान् अर्जुनसे आलिंगनद्वारा परस्पर मिले. नकुल और सहदेव छोटे थे, इसलिए उन्होंने भगवान्को प्रणाम किया, अनन्तर भीम आदि जो बड़े थे, उनको भगवान्ने नमन किया और जो वृद्ध थे, उनको भी नमस्कार किया, जैसा योग्य था, वैसा सबने किया।।२८।।

मानितो मानयामास कुरु–सृञ्जय–कैकयान्।
सूत–मागध–गन्धर्वान् वन्दिनश्चोपमन्त्रिणः ।।२९।।

श्लोकार्थ : प्रथम कौरवादिद्वारा मान पाकर अनन्तर आपने कौरव,

पाण्डव और कैकयोंका आदर सत्कार किया, बादमें सूत, मागध, गन्धर्व, बंदी और उपमन्त्रियोंको मान दिया।।२९।।

व्याख्यार्थ : सबने भगवान्का सन्मान किया, आपने भी सबका आदर किया. 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस श्लोकके अनुसार लौकिक भावसे जो शरण आए, उनको लौकिक भाव ही दिखाया है, यों निरूपण करते हैं. कौरव, सृञ्जय और कैकेय, ये तीन सात्त्विकादि भेदवाले हैं, अतः तीन प्रकारके कहे हैं, बन्धुत्वसे जो जी रहे हैं, उनका वर्णनकर विद्यासे जीविका करनेवालोंको कहते हैं. सूत, मागध, गन्धर्व(गानेसे आजीविका करनेवाले) और बन्दीजन तथा उपमन्त्री(परिहास करनेवाले विदूषक) थे, इनका भी यथायोग्य सन्मान किया गया।।२९।।

आभासार्थ : पश्चात् भगवान्से सत्कार पाकर भगवान्को मान देने लगे, जिसका वर्णन 'मृदंगशंख' श्लोकमें करते हैं:

मृदङ्ग–शङ्ख–पटह–वीणा–पणव–गोमुखैः।
ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ।।३०।।

श्लोकार्थ : उस समय मृदंग, शंख, ढोलक, वीणा, पणव और गोमुख बाजे बजने लगे, ब्राह्मण स्तुति करने लगे, भक्त नाचने लगे और सामवेदी ब्राह्मण सामवेदका गान करने लगे।।३०।।

व्याख्यार्थ : 'च' शब्दसे बताया है कि क्षत्रिय आदि भी मान देने लगे. 'अरविन्दाक्ष' नाम देकर यह सूचित किया है कि भगवान्ने दृष्टिसे ही सबको आनन्द देकर तृप्त कर दिया है, ज्ञानी ब्राह्मण स्तुतिसे भगवान्का सत्कार करने लगे, भक्त नृत्यद्वारा अपना प्रेम प्रकटकर भगवान्को प्रसन्न करने लगे, कर्मकाण्डी सामगानकर भगवान्का आदर करने लगे।।३०।।

आभासार्थ : दर्शन और स्थान पर जो कृत्य हुआ, उसका उपसंहार करते हुए आगेके कृत्यका 'एवं सुहृद्भिः' श्लोकसे वर्णन करते हैं:

एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोक–शिखामणिः।
संस्तूयमानो भगवान् विवेशालंकृतं पुरम् ।।३१।।

श्लोकार्थ : इस प्रकारके पुण्यश्लोकोंके मुकुट मणिरूप जिनकी स्तुति नागरिक कर रहे हैं, वैसे भगवान्ने सुहृदोंके साथ सिंगारे हुए नगरमें प्रवेश किया।।३१।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकारके सुहृदोंसे घिरे हुए और उनसे ही स्तुत होते हुए भगवान् पुरमें प्रविष्ट हुए, भगवान्को तो नगरसे बाहर ही रहना उचित था तो नगरमें भीतर क्यों पधारे? इस शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं कि यदि नगरमें भीतर भगवान् प्रवेश न करते तो नगरमें कोई भी पुण्यश्लोक नहीं जाता और न रहता. युधिष्ठिरादि पुण्यश्लोक भी फिर वहां न रहते, अतः युधिष्ठिरादिके अनुरोध पूर्वक प्रार्थनासे भीतर पधारे. आप भगवान् हैं ही, इसलिए आपकेलिए अन्य कुछ नहीं अर्थात् उनकेलिए बाहर और भीतर पृथक् नहीं है, सब कुछ आप ही हैं, फिर लौकिकसे भी जब बाहर और भीतरके सब लोग स्तुति कर रहे हैं तो भीतर जानेमें कोई लज्जा नहीं है, पुरका विशेषण 'अलंकृत' देकर यह सूचन किया है कि भगवान्के भीतर पधारनेका सब अनुमोदन कर रहे हैं।।३१।।

आभासार्थ : भगवान् जिस नगरमें पधारे उसके सजानेका दो श्लोकोंसे वर्णन करते हैं:

संसिक्त–वर्त्म करिणां मदगन्ध–तोयैश्चित्र–ध्वजैः कनकतोरण–पूर्णकुम्भैः ।
मृष्टात्मभिर्नवदुकूल–विभूषणस्रग्–गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ।।३२।।

श्लोकार्थ : जहां मार्गमें हाथियोंके मदवाले सुगन्धित जलसे छिरकाव हो रहा था, चित्र, ध्वजा, सुवर्णके तोरण, जलसे भरे घड़े घरों पर धरे हुए थे, जिनकी अपूर्व शोभा हो रही थी, स्नान कर उज्वल हो, नवीन वस्त्र, आभूषण, माला व सुगन्धित पदार्थोंको धारण किये हुए पुरुष और युवतियोंसे वह नगर विशेष शोभावाला हो रहा था।।३२।।

व्याख्यार्थ : नगरके नीचेके भाग पृथ्वीका वर्णन करते हैं कि उस पर हस्तियोंके मदसे सुगन्धित जलोंसे छिरकाव होनेसे नीचेके भाग पृथ्वी सुगन्धित हो रही थी, नगरके भवनोंकी शोभासे ऊपरके भागकी शोभाको कहते हैं कि सुवर्णके तोरण और जलसे पूर्ण घड़े भवनों पर धरनेसे ऊपरकी शोभा हो रही थी, मध्य भागकी शोभा कहते हैं अर्थात् कि नगरके साधारण स्त्री–पुरुषोंकी शोभासे नगरका मध्य भाग सुशोभित हो रहा था, जैसे कि पुरुष तथा युवा स्त्रियां इतर, फुलेल आदि उबटनकर, नवीन वस्त्र और पुष्प माला धारणकर चन्दन आदि लगाकर घूम रही थीं. ऐसे नगरमें आपने प्रवेश किया।।३२।।

आभासार्थ : साधारण नगरका वर्णनकर राजगृहरूपी नगरका 'उद्दीप्तदीप' श्लोकसे वर्णन करते हैं:

उद्दीप्त–दीपवलिभिः प्रतिसद्मजाल–निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम् ।
मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गैः जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम ।।३३।।

श्लोकार्थ : जहां प्रत्येक गृहदीप तथा पुष्प मण्डलियोंसे सुशोभित हो रहा था, भवनोंकी जालियोंसे सुन्दर धूपका सुगन्धित धूम निकलता था, सुन्दर पताकाओंसे प्रत्येक सदन(महल) सुशोभित था, उन महलोंके ऊपर सोनेके कलश, उनके नीचेके भागमें चांदीके बडे–बडे शिखर थे, ऐसे सुन्दर राज भवनोंसे सुशोभित कुरुराजकी राजधानी भगवान्ने देखी।।३३।।

व्याख्यार्थ : सब राजगृह भोगके स्थान बन गए थे, उन भवनोंमें तेज दीपक जल रहे थे और पुष्प मण्डलियां रखी थीं, ये दोनों दीप और पुष्प पूजाके साधन होते थे, प्रत्येक घरमें जो जालियां थीं उनमेंसे धूपका सुगन्धित धूप निकलता था, उनसे वे सुन्दर लगते थे, जिन भवनों पर पताकाएं विलास कर रही थीं अर्थात् हिलती हुई मानों कीड़ा कर रही थीं इन तीनों पदोंसे सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारका उत्कर्ष वर्णन किया है, अब राजगृहोंका स्वाभाविक तीन प्रकार उत्कर्ष कहते हैं, गृहोंके ऊपर सोनेके कलश स्थापित थे, उनके नीचे चांदीके बड़े–बड़े शिखर थे, उनसे वे पहचाने जाते थे कि यह भवन राजगृह है, इस कहनेका भावार्थ यह है कि भगवान् दूरसे ही विशेष दीपोंसे, पताकाओंसे, सुवर्णके घडोंसे, चांदीके शिखरोंसे जान गए कि ये सब राजमहल हैं।।३३।।

आभासार्थ : पश्चात् नगरमें प्रविष्ट भगवान्का अन्य प्रकारसे स्वरूप वर्णन करनेकेलिए, वहांके निवासियोंकी उत्सुकताका वर्णन 'प्राप्तं निशम्य' श्लोकसे करते हैं:

प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्रम् औत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः ।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे ।।३४।।

श्लोकार्थ : मनुष्य नेत्रोंसे जिस पान–पात्रमेंसे लावण्यामृतरसका पान करते हैं, वह पानपात्र भगवान् पधार गए हैं, यह सुनते ही उत्सुकतासे जिनके केश और वस्त्रके बंधन शिथिल पड़ गए हैं, ऐसी तरुण स्त्रियां घरका कार्य त्याग तथा पतियोंको शय्या पर ही सोया हुआ छोड़कर भगवान्के दर्शनार्थ राजमार्ग पर आ गईं।।३४।।

व्याख्यार्थ : लावण्यामृतरसके ज्ञाता जो मनुष्योंके नेत्र हैं, उन नेत्रोंके लावण्यामृत पानका पात्र भगवान् हैं, क्योंकि मनुष्य भगवान्के रूपामृतरसका पान

नेत्रोंसे ही करते हैं. नेत्रोंसे रूपरसका पान करनेसे जो भगवान्‌के मिलनेकी उत्सुकता बढ़ गई, जिससे देहमें जो बेचैनी हुई उससे उनके केश तथा वस्त्रोंके बन्धन खुल गए, केशोंके खुलनेसे मनमें विकलता होने लगी, वस्त्रोंके खुलनेसे यह सूचित हुआ कि देह कृश हो गई है, इससे भीतर और बाहरका क्लेश वर्णन किया, यों होनेसे पहलेकी तरह रहनेमें असमर्थ हो गईं, अतः शीघ्र ही गृहके कार्य और पतियोंको शय्या पर ही छोड़, अर्थात् क्रियाएं और उनके फलोंको छोड़कर, वे युवतियां राजमार्ग पर प्रभुके दर्शनार्थ गईं, पतियोंको शय्या पर ही छोड़ा जिससे यह सूचित होता है कि वे(पुरुष) भगवान्‌के भक्त नहीं थे, यदि भगवद्‌भक्त होते तो, वे भी उठकर दर्शनार्थ जाते. राजा तो भगवान्‌को पधरानेकेलिए सामने गए हैं इसलिए पतिगृहसे राजमार्ग ही श्रेष्ठ है वहां ही बैठ गईं, जिससे भगवान् देखनेमें आवें. गृह, कर्म और पति, ये तीन ही तामस आदि भेदसे तीन प्रकारके हैं अतः त्यागनेके योग्य ही हैं अर्थात् राजमार्ग गुणातीत ही है, क्योंकि वहां भगवद्दर्शन होते है।।३४।।

आभासार्थ : इस कारणसे ही वहां जो गए उनको भगवान्‌के दर्शन हुए यह 'तस्मिन्' श्लोकमें कहते हैं:

तस्मिन् सुसंकुल इभाश्वरथद्विपद्भिः कृष्णं सभार्यम् उपलभ्य गृहाधिरूढाः ।
नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य–सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षणेन ।।३५।।

श्लोकार्थ : कितनी ही स्त्रियां घरके ऊपरके भाग पर चढ़कर दर्शनार्थ बैठ गईं, उन्होंने चतुरंगिणी सेनाकी भीड़में पटरानियों सहित श्रीकृष्णको पाकर उन पर पुष्पवर्षा करने लगीं तथा मनसे आलिंगनकर मुस्कान युक्त दृष्टिसे उनका स्वागत करने लगीं।।३५।।

व्याख्यार्थ : चतुरंगिणी सेनासे युक्त उस मार्गमें पटराणियोंके साथ भगवान्‌को पाकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगीं मानो अब विवाह हो रहा है. स्त्रियोंने घरोंके ऊपरके भागमें बैठनेका जो दोष किया था, क्योंकि भगवान् नीचे थे आप ऊपर बैठी थीं उस दोषके मिटानेकेलिए भी पुष्पवर्षा की, जिससे यह भी सूचन किया कि हम इसकेलिए ऊपर बैठी हैं. पश्चात् पुष्प बरसानेके अनन्तर मनसे भगवान्‌का आलिंगनकर हास पूर्वक दर्शन करनेसे सुन्दर स्वागत किया यों सर्व प्रकार स्वागत करनेसे अपराधकी क्षमा भी मांग ली. यों करनेका तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक भगवान्‌को पाकर प्रमाणके विरोधका परिहार किया. आत्माको भगवान्‌में मिलाकर जिससे मनोरथ पूर्ण हुए हैं ऐसे प्राप्त भगवान्‌को इंगतिसे कहने

लगीं कि यद्यपि हमारे मनोरथ पूर्ण हो गए हैं तो भी हास्यसे अधिक रतिका दान करूंगी यों सूचन करती थीं अथवा मोहित करती थीं उससे अभिलाषावाले भगवान्‌को कहने लगीं कि आप भले पधारे, यों सन्मान करने लगीं।।३५।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्‌में स्त्रियोंके भावको कहकर अब 'तत्र तत्र' श्लोकमें पुरुषोंके भावको कहते हैं:

तत्र तत्रोपसंगम्य पौरा मङ्गलपाणयः ।
चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः ।।३६।।

श्लोकार्थ : निष्पाप पुरवासी, मुख्य-मुख्य कारीगर, विशेष वैश्य, व्यापारी, जहां-तहां मांगलिक पदार्थ हस्तोंमें लेकर समीप आकर भगवान्‌का गन्धादिसे पूजन करने लगे।।३६।।

व्याख्यार्थ : पुरमें रहनेवाले सब ही भगवान्‌की पूजा करने लगे. एक ही शिल्पसे आजीविका करनेवाले विशेष वैश्योंको 'श्रेणी मुख्याः' कहा है, भगवान्‌ने उनको उस शिल्प सहित विशेष प्रकारसे देखा, जिससे उनके सर्व प्रकारसे सर्व पाप नष्ट हो गए, मंगलद्रव्य तो सबके हाथोंमें था वह सर्वमें समान ही है. 'सपर्या' पदसे जताया है कि गन्ध पुष्पादिसे पूजा की।।३६।।

आभासार्थ : इस प्रकार सबने सन्मान किया यह कहकर अब स्त्रियोंने जो भगवान्‌की पत्नियोंका सन्मान किया वह 'ऊचुः' श्लोकसे कहते हैं:

ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नीस्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमभूमिः ।
यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास-लीलावलोककलयोत्सवम् आतनोति ।।३७।।

श्लोकार्थ : जैसे तारोंके साथ चन्द्रमा, वैसे इनके साथ भगवान् शोभा दे रहे हैं, इनको देखकर इन्द्रप्रस्थकी स्त्रियां बातें करने लगीं कि अहो इन्होंने क्या पुण्य किया होगा, जो भगवान् इनके नेत्रोंको अपने उदार मन्द हास्य और लीलापूर्वक अवलोकनकी कलासे आनन्द दे रहे हैं।।३७।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि इनका और हमारा स्त्रीत्व और भक्तत्व समान ही है तो भी ये ही धन्य हैं न कि हम धन्य हैं, यद्यपि हम ऊपर हैं तो भी भगवान् भूमि पर पधार रहे हैं, अब भूमि ही स्वर्ग है, इसका निरूपण करती हुईं दृष्टांत देती हैं कि तारे जैसे चन्द्रमाके साथ शोभते हैं. ''देवगृहा वै नक्षत्राणि'' इस श्रुतिसे उनकी, इन्द्रियोंके भोगकी देवकी तरह अधिकता वर्णन की है, इन्होंने कौनसा धर्म किया है जो यह धन इनको प्राप्त हुआ है? इसमें क्या आश्चर्य है कि बहुतोंका ही वैसे

भाव होनेसे यह फल मिला है? उनके सर्वोत्तम फलके भोगको कहते हैं कि 'यच्चक्षुषा' जिनके नेत्रोंको भगवान् स्वयं आनन्द दे रहे हैं, भगवान् ही सर्व कर्ता हैं इसमें क्या आश्चर्य है? इस शंकाका निवारण करनेकेलिए कहती हैं कि भगवान्में सबसे विशेषता है क्योंकि 'पुरुषमोलिः' पुरुषोंमें उत्तम हैं, पुरुषोतम स्त्रीसे उत्सव सम्पादन नहीं करते हैं यदि यों हो तो उत्तमत्व ही विचारणीय हो जावे, उसमें भी जो आपका उदार हास है वह सबको बिना परिश्रमके सर्व पुरुषार्थ देनेवाला है, उस उदार हासके साथ जो लीलासे अवलोकन है वह पूर्ण सर्व पुरुषार्थ भी भक्ति ज्ञान सहित है, उदार गुणके साथ, हास्य लीला और अवलोकनका जो अतिशय नैपुण्य है, उससे अपने सर्वस्वसे भी उनके नेत्रोंको आनन्दित कर रहे हैं, इससे उनकी यह बड़ी भारी स्तुति है।।३७।।

आभासार्थ : नगरवासियोंने जो सत्कार आदि किया वह कहकर अब अन्तःपुर वासियोंका कृत्य 'अन्तःपुर' श्लोकसे कहते हैं:

अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः।
ससंभ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद्राजमन्दिरम्।।३८।।

श्लोकार्थ : प्रेमसे प्रफुल्लित नेत्रवाले अन्तःपुरके जन बड़े सम्भ्रमसे सन्मुख जाकर भगवान्का सत्कार करने लगे, अनन्तर प्रभु राजमंदिरमें पधारे।।३८।।

व्याख्यार्थ : अन्त:पुरवासी जनोंके अन्तःकरण, इन्द्रियां और शरीर तीनों ही भगवत्परायण थे, यों कहनेकेलिए तीन विशेषण दिये हैं. १.प्रीत्या, २.फुल्ललोचनैः और ३.सम्भ्रमैः, सम्भ्रम पदसे देह धर्म कहा है, इस प्रकार सर्वात्म भाववाले शरणागत सामने आए जिनसे सत्कार पाते हुए उनके साथ राजमन्दिरमें प्रभु प्रविष्ट हुए।।३८।।

आभासार्थ : सत्कारका विच्छेदन हो, इसलिए पृथा आदिने किये सत्कारका 'पृथा विलोक्य' श्लोकसे वर्णन करते हैं:

पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम्।
प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात्सस्नुषा परिषस्वजे।।३९।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्ण त्रिलोकीके नाथ हैं तो भी अपने भतीजे हैं, अतः उनको देखकर पृथा(कुन्ती) प्रसन्न हुई, अपनी बहूके साथ, पलंगसे उठ(आ)कर उनसे मिली।।३९।।

व्याख्यार्थ : भ्राताका पुत्र श्रीकृष्ण त्रिभुवनेश्वर है, महान् सम्बन्धी है इसलिए प्रसन्न हुई, पृथा(कुन्ती) बहूके साथ पलंगसे उठकर आके उनसे मिली, यद्यपि बड़ेसे मिलनेमें लज्जा और भय होता है किन्तु उन दोनोंका त्यागकर मिलनेसे जाति और देहके धर्मसे अपनी निवृत्ति दिखाई. पलंगसे उठनेसे बताया है कि भगवान्से मिलनेकेलिए सुखके साधन छोड़ने चाहिए. बहूको साथ लानेसे यह सूचन किया कि सतत भगवान्से मिलना चाहिए, अर्थात् गृहस्थ छोड़ अकेले होनेसे ही भगवान् मिलते हैं यों नहीं है, केवल अन्तःकरणमें उनकेलिए प्रेम चाहिए. पृथाके अन्तःकरणकी प्रीतिसे दोष रहित सर्वगुण निरूपण किए, पलंग पर बैठना, भगवत्कृपाका सूचन है, गृहके कार्यमें स्थित अथवा विकलतासे पलंग पर जो बैठता है वह भगवान्केलिए है, प्रेमसे विकल उन दोनों 'पृथा और बहू'का इतना ही कृत्य है इससे विशेष नहीं है।।३९।।

आभासार्थ : गृहमें पधारे हुए भगवान्में राजाका कृत्य 'गोविन्दं' श्लोकसे कहते हैं:

गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः।
पूजायां नाविदत्कृत्यं प्रमोदोपहतेन्द्रियः ।।४०।।

श्लोकार्थ : देवोंके देव गोविन्दको घरमें पधराकर आया, तब महाराज की सब इन्द्रियां आनन्दमें मग्न हो गईं, जिससे प्रभुकेलिए आदर होते हुए भी जान न सके कि उनकी पूजा कैसे करूं?।।४०।।

व्याख्यार्थ : केवल देवता भी घरमें आवे तो उसकी विशेष पूजा करनी चाहिए. भगवान् तो देवोंके भी देव हैं उनके आने पर भी महती पूजा करनी चाहिए किन्तु यहां तो स्वयं भगवान्को पधराकर लाए हैं, अतः पूजामें आदर होते हुए भी किस प्रकार पूजादि कृत्य किया जाय यह समझ न सके, कारण कि महाराजकी भगवान्के अतिरिक्त अन्य किसी पूजादि साधनोंमें दृष्टि अर्थात् ध्यान ही नहीं था. बलपूर्वक चित्तको खींचे तो विकलता होनेका सम्भव होनेसे पूजाविधिका ज्ञान न रहे, भगवान्के पधारनेसे जो सुख मिला उस सुखमें सब इन्द्रियां आसक्त हो गईं थीं, सुखमें आसक्त इन्द्रियां कार्यमें प्रवृत्त हो नहीं सकती हैं।।४०।।

आभासार्थ : इस प्रकार जब सब प्रेमसे विकल हो गए तब भगवान्ने जो किया, उसका वर्णन 'पितृष्वसुः' श्लोकसे करते हैं:

पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम्।

स्वयं च कृष्णया राजन्भगिन्या चाभिवन्दितः ।।४१।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने अपनी भूआ और बड़ोकी स्त्रियोंको प्रणाम किया, हे राजन! द्रौपदी और सुभद्राने श्रीकृष्णको प्रणाम किया।।४१।।

व्याख्यार्थ : भगवान्के जिस मोहक चरित्रसे उनकी वह विकल अवस्था मिट जावे, नहीं तो आगेका कार्य नहीं हो सकेगा वह चरित्र कहते हैं- अपनी अपेक्षा जो बड़े थे उनकी स्त्रियोंको और भूआको भगवान्ने अभिवादन किया, पश्चात् देहके धर्मवालियोंके कृत्यको कहते हैं-स्त्रीपन, एक ही गृह और गोत्र आदिसे सब एक भाववाली होनेसे वृद्धाओंके नमस्कारमें भी अन्योंके देह धर्मका सम्बन्ध आ गया, अर्थात् सबसे यथोचित अभिवादन हुआ. कृष्णा(द्रोपदी) और भगिनी(सुभद्रा) और 'च' पदसे अन्योंने भी भगवान्को अभिवादन किया।।४१।।

आभासार्थ : भगवान्की पत्नियोंकी पूजा 'श्वश्रा' श्लोकसे कहते हैं:

श्वश्रा संचोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीस्तु सर्वशः ।
आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ।।४२।।
कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम् ।

श्लोकार्थ : सासकी प्रेरणासे द्रौपदीने रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, शैव्या, नाग्नजिती आदि सब कृष्णकी स्त्रियोंका यथाविधि पूजन किया।।४२।।

व्याख्यार्थ : पृथाने द्रोपदीको पूजाकेलिए भेजा, उसने आकर सर्व प्रकारसे कृष्णकी स्त्रियोंका पूजन किया. 'तु' शब्दका यह भाव है कि सबकी समान रूपसे पूजा की, न्यूनाधिक भाव न किया, वह पूजन प्रत्येकका पृथक्-पृथक् किया, न सबका इकट्ठा कर दिया. इसलिए प्रत्येकके नाम दिये हैं, रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा, नाग्नजिती ही सती(सत्या) है, इस प्रकार अष्ट पटरानियोंके नाम कहे, जिनकी पूजा द्रौपदीने सर्व प्रकारसे की है।।४२।।

आभासार्थ : शेष षोड़श सहस्र रह गईं, वे एक-भाववाली हैं अतः उनका नाम न कहकर समुदायसे उनका पूजन हुआ वह कहते हैं:

अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःस्रङ्मण्डनादिभिः ।।४३।।

श्लोकार्थ : अन्य स्त्रियां भी जो आई थीं, उनका वस्त्र, माला और आभूषणादिसे पूजन किया।।४३।।

व्याख्यार्थ : बहुत कहनेसे क्या? भगवान्को षोड़श सहस्र पत्नियोंके अतिरिक्त जो कोई प्रद्युम्न आदिकी स्त्रियां भी आई थीं उनका सबका ही वस्त्र, माला और आभूषण आदिसे पूजन किया।।४३।।

आभासार्थ : उस समयकी पूजा विशेषका वर्णनकर, राजाके स्थिर कृत्यको 'सुखं निवासयामास' श्लोकसे कहते हैं:

सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम्।
ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम्।।४४।।

श्लोकार्थ : धर्मराज भी भगवान्को तथा उनकी सेना, अनुचर और रानियोंको प्रतिदिन नवीन प्रकारसे सुख पूर्वक निवास कराने लगा।।४४।।

व्याख्यार्थ : सचमुच तो सुखरूप भगवान्को अपने पास स्थापित करनेसे राजा स्वयं सुखी हुआ, 'जनार्दन' नामसे बताया कि भगवान् अविद्याका नाश करनेवाले हैं, जिस प्रकार भगवान्का मन प्रसन्न हो उसी प्रकार भगवान्को स्थापित किया, केवल भगवान्को इस प्रकार स्थापित नहीं किया, किन्तु सबको अर्थात् भगवान्के चारों अंग सैन्य, सेवक, अमात्य और स्त्रियां, इनके साथ हर रोज जैसे-जैसे नवीनता देखनेमें आवे वैसे सुख पूर्वक सबको विराजमान किया।।४४।।

आभासार्थ : इस प्रकार सर्वभावसे सेवा करने पर लौकिक धर्मयुक्त राजाकेलिए जो कृत्य भगवान्ने किया वह 'तर्पयित्वा'से दो श्लोकोंमें कहते हैं:

तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः।
मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता।।४५।।

श्लोकार्थ : भगवान् अर्जुनको साथ लेकर, अग्निको खाण्डव वनका भोजन देकर उसको प्रसन्न किया और मयको छुड़ाया, जिससे राजाकेलिए अलौकिक सभा बनाई।।४५।।

व्याख्यार्थ : देवोंमें अग्नि देव मुख्य देवता हैं, इसलिए भगवान्ने प्रथम उस देवको खाण्डव वनका भोजन दिया जिससे वह प्रसन्न हुआ और मय देवको बचाया, जिस मयने राजाके वास्ते अलौकिक सभा बनाई. इस प्रकार देव और असुर रूपी इन्द्रियां अपने आधिदैविककी प्रसन्नतासे प्रसन्न हैं, अतः वे लौकिक-वैदिक भावसे युधिष्ठिरको प्रसन्न करेंगीं अर्थात् तृप्त करेंगे. दैत्य शीघ्र प्रसन्न होते हैं अतः वे शीघ्र फल दे देते हैं, जैसे मय असुरको छुडाकर प्रसन्न किया तो उसने शीघ्र ही सभा बनाकर फल देके कृतज्ञता प्रकट की है, ''क्त्वा''

प्रत्ययके अन्त काले शब्दोंका 'उवास' पदसे सम्बन्ध है।।४५।।

आभासार्थ : केवल अपने कृत्योंसे उसको सुखी नहीं किया किन्तु वहां विराजमान होकर भी प्रसन्न किया यह 'उवास' श्लोकसे कहते हैं:

उवास कतिचिद् मासान् राज्ञः प्रियचिकीर्षया।
विहरन् रथम् आरुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ।।४६।।

श्लोकार्थ : अर्जुनके साथ रथमें विराजकर, योद्धाओंको साथमें लेकर, विहार करते हुए भगवान् राजाको प्रसन्न करनेकी इच्छासे कितने ही मास वहां इन्द्रप्रस्थमें विराजे।।४६।।

व्याख्यार्थ : कितने मास अर्थात् चार महिने अन्य कोई कार्य न कर राजाको प्रसन्न करनेकेलिए राजाके पास ही विराजने लगे, ये चार मास भगवान्के पोढनेका समय है, क्या वहां आग्रहसे बन्धनमें रहे? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं. 'विहरन् रथमारुह्य' रथमें बैठकर विहार भी करते रहे, न केवल राजाको ही प्रसन्न करते थे किन्तु वहांके निवासी तथा जो अन्य अपने थे उन सबको भी प्रसन्न करते थे. जैसेकि 'फाल्गुनेन भटेर्वृत' अर्जुन और योधाओंको भी साथमें लेकर विहार करते थे, 'फाल्गुन' शब्दसे वहांवाले सब कहे और 'भट' शब्दसे स्वकीय अर्थात् अपने कहे. साथमें लेनेसे बताया है कि सबको निरन्तर सुख दान करते थे।।४६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण, अध्याय ६८ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ६९

पाण्डवोंके राजसूय यज्ञका आयोजन और जरासन्धका उद्धार

निरोधः सात्त्विकानां हि सगुणानां निरूपितः।
धर्मप्रसङ्गे शुद्धानां तेषां दुःखं निवार्यते।।का.१।।

कारिकार्थ : सगुण सात्त्विकोंके निरोधका निरूपण किया, अब यज्ञके प्रसंगमें उन शुद्ध हुए सात्त्विकोंका दुःख निवारण किया जाता है।।१।।

त्रयोविंशे जरासंधवधः क्लेशहरो महान्।
निरूप्यते यतः सर्वसात्त्विकाः सुखिनोऽभवन्।।का.२।।

कारिकार्थ : मूलसे उत्तरार्धके इस २३वें अध्यायमें अर्थात् सात्त्विक साधन उप-प्रकरणके दूसरे अध्यायमें जरासन्धका वध कहा जाएगा. जो वध महान् क्लेशको मिटानेवाला होगा, जिससे सब सात्त्विक सुखी होंगे।।२।।

त्रिविधाः सात्त्विकाः प्रोक्ता राजानो यादवास्तथा।
पाण्डवाश्च ततस्तेषु द्वयोरिष्टो वधः स्फुटः।।का.३।।

कारिकार्थ : सात्त्विक तीन प्रकारके हैं. १.राजा, २.यादव और ३.पाण्डव, इन तीनोंमेंसे दोको जरासन्धका नाश इष्ट है, यह स्पष्ट समझमें आता है।।३।।

पाण्डवानामिष्टतायै प्रसङ्गोप्यत्र रूप्यते।
भक्तानां कर्मिणां चेत्स्यादिष्टं मागधनाशनम्।।का.४।।
तदैव नाशनं युक्तं ब्रह्मण्यस्य दयावतः।
ब्राह्मणस्याप्यालभनं यज्ञार्थं हि निरूप्यते।।का.५।।

कारिकार्थ : पाण्डवोंके इच्छितकी पूर्तिकेलिए यहां प्रसंगका भी निरूपण किया जाता है, भक्त और कर्मठोंको भी यदि जरासन्धका वध इष्ट हो, तब ही तो दयावान् और ब्रह्मण्यका वध करना उचित है. वेदने यज्ञकेलिए ब्राह्मणका भी नाश निरूपण किया है।।४-५।।

ब्रह्मण्ये तत्र को मर्षः क्षत्रिये विमुखे हरेः।

कारिकार्थ : हरिके विमुख ब्राह्मण्य क्षत्रियके (फिर) मारनेमें कौन सा दोष है?

कारिकार्थ सम्पूर्ण.

आभासार्थ : पूर्व अध्यायके अन्तमें कहा कि महाराज युधिष्ठिरने भगवान्‌को अपने गृहमें सुख पूर्वक विराजमान किया, पश्चात् जिस कार्यकेलिए घरमें स्थापित किया, उसकी प्रार्थना करनेकेलिए प्रसंगको 'एकदा' श्लोकसे दो श्लोकोमें कहते हैं, दो श्लोकोमें कहनेका भावार्थ यह है, जो कार्य कहता है वह साधारण और असाधारण सम्बन्धि भावसे दो प्रकारका है:

श्रीशुक उवाच

एकदा तु सभामध्य आस्थितो मुनिभिर्वृतः ।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः ।।१।।
आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।
श्रृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह ।।२।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि एक दिन महाराजा युधिष्ठिर, मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, भ्राता, आचार्य, कुलवृद्ध, ज्ञाति सम्बन्धी बान्धवोंसे वेष्टित हुआ बैठा था, फिर सभाके बीच खड़ा हो, वहां बैठे हुए सर्व सभासदोंको सम्बोधनकर यों कहने लगा।।१-२।।

व्याख्यार्थ : युधिष्ठिरने सभाके मध्यमें सबके सामने यज्ञ करनेकी भगवान्‌को प्रार्थना की, इससे उसने अपना निरभिमानत्व प्रकट किया है, यदि अभिमान होता तो एकान्तमें प्रार्थना करता, 'एकदा' पदसे वह प्रार्थनाका समय शुभ लग्नवाला था. यह सूचन किया है. 'तु' शब्दसे अशुभ कालके सांनिध्यका भी निषेध करते हैं, यह प्रार्थना धर्मकार्यकेलिये थी. इसे बतानेकेलिए प्रथम मुनियोंका साथ कहा है, दूसरे साधारण ब्राह्मण आदि तीन वर्ण क्रमसे निरूपण किए गए हैं. शूद्र तो यज्ञमें अनधिकारी है. 'भ्राता' पदसे भीम आदि कहे हैं और 'च' शब्दसे दुर्योधनादि भी कहे हैं।।१।।

व्याख्यार्थ : 'आचार्य' पदसे द्रोण आदि कहे, कुलवृद्ध पदसे भीष्म आदि कहे, 'ज्ञाति' पदसे दूसरे जो गोत्रमें उत्पन्न हुए बान्धव हैं. 'बन्धिना' पदसे वे कहे हैं जिनसे कन्या लेनदेनका सम्बन्ध है, 'बान्धव' पदसे दूरके जो सम्बन्धवाले हैं उनको कहा है, उनसे आज्ञा लेनेसे उनकी स्त्रियोंकी भी आज्ञा मिल गई यों समझना चाहिए, जिससे किसीकी पराजगत्‌ा नहीं रही, सब सावधान हो सुनने लगे. 'एव' पद कहकर बताया है कि दूसरी किसी प्रकारकी आसक्ति नहीं थी, 'च' पदसे जिनका प्रत्यक्ष नाम नहीं कहा है वे भी सावधान हो सुन रहे

थे. 'आभाष्य'का भावार्थ प्रकट करते हैं कि हे कृष्ण! हे स्वामिन्! यों कहकर अपनी सब दीनता दिखाई है, 'ह' पदसे आश्चर्य प्रकट किया है।।२।।

आभासार्थ : 'क्रतुराजेन' श्लोकसे प्रार्थना कहता है:

युधिष्ठिर उवाच

क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतः तत् सम्पादय नः प्रभो ।।३।।

श्लोकार्थ : युधिष्ठिरने कहा कि हे गोविन्द ! सब यज्ञोंके राजा राजसूय यज्ञसे मैं आपकी पवित्र विभूतियोंका पूजन करूंगा, अतः हे प्रभो ! इस कार्यको आप सिद्ध करो।।३।।

व्याख्यार्थ : 'गोविन्द' नामसे यह सूचन किया है कि इन्द्र ही यज्ञमें पूजनीय है, आप इन्द्र हैं इसलिए अन्यका पूजनमें मैं नहीं करता हूं. यज्ञमें तो दूसरे देवोंका भी पूजन करना पड़ेगा ? जिसके उत्तरमें कहता है कि यद्यपि नारदने कहा है कि 'त्वां यक्ष्यति' आपका पूजन करेगा. तो भी आपके पूजन कहनेमें आपके सर्वरूपोंका पूजन कहा गया है. इसलिए आपके अंशरूप पवित्र विभूतिरूपोंका ही पूजन करूंगा, यों कहकर अन्य पूजनका निषेध कर दिया. अर्थात् 'पावनी' पवित्र शब्दसे आधिदैविकी विभूतियोंका पूजन कहकर दैत्य सम्बन्धकी निवृत्ति कही है, जैसे मनुष्योंका राजा सम्राट कहा जाता है वैसे ही यह राजसूय यज्ञोंका राजा है इसलिए 'कृतुयज्ञ' कहा है, इस कारणसे यह यज्ञका मेरा कार्य आप सिद्ध करो, क्योंकि आप प्रभु होनेसे सर्व समर्थ हैं।।३।।

आभासार्थ : भगवद्भक्त तो कुछ मांगते ही नहीं हैं, क्योंकि 'पुंसा किलैकान्तधियाम्' इस प्रमाणानुसार उनकी कार्य सिद्धि स्वतः हो जाती है तो फिर प्रार्थना क्यों ? जिसका उत्तर 'त्वत्पादुके' श्लोकमें देता है:

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति । विन्दन्ति ते कमलनाभ! भवापवर्गम् आशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ।।४।।

श्लोकार्थ : हे पद्मनाभ ! हे ईश ! जो लोग पवित्र हो, दुःख नाश करनेवाले आपकी पादुकाओंका निरंतर देहसे सेवन करते हैं, मनसे ध्यान करते हैं, वाणीसे गुणगान करते हैं व मोक्षको प्राप्त करते हैं और यदि जिनको संसारके सुखकी इच्छा होती है, उनकी वह इच्छा भी पूर्ण होती है, जो यों(सेवा ध्यानादि) नहीं करते हैं, उनको कुछ भी नहीं मिलता है।।४।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि जो काया, वाणी और मनसे आपकी शरण आाते हैं वे वैसा कुछ भी नहीं मांगते हैं. यदि मांगते हैं तो पाते हैं यह सिद्धान्त है. उन शरणागतोंको जो सहज फल मिलता है उसका निरूपण करते हैं. जो आपके पादुकाओंकी भक्तिमार्गके अनुसार सेवा करते हैं यों कहकर देहका व्यापार बताया, ध्यान करते हैं यह मनका व्यापार कहा, चित्त चंचल है. बिना योगके ध्यानकी सिद्धि कैसे होगी? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि 'अभद्रनशने' आपकी पादुकाएं पापोंका नाश करनेवाली हैं अतः चित्तमें जो चंचलता है वह पापोंके कारण है यदि पाप नाश हो जायेंगे तो चंचलता स्वतः नष्ट हो जाएगी, जिससे चित्त स्थिर हो जानेसे ध्यान कर सकेगा. ध्यान करनेकेलिए जो उद्यत होता है उसके प्रथम स्मरणसे पाप नाश हो जानेसे उत्तरोत्तर स्मरणकी सिद्धि होती है, यों वे पवित्र होकर देह, मन और वाणीसे सर्व परिचर्या करते हैं जिससे कायिकादिसे होनेवाले अन्य कार्य छूट जाते हैं. उनके सर्व पापोंका नाश और उनकी शुद्धि भी हो जाती है यह प्रसंगसे कह दिया है, अतः वे संसारकी समाप्तिको प्राप्त करते हैं. अर्थात् उनका जन्म मरणका रोग नष्ट हो जाता है. कर्म और ज्ञानके अभावमें केवल भगवद्भजनसे प्रमाण न होने पर संसारसे आवागमन निवृत्त कैसे होगा? जिसके उत्तरमें कहा कि आप कमलनाभ हैं, आपकी नाभिमें भुवन कोशरूप कमल है, इसके प्रवृत्त होनेसे ही समग्र संसार प्रवृत्त होता है, इनकी सेवामें प्रमाण और आज्ञाकी अपेक्षा नहीं है, यदि बहिर्मुख भी हो जावे किन्तु छोटे(अज्ञानी, मूर्ख) पुत्रकी भांति लौकिकी अथवा वैदिकी आशीर्वाद चाहते हैं तो वे भी प्राप्त कर सकते हैं, दूसरे तो कर्म आदिसे स्वल्प ही पाते हैं न कि पूर्ण फल पा सकते हैं. 'ऐकान्तधियः' श्लोकसे अन्तर्निष्ठा ही ग्रहण की गई है, इसलिए उससे भी विरोध नहीं है. जो भक्तिमार्गमें प्रविष्ट होता है उसका ही भगवान् धन आदि हरण करते हैं, यदि सर्वका हरण करें तो सर्वदा सब सेवा नहीं कर सकें।।४।।

आभासार्थ : लोकमें, जो भक्त होके भी अपना उत्कर्ष चाहते हैं अथवा भक्तिमार्गके उत्कर्षकेलिए अपना उत्कर्ष चाहते हैं उनकी इस इच्छाको पूर्ण करना, भगवान्का कर्तव्य है यह 'तद्देवदेव' श्लोकमें युधिष्ठिर कहता हैं:

तद्देवदेव! भवतश्चरणारविन्द–सेवानुभावम् इह पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ।।५।।

श्लोकार्थ : इसलिए हे देवोंके देव ! आपके चरणारविन्दकी सेवाका

प्रभाव यह जगत् देखे, जो(पाण्डव) आपका भजन करते हैं और जो(कौरव) आपको नहीं भजते हैं, उन दोनोंकी निष्ठाका फल दिखलाईये।।५।।

व्याख्यार्थ : भगवान् सर्वकी आत्मा होनेसे वध नहीं करेंगे, ऐसी शंकाका निवारण करनेकेलिये श्लोकमें भगवान्का संबोधन 'हे देवदेव'! दिया है, अर्थात् आप देवोंके अधिदेव हैं न कि दैत्योंके अधिदेव हो. अतः आप दैत्यवध कर सकते हैं, युधिष्ठिरको यही अभिप्रेत था इसलिए ऐसा सम्बोधन दिया है. इसी कारणसे, यह उत्कर्ष केवल बहिर्मुखोंका विषय होनेसे, यह कथन उचित नहीं ऐसी शंकाको मिटानेकेलिये कहता है यों करना लोक प्रतीतिकेलिये है, अर्थात् लोग आपके चरणारविन्दकी सेवाका प्रभाव देखें.

राज्यकी तरह राजसूयकी सिद्धि भी होगी यह भक्तकी ही हो, अन्यकी नहीं यह कैसे जाना जाए? इसके उत्तरमें कहता है, जो पाण्डवादि आपका भजन करते हैं, और जो शिशुपाल दुर्योधनादि आपको नहीं भजते हैं, उन दोनोंकी निष्ठा अर्थात् अन्तिम क्या होगा? यह आप ही दिखाईये? जो विमुख हैं अर्थात् प्रभुको नहीं भजते हैं उनको मरण, मानभंग और ठगा जाना आदि फल प्राप्त होगा, और जो प्रभुके सेवक हैं उनको कीर्ति, धन और धर्मादिकी 'प्राप्ति होगी' इन सबका संक्षेपमें निर्देश करता है, सृंजय वंश द्रुपदका है अतः उसके पक्षपातसे पुष्ट हुए पाण्डव कुरुवंशसे अपनी प्रसिद्धीको त्यागकर सृंजय वंशसे अपनी प्रसिद्धी स्वीकार करते हैं इससे वे धृतराष्ट्रके पुत्र कौरव प्रभुसे विमुख हैं और सृंजय अर्थात् पाण्डव भक्त हैं, यों कहकर अपनेमें मत्सरताका अभिनिवेश है यह सूचित किया है।।५।।

आभासार्थ : यदि भगवान् कह दें कि यह परिच्छिन्न मतिवाले देवोंका कार्य है, मेरा नहीं है तो इसके उत्तरमें कहता है कि आपका कहना सत्य है, किन्तु यह कार्य भक्तोंके अनुरोधसे करना चाहिए, यों प्रार्थना करता है:

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात् सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ।।६।।

श्लोकार्थ : आप परब्रह्म हैं, जिससे आप समान दृष्टिवाले, स्वसुखको अनुभव करनेवाले हैं, अतः आपको यह अपना, यह पराया, ऐसी मति नहीं है, किन्तु जैसे कल्पवृक्ष, अपने सेवकोंके इच्छित कार्य पूर्ण करता है, वैसे आप भी चरणाश्रितोंके मनोरथ पूर्ण करते हैं, इससे आपमें विषमता दोष नहीं आता है, उनको जो फल मिलता है, वह सेवाके अनुरूप ही मिलता है, इसमें कभी अन्तर

नहीं पड़ता है।।६।।

व्याख्यार्थ : भगवान् यदि अपनेलिये करें तो यों(वध आदि) न करें, यदि दूसरोंकेलिए करना पड़े तो दूसरोंकी इच्छाके अनुसार ही करना चाहिये, अर्थात् करना पड़ता है, यदि न किया जाय तो कहा जाएगा कि भगवान्में पुरुषार्थ सिद्ध करनेका बल नहीं है. पहला पक्ष अंगीकारकर कहता है कि सर्वमें समान दृष्टिवाले आाप ब्रह्मको यह अपना है और यह पराया है ऐसी बुद्धि नहीं है तो भी भक्तोंके अनुरोधसे यों होना पड़ता है. यों हो जानेमें विधि नहीं है. अपना और पराया ऐसी भेद बुद्धि तीन प्रकारके पुरुषोंकी होती है. १.जो देहको आत्मा समझ परिच्छन्न बृद्धिवाले होते हैं, २.जो विषय सुखोंको भोग करनेवाले हैं, ३.जो भोगको सिद्ध करनेकेलिये विषयोंमें विषय बुद्धिवाले हैं, भगवान् तो वैसे नहीं हैं, इसलिए ही भगवान्के तीन विशेषण कहे हैं, १.सर्वकी आत्मा, २.सर्वमें समान दृष्टिवाले, ३.अपने आनन्दका ही अनुभव करनेवाले, ऐसे गुणोंवाले भी दूसरोंके हितकेलिये विषम कार्य करते हैं. दृष्टान्त देकर समझाता है, कल्पवृक्ष अपने सेवकोंके मनोरथ कैसे भी हों तो पूर्ण कर देता है जिससे कल्पवृक्षमें विषमतादि दोष नहीं आता है क्योंकि कल्पवृक्षका स्वभाव ही दूसरोंका अभीष्ट पूर्ण करना है, वैसे ही आप भगवान् भी हैं, सर्वत्र भगवान्के धर्मका ही प्राकट्य होता है, वह धर्म हम लोगोंकेलिए भी प्रकट करना चाहिए. धर्मानुरोधमें धर्मीमें कोई दोष न आएगा, अतः सेवाके अनुरूप ही उदय होना चाहिए, अतः यहां धर्मीके सम्बन्धके अभाव होनेसे किसी प्रकार उलट फेर न होगा।।६।।

आभासार्थ : उसने अपना आन्तर दोष निरूपण किया, जिससे भगवान् प्रसन्न हुए, अब युधिष्ठिरकी जिस यज्ञ करनेकी इच्छा है, उसका गुणरूपपन कहते हुए उसका अभिनन्दन 'सम्यग्' श्लोकसे करते हैं:

श्रीभगवानुवाच

सम्यग्व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्शण।
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति।।७।।

श्लोकार्थ : श्रीभगवान्ने कहा कि हे राजन्! तुम्हारा यह उद्यम उत्तम है, हे शत्रुकर्षण! यज्ञ करनेसे कल्याणरूप तुम्हारी कीर्तिका लोग अनुभव करेंगे।।७।।

व्याख्यार्थ : दूसरी तरह अर्थात् यज्ञ किए बिना इष्टकी सिद्धि नहीं होगी, 'हे राजन्!' इस संबोधनसे यह सूचन किया है कि राजाको बहिर्मुखता उचित है,

उसमें भी केवल अपने राज्यका पालन करनेसे यों न हो सके, तो इसलिए दूसरा विशेषण देते हैं कि हे शत्रुकर्षण! राजा शत्रुओंको भी नाश करते हैं, यों कहनेका सारांश यह है कि राजा लोग राज्यके पालनके साथ शत्रुओंको भी नाश करते रहते हैं जिससे वे धर्म और भगवत्प्रीति आदिमें रुचि नहीं कर सकते हैं. अतः वे बहिर्मुख रहते हैं, यद्यपि जय और शत्रुओंके नाशसे भी कीर्ति हो सकती है किन्तु यह कल्याणकारी नहीं है, अतः अब तुमने जो धर्म(यज्ञ) कार्य उद्यम किया है, इससे तेरी कल्याणी और पुष्ट अर्थात् स्थिर कीर्तिका लोग अनुभव करंगे, 'यशः श्रियमिव परिश्रमः' इस पक्षका निरूपण किया है।।७।।

आभासार्थ : अन्य धर्मसे भी यश होता है तो भी राजसूय यज्ञ ही करना चाहिए, इसलिए जिसके करनेकी इच्छा कर उद्यम किया है उसकी 'ऋषीणां' श्लोकसे भगवान् स्तुति करते हैं:

ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभोः।
सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम्।।८।।

श्लोकार्थ : ऋषि, देव, पितर, सुहृद, प्रभु तथा मनुष्यमात्रको यह यज्ञोंका राजा सोमयाग इच्छित है अर्थात् चाहते हैं कि यह यज्ञ हो।।८।।

व्याख्यार्थ : ऋषिगण वेदादि स्वाध्याय करनेवाले पर प्रसन्न होते हैं, राजा लोगोंमें उसका अभाव है अत: ऋषियोंको प्रसन्न करनेकेलिये राजसूय यज्ञ करना चाहिए, राजसूय यज्ञ करनेवाले नृपतिके पितर इन्द्र सभामें बैठ सकते हैं. जो राजा राजसूय यज्ञ नहीं करते हैं, उनके पितर यम सभामें बैठते हैं, वैसे साद्यस्क्र प्रयोगसे यज्ञ करनेमें विलम्ब न होनेसे देवताओंकी विशेष तृप्ति होती है. अपने उत्कर्षका कारण होनेसे सुहृदोंको भी प्रसन्नता प्राप्त होती है, उन सुहृदोंमें भी अपनेको आनन्द है, न कि दुर्योधन आदिको. 'प्रभोः' कालका प्राकट्य भी भूमिके भारके हरणकेलिए हुआ है. उद्धतोंके नाश होनेसे सर्व भूतोंको यह क्रतुराज राजसूयका होना इच्छित है, उसमें भी यह राजसूय तुम जिस उत्तम प्रकारसे कर रहे हो, वैसा वरुणादिने नहीं किया।।८।।

आभासार्थ : अतः यज्ञके आरंभ करनेसे पहले यज्ञकेलिए अधिकार प्राप्त करो, बादमें यज्ञ प्रारंभ करना. यह 'विजित्य' श्लोकमें कहते हैं:

विजित्य नृपतीन् सर्वान् कृत्वा च जगतीं वशे।
संभृत्य सर्वसंभारानाहरस्व महाक्रतुम्।।९।।

श्लोकार्थ : सब राजाओंको जीत, पृथ्वीको वशमें कर, सब तैयारी[१] कर महायज्ञको प्रारंभ करो।।९।।

व्याख्यार्थ : राजसूय यज्ञ करनेका अधिकार उसको है जिसने भूमिके सब भूपतियोंको जीता है, उनको जीते बिना राजसूय यज्ञ करनेका अधिकार नहीं है, अतः प्रथम सब राजाओंको जीतकर तुम सार्वभौम बनकर अधिकारी बनो और सर्व लोगोंको अपने वशमें करो, यों किए बिना यज्ञके अधिकारी नहीं होवोगे. ये दो कार्य पूर्णकर पश्चात् यज्ञकी समस्त सामग्री इकट्ठी करो, जिसके बिना भी यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकेगा. यदि यज्ञ आरम्भ करनेके बाद उस समय उपकरण मंगावोगे तो हो नहीं सकेगा, जैसे जन्मके समय ही हस्तपादादि इन्द्रियां काममें नहीं आती हैं तो भी वे पूर्ण रीतिसे गर्भमें ही तैयार हो जाती हैं, वैसे ही यज्ञकी सामग्री भी यज्ञके कार्यमें आवे, उससे पहले ही तैयार कर लेनी चाहिए, उसके बाद यज्ञको आरम्भ करना चाहिए. जैसे नित्य ही प्रतिमासे भगवत्स्वरूपको अपने चित्तमें पधराया जाता है, वैसे ही नित्य मूल स्थान हृदयसे भगवद्रूपको अपनेमें पधराना चाहिए, जिसमें 'तमाहरत्तेनायजन्त' प्रमाण है, अतः इसका पृथक् निर्देश किया है, कितने ही आरम्भको आहरण कहते हैं, वह श्रौत नहीं है अर्थात् वेद सम्मत सिद्धान्त नहीं है, किन्तु महातेज वह्निका अपने स्थानसे लाना ही सिद्धान्त है. महान् प्रयत्नका कारण कहते हैं कि यह यज्ञ 'महाक्रतु' है।।९।।

१. यज्ञकेलिए सब प्रकारकी सामग्री इकट्ठी करके

आभासार्थ : अधिकार प्राप्त करनेकेलिए जो दिग्विजय करनी है, उसके साधन 'एते ते भ्रातरः' श्लोकमें बताते हैं:

एते ते भ्रातरो राजन् लोकपालांशसम्भवाः।
जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः ।।१०।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! ये तुम्हारे भ्राता लोकपालोंके अंशसे उत्पन्न हुए हैं, अतः ये सबको जीतेंगे. जिन्होंने अपने अन्तःकरणको वश नहीं किया है, वे मुझे जीत नहीं सकते अर्थात् वश नहीं कर सकते, तुमने तो आत्म संयमसे मुझे वश कर लिया है।।१०।।

व्याख्यार्थ : तुम्हारे ये भीम आदि भाई वायु आदि लोकपालोंके अंशसे उत्पन्न हुए हैं, इससे देवोंकेलिए मनुष्योंको जीतना सरल है. यों कहकर यह सूचित किया है कि दिग्विजयमें शंका ही नहीं है. इस विजयसे ही लोगोंका

वशीकरण भी स्वतः सिद्ध हो जाएगा. 'हे राजन्!' संबोधनसे यह बताया है कि छोटे भाई भी सेवक समान हैं, अतः उनकी जयसे अपनी ही जय है, यज्ञका आवेश मन्त्र आदिसे नहीं होता है, क्योंकि यज्ञ भगवद्रूप है और भगवान् स्वतन्त्र हैं, किन्तु अन्य उपायसे यदि भगवान्‌को वशमें किया जाय तो हो सकता है. वह उपाय तुम्हारे पास है, जिससे तुमने मुझे जीत(वश कर) लिया है, वह उपाय है– इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना, यदि यह कार्य जिसने किया, उसने मुझे जीत लिया, क्योंकि हृषीकेश ही भगवान् हैं अर्थात् इन्द्रियोंको जीतनेवाला इन्द्रियोंका स्वामी मैं हूं, अतः जिसने इन्द्रियोंको जीता, वह हृषीकेश होनेसे मुझे जीतनेवाला हुआ. वह उपाय 'असिधाराव्रत' है, वह आपने किया है, यह अन्यत्र प्रसिद्ध है.

'सर्वालंकरणोपेता भार्येकशयने यदा शेते संवत्सरं पूर्ण स्वयं पूर्णस्तथाविधः।। मनसापि न तां वाञ्छेत् स्पृशन्नपि शिलामिव असिधाराव्रतमिदं विष्णुप्रीतिकरं महत्'।।इति।।

जो पुरुष यह असिधाराव्रत करता है, वह विष्णुको प्रसन्नकर वशमें कर लेता है. इस व्रतकी विधि बताते हैं कि एक ही शय्या पर सर्व प्रकारके श्रृंगारोंसे सुसज्जित युवती और वैसा ही सुन्दर बलवान् पुरुष एक वर्ष साथ सोये हों, तो भी उस स्त्रीको पत्थरकी शिला समझ मनसे भी उसकी चाहना न करे, इस प्रकार यह व्रत विष्णु भगवान्‌को बहुत प्रिय(प्रसन्न) करनेवाला है. यह ही मर्यादामार्गमें आत्मवत्ता है अर्थात् भगवान्‌को अपना करना है. इस प्रकारसे ही भगवान् जीते जाते हैं, जिन्होंने अन्तःकरणको वश नहीं किया है, वे भगवान्‌को जीत नहीं सकते अर्थात् वश नहीं कर सकते हैं।।१०।।

आभासार्थ : कदाचित् जयकेलिए आरंभ करते ही किसी भ्राताका अभिभव हो जाए तो क्या करना चाहिए? इस शंकाका उत्तर 'न कश्चित्' श्लोकमें देते हैं:

न कश्चिद् मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया।
विभूतिभिर्वाभिभवेद् देवोऽपि किमु पार्थिवः ।।११।।

श्लोकार्थ : मेरे परायण पुरुषका इस लोकमें तेजसे, यशसे, श्रीसे अथवा अन्य सम्पत्तियोंसे देव भी पराभव नहीं कर सकते हैं तो राजा क्या कर सकते हैं ? कुछ नहीं।।११।।

व्याख्यार्थ : मैं ही जिनका स्वामी चलानेवाला हूं, उनका परिभव करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है. 'परिभव तीन प्रकारसे होता है–विषयों, शरीर और यशके

अतिक्रमण करनेसे, इस कारणसे तीन विशेषण 'तेजसा, यशसा और श्रिया' दिये हैं, तेजके अभिभव हो जाने पर अपयश होता है जिससे वह मरा ही समझना चाहिए. श्रीके अभिभव हो जाने पर मान नष्ट हो जाता है, साधारणोंकेलिए ये तीन प्रकार हैं, राजाओंकेलिए विशेष कहते हैं 'विभूतिभिर्वा' जैसे आरण्यकमें घोष यात्रा प्रसंगमें अभिभवकेलिए उद्यम है, त्रैलोक्यके जीतनेकी इच्छासे त्रिलोकीको भी जीत जावे, उस जीतमें देव भी जीते जाते हैं वैसे अर्थात् जो मेरे हैं मेरे परायण हैं देव भी (जब) उनको जीतनेमें समर्थ नहीं हैं, (तो फिर) पार्थिव, जो पृथ्वीके विकार हैं वे कैसे समर्थ होंगे. जो मेरे परायण हैं वे ही मुझे वश कर सकते हैं अर्थात् जीत जाते हैं, बिना मुझे जीतनेके उनकी जीत नहीं है अर्थात् जो मेरे परायण हैं वे ही सर्वत्र जय पाते हैं उनका अभिभव कोई नहीं कर सकता है।।११।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्की आज्ञा पाकर वैसे ही किया यह 'निशम्य' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं:

श्रीशुक उवाच

निशम्य भगवद्गीतं प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजः।
भ्रातन् दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान्।।१२।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि भगवान्के वचन श्रवणकर युधिष्ठिरका मुख प्रेमसे प्रफुल्लित हो गया, भगवान्ने तेजसे बढे हुए अपने भ्राताओंको दिग्विजय करनेकेलिए भेजा।।१२।।

व्याख्यार्थ : 'गीत' शब्द कहनेका भावार्थ यह है कि जो भगवान्ने गाया अर्थात् कहा वह सबके कानोंको प्रिय लगा, प्रिय होनेसे युधिष्ठिरका मुख कमल प्रफुल्लित हो गया, 'प्रीति' शब्दका भावार्थ है कि उन वाक्योंके सुननेसे संतोष हो गया, कारण कि यह निश्चय हुआ कि मैं जो चाहता हूँ वह अवश्य पूर्ण होगा. भगवान्के स्पर्शसे भ्राता विष्णु तेजसे युक्त हो गए हैं. भगवान्का तेज 'पालक' है अतः दैत्योका नाश करनेवाला है।।१२।।

आभासार्थ : प्रत्येकको भगवान्ने तेज दिया, यह जतानेकेलिए दिग्विजय करनेको पृथक्-पृथक् दिशा बताई वह 'सहदेवं' श्लोकमें कहते हैं:

सहदेवं दक्षिणस्याम् आदिशत् सह सृञ्जयैः।
दिशि प्रतीच्यां नकुलम् उदीच्यां सव्यसाचिनम्।।
प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः।।१३।।

श्लोकार्थ : क्षत्रिय विशेषोंके साथ सहदेवको दक्षिण दिशामें जय करने केलिए आज्ञा की, नकुलको पश्चिममें, अर्जुनको उत्तरमें और भीमको पूर्वमें भेजा, जिसके साथमें मत्स्य कैकेय और मद्रके पति(राजा) दिए।।१३।।

व्याख्यार्थ : दक्षिण दिशामें जीतनेकेलिए सहदेवको सृञ्जय अर्थात् क्षत्रिय विशेषोंके साथ भेजा, स्वदेशसे जाकर पूर्ण प्रकारसे दिग्विजय कर आना ऐसी आज्ञा दी, इसी तरह नकुलको पश्चिममें, उत्तर दिशामें अर्जुनको भेजा क्योंकि वहां जीतनेकेलिये अर्जुन समर्थ थे, शेष पूर्व दिशामें जरासन्ध आदि बलवान् रहते हैं अतः सेना अधिक देकर वहां बलिष्ठ भीमसेनको भेजा, यह भेजनेका क्रम छोटेसे रखा वह धर्मानुकूल था क्योंकि शेष जो पूर्व दिशा रही थी उसमें उत्तम जरासन्ध आदि रहते थे, इसलिए यह दिशा भीमकेलिए रख छोड़ी थी, वहां जय कर सकने योग्य भीम था अतः उसको वहां भेजा।।१३।।

आभासार्थ : 'ते निर्जित्य' श्लोकमें उनके कार्यकी सिद्धि कहते हैं:

ते निर्जित्य नृपान् वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा।
अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ।। १४।।

श्लोकार्थ : वे वीर राजाओंको जीतकर अपने बलसे दिशाओंमेंसे बहुत द्रव्य ले आए, वह द्रव्य यज्ञकेलिए अजातशत्रु अपने भ्राता युधिष्ठिरको दिया।।१४।।

व्याख्यार्थ : 'ओजसा' पदका भावार्थ बताते हैं, कि अपने पौरुष अर्थात् पुरुषार्थसे द्रव्य ले आए हैं, न कि उन राजाओंने स्नेहसे वा दान कर दिया है. शंका करते हैं, कि इस प्रकार सबका द्रोह करनेवाला यज्ञका अधिकारी कैसे हो सकेगा? जिसका उत्तर देते हैं कि 'अजातशत्रवे' जो इस द्रव्यसे यज्ञ करनेवाला है उसके हृदयमें किसीकेलिए भी शत्रुभाव नहीं है, भगवदाज्ञासे ही यों किया है. मान लो, कि युधिष्ठिरमें शत्रुभाव नहीं है, किन्तु भ्राताओंमें तो वैषम्य है, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि उनमें भी विषमता नहीं है. जैसे खेती हर पृथ्वीसे अन्न उत्पन्न कर लाता है वैसे ही राजा, राजाओंको जीतकर द्रव्य ला सकता है जिसमें कोई दोष वा विषमता नहीं है, वह द्रव्य अपना ही है अतः अपने द्रव्यसे यज्ञ होगा. भ्राताओंने भी, लाया हुआ धन यज्ञ करनेवाले अजातशत्रुको दे दिया. इससे यह सूचित किया कि वह द्रव्य अपने भोगादिके कामकेलिए नहीं लाये थे. किन्तु भगवान्की सेवाकेलिये लाए थे।।१४।।

श्रुत्वाऽजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ।।१५।।

श्लोकार्थ : युधिष्ठिरने दिग्विजयमें जरासन्धके सिवाय सब राजाओंकी पराजय सुनी, जिससे उसको चिंता होने लगी, राजाको चिंतित देख भगवान्ने जो उपाय उद्धवको बताया था, वह आज सुना दिया।।१५।।

व्याख्यार्थ : जो ब्रह्मण्य है उसको विष्णु तेज भी नहीं दबा सकता है इसलिए जरासन्ध नहीं जीता गया, जब तक वह जीता नहीं जाएगा तब तक यज्ञ न हो सकेगा, इस प्रकारका राजाका ध्यान ही चिन्तारूप था, भगवान्को पहिले ही विनियुक्त किया तो भी उससे भी कुछ न हो सका इससे राजाको चिन्ता होने लगी. उस चिन्ताका हरण करनेवाला भी हरि ही है, भगवान्ने देखा कि इसका मुझमें लौकिकभाव उत्पन्न हुआ है इसलिए भगवान् राजाको वह उपाय बता देते हैं जो उद्धवजीने पहले ही बता दिया था, यदि ऐसा विचार राजाको न होवे तो भगवान् कृत्रिम वेष धारण न करें अर्थात् कृत्रिम वेष धारणके कारण ही राजाकी बुद्धि डावांडोल होने लगी।।१५।।

भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः ।
जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ।।१६।।

श्लोकार्थ : भीमसेन, अर्जुन और कृष्ण, ये तीनों ब्राह्मण वेष धारणकर गिरिव्रज गए, क्योंकि जरासन्ध वहां था।।१६।।

व्याख्यार्थ : नर और नारायण धर्मके अवतार हैं, अर्जुन भी उनके अंश हैं अतः पूर्णत्वके कारण अर्जुनका गमन कहा है, आज अब भगवान्का भी वैसा वचन कहना आश्चर्य कारक है, भगवान् तो सर्वरूप हैं इस ब्राह्मण वेष धारण करनेमें उनको कोई दोष नहीं है वैसे ही अर्जुनको भी दोष नहीं है क्योंकि पूर्व जन्ममें वैसा भाव था इस कारण ही वासनासे पहले भी सन्यासी वेश धारण किया था, इसलिए ही उद्धवजी भीमका ही वेष कहते हैं, अनुवादमें तीनोंके वेष क्रमसे निरूपण किए जाते हैं, पृथक् अन्य वेष हो तो समान शीलपन उत्पन्न न हो सके अतः नूतनपनसे भीमसेनको आगे कर गिरिव्रज गए, अब वह राजगृहसे प्रसिद्ध है क्योंकि वहां बृहद्रथका पुत्र जरासन्ध रहता है अथवा 'यतः' यह सप्तमीके अर्थमें लिया जा सकता है तब इस 'यतः'का अर्थ 'क्यों' न कर जिसमें बृहद्रथका पुत्र जरासन्ध रहता है।।१६।।

आभासार्थ : 'तं गत्वा' श्लोकमें गए हुओंका कार्य कहते हैं:

तं गत्वाऽऽतिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम् ।।
ब्रह्मण्यं समयाचेरन् राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः ।।१७।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मण भक्त, गृहस्थ धर्म पालनेवाले जरासन्धके पास उस समय गए, जिस समय वह अतिथियोंकी कामनानुसार उनको देते हैं, ब्राह्मण वेषधारी राजाओंने जाकर याचना की।।१७।।

व्याख्यार्थ : वैश्वदेव करनेके समय अतिथियोंका सन्मान करनेमें आता है अतः वह अतिथि वेला कही जाती है, जरासन्ध महाराजा है तो उसके पास बिना आज्ञाके कैसे प्रवेश किया? जिसके उत्तरमें कहा है कि जैसे अन्य गृहस्थ धर्ममें रहते हैं, वैसे यह भी सर्वथा गृहस्थीकी तरह रहता है विशेषमें ब्राह्मणोंका सन्मान करनेवाला अर्थात् ब्राह्मण भक्त है अतः प्रवेशमें रुकावट नहीं थी, जो गृहस्थ न्यायसे नहीं रहता और ब्राह्मण भक्त न होता, तो ब्राह्मण इसके गृहसे लौट जाते, यह भी ब्राह्मण वेषधारी थे इसलिए राजगृहमें प्रविष्ट हुए।।१७।।

आभासार्थ : सर्व प्रकार असत्यताके अभावार्थ नरकी तरह याचना भी करने लगे, यह 'राजन्' श्लोकमें कहते हैं:

राजन् विद्ध्यतिथीन् प्राप्तान् अर्थिनो दूरम् आगतान् ।
तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद् वयं कामयामहे ।।१८।।

श्लोकार्थ : हे राजन् ! हम अतिथि याचना करनेकेलिए दूरसे आए हैं यों आप जानो, इसलिए हम जो कुछ आपसे मांगे वह हमको दीजिए जिससे आपका कल्याण होगा।।१८।।

व्याख्यार्थ : अतिथि शब्द कहनेका भावार्थ यह है कि हम गांवके भिक्षुक ब्राह्मण नहीं हैं, जिसके कहनेका आशय यह है हमको आपसे बहुत बड़ा दान लेना है और दया भी करो क्योंकि दूरसे आए हैं, दूरसे आनेमें हमने कितना कष्ट पाया होगा अतः दयाकर हम जो मांगें वह दीजिए निराश न कीजिए, हमको जो मांगा हुआ दान दोगे तो आपका यश भी होगा, यह सूचित किया, हम ब्राह्मण हैं यह बतानेकेलिए मध्यमें आशीर्वाद भी दी है, वास्तवमें तो यह ब्राह्मण वेष मिथ्या था इसलिए यशरूप आशीर्वचन निष्फल होगा, वास्तवमें तो 'भद्रं' कल्याण ही प्राप्त करोगे अर्थात् मोक्ष पाओगे, अथवा 'ते भद्रं' तेरा भद्र जो प्राण आदि है उसकी कामना करते हैं, वह दीजिये।।१८।।

आभासार्थ : दान देना धर्म है वह सुखार्थ ही होता है जिसके देनेसे यदि दुःख प्राप्त वा वृत्ति नष्ट हो वह दान नहीं देना चाहिए इसलिए सामान्य रीतिसे प्रार्थना करने पर दानकी प्रतिका सम्भव कैसे? इस प्रकारकी शंकाका उत्तर 'किं दुर्मर्षं' श्लोकमें देते हैं:

किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किम् अकार्यम् असाधुभिः ।।
किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् ।।१९।।

श्लोकार्थ : सहनशील सब कुछ दुःख सह लेते हैं, नीच पुरुष क्या नहीं करते हैं? अर्थात् कैसा भी नीच कर्म हो तो वह उसके करनेमें हिचकते नहीं. उदार पुरुष क्या नहीं दे सकते हैं ? अर्थात् सब कुछ देनेमे समर्थ हैं, जिनकी समान दृष्टि है उनकेलिए पराया कौन है, अर्थात् कोई पराया नहीं सब अपने हैं।।१९।।

व्याख्यार्थ : जो सर्व प्रकारोंके अतिक्रमोंको सहन कर सकते हैं वे ही ब्रह्मण्य होते हैं. जिनमें पूर्ण सहनशीलता नहीं है वे ब्राह्मणोंका सन्मान पूजादि नहीं कर सकते हैं, जिससे वे ब्रह्मण्य नहीं कहे जाते, जब वे सहनशील हैं तो वे महान् दुःखोंको भी सहन करनेमें समर्थ होते हैं. यों भी नहीं समझना चाहिए कि, वे विशेष दुःख नहीं देंगे, क्या कारण है जो हमें दुःख देंगे, इस अभिशापको प्रकट करनेकेलिए कहते हैं 'असाधुभिः किमकार्यं' जो वास्तविक साधु नहीं है, किन्तु साधुओंका(ब्राह्मणोंका) वेष धारण किया है वे ढोंगी हैं, अतः कोई सा भी नीच कार्य करनेमें वे नहीं हिचकते हैं, अथवा तुम्हारे जैसे दुष्ट यदि जीवित होंगे तो अच्छे यज्ञादि कार्योंको भी नाश करेंगे इसलिए ऐसेको हम मारें यह ही हमारेलिए उचित है. शास्त्र सिद्ध दान, उनको देना चाहिए जिनकेलिये देनेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है, और जिस दानके देनेका निषेध है वह नहीं देना चाहिए. जैसा कि कहा जाता है, कि 'आत्मा च धर्मदासश्च धर्मपत्नि तथैव च सर्वस्वं च प्रपन्नश्च न देयानि विदुर्बुधाः' 'शरीर धर्मसे जो दास बना है, धर्मपत्नी, सर्वस्व और जो शरणमें आया हो ये वस्तु दानमें नहीं देनी चाहिए' इस प्रकारका निषेध विशेष निषेध है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'किं न देयं वदान्यानां'. उदार हृदय शिवि, दधीचि आदि जैसोंने जैसे शरीर आदि सर्व दानमें दे दिया है, वैसे उदार चित्तवाले सब कुछ दानमें देते हैं, ऊपर दिया हुआ प्रमाण साधारणोंकेलिए है, यों कहकर उसकी स्तुति भी की है, फिर कहते हैं कि यों है किन्तु शत्रुओंको दान नहीं देना चाहिए, यदि शत्रुको दिया जाएगा तो नीतिशास्त्रका विरोध होगा, जो हीन और शत्रु है वह तो मारनेका दान

मांगेगा, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'कः परः समदर्शिनां' जिनकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि है उनका पराया कोई नहीं है सब समान है क्योंकि सर्व आत्मा होनेसे अपने ही हैं।।१९।।

आभासार्थ : यों है, तो भी देहाध्यास दृढ है, इसलिए देहके सिवाय सब ही दूंगा, यदि यों कहें तो उसका उत्तर 'योऽनित्येन' श्लोकसे देते हैं:

योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ।।
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः ।।२०।।

श्लोकार्थ : जो पुरुष समर्थ होते हुए भी इस अनित्य शरीरसे, जिसकी कीर्ति सत्पुरुष गाते हैं ऐसे नित्य स्थिर रहनेवाले यश शरीरको प्राप्त नहीं करता है उसकी इस लोकमें निन्दा होती है और परलोकमें भी हीन योनि पानेसे शोक करने योग्य होता है।।२०।।

व्याख्यार्थ : दान न देनेसे, सदैव अपयश होता है. यह शरीर तो अनित्य है दान करनेसे यश प्राप्त होता है वह नित्य रहता है और दान करनेसे जो यश मिलता है उससे नित्य दिव्य शरीर प्राप्त होता है. अपयशसे नारकीय शरीरकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार दोनोंमें तारतम्य जानकर जो इस अनित्य शरीरसे सत्पुरुष जिसका गान करते हैं वैसा वैकुण्ठादिके शरीरको उत्पन्न करनेवाला यश ध्रुव और निश्चित है. जैसे कोई पुरुष वस्त्रके कोनेमें हीरेको इस डरसे नहीं बान्धता है कि वस्त्र फट जाएगा, वैसे ही जो पुरुष समर्थ होते हुए भी शरीर चला जाएगा, इस डरसे ध्रुव यशका संचय नहीं करता है तो वह इस लोकमें निन्दाका पात्र होता है और परलोकमें हीन योनि पाकर पश्चात्ताप करता है. लोकमें 'एवं' पदसे यह सिद्ध किया है कि ऐसे पुरुषको उत्तम शरीर नहीं मिलेगा, जिससे उसके मनकी शंकाको मिटा दिया है, क्योंकि वह अब समय होते हुए भी यशका संचय नहीं कर सकता है तो फिर कैसे करेगा? वह कभी भी अन्य प्रकारका नहीं होता है।।२०।।

आभासार्थ : तो भी जो किसीने भी नहीं दिया है वह कैसे देना चाहिए? इस शंकाका उत्तर 'हरिश्चन्द्रो' श्लोकमें देते हैं;

हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः ।
व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ।।२१।।

श्लोकार्थ : हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, उच्छवृत्ति, शिवि, बलि, व्याध और

कपोत ऐसे बहुत अध्रुव(अनित्य) इस शरीरसे ध्रुवको प्राप्त हुए हैं।।२१।।

व्याख्यार्थ : हरिश्चन्द्रने सर्वस्व देकर भी, चाण्डालपन अंगीकार किया, रन्तिदेव स्वयं प्याससे मर रहा था तो भी डोमको अपने पीनेका पानी दे दिया, इसी प्रकार उच्छवृत्तिने क्षुधासे मरते हुए भी सर्व अन्न दे दिया, शिविने अपना मांस कपोतको बचानेकेलिए दे दिया, बलिने अपना सर्वस्व विष्णुको दानमें दिया, व्याधने ब्राह्मणकी रक्षा करते हुए अपना शरीर व्याघ्रको अर्पण किया, स्त्री समेत कबुतरने चोररूप अतिथिको भोजन करानेकेलिए अपना शरीर अग्निमें डालकर नष्ट किया, इस भांति बहुतोंने इस अध्रुव शरीरसे ध्रुव फलको पाया है।।२१।।

आभासार्थ : इस प्रकार दान करनेकेलिए प्रोत्साहन पाया तब विचार करने लगा कि इस प्रकार धर्मको कहनेवाले ये कौन हैं? उनकी अच्छी तरह जांच कर निश्चित जान लेनेके बाद जो मनमें कहने लगा वह 'स्वरैराकृतिभिः' श्लोकसे शुकदेवजी बताते हैं:

श्रीशुक उवाच

स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि।
राजन्यबन्धून् विज्ञाय दृष्टपूर्वान् अचिन्तयत्।।२२।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी बोले कि स्वर, आकृति और धनुषकी प्रत्यञ्चाके धातु चिह्नवाले भुजाओंसे उनको क्षत्रिय जाना और मनमें आया कि पहिले कदाचित् इनको कहीं देखा है।।२२।।

व्याख्यार्थ : पहलेसे विचार किया, अनन्तर चारोंसे वाक्य, उनसे निश्चय, फिर प्रतिज्ञा की, बादल जैसे गंभीर स्वर क्षत्रियोंके ही होते हैं, आकृतियां, घुटनों तक लम्बी भुजाएं, ये भीतर और बाहरके धर्म क्षत्रियपनके ही नियामक कहे हैं. क्षत्रियोंके कर्मपनके नियामक धर्म भी इनमें हैं जैसा कि इनकी कलाई धनुषके प्रत्यञ्चाके घातवाली है, इन अव्यभिचारों तीनों धर्मोंसे ये क्षत्रिय बान्धव हैं यों जरासन्धने समझ लिया, बहुत कर पूर्वमें इनसे युद्ध भी किया है इसलिए ये आगे देखे हुए लगते हैं किन्तु वास्तवमें ज्यों मुझे भासते हैं त्यों हैं वा अन्य हैं, यों विचार करने लगा, यदि क्षत्रिय हैं तो इस वेशसे यहां क्यों आये हैं? ।।२२।।

राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति।
ददामि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम्।।२३।।

श्लोकार्थ : ये कोई राजबन्धु देखनेमें आते हैं, किन्तु ब्राह्मणका वेश धारण किये हुए हैं, ब्राह्मण वेशके कारण मांगी हुई भिक्षा इनको दूं, यदि ये न देने योग्य शरीर मांगे, तो वह भी दूंगा।।२३।।

व्याख्यार्थ : क्षत्रिय न कहकर इनको क्षत्रिय बान्धव कहा है जिसका कारण यह है कि ये अपने क्षत्रिय धर्ममें रत नहीं हैं अथवा बन्धु अप्रौढ क्षत्रियकेलिये दिया जाता है यद्यपि 'आत्मा' देने योग्य नहीं है, तो भी यदि क्षत्रिय अपनी जातिका अभिमान छोड़े ब्राह्मण वेशसे मेरे यहां भिखारी होके आए हैं तो मैं क्षत्रियोंका मान(इज्जत) बचानेकेलिए दधीचि और शिविके समान अपना शरीर भी देता हूं, वह वास्तवमें देना कठिन है।।२३।।

आभासार्थ : कपटरूपसे आए हुए वामनको बलिने सर्वस्व दिया जिससे उसकी सर्वत्र प्रशंसा हो रही है इस प्रशंसाको मनमें लाकर उसका 'बलेर्नु' श्लोकमें निरूपण करते हैं;

बलेर्नु श्रूयते कीर्तिर्विवितता दिक्ष्वकल्मषा।
ऐश्वर्याद् भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना।।२४।।

श्लोकार्थ : विष्णुसे(ब्राह्मण मिषसे) ऐश्वर्यसे भ्रष्ट किये गए बलिराजा की भी निष्कलंक कीर्ति चारों दिशाओंमें व्याप्त हो गई है, यों सुननेमें आता है।।२४।।

व्याख्यार्थ : दैत्यांश होनेसे दैत्यका कार्य ही हृदयमें आता है. दिक्षु वितता' उस बलि दैत्यकी निष्कलंक शुद्ध भाववाली कीर्ति सर्वत्र फैली हुई है, यों कहनेका इसका आशय यह है कि मेरी भी वैसी कीर्ति हो, आत्माका दान करनेकी अभिलाषा कर, कहता है, कि बलिने ऐश्वर्य भ्रष्ट होकर भी सर्वस्व दान दे दिया, देनेका संकल्प तो भ्रंश(बन्धनरूप होने)से प्रथम ही हुआ था और त्रैलोक्य देनेका स्वीकार वहां भी इस प्रकार विष्णु ब्राह्मणरूपसे ही पधारे थे. इससे मेरी और उसकी तुल्यता(समानता) है, अतः उसके धर्मोंका यह अनुवाद है।।२४।।

आभासार्थ : इसलिए ही जानकर दान 'श्रियं' श्लोकसे अनुवाद करता है:

श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे।
जानन्नपि महीं प्रादाद् वार्यमाणोऽपि दैत्यराट् ।।२५।।

श्लोकार्थ : इन्द्रकेलिए बलिकी लक्ष्मी ले लेनेकी इच्छावाले ब्राह्मणरूप

विष्णुको गुरु शुक्राचार्यके रोकने पर भी दैत्यराज बलिने पृथ्वी दे दी।।२५।।

व्याख्यार्थ : श्लोकमें 'जिहीर्षतेन्द्रस्य' वाक्यमें जो सन्धि है वह आर्ष प्रयोग है 'जिहीर्षते' यह पद विष्णवेका विशेषण है चतुर्थी विभक्तिमें है. अतः व्याकरणानुसार यों सन्धि हो नहीं सकती है, इन्द्रकेलिए राज्य श्रीको हरणकी इच्छावाले विष्णुको, जानता था तो भी दान दिया, गुरु शुक्राचार्यने रोका, तो भी दिया. यों कहनेका जरासन्धका यह आशय था कि यदि मुझे भी कोई रोकेगा तो भी मैं दूंगा क्योंकि बलि दैत्योंका राजा था, राजाका धर्म प्रजाको भी पालना चाहिए यह निश्चय है।।२५।।

आभासार्थ : बलिने केवल वाक्यसे वैसा निश्चय नहीं किया था, किन्तु वह पहले ही प्रतिज्ञा कर चुका था, तुमको तो ऐसे कपट वेशधारियोंको दान देनेसे बलिका नाश हुआ है यह जानकर और तुमने बलिवत् प्रतिज्ञा भी नहीं की है, अतः क्यों नहीं दानसे निवृत्त हो जाओ अर्थात् दान न दो ऐसी शंकाका निवारण 'जीवता' श्लोकसे करता है:

जीवताऽब्राह्मणार्थाय कोन्वर्थः क्षत्रबन्धुना।
देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः ।।२६।।

श्लोकार्थ : क्षत्रिय होकर इस जीवनसे ब्राह्मणके कार्यको सिद्ध कर महती कीर्ति उपार्जन न करे तो फिर इस नाशवान् शरीर धारणका क्या प्रयोजन है? ।।२६।।

व्याख्यार्थ : यदि यह क्षत्रिय शरीर, ब्राह्मणके काम न आवे अथवा किसी दूसरेके काममें भी न आवे तो उस क्षत्रियके जीते रहनेसे क्या लाभ? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं है इसी तरह जीवनको विफलता दिखाकर अब देहकी व्यर्थता कहता है. जो देह गिरनेवाली है, जो बढती है वह घटती भी है इसलिए वैसी नाश होनेवाली अनित्य देहसे यदि विपुल यश सम्पादन न किया, अर्थात् ब्राह्मणकेलिए प्राण देनेसे स्वाभाविक यानि अवश्य ही यशका संचय होगा यह उपदेश उन्होंने ही दिया है और बलिके धर्म भी स्मरण करवाये हैं।।२६।।

आभासार्थ : वैसे तीन श्लोकोंसे 'दूंगा' यह निश्चयकर 'इत्युदार' श्लोकसे प्रतिज्ञा की है:

इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान्।
हे विप्रा! व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः ।।२७।।

श्लोकार्थ : उदार बुद्धिवाला जरासन्ध कृष्ण, अर्जुन और भीमको इस प्रकार कहने लगा–हे भूदेवों ! आप प्रसन्नतासे जो चाहिए, वह मांगे, मैं अपना सिर भी आपको देनेकेलिए तैयार हूं।।२७।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार अन्तःकरणमें बलिके धर्मके प्रवेशसे जरासन्ध भी वैसा ही उदार मतिवाला हो गया, जिससे प्रत्येकको कहने लगा कि जो कुछ चाहिए वह मांग लो, दानकी सिद्धि हो इसलिए उनका ब्राह्मणपन स्थापित करता हुआ कहता है कि 'हे विप्राः'(ब्राह्मणों)! आप अपनी इच्छानुसार मांग लो, कदाचित् ये मेरे साथ युद्ध करनेमें अशक्त हैं, इसलिए यदि मेरा शिर मांगोगे तो वह भी आप ब्राह्मणोंको दे दूंगा।।२७।।

आभासार्थ : सत्य प्रतिज्ञाकी इस प्रकार सत्य प्रतिज्ञा सुनकर क्या करना चाहिए इस विचारमें मूढ हुए भीमार्जुनको देखकर भगवान् कापट्यको दूर कर 'युद्धं नो' श्लोकमें सत्य कहने लगे:

श्रीभगवानुवाच

युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे।
युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्नकाङ्क्षिणः ।।२८।।

श्लोकार्थ : श्रीभगवान्ने कहा हे राजेन्द्र ! यदि हम जो चाहते हैं, वह देना स्वीकार करते हो तो, हमको द्वन्द्व युद्ध दो, हम युद्धकेलिए यहां आए हैं, हम क्षत्रिय हैं, अतः अन्न नहीं चाहते हैं।।२८।।

व्याख्यार्थ : युद्धकेलिए मांग करनेसे क्षत्रियका अपमान नहीं होता. 'राजेन्द्र!' इस प्रकारके सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि साधारण क्षत्रियको राजेन्द्रके साथ बलसे युद्ध करनेकेलिए आना उचित नहीं है इस कारणसे युद्धकेलिए प्रार्थना करना सर्व प्रकारसे योग्य है, यह भाव है, उसमें भी विशेष प्रकारके युद्धकी प्रार्थना करनेकेलिए ही आए हैं. वह प्रकार बताते हैं कि 'द्वन्द्वशः' एक–एकसे आमने सामने लड़ें अतः आप एक हैं हम तीनोंमेंसे किसी एकको आप चुन लो, यह भी किसी छलद्वारा अंगीकार नहीं करवाता हूं, किन्तु यदि कैसे भी द्वन्द्व युद्धमें श्रद्धा हो तो स्वीकार कीजिए यह मन्तव्य किसी भी आग्रहसे स्वीकार नहीं करना, हमको तो युद्धके स्वीकार करने पर जय वा पराजयका निर्णय युद्धके बाद होगा, यदि स्वीकार न करोगे तो पहले ही, यों है अतः हमारेलिए दोनों ही समीचीन हैं. अपने अत्यन्त उत्कर्षके प्रसिद्ध करनेवाले वचन हैं और विशेष

जगत्में द्वन्द्व युद्ध करनेकेलिए कोई भी समर्थ नहीं है इसलिए युद्धको चाहनेवाले हम आपके पास आए हैं. देव, दैत्य और राक्षसोंमेंसे आप कोई हैं, इस भयसे यदि युद्ध देना अंगीकार न करो तो इस भयका निवारण करते हैं कि हम क्षत्रिय हैं यदि क्षत्रिय हो, तो ब्राह्मण वेश क्यों धारण किया है जिसके उत्तरमें, हमने वेश धारण इसलिए नहीं किया है कि हमको भोजन दो, ब्राह्मण भोजनप्रिय होते हैं, हम भोजन चाहनेवाले ब्राह्मण नहीं हैं. अन्नकेलिए ब्राह्मण वेश धारण नहीं किया है, हमने इस विचारसे ब्राह्मण वेश धारण किया है कि महान् क्षत्रिय, छोटेसे युद्ध नहीं करता है, ब्राह्मणसे तो उसकी इच्छा पूर्ण करनेकेलिए छोटेसे भी करता है इसलिए ब्राह्मण वेश धारण किया है।।२८।।

आभासार्थ : जैसे आपका रूप सत्य नहीं है, वैसे वाणी भी सत्य न होगी, इस शंकाको मिटानेकेलिए अपने क्षत्रियपनकी सिद्धि करते हुए 'असौ वृकोदरः' श्लोकमें अपने नाम प्रकट कर बताते हैं;

असौ वृकोदरः पार्थः तस्य भ्रातार्जुनो ह्ययम् ।।
अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ।।२९।।

श्लोकार्थ : यह भीमसेन है और दूसरा पृथाका पुत्र इसका भ्राता अर्जुन है, इन दोनोंके मामेका पुत्र तेरा शत्रु मैं कृष्ण हूँ, यों समझ ले।।२९।।

व्याख्यार्थ : 'वृक' पदका अर्थ है दश प्रकारके प्राण, वे जिसके उदरमें हैं वैसा यह वृकोदर है यों कहनेसे उसकी महती शक्तिका सूचन किया है जिसको 'पार्थ' भी कहते हैं, यह नाम अपने सम्बन्ध प्रकट दिखानेकेलिए कहा है अथवा कपटसे आनेकेलिए कहा है अप्रयोजकपनकेलिए नहीं, उसका ही भ्राता अर्जुन दूसरा भी पार्थ है. 'हि' पदसे बताया है कि यह अर्थ उचित है, कारण कि दोनोंकी आकृति समान है इनका मातृ नामसे परिचय जिस कारणसे दिया वह प्रकट करते हैं कि इन दोनोंके मामेका पुत्र कृष्ण मुझे समझ लो, जब आप ऐसे प्रसिद्ध हैं तो वेशान्तर धारण कर क्यों आए? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'ते रिपुं' तुम्हारे शत्रु हैं शत्रुके स्थान पर कार्य पूर्ण हो तब तक वेशान्तरसे ही रहना चाहिए यह नीति है।।२९।।

आभासार्थ : भगवान्ने जब ये पार्थ नामसे प्रसिद्धि की तब जरासन्धके हृदयसे अतिथि श्रद्धा निकल गई. ये तो लड़केसे आए हैं इसलिए उन्होमें तिरस्कार जैसा भाव उद्भूत हुआ, इस कारणसे इनका आना आश्चर्य जैसा माना,

जिसमें पहिले उसको हंसी आई जिसका वर्णन 'एवमावेदितो' श्लोकमें करते हैं:

एवम् आवेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः ।
आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ।।३०।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार जब इसको अपने स्वरूपका ज्ञान कराया, तब राजा मागध जोरसे हंसने लगा और क्रोधित हो कहने लगा कि हे मूर्खों ! यदि आप द्वन्द्व युद्ध ही मांगते हो तो तुमको वही देता हूं।।३०।।

व्याख्यार्थ : आवेदनका तात्पर्य है अपना स्वरूप प्रकट कर देना, स्वरूप प्रकट जानकर 'राजा' राज्यके कारण मदमत्त होनेसे जोरसे हंसने लगा इसलिए कि ये अचानक शत्रुके गृहमें कैसे आ गए? देव गतिसे आए हैं. भगवान्का दर्शनकर वस्तुमें ऐसी सामर्थ्य होते हुए भी भक्ति क्यों न उत्पन्न हुई? कैसे तिरस्कार जगा? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि वह राजा तो था किन्तु साथमें मगध देशमें उत्पन्न होनेसे मागध भी था अतः देश दोषसे सुबुद्धि न आई. उसके न आनेसे उपेक्षा होना ही योग्य है इस शंकाके होने पर कहते हैं कि भगवान्का अतिक्रम सुनकर क्रोधपूर्ण हो गया पश्चात् विचारकर कहने लगा कि इनको मारूंगा और अपनी प्रतिज्ञाका भी स्मरण किया, जिससे यों निश्चय किया कि ये युद्धकी भिक्षा मांग रहे हैं और मेरी प्रतिज्ञा है कि ब्राह्मण जो मांगे वह देना ही अतः दोनों प्रकार मारना ही सम्भव होता है इससे क्या प्रतिज्ञा छोड़नी? नहीं, जरासन्धने समझा कि हमारा कार्य दोनों प्रकार उचित है और उनका ही दोनों प्रकार अनुचित है, यह जाननेकेलिए उनको 'मन्दाः' यह सम्बोधन दिया है, वे भले ही मूर्ख हों अपनी प्रतिज्ञा तो पूर्ण करूंगा ही, इस आशयसे कहता है कि 'युद्धं तर्हि ददामि' आप तीनोंको द्वन्द्व युद्ध देता हूं अर्थात् एक तरफ भले तुम तीनों हो जाओ दूसरी तरफ मैं एक ही रहूंगा यों सूचित किया।।३०।।

आभासार्थ : तो भी यदि द्वन्द्वमें आग्रह है तो इस पर जो कहना है वह 'न त्वया' श्लोकमें कहता हैं:

न त्वयाऽभीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवचेतसा ।
मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ।।३१।।

श्लोकार्थ : जरासन्धने भगवान्को कहा कि लड़ाईमें अस्थिर चित्तवाले डरपोक तुझसे मैं नहीं लडूंगा, तू ऐसा डरपोक है, जो तुमने अपनी पुरी मथुराका त्यागकर समुद्रकी शरण ली है।।३१।।

व्याख्यार्थ : तुम डरपोक[१] हो इसलिए तुमसे नहीं लडूंगा, यदि मैं डरपोक होता तो यहां कैसे आता? जिसका उत्तर देता है कि लड़ाईमें तुम स्थिर चित्तवाले नहीं हो, यदि युद्धमें चित्त स्थिर हो तो क्षत्रिय कभी जहां लड़ाई होनेकी भूमि है उस भूमिका त्यागकर वैसी भूमि पर क्षत्रिय कभी नहीं जाते हैं जहां लड़ाई न हो सके, आपने यों किया है जैसे अपनी मथुरा पुरीका त्यागकर जैसे कोई किलेका आश्रय ले वैसे समुद्रके मध्यमें स्थिति की है, जो स्थान युद्धके योग्य नहीं है, नीति शास्त्र तो यों कहता है कि 'आपत्स्वपि स्वदेशो न त्याज्यः' आपदाओंमें भी अपना देश नहीं छोड़ना चाहिए।।३१।।

१. वास्तवमें 'अभीरुण' पद होनेसे अर्थ 'बहादुर'.

आभासार्थ : अर्जुनसे भी लड़ाई करनेका 'अयं तु' श्लोकमें निराकरण करता है:

अयं तु वयसाऽतुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः।
अर्जुनो न भवेद्योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ।।३२।।

श्लोकार्थ : यह अर्जुन छोटा है और महाबली नहीं है तथा मेरे समान नहीं है, इसलिए अर्जुन योद्धा, मुझसे लड़ाई करनेवाला नहीं हो सकता है, किन्तु भीम समान बल होनेसे मुझसे लड़ सकता है।।३२।।

व्याख्यार्थ : यह अर्जुन तो योद्धा बन सकता है, किन्तु आयुमें छोटा है बलका कारण वय भी होता है, यदि यों है तो भीम भी आयुमें आपके बराबर नहीं है. भीम और अर्जुनका केवल तीन वर्षका ही अन्तर है, जिसके उत्तरमें कहता है कि अर्जुन विशेष बलवान् भी नहीं है और न मेरे समान है, क्योंकि जैसे लग्नमें जन्म होता है तद्नुसार बल होता है वह बल भीम, बलभद्र, मद्र आदि राजाओंमें है इस कारण ही यह अर्जुन मेरे समान नहीं है अतः मुझसे द्वन्द्व युद्ध कर नहीं सकता, दिव्य बल तो ब्रह्मण्यत्वके कारण मुझमें विशेष है. भीमके भी निराकरणमें दूसरा कोई कारण होगा जिसके उत्तरमें कहता है कि नहीं भीम तो मुझसे बलमें समान है उससे द्वन्द्व युद्ध करूंगा. वास्तवमें तो नरनारायणको त्यागकर काल कन्याके पुत्र होनेसे मुख्य प्राणको समान मानता है, वह भी दैत्य प्राणरूप है, यों 'जीव जीव' इस वाक्यसे मानता है।।३२।।

आभासार्थ : इनको तो सर्वत्र ही अनुमति है. भगवान्का बल तो कहीं भी चलाने योग्य है अर्थात् चलाया जा सकता है उनके अंगीकार करने पर

जरासन्धके कृत्यका वर्णन 'इत्युक्त्वा' श्लोकमें करते हैं:

इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम् ।
द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद्बहिः ।।३३।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार कहकर जरासन्धने भीमसेनको एक बड़ी गदा दी और दूसरी गदा स्वयं लेकर नगरसे बाहर निकले।।३३।।

व्याख्यार्थ : द्वन्द्व युद्ध शरीर बल प्रदर्शित करनेवाला है वह बल गदामें ही जोड़नेका है अर्थात् गदासे ही दिखलाया जा सकता है. बिना आयुधके युद्ध करना उचित नहीं है, इसलिए भीमको बड़ी गदा दी, उसके समान दूसरी गदा स्वयं जरासन्धने ली, स्वरूपसे और साधनसे फलरूप होकर अपने गृहमें अपना स्थान बल विशेष होता है, इस कारणसे अपने पुरका त्यागकर युद्धकेलिए बाहर निकला।।३३।।

आभासार्थ : 'ततः समे खले' श्लोकमें लौकिक युद्धका नमूना कहते हैं:

ततः समे खले वीरौ संयुक्तावितरेतरौ ।
जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ।।३४।।

श्लोकार्थ : फिर वे, रणमें मदोन्मत्त वीर, युद्धमें आकर आपसमें भिड़े और वज्रके समान गदाओंसे प्रहार करने लगे।।३४।।

व्याख्यार्थ : कोमल और समान भूमि पर द्वन्द्व युद्ध प्रारम्भ की, सेना आदिकी सहायता बिना आनेका कारण यह था कि 'वीरौ'(बहादुर) थे, परस्पर आपसमें भिड़ गए, इससे समारम्भमें बराबरी(समानता) निरूपण की है, 'वज्रकल्पाभ्यां' पदसे गदाका महात्म्य वर्णन किया है. 'रण दुर्मदौ' पदसे दोनोंका महात्म्य दिखाया है।।३४।।

मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च ।
चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः ।।३५।।

श्लोकार्थ : जैसे रंगभूमिमें नट खेलते हैं, उनकी तरह बांए और दाहिने विचित्र मण्डलोंमें फिरते इन दोनोंका युद्ध शोभा देने लगा।।३५।।

व्याख्यार्थ : गदा युद्धमें मण्डल कहे हैं, कभी एक बांऐ जाता है तो दूसरा दाहिने जाता है, 'एव' पदसे दोनोंका यों करना दिखाया है, 'च' पदसे कभी दोनोंका दोई कदाचित् हो जाते थे. यों फिरते रहनेसे युद्ध शोभा देने लगा, देखनेवालोंको वह युद्ध सुखदायी हुआ, इसलिए दृष्टान्त देते हैं नटोंकी तरह

युद्धका खेल खेलने लगा, यह सच्चा युद्ध नहीं किन्तु युद्धका आभास है अतः यह अनुकरण है इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि 'रङ्गिणोः' इन दोनोंमें रंग है इसलिए युद्धमें रसवाले हैं न कि आभास है, यह तात्पर्य है।।३५।।

आभासार्थ : लोगोंको अन्य प्रकार रसकी उपपत्ति न होनेसे यह आभास ही होगा, यह शंकाकर युद्ध करते हुए जो शब्द होने लगे उसका वर्णन 'ततश्चटचटा' श्लोकमें करते हैं:

ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसन्निभः।
गदयोः क्षिप्तयोरेष दन्तयोरिव दन्तिनोः ।।३६।।

श्लोकार्थ : जैसे हाथियोंके लड़ते हुए उनके दांतोंके शब्द होते हैं, वैसे ही आपसमें चलाई जाती हुई गदाओंका वज्रपातके समान चटचटा शब्द होता था।।३६।।

व्याख्यार्थ : एक दूसरे पर फेंकी हुई गदाओंके वज्रके गिरनेके समान चटचटा शब्द हो रहे थे, इन शब्दोंसे ऐसा बड़ा भय होता था वैसा उन सबको गदाकी चोटसे न होता था यह माहत्म्य है. गदाओंके परित्यागको शंकाके अभावकेलिए अथवा अपरित्यागकेलिए दृष्टान्त देते हैं जैसे हाथियोंके युद्धमें उनके दान्तोंका शब्द होता है तो भी वे लड़ना छोड़ते नहीं।।३६।।

आभासार्थ : यह प्रहार परस्पर गदाओंका ही होता था न कि देहोंका, इस शंकाको मिटानेकेलिए 'ते वै गदे' श्लोकमें प्रहारका वर्णन करते हैं:

ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने अन्योन्यतृास–कटि–पाद–करोरुजत्रून्।
चूर्णीबभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे संयुद्धयतोर्द्विरदयोरिव तीव्रमन्वोः ।।३७।।

श्लोकार्थ : उद्दीप्त क्रोधवाले हस्ती लडते हुए आक पर पड़ते हैं तो उनकी टहनियां जैसे टूट जाती हैं, वैसे ही भुजाओंके वेगसे चलाई हुई गदाएं जब एक–दूसरेके कन्धे, कमर, हाथ, पांव, जांघ(साथल) और हंसियों पर पड़ती थी, तब गदाएं चूर्ण हो जाती थीं।।३७।।

व्याख्यार्थ : गदाकी तुलनामें देह अत्यन्त कठिन थी इसलिए देहके स्पर्श होते ही गदाका नाश कहा जाता है. भुजाओंके वेगसे एक दूसरे पर गिराई हुई गदाएं कन्धे, कमर, पांव, हाथ, हांसल और हासिया इन छः अंगों पर पड़ती थी तब चूर्ण हो जाती थी, देह और गदाके तारतम्यको दिखानेकेलिए दृष्टान्त देते हैं कि हस्तियोंके पड़ने पर आककी टहनियां टूट जाती हैं किन्तु यहां गदाएं चूर्ण हो

गईं. जिससे सिद्ध होता है कि गदाओंसे देह कोमल थी और यहां आककी टहनियां कोमल हैं जो टूट गईं हैं. तब युद्ध नहीं हुआ होगा, इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि 'संयुद्ध्यतो' लड़ते हुए हस्तियोंके पड़नेसे, साधन अवयव ही हैं इसलिए दृष्टान्त है. 'द्विरदयोरिव' हस्तियोंकी तरह अवयव साधन कैसे हैं? प्रहार होने पर अपनेको भी व्यथा होनेका संभव होनेसे यों शंकाकर उत्तर देते हैं कि तीव्र(जबरदस्त) क्रोधसे पूर्ण थे इसलिए उनको चोटका भान नहीं रहता था।।३७।।

आभासार्थ : इस प्रकार गदायुद्ध पूर्णकर मुष्टियुद्धका वर्णन करते हैं:

इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःसदृशैरपिष्टाम् ।
शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासीन्निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ।।३८।।

श्लोकार्थ : इस तरह गदाओंके टूट जानेसे उन दोनों वीरोंने क्रोधमें आकर, लोहेके समान कठोर स्पर्शवाली मुक्कियोंसे आपसमें मुक्कं-मुक्का की, जिससे एक-दूसरेके अंगको चूर्ण करने लगे. हाथीके समान प्रहार करते हुए इन दोनों वीरोंके चपेट मारनेका शब्द वज्रपातके समान कठोर होता था।।३८।।

व्याख्यार्थ : उनकी गदाओंके चूर्ण हो जाने पर भी दोनों नरवीर क्रोध पूर्ण हो, लोहेके समान कठोर मुक्काओंसे चूर्ण न हुए. परस्परके शरीरको चूर्ण करने लगे, वहां पहलेकी भांति शब्द हुए यों कहते हैं. दोनों देहोंके शब्द हस्तियोंके समान गर्जनारूप होने लगा, कोई कहते हैं कि वीर रसके कारण उन दोनोंके वाणीका शब्द वैसा होने लगा, वहां दूसरे प्रकारका भी शब्द हुआ, बिना बादल होते हुए गिरि हुई बिजलीके पातके समान जो वज्र होता है उससे भी जो कठोर थप्पड़ है उससे निकला हुआ शब्द जोरसे होने लगा, यों कहनेसे महान् प्रहारका निरूपण किया।।३८।।

आभासार्थ : 'तयोरेवं' इस श्लोकसे विषयका उपसंहार करते हैं;

तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः ।
निर्विशेषमभूद्युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ।।३९।।

श्लोकार्थ : हे नृप ! अभ्यास, बल और प्रभावसे समान बलवाले भीम और जरासन्धका बल, इतना लड़ते हुए भी कम नहीं हुआ, अतः दोनोंमें विशेष समान युद्ध होने लगा।।३९।।

व्याख्यार्थ : भीम और जरासन्धकी समानतामें हेतु कहते हैं, शिक्षा, बल

और ओज दोनोंका एक जैसा है, युद्धमें पराक्रम, बल और शिक्षा कारण है, वे बराबर होनेसे विशेषताका अभाव है, आवृत्तिसे दूसरेके बलका क्षय होनेसे युद्धमें कोई प्रबल हो जाएगा, इस शंकाको मिटानेकेलिए कहता है कि 'अक्षीण जवयो' आवृत्ति होते हुए भी किसीका बल क्षीण नहीं हुआ. 'नृप!' यह संबोधन विश्वास उत्पन्न करनेकेलिए कहा है. आवृत्तिसे जरासन्धका बल कम होगा, यों विचारकर आवृति की, किन्तु बल क्षीण नहीं हुआ, क्योंकि यह जराका निर्माण किया हुआ है अतः जरा सब ठोरसे बल लाकर इसको देती है. इसलिए कभी भी इसका बल नाश होनेका नहीं है, आसन्य प्राणरूप होनेसे भीमका भी बल क्षय नहीं होता है।।३९।।

आभासार्थ : इस प्रकार तुल्य बल होनेसे कार्यकी सिद्धि न होगी इसलिए भगवान्ने भीमको अधिक बलवाला किया यह कहते हैं:

शत्रोर्जन्मकृती विद्वान् जीवितं च जराकृतम्।
पार्थमाप्याययत्स्वेन तेजसाचिन्तयद् हरिः ।।४०।।

श्लोकार्थ: भगवान् शत्रुके जन्ममरणको जानते हैं, इसके दो भागोंको जरा नामकी राक्षसीने जोड़ा है, यह राक्षसी जरासन्धको बल देती रहती है, यह विचारकर भगवान्ने अपना तेज भीममें स्थापनकर उसके वधका उपाय सोचने लगे।।४०।।

व्याख्यार्थ : हमारे शत्रु, जरासन्धका दो टुकड़े हुए सिद्ध फलसे जन्म हुआ है, इन दो टुकड़ोंका अक्षयपन और जीवन जरा राक्षसीके किए हुए जोडानसे ही हुआ है. दोनों टुकड़ोंका स्वरूपसे नाश होनेका नहीं है, अतः उन टुकड़ोंके पृथक् होनेसे ही इसकी मृत्यु होगी, वह पृथक्पन अतिशय बलसे ही होगा, इसलिए भीमको अपने तेजसे युक्त किया यर्थात् अपनी काल शक्ति उसमें स्थापित की. काल कन्याकी अपेक्षा काल शक्ति अधिक बलवती है उससे उसके वधका उपाय सोचने लगे क्योंकि सत्पुरुषोंके दुःखके हरण करनेवाले हैं।।४०।।

संचिन्त्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः।
दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ।।४१।।

श्लोकार्थ : अमोघ ज्ञानवाले हरिने शत्रुके वधका उपाय विचारकर एक टहनीको चीरते हुए, उस संकेतसे भीमको जरासन्धके मारनेका उपाय बता दिया।।४१।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् भगवान्ने जरासन्धको मारनेका उपाय दो टुकड़े करना ही है वह संकेतसे भीमको दिखाया, भगवान्का निश्चित किया हुआ

विचार अन्यथा नहीं होता है, क्योंकि भगवान् अमोघ दर्शन हैं, वह प्रकार भीमको समझानेकेलिए विशेष प्रकारसे दिखाया. स्वयं भगवान् भीमके सामने होकर वृक्षकी शाखामेंसे किसी टहनीको लेकर उसको मध्यसे चीर डाला, इस संकेतसे भीमको सूचित किया कि जरासन्ध इस प्रकार मध्यमेंसे चीरनेसे मरेगा अतः उसके भी बीचसे दो टुकड़े कर डालो तो मरेगा।।४१।।

तद् विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः।
गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले ।।४२।।

श्लोकार्थ : प्रहार करनेवालोमें श्रेष्ठ महा बलवान् भीमसेनने उस उपायको समझकर बैरीके पांवोंको पकड़ कर पृथ्वी पर गिरा दिया।।४२।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार भगवान्की कृपासे ज्ञान क्रिया शक्तिसे युक्त, प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ मल्ल युद्धके मिषसे उसको पृथ्वी पर गिराया जैसे पहले यह शंका पैदा नहीं होती है इस प्रकार मारना उचित नहीं है, इस प्रकारकी शंकाका उत्तर देते हैं कि 'शत्रु' है, इसलिए यों मारनेमें कोई दोष नहीं है. शत्रुको जिस किसी तरह भी हो मारना चाहिए, दोनों पांवोंको पकड़ कर गिरानेमें विकलता तो हुई है।।४२।।

आभासार्थ : पश्चात् 'एकं पादं' श्लोकमें मारनेका प्रकार बताते हैं:

एकं पादं पदाक्रम्य दोर्भ्याम् अन्यं प्रगृह्य सः।
गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः ।।४३।।

श्लोकार्थ : एक पांवको पांवसे दबाकर दूसरा पांव हाथोंसे पकड़कर जैसे गजराज वृक्षकी शाखाको चीर डालता है ऐसे जरासन्धको, गुदासे लेकर ऊपर तक बराबर चीरकर दो टुकड़े कर डाले।।४३।।

व्याख्यार्थ : पांव तो जुड़े हुए नहीं हैं अतः गुदासे चीर डाला, पहले तो उसमें ब्राह्मण बुद्धि उत्पन्न हुई, इसलिए कालशक्तिने इसको अपनी तरफ खींच लिया जिससे इसने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया यों जतानेकेलिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे गजराज बिना प्रयत्नके लीला करते ही वृक्षकी शाखाको तोड़ देता है वैसे ही कालशक्तिने भी इसके दो टुकड़े कर डाले।।४३।।

आभासार्थ : उसका वध सर्वजनीन हुआ यह कहते हैं:

एकपादोरुवृषणकटिपृष्ठस्तनांसके।
एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशः प्रजाः ।।४४।।

श्लोकार्थ : प्रजाने उसके दो खण्ड समान देखे, जैसे प्रत्येकमें एक पांव, एक उरु, एक वृषण, एक कटि, एक पृष्ठ, एक स्तन, एक कन्धा, शिर, एक हाथ, एक आंख, एक भौंह और एक कान देखा।।४४।।

व्याख्यार्थ : गुदासे चीरनेके कारण पांव ऊपर आ गया था इसलिए कहा है कि यह पाद है आदि जिसके ऐसे आठ अंग पाद, उरु, वृषण, कटि, पीठ, स्तन, कन्धा और कं(शिर). जो दो-दो थे वे पृथक् हो गए, सर्व द्वादश अंगोंमें आठ ऊपर कहे. शेष चार कहते हैं कि बाहु, आंख, भौंह, और कान, दोनों टुकड़ोंमें यों एक-एक १२ अंगोंको प्रजाने देखा।।४४।।

आभासार्थ : मरणानन्तर जो कुछ हुआ वह कहते हैं;

हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वरे।
पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्युतौ ।। ४५।।

श्लोकार्थ : जरासन्धके मरने पर बड़ा हाहाकार हुआ और अर्जुन तथा श्रीकृष्णचन्द्रने आलिंगन कर भीमसेनका सत्कार किया।।४५।।

व्याख्यार्थ : मगधेश्वरके मरनेके बाद सर्वने ऐसा महान् हाहाकार किया जो जहां बंधे हुए राजा थे उन्होंको भी सुननेमें आया, भगवान्ने ही वैसा सम्पादन करवाया कि मगधेश्वरके मर जानेके बाद यों महान् हाहाकार होवे तो बंधनमें पड़े हुए राजा सुनकर प्रसन्न होवें और समझें कि हम अब बन्धनसे छूटेंगे, पश्चात् भगवान्ने भीममें जो तेज स्थापित किया था वह ग्रहण करनेकेलिए आलिंगन और प्रशंसा की. अर्जुनने भी आलिंगनादि किया, क्योंकि भगवदंश है इसलिए श्लोकमें 'जयाच्युतौ' जय अर्जुन और अच्युत कृष्ण दोनोंके नाम दिए हैं. स्तुतिसे प्रसन्नता होती है जिससे तेज चला जाता है दोनोंने इसलिए आलिंगन किया कि हम दोनोंके गुण इस(भीम)में नहीं जावें इसलिए 'तथा' पद दिया है।।४५।।

सहदेवं तत्तनयं भगवान् भूतभावनः।
अभ्यषिञ्चद् अमेयात्मा मगधानां पतिं विभुः ।।
मोचयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये ।।४६।।

श्लोकार्थ : अप्रमेय स्वरूप, भूत भावन भगवान्ने उसके पुत्र सहदेवको मगधके राज्यासन पर अभिषेक कर इसको मगधका राजा बनाया और जरासन्धने जिन राजाओंको कैद किया था उन्हें कैदसे छुड़ा दिया।।४६।।

व्याख्यार्थ : बिना राजाके राज्यमें स्थिति उचित नहीं है और उस देशमें

दूसरे देशका राजा राज्य पर बिठाना अयोग्य है अतः उसका पुत्र ही अनुकूल है, इसलिए उसके पुत्र सहदेवको वहांके रहवासी प्रजाकी सहानुभूतिकेलिए राज्याभिषेक किया अर्थात् राजसिंहासन पर बिठाकर उसको वहांका राजा बनाया क्योंकि भगवान्को सर्व समान है. शत्रुको मारकर उसका राज्य अपनेको ग्रहण करना चाहिए था उसके पुत्रको कैसे दिया? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा है कि भगवान् 'अमेयात्मा' हैं अर्थात् भगवान् यह कार्य कर हित कर रहे हैं वा अहित कर रहे हैं इसको कोई नहीं समझ सकता है. मगधोंका स्वभावसे भी भगवान् ही पति है ही यदि जरासन्ध उनके विरुद्ध हुआ तो भगवान्को किसी प्रकार क्षति नहीं हुई यह जतानेकेलिए कहते हैं कि 'विभु' सर्व समर्थ हैं, भगवान्ने जिस कार्यकेलिए यह लीला की है, वह कार्य कहते हैं कि 'मोचयामास' छुडायें, जिस निमित्त वे कैदमें रखे गए उस निमित्त(कार्य)के पूर्ण हुए बिना क्यों छुड़ाया? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'मागधेन संरुद्धा' मागधने इनको कैदमें रखा था मागध ही मर गया तो उनके कैदमें रखनेका हेतु आप ही समाप्त हो गया।।४६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण, अध्याय ६९ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ७०

जरासन्धके बन्दीगृहसे छूटे हुए राजाओंकी विदाई और भगवान्‌का इन्द्रप्रस्थ लौट आना

चतुर्विंशे विमुक्तानां ज्ञानेनाज्ञानमोचनम्।
विषयात्मसमृद्धिं च प्राह कृष्ण इतीर्यते ।।का.१।।

कारिकार्थ : उत्तरार्धके इस २४वें अध्यायमें जरासन्धको नाश कराके राजा जो कैदसे छुड़ाये हैं उनको कृष्णने ज्ञान देकर उनका अज्ञान नष्ट किया यह कथा कही जाएगी।।१।।

स्वधर्मश्चेद् न पुष्टाः स्युर्निरोधस्तर्ह्यनर्थकः।
अतः स्वासक्तिसिद्ध्यर्थं ज्ञान–राज्ये ददौ हरिः ।।का.२।।

कारिकार्थ : उनको ऐसा उपदेश दिया है कि अयत्न सिद्ध विषयोंसे समृद्धि बढानी, यदि ये राजा अपने धर्मसे पुष्ट न होवें तो इनका निरोध निरर्थक हो जावे, अतः भगवान्‌ने इनका निरोध सार्थक करनेकेलिए इनको राज्य दिया, राज्य मदसे भगवान्‌को भूल न जावें तदर्थ हरिने ज्ञान भी दिया।।२।।

कारिकार्थ पूर्ण.

आभासार्थ : पूर्व अध्यायके अंतमें यह कहा कि जरासन्धके बंधनमें पड़े हुए राजाओंको बंधनसे छुड़ाया, छुड़ाये हुए उन राजाओंकी भक्तिकी अधिकतासे पूर्वकी भांति स्थिति निरूपण की जाती है, उसमें प्रथम निरोध स्थानसे निकलना 'अयुते द्वे' श्लोकमें कहते हैं:

श्रीशुक उवाच
अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः।
ते निर्गता गिरिद्रोण्या मलिना मलवाससः ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि, बीस हजार आठ सौ राजा जिनको लीलामात्रसे युद्धमें जीतकर, जरासन्धने कैद किया था, वे मलीन वस्त्र और रूपवाले पर्वतकी घाटीसे बाहर निकल आए।।१।।

एकविंशतिसाहस्रे वधस्तेषां हि संमतः।
ततः शतद्वयन्यूनास्तेन पूर्वं न मारिताः ।।का.१।।

कारिकार्थ : जरासन्धकी इच्छा थी कि इक्कीस हजार राजा जब बंदी

बनेंगे तब उनका वधकर प्रमथनाथको बलि दूंगा, किन्तु दो सौ कम थे इसलिए इनका वध नहीं किया।।१।।

व्याख्यार्थ : यह जतानेकेलिए संख्या बताते हैं कि, बीस हजार आठ सौ. भगवान्को यशोदाने जब उलूखलमें बांधना चाहा तो वह रज्जु दो अंगुल न्यून रही जिससे भगवान् बन्धनमें न आ सके, उसी तरह यहां भी दो सौ राजा कम हुए. इसमें बीस हजार राजाओंकी एकत्र स्थिति कैसे हुई? यों होनेका कारण कहते हैं कि 'युद्धि निर्जिता' युद्धमें जरासन्ध जीत कर लाया था. पर्वतकी घाटीसे जब बाहर आए तब मलीन देहवाले थे और कपड़े भी मैले पहने थे इससे उनकी बाहर आनेके समय बाहरकी हालत खराब थी।।१।।

आभासार्थ : भीतरकी स्थितिका निरूपण करते हैं:

क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः।
ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।।२।।

श्लोकार्थ : भूखसे दुबले, शुष्क मुख और कैदमें रहनेसे बहुत कृश हो गए थे उन्होंने बाहर आके मेघसे श्याम, पीले कौशेय वस्त्र धारण किए हुए भगवान्का दर्शन किया।।२।।

व्याख्यार्थ : रोगी नहीं थे तो भी कृश थे कारण कि उनको पूरा भोजन नहीं मिला था जिससे भूखसे दुबले हो गए थे, अन्तःकरणमें सन्तोष न होनेसे सबके मुख मुरझाके सूख गए थे, कैदमें बन्द रहनेसे सब इन्द्रियोंमें क्लेश होनेसे कृश हो गये थे, इस प्रकार बाहर और भीतर महान् आपदामें फंसे हुए उन राजाओंने उसी क्षण ही आपदाओंसे निवृत्तिकेलिए भगवान्के दर्शन किए, द्वादश लक्षण युक्त भगवान्ने जैसे स्वरूपसे उनको दर्शन दिये वैसे स्वरूपका वर्णन करते हैं. भगवान्ने द्वादश धर्म इसलिए प्रगट किये थे जो मनकी १२ वृत्तियां हैं वे सब दुःखी थीं उनके दुःखोंको छुड़ाना था उसमें शुष्कोंको स्निग्ध करनेकेलिए मेघकी तरह श्याम धर्म धारण किया. श्याम मेघ ही स्निग्ध करता है. इससे देहका क्लेश निवृत्त किया, वाणीके क्लेशको मिटानेकेलिए पीले कौशेय वस्त्र धारण किये हैं, पीले वस्त्र वेदरूप हैं उसमें भी अपने कर्मसे बद्ध जीव कोशके नाशसे उत्पन्न हुआ है यह श्रुति(वेद) निवृत्तिका बोध करानेवाली है, इससे ज्ञान सहित वाणी प्रकट होती है, यह सूचन किया।।२।।

पद्महस्तं गदाशङ्ख–रथाङ्गैरुपलक्षितम्।

किरीटहारकटक–कटिसूत्राङ्गदाचितम् ।।३।।

श्लोकार्थ : एक श्रीहस्तमें कमल धारण किया है, गदा, शंख और चक्रसे शेष तीन श्रीहस्त सुशोभित हैं, किरीट, हार, कडा, कंदोड़ा तथा बाजूबन्द आदि आभूषणोंसे विभूषित।।३।।

व्याख्यार्थ: श्रीहस्तमें कमल इसलिए धारण किया है कि जल एवं औषधियोंका यह कमल रसरूप है अतः इसके धारणसे वस्त्रोंके पहिननेका क्लेश नाश हो गया है, पश्चात् तीन प्रकारके अहंकारकी निवृत्तिकेलिए तीन आयुध शेष तीन हस्तोंमें धारण किए हैं, जिनसे स्त्री पुम् और नपुंसकरूप इन शस्त्रोंसे तीनों प्रकारके अहंकारका छेदन किया है, इतने ही ममताके विषय हैं, उपलक्षणत्वको तो एक बार ही निराकरण करनेसे फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता है, यह जताने केलिए किरीट आदि पांच प्रकारके आभूषणोंसे पूजित अर्थात् सुशोभित नेत्रोंके क्लेशका अभाव करनेकेलिए रूप नील, श्वेत, पीत, रक्त और चित्रित भेदसे पांच प्रकारका ही होता है अन्योंका इनमें ही अन्तर्भाव है।।३।।

आभासार्थ : 'श्रीवत्सांकं' श्लोकसे कहते हैं:

श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ।।४।।

श्लोकार्थ : श्रीवत्सके चिह्नवाले, चार भुजाधारी कमलके गर्भके समान नेत्रवाले सुन्दर और प्रसन्न मुखवाले झलकते कुण्डलवाले।।४।।

व्याख्यार्थ : श्रीवत्सके चिह्नसे भृगुके चरणके क्लेशकी निवृत्ति दिखाई. 'चतुर्बाहुं'का भावार्थ है कि हस्तोंके क्रियाको दुगुना किया है, कमलके गर्भके समान नेत्र कहनेसे बताया है कि मानसिक क्लेश नहीं है अथवा नासिकाओंके क्लेशका अभाव दिखाया है. सुन्दर प्रसन्न मुख होनेसे यह दिखाया है कि सर्व काम पूर्ण होनेसे काम क्लेशकी निवृत्ति हो गई है, मकराकृति कुण्डलोंकी चमकसे श्रोतोंके क्लेशका अभाव प्रकट किया है।।४।।

भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया ।
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ।।५।।

श्लोकार्थ : कौस्तुभमणि जिनके कण्ठमें देदीप्यमान हो रही है, वनमाला जिन्होंने धारण की है ऐसे भगवान्को, मानो नेत्रोंसे पीते हैं और जीभसे चाटते हैं।।५।।

व्याख्यार्थ : दीप्तिमान् मणि जिनके कण्ठमें है, जिससे बताया है, कि ज्ञान और क्रियाका मध्य भाग कण्ठ है, क्योंकि ज्ञान मस्तकमें रहता है और क्रिया शरीरमें, इन दोनोंको मिलानेवाली ग्रीवा है जो मध्यमें है, उस ग्रीवामें मणि अर्थात् चैत्य तत्त्व धारण किया है जिससे जीवके उत्क्रममें क्लेश न होगा. सारे शरीर पर वनमाला व्याप्त थी, वनमाला कीर्तिरूप है, जिससे त्वचाके स्पर्शके क्लेशका निवारण किया, ऐसे भगवान्का दर्शन कर समस्त इन्द्रियां रूप, रस, गन्धके स्पर्शकेलिए यों चाहने लगीं कि मैं पहले जाकर पान करूं–जिसका वर्णन करते हैं कि 'पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां' नेत्रोंसे ही लावण्यामृत पिया जाता है. दर्शन तो बाहर स्थित होकर किया जाता है. पान तो भीतर प्रवेशसे होता है, इतना विशेष है. दोनों नेत्रोंसे पीना लिखा है जिसका भावार्थ यह है कि जैसे दो हस्तोंसे भोजन बालक करते हैं तो आपने भी दो नेत्रोंसे पान कर बालभाव प्रकट किया है अथवा यों पीनेसे अत्यासक्ति दिखाई है. 'लिहन्त इव जिह्वया' लिख कर यह प्रगट किया है कि रसका ग्रहण कर रहे हैं जैसे गौका बछड़ा चाटता है वैसे ही भगवान्को देख उनमें वैसा भाव प्रकट हो गया, यह तात्पर्य है।।५।।

आभासार्थ : गन्धके अनुभावार्थ 'जिघ्रन्त इव' श्लोक कहते हैं:

जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः ।
प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्नृपाः ।।६।।

श्लोकार्थ : नासिकाओंसे मानो सूंघते हुए, भुजाओंसे मानो आलिंगन करते हुए राजाओंके सर्वपाप व कष्ट नष्ट हो गए. जिससे हे राजा! वे मस्तकोंसे चरणोंमें पकड़कर प्रणाम करने लगे।।६।।

व्याख्यार्थ : जैसे नेत्रोंसे लावण्यामृत पान किया वैसे नासिकाओंसे गन्धका ग्रहण किया, भुजाओंसे आलिंगनकर भगवान्के श्री अंगके अवयवगत जो आनन्द है उसको अनेक प्रकारके स्पर्श करते हुए ग्रहण किया अथवा आलिंगनसे सारूप्य दानका ग्रहण किया, यों लौकिक भावसे भगवान्के आत्मसात्से तृप्त हो गए अतः क्लेश नष्ट हो गया जिससे ज्ञानका उदय हुआ. उस ज्ञानसे भगवान्के ऐश्वर्यको जान गए. जिससे 'नमो नमः' यह इतना उपदेश सीख गए. यों शास्त्रके अनुसार दूसरा कर्तव्य न होनेसे स्नेह पूर्वक नमस्कार करने लगे, 'प्रणेयुः' पदमें 'प्र' शब्द स्नेह बोधक है. 'नमो नमः' यों वीप्सासे वह ही अभिप्रेत है, इनकी ऐसी बुद्धि कैसे हो गई? वे ऐसे ही थे यों तो माना नहीं जा सकता है

क्योंकि वे कैदमें थे, इस शंकाका निवारण करते हैं कि 'हतपाप्मानः' भगवान्के दर्शन और भोगसे तथा स्मरणसे तीन प्रकारके सब पाप नष्ट हो गये, उससे शुद्ध हुए अपने ज्ञानरूप आत्माको परब्रह्मके अक्षर स्वरूप चरणारविन्दमें मानो जोडते हुए, अंतर्यामी और अवतारके भेदसे दोनोंमें भी भीतर बाहर सायुज्यकेलिए चरणोंमें मस्तकोंसे प्रणाम करने लगे. 'नृपाः'! संबोधनसे बताया कि विचक्षण थे, इससे राज्य भोग अर्थका अभाव दिखाया है।।६।।

आभासार्थ : क्लेशके अभावकेलिए क्यों नमस्कार नहीं की? इस शंका निवारणकेलिए 'कृष्ण संदर्शनाह्लाद' श्लोक कहते हैं:

कृष्णसंदर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः।
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ।।७।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्के दर्शनसे उत्पन्न आनन्दसे जिनके कैद होनेके क्लेश नष्ट हो गये हैं, ऐसे राजा लोग हाथ जोड़कर वचनोंसे स्तुति करने लगे।।७।।

व्याख्यार्थ : राजाओंको जो भगवान्का दर्शन हुआ वह केवल साधारण बाहर दर्शन नहीं हुआ था, किन्तु सदानन्द स्वरूपके भीतर प्रवेश होनेसे जो दर्शन हुआ उससे आनन्द प्रगट हुआ. जिस आनन्दके प्रकट होनेसे जैसे सूर्योदयसे अन्धकार नाश होता है वैसे राजाओंके कैदके क्लेश नष्ट हो गए, इस प्रकार सर्वभावसे समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो गए, इस प्रकारकी स्थितिको दृढ़ करनेकेलिए, भगवत्प्रेरणासे ही भगवान्के सन्तोषार्थ भगवान्की स्तुति करने लगे. इसलिए कहा है कि 'प्रशशंसुः' भगवान्से प्रेरित की हुई वाणी जैसे सुखकी प्राप्ति हो वैसे भगवान्की स्तुति करती है. इसलिए उन राजाओंको कुछ भी चिन्ता नहीं, इसलिए समझाते हैं कि भगवान् इन्द्रियोंके स्वामी हैं अतः उनकी प्रेरित इन्द्रियां उनके सुखानुकूल ही कार्य करेंगी, 'प्राञ्जलयः' पदसे यह बताया है कि हाथ जोड़नेसे सावधान शरीरवाले हो गए, 'नृपाः' कहनेसे बताया है कि इनको नीतिका ज्ञान है. यदि 'नृपाः' संबोधन माना जाय तो भी जो किया है वह उचित ही है।।७।।

सगुणास्ते महात्मानो गुणातीतं हरि मुदा।
नवभिः श्लोकयामासुर्निर्गुणत्याय सर्वशः ।।का.१।।
प्रार्थना मत्सराभावो गतराज्यानुमोदनम्।
युक्तिस्तत्र स्वदोषोक्तिः स्वभाग्यस्याभिनन्दनम्।।का.२।।

वैराग्यमुपदेशस्य प्रार्थना स्वाधिकारिता।

क्रमान्निरूपिता ह्यर्था यतस्तान् सुष्ठुबोधयत्।।का.३।।

कारिकार्थ : वे राजा लोग सगुण हैं, अतः निर्गुण होनेकेलिए गुणातीत हरिकी नव श्लोकोंसे स्तुति करते हैं।।१।।

कारिकार्थ : पहले श्लोकमें प्रार्थना, दूसरे श्लोकमें मत्सरका अभाव, तीसरेमें गए हुए राज्यका अनुमोदन, चौथेमें युक्ति, पांचवेमें अपने दोषकी प्रसिद्धि, छठेमें अपने भाग्यका अभिनन्दन, सातवेमें उपदेशकी प्रार्थना, आठवेमें अपना अधिकारपन दिखाना, नवमसे भगवान्के उपदेशका प्रारंभ, उपदेशद्वारा उनको सुन्दर ज्ञान दिया।।२-३।।

आभासार्थ : पहले प्रार्थना करनेकेलिए प्रणाम करते हैं:

राजान ऊचुः

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय।

प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः।।८।।

श्लोकार्थ : राजाओंने कहा, हे देवोंके ईश! शरणागतोंके दुःखोंका हरण करनेवाले हे अविकारी! घोर संसारसे व्याकुल होकर आपकी शरण ली है, अतः हे कृष्ण! शरणागतोंकी रक्षा करो।।८।।

व्याख्यार्थ : आपको नमस्कार है आप देवोंके देव जो कालादि हैं उनके भी स्वामी हैं अतः हमारी प्रार्थनानुकूल दान देनेमें समर्थ हैं, सामर्थ्य होने पर भी दूसरोंके दुःखोंके नाशकी इच्छा है या नहीं? इस पर कहते हैं कि शरणागतोंकी आर्तिको आप हरनेवाले हैं, यह अर्थ अनुभवसे सिद्ध है, भक्तकेलिए कुछ भी करनेमें व्यावृत होने पर भी आप(भगवान्)की किसी प्रकार हानि नहीं है क्योंकि 'अव्यय' अर्थात् अविकारी हो. शरणागतोंके दुःखोंको हरण करना यह प्रभुका स्वभाव ही है यह कहकर अनन्तर कहते हैं कि हम शरण पड़े हैं अतः हम शरणागतोंकी रक्षा कीजिये. घोर जो जन्म मरणका दुःख है उससे हम व्याकुल हो गए हैं इस प्रकार इस प्रथम श्लोकमें प्रार्थना की है।।८।।

आभासार्थ : इस प्रकार पालनकी प्रार्थना की, भगवान्ने जो आपको छुड़ाया यह लौकिक फल मानते हो तो दुःख नाशकी तरह भगवान् सुख भी लौकिक ही देंगे, भगवान् यों कभी न करेंगे, क्योंकि उस दुःख दातामें असूया नहीं है यह 'नैनं नाथान्वसूयामो' श्लोकमें कहते हैं:

नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन।
अनुग्रहो यद् भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ।।९।।

श्लोकार्थ : हे नाथ! हे मधुसूदन! हम मगधसे असूया नहीं करते हैं, हे सर्व समर्थ! राजाओंका राज्यसे भ्रष्ट होनेको हम आपका अनुग्रह ही समझते हैं।।९।।

व्याख्यार्थ : राज्यसे गिराये तथा मारे हुए इस जरासन्धसे हम असूया नहीं करते हैं, आापकेलिए ही तो इसको हमने मारा है, फिर आप यों कैसे कहते हो? इसका उत्तर देते हैं कि, हे नाथ!, आप नाथ हैं, नाथ होनेसे ही किया है, न कि हमारी प्रेरणासे किया है, यह भाव है. यह जरासन्ध दुष्ट है इसलिए हम लोग, जो दोष रहित हैं, उनको असूयासे दोषी बनाया है, और विशेष यह है, कि इसको ऐसी बुद्धि देश दोषसे भी हुई है. इसको मारा इससे कोई आपका पराक्रम प्रकट नही होता है, क्योंकि आप तो मधुसूदन हैं. असूयाके न होनेमें हेतु देकर स्पष्ट करते हैं 'अनुग्रहो यद्भवतः' राजाओंको राज्यसे भ्रष्ट करना तो उन पर अनुग्रह है, जैसे सन्निपातके रोगियोंको सन्निपातसे छुड़ाना उन पर अनुग्रह है. अनुग्रह करनेवाला मात्सर्यके योग्य कभी नही होता है अर्थात् वह मात्सर्यवाला नहीं कहा जाता है, वह तो कृपालु है जो उसने रोगसे छुड़ाकर निरोग बनाया है, इष्टको सिद्ध करनेवाला राज्य जावे तो फिर इष्टकी प्राप्ति कैसे होगी? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि आप 'विभू' हैं अर्थात् सर्व समर्थ हैं अतः राज्य बिना सच्चा इष्ट सिद्ध करा सकते हैं।।९।।

आभासार्थ : 'राज्यैश्वर्य' श्लोकसे कहते हैं कि राज्य अनर्थका हेतु है:

राज्यैश्वर्यमदोनद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः।
त्वन्मायामोहितो नित्या मन्यते संपदोऽचलाः ।।१०।।

श्लोकार्थ : राज्यके ऐश्वर्यसे उत्पन्न मदसे उन्मत्त बना हुआ राजा अपने कल्याणको समझ नहीं सकता है और आपकी मायासे मोहित होकर सम्पदाओंको स्थिर एवं नित्य समझता है।।१०।।

व्याख्यार्थ : राज्य प्राप्त होने पर जो ऐश्वर्य मिलता है जिससे समझने लगता है कि मैं ईश्वर हूं, सब कुछ सुख पूर्वक करूंगा इस प्रकारका जो मद उससे मत्त हो जाता है जिससे अपना जो श्रेय प्रजा रक्षा धर्मादिक उसको नहीं जान सकता है, अथवा कभी भी श्रेयको प्राप्त नहीं होता है, उसकी वह कामदशा नहीं

है, किन्तु धर्मादिक उसमें नहीं है यों समझना चाहिए. क्योंकि राजाका धर्म है प्रजाकी रक्षा करना, वह भी अभिमानमें आकर नहीं करता है, कहनेका यही तात्पर्य है. अर्थ भी श्रेय होता है उसका सम्पादन करता है तो फिर इस प्रकार आप कैसे कहते हैं? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि आपकी मायासे मोहित हो सत्य सम्पदाएं जो श्रेय हैं यदि वे समूल हों जिसका मूल धर्मादि है उस धर्मादिके अभावमें वे श्रेयसम्पदाएं निर्मूल होनेसे क्षणमें नष्ट हो जाती हैं, ऐसी क्षणिक सम्पदाओंको भगवान्की मायासे मोहित नित्य तथा स्थिर मानता है. अल्पनाशको चलन कहते हैं, सर्वनाशको अनित्यता कहते हैं इस कारणसे मोह पैदा करनेवाली संपदाएं निर्मूल होनेसे अच्छी नहीं हैं।।१०।।

आभासार्थ : सम्पदाएं सर्वथा दुष्ट नहीं हैं किन्तु जो निर्मूल सम्पदाएं हैं वे दुष्ट हैं यों निरूपणकर अब संपदाओंकी दुष्टता सर्वथा है यह दृष्टान्त देकर 'मृगतृष्णां' श्लोकमें समझाते हैं:

मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।
एवं वैकारिकीं मायाम् अयुक्ता वस्तु चक्षते ।।११।।

श्लोकार्थ : यद्यपि ये सम्पदाएं अनित्य हैं तो भी ये सदा स्थिर रहेंगी यों वे मानते हैं जैसे बालक मृगतृष्णाके जलको जलाशय समझते हैं वैसे जो आपका भजन करते हैं वे विकारवाली मायाको सत्य वस्तु समझते हैं।।११।।

व्याख्यार्थ : केवल देखनेमें तो सम्पदा आवे वास्तवमें कोई पदार्थ उसमें नहीं जिससे आपदा ही प्राप्त होती है, जैसे मरूमरीचिका(बालु रेत)में जलकी बुद्धि, जो ग्रीष्म ऋतुमें उस तरफ दौड़ती है किन्तु अन्तमें जल न मिलनेसे अनर्थ हेतु ही होती है, जैसे बालक अर्थात् मूर्ख, युक्तिसे वह प्रदेश जल हीन है तो भी उसको बड़ा नद ही मानते हैं इस प्रकार जिनका आपके चरणारविन्दसे योग नहीं हुआ अर्थात् जो आपका भजन नहीं करते हैं वे इस विकारवाली और जो कुछ पदार्थ है ही नहीं उसको पदार्थ समझते हैं. आत्मामें विकल्प वा नाना प्रकार नहीं होता है तो भी विकार जातकी मायासे मोहित हो वस्तुपनसे मानते हैं।।११।।

आभासार्थ : जो भ्रान्त हैं उनकेलिए ही सम्पदाएं अनर्थ हेतु हैं न कि तुम्हारे लिए, इस शंकाका उत्तर 'वयं पुरा' श्लोकमें देते हैं:

वयं पुरा श्री–मद–नष्टबुद्धयो जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो मृत्युं पुरस्त्वावगणय्य दुर्मदाः ।।१२।।

श्लोकार्थ : हमारी भी पहले लक्ष्मीके मदसे बुद्धि नष्ट हो गई थी, जिससे हम इस पृथ्वीको जीतनेकी इच्छासे आपसमें ईर्ष्या करते थे, हे प्रभु! हम दुर्मद हो, सामने स्थित मृत्युको ध्यानमें न लाकर अति निर्दयी बन अपनी प्रजाओंका हनन करते थे।।१२।।

व्याख्यार्थ : लक्ष्मीके मदसे जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, हम तो पहले ही इसलिए ही नष्ट हो चुके थे, क्योंकि इस पृथ्वीको जीतनेकी इच्छासे परस्पर ईर्ष्यावाले हो गए थे. ईर्ष्या ही अपने नाशका मुख्य कारण है, समान शीलवालोंमें ही केवल स्पर्धा हो यह दोष नहीं था, किन्तु अपनी जो प्रजाएं थीं उनको भी अति निर्दयी हो व्यर्थ दण्ड आदिकोंसे दुःख देते थे. 'प्रभो!' इस सम्बोधनसे अपना अप्रभुत्व सूचित करते हैं, भगवान्ने राज्य देनेके समय ही राज्यमें स्थित सर्व द्रव्यादि इनको दे दिया क्योंकि अपने हैं अतः जैसे सुख मिले वैसे भले करें इसमें कौनसा दोष है? यदि यों कहो तो कहते हैं कि आप जो मृत्युरूप सामने खड़े हो उसका भी तिरस्कार कर रहे हैं यह भगवान् मृत्यु है किन्तु क्या करेगा? छुपकर रहता है अन्यथा करने पर मारेंगे यह जानकर भी उसका तिरस्कार करते रहते हैं, क्योंकि मतिका विभ्रम हो गया है जिसमें कारण है कि 'दुर्मदा' दुष्ट जो मद उससे हम युक्त हैं अर्थात् हम मदमें आ गए हैं।।१२।।

आभासार्थ : तो भगवान्ने क्या उपेक्षा की अथवा मारा ? इस शंकाका उत्तर 'त एव' श्लोकमें देते हैं:

त एव कृष्णाय गभीररंहसा दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ।।१३।।

श्लोकार्थ : हे कृष्ण! वे ही हम आज आपकी कृपासे, गंभीर वेगवाले, आपके शरीररूप, अपार बलवाले कालने लक्ष्मी छीन ली जिससे गर्वहीन हो आपके चरणोंका स्मरण करते हैं।।१३।।

व्याख्यार्थ : कृष्ण! यह संबोधन राजाओंने तब दिया है जब उनमें स्नेहसे भगवान्से संवाद करते हुए धृष्टता उत्पन्न हो गई. 'अद्य' पदसे यह बताया कि यह परोक्ष नहीं किन्तु सामने ही है अर्थात् आज क्या हुआ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि गंभीर वेगवाले कालसे हम लक्ष्मीसे दूर हो गए, कालमें इतनी सामर्थ्य कहांसे आई? द्वेषके भी अभावमें हेतु देते हैं, 'भवतः तन्वा' आपका ही शरीर है, अतः आपके शरीरमें दूसरेसे तो सामर्थ्य आनेकी नहीं है, स्वयं शक्तिमय हैं, और आप

होनेसे द्वेषका भी अभाव स्वतः सिद्ध है. कालको ठगनेकेलिए दूसरे देशमें चला जाना था जिसके उत्तरमें कहते हैं 'गभीर रंहसा' वह काल जबर्दस्त वेगवाला है वहां भी पहुंच जानेमें जिसको देरी नही लगती है. यों नहीं कर सकते तो प्रतीकार करना था, जिसका उत्तर देते हैं कि उसमें इतना वीर्य है जिसका अन्त लेना कठिन है. काल मेरा शरीर है यह कैसे जाना, तो कहते हैं कि आपकी कृपासे अभिमान नष्ट हो गया, अभिमान नाश होनेसे सब दोष निकल गए, जिससे आपके चरणोंका स्मरण करता हूं, अतः महान् गुणको प्राप्त हुए यदि भगवान् ही वैसा न करे तो राज्य भ्रंश होने पर भी आप ही सद्बुद्धि नहीं आती है. भगवान्ने तो, बहुत कृपालु होने से, अनर्थसे छुड़ाकर परमार्थमें लगा दिया, यों कार्यके अनुरोधसे 'काल' आपका शरीर समझा जाता है।।१३।।

आभासार्थ : दोषवालोंकेलिए ही राज्य अनर्थका हेतु है जैसे ज्वरवालोंको अन्न अनर्थका हेतु है, अतः अब दोष निवृत्त हो गए हैं राज्य ग्रहण करो, इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अथो न राज्यं':

अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं देहेन शश्वत्पतता रुजां भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचकम् ।।१४।।

श्लोकार्थ : रोगके गृह और निरन्तर नाश होनेवाली देहसे मृगतृष्णा समान राज्यको भोगना हम नहीं चाहते हैं, केवल इतना ही नहीं किन्तु परलोकमें कर्णप्रिय फलवाले स्वर्गको भी नहीं चाहते हैं।।१४।।

व्याख्यार्थ : इससे इस लोक और परलोकमें दोष दिखाकर उनसे अपना वैराग्य निरूपण करते हैं, 'अथ'का अर्थ है दोषोंके जानेके अनन्तर अर्थात् हमारे दोष नष्ट हो गए हैं तो भी, हम राज्यको नहीं चाहते हैं. राज्यके स्वरूपसे दोष बताते हैं, मृगतृष्णाके समान अर्थशून्य है फिर इसका साधन, अर्थात् जिस देहसे राज्य भोग किया जायगा वह देह भी बहुत दोषोंवाली है, राज्य आत्मासे भोगा नहीं जाता है देहसे ही भोगा जाता है, देह तो वर्तमान दशामें सदा नहीं रहती है, आगे दोष युक्त हो जाती है, जैसे कि सर्वदा मृत्युसे ग्रस्त है और रोगोंकी उत्पत्तिका क्षेत्र है, अतः स्वयं और परिकर दोनोंसे राज्य दुष्ट होनेसे हम अब नहीं चाहते हैं, इस प्रकार इस लोकके फलमें दोष बताया. अब परलोकमें भी दोष कहते हैं, यज्ञ आदि क्रियाओंके फलस्वरूप स्वर्ग आदि जो मरनेके अनन्तर मिलता है वह भी नहीं चाहिए, क्योंकि लोक जाति भ्रंश होनेसे जो मिलता है वह

भी लेना नहीं मानते हैं तो मृत्युसे प्राप्य समझदार लेना कैसे पसंद करेगा? फिर उसमें भी वहांका सुख केवल कर्ण प्रिय है, दूरसे ही अच्छा लगता है, वास्तवमें अच्छा नहीं है क्योंकि वहां स्पर्धा, असूया और भय यहांसे विशेष है।।१४।।

आभासार्थ : इस प्रकार इस लोक और परलोकसे अपना वैराग्य निरूपणकर दिखाया कि हम अब ज्ञानोपदेशके अधिकारी हैं इसलिए 'तन्नः समादिशोपायं' श्लोकसे प्रार्थना करते हैं:

तन्नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः।
मतिर्यथा न विरमेदपि संसरताम् इह ।।१५।।

श्लोकार्थ : इस संसारमें भ्रमण करनेवाले हमको ऐसा उपाय बतलाईए कि जिससे हम आपके चरणारविन्दको भूल न जावें।।१५।।

व्याख्यार्थ : चरणोंके स्मरण करनेसे ही इतने दूर पहुंच गए हैं, इसलिए सदैव स्मरण रहे जिसके वस्ते प्रार्थना करते हैं, यदि उपायका ज्ञान हो जाय तब ही साध्य अपने आधीन होता है, अतः जैसे जिस उपायसे आपके चरण कमलके विषयवाली मति हो जावे वहांसे कभी भी विराम न पावे वह उपाय कृपया कहिये, स्वयं स्वतः आपके चरणोंमें मति स्थापित करनी अशक्य है, क्योंकि हम जन्म मरणरूप संसारचक्रमें भ्रमण कर रहे हैं, वह भ्रमण भगवान्के चरणोंको विस्मरण करानेवाला है, वह ही विघातक है, यदि यों है तो उसके अभावकी प्रार्थना कीजिए, स्मरणके उपायकी प्रार्थना क्यों करते हो. 'अपि' शब्दसे इसका उत्तर दिया है कि यह संसार तो अभीष्ट है क्योंकि भगवद्भक्तोंके मार्गकेलिए उपयोगी है यों भाव है अतः चरण स्मरण रहे उसका उपाय ही हम चाहते हैं वह बताईए।।१५।।

आभासार्थ : इस प्रकार प्रार्थनाकर भगवान्के छः गुणोंके प्रसिद्ध करनेवाले नाम कहकर नमन करते हैं:

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ।।१६।।

श्लोकार्थ : कृष्ण, वासुदेव, हरि, परमात्मा, प्रणत लोगोंके क्लेश मिटानेवाले गोविन्द भगवान् आपको हम नमस्कार करते हैं।।१६।।

व्याख्यार्थ : श्रीकृष्ण सदात्मकपनसे अथवा कालरूपपनसे वैराग्यके हेतु हैं, 'वासुदेव' होनेसे ज्ञानके कारण हैं क्योंकि वसुदेव शुद्ध सत्त्व है अतः सत्त्वसे

उत्पन्न वासुदेव ज्ञानके कारण है, 'हरि' होनेसे श्रीके कारण हैं क्योंकि बाहरका दुःख श्रीसे ही नाश होता है, 'परमात्मा' होनेसे यशके कारण हैं क्योंकि सर्वोत्कर्ष ही यशका कारण है, परमात्माके अतिरिक्त कोई वस्तु सर्वोत्कर्षवाली नहीं है, शरणागतोंके क्लेशनाशके कारण हैं यह काय वीर्य गुणका है, गोविन्द नामसे इन्द्रका सत्वनकर ऐश्वर्य गुण दिखाया है, यह आदरमें वीप्सा है, आदरसे नमन करनेसे सर्व कार्योंकी सिद्धि होती है क्योंकि आदरसे प्रणाम करना सर्व कार्योंकी सिद्धिका कारण है यों सूचित किया है।।१६।।

आभासार्थ : पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन शुकदेवजी करते हैं:

श्रीशुक उवाच

संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः।
तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा।।१७।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि बंधनसे मुक्त हुए राजाओंने इस प्रकार जब स्तुति की, तब दयालु और शरणागत वत्सल भगवान् मधुर वाणीसे हे तात! सम्बोधन देकर कहने लगे।।१७।।

व्याख्यार्थ : जो महान् होता है वह स्तुति प्रिय होता ही है इसलिए कहा 'भगवान्' अर्थात् षड़गुण सम्पन्न होनेसे महान् हैं. फिर 'राजभिः' पदसे दिखाया है कि स्तुति करनेवाले भी राजा होनेसे महान् हैं अतः महान् पुरुषोंसे स्तुत होनेसे आप प्रसन्न होते हैं. बन्धनसे छूटनेका आशय है कि एक ही कार्यसे फलकी प्राप्ति हो गई है. राजाओंने धृष्टता की है, तो भी, क्रोध न कर वरदान दिया, जिसका कारण यह है, कि आप दयालु हैं. 'तात' यह संबोधन देकर बताया है कि हम आपको ठगते नहीं, सत्य भाव कहते हैं. 'शरण्य' पदसे दिखाया है कि आपमें शरणागतों पर दयाकर उनकी रक्षा करनेका सहज गुण है. सुन्दर मधुर वाणी सुनते ही आनन्द देनेवाली है 'शब्द' भी पांचवां विषय निरूपण किया है('पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां' श्लोकमें 'रूप', 'रस', 'गन्ध' और 'स्पर्श' ये चार कहे हैं यहां 'शब्द' पांचवां विषय भी कह दिया है)।।१७।।

जिज्ञासार्तीं तदधिकारे द्वयम् अस्तीति वै हरिः।
सात्त्विकेभ्यो मुख्यशास्त्रं सगुणं प्राह योग्यतः।।का.१।।
स्वकीयान् षड्गुणान् प्राह षड्भिः सर्वत्र दुर्लभान्।
भक्तिदानं बुद्धिशंसा राज्यदोषः कृपाकृतिः।।का.२।।

ऋणत्रयं निराकृत्य तत्र चिन्ता विरागता।

एवं धर्मेर्हरिप्राप्तिरिति वाक्यार्थसंग्रहः ।।का.३।।

कारिकार्थ : भगवान्ने राजाओंमें 'जिज्ञासा' और आर्ति, ये दोनों धर्म उनमें उपदेश योग्य अधिकारके देखे, अतः उन सात्त्विकोंको सगुण मुख्यशास्त्र सुनाने लगे, आपके छः गुण जो सर्वत्र दुर्लभ हैं उनको निम्न प्रकार क्रमसे कहा. १. भक्तिका दान, २. बुद्धिकी प्रशंसा, ३. राज्यका दोष, ४. उन पर कृपा की, ५. तीन ऋणोंसे मुक्ति ६. वैराग्य, ये छः गुण छः श्लोकोंसे कहे हैं जिनसे भक्तको भगवान्की प्राप्ति होती है।।१-३।।

आभासार्थ : जरासन्धके वधसे इन राजाओंके शरीरोंको बंधनसे छुड़ाया, अब स्तुतिसे प्रसन्न होकर इनके आत्माओंको संसाररूप कैदसे छुड़ानेकेलिए भगवान् छः श्लोकोंमें राजाओंको उपदेश देते हैं:

श्रीभगवान् उवाच

अद्यप्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे।

सुदृढा जायतां भक्तिर्बाढमाशंसितं यथा ।।१८।।

श्लोकार्थ : श्रीभगवान्ने कहा कि हे भूपतिओं! सबका ईश्वर और आत्मा जो मैं हूं, उसमें जैसी भक्ति तुम चाहते हो वैसी ही आजसे लेकर दृढ भक्ति होवे।।१८।।

व्याख्यार्थ : पहले जो इन राजाओंने मांगा था कि आपका स्मरण सदा बना रहे कभी भी आपको भूल न जाएं, इसका उत्तर कहते हैं, आजसे लेकर तुम्हारी मुझमें सुदृढ़ भक्ति होवे. नित्य स्मरण ही अत्यन्त स्नेह है यह सिद्धान्त है, प्रयोजनकी सिद्धिकेलिए स्मरण तो औपाधिक है. वह भी कहते हैं. मैं जो सबकी आत्मा और सबका ईश्वर हूं वह मैं अन्दर और बाहर अवश्य ही सर्वदा सेवाके योग्य हूं. 'भूपा' यह संबोधन, तारतम्यके ज्ञानकेलिये है, जो आपको इष्ट है और जो आपने चाहा है वह ही दिया है न कि अपूर्व दिया है।।१८।।

आभासार्थ : तो प्रार्थनामें दोष होगा? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि नहीं प्रार्थना तो अच्छी की है यह 'दिष्ट्या' श्लोकमें वर्णन करते हैं:

दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः।

श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ।।१९।।

श्लोकार्थ : हे भूपतिओं! तुम्हारा उद्यम श्रेष्ठ है, आप सत्य बोलनेवाले

हैं, श्रीके साथ जो ऐश्वर्य हैं उससे मनुष्योंमें उत्पन्न सर्वदा मदकी जो स्थिति है उसको देखनेसे मालूम होता है कि मदकी स्थिति भ्रमको जगाती है।।१९।।

व्याख्यार्थ : ऐसा व्यवसाव साधारण पुरुषोंको नहीं होता है निरन्तर स्मरण होता रहे जिसके उपाय बतानेकेलिए प्रार्थना है. तुम सत्य बोलनेवाले हो यों कैसे कहते हो? तो उसका उत्तर देते हैं कि राज्य अनर्थकारी है, यों हमारे सामने तुम अभी कह चुके हो, अतः तुम्हारा अन्तःकरण सत्य ही है क्योंकि मैं भी मनुष्योंको लक्ष्मीके मदसे भ्रमित और अभिमानी देख रहा हूं जिस मदकी अधिकतासे भ्रान्ति होती है, मेरा इस प्रकार देखना ही इसमें प्रमाण है।।१९।।

आभासार्थ : मैंने उस मदसे बहुतोंको छुड़ाया है वह बताते हैं:

हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे।
श्रीमदाद् भ्रंशिताः स्थानाद् देव–दैत्य–नरेश्वराः ।।२०।।

श्लोकार्थ : सहस्रार्जुन, नहुष, वेन, रावण, नरकासुर, और दूसरे भी देव, दैत्य तथा राजा लोग 'श्री'के मद होनेसे अपने स्थानसे गिरे हैं।।२०।।

व्याख्यार्थ : यदि आज ही केवल ये ही गिराए जावें तो अविवेक दशामें इनको मात्सर्य भी हो जाय, किन्तु आगे भी यों हुआ है, अतः 'न दुःखं पञ्चभिः सह' इस उक्तिके अनुसार बहुतोंसे जो कुछ दुःख हुआ है यदि वैसा अपनेको भी हो जाय तो उसमें दोष नहीं है, यदि वे बहुत कर महान् पुरुष होवें तो, इसलिए उनके नाम कहते हैं.

सहस्रार्जुन, नहुष इनको परशुराम और इन्द्राणीने गिराया है. वेनको ब्राह्मणोंने गिराया, रावणको रामने गिराया है, नरकासुरको मैंने गिराया है और दूसरे भी ऐसे लक्ष्मीमदान्ध हिरण्यकशिपु प्रभृति सैकड़ों 'श्री' मदके कारण स्थानसे गिरे, राज्य और शरीर दोनों गए, नहुष आदि देव थे, हिरण्यकशिपु आदि और अर्जुन आदि नरेश्वर भी गिरे, तीन गुणवाले स्थान भी भ्रष्ट किए जाते हैं।।२०।।

आभासार्थ : अतः मद होने पर स्थान भ्रष्ट होगा यह मनमें निश्चयसे समझकर मदका त्यागकर मेरा कहा करो, यह 'भवन्तः' श्लोकमें कहते हैं:

भवन्त एतद् विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यम् अन्तवत्।
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ ।।२१।।

श्लोकार्थ : ऊपर दिए हुए दृष्टान्तोंसे तुम समझ लो कि देह, राज्य आदि सब अन्तवाले हैं अतः यज्ञ आदिसे मेरा यजन करो तथा धर्मसे प्रजाकी रक्षा

करो।।२१।।

व्याख्यार्थ : यह पहले कहा हुआ राजाओंके गिरनेका कारण अनुभव और युक्तिसे विशेष जानकर देह आदिमें वैराग्य करना चाहिए, यों कहते हुए प्रथम देह दोष कहते हैं, देह राज्य आादि यह सब किसी प्रकारसे भी पैदा होते हैं, अतः ये नित्य स्वभाव सिद्ध नहीं हैं, इसलिए इनको अन्तवाला अर्थात् नाशवाला समझकर देह(राज्य)की रक्षामें स्वरूप प्रयत्न करो. स्वतः ही दैववशसे जो विद्यमान हो उससे यज्ञद्वारा मेरा पूजन करो और धर्मसे प्रजाकी रक्षा करो, प्रजाकी रक्षा करना और यज्ञ करना राजाके धर्म हैं।।२१।।

आभासार्थ : 'वितन्वन्तः प्रजातन्तून्' श्लोकमें साधारण धर्म कहते हैं:

वितन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ।
प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ ।।२२।।

श्लोकार्थ : पुत्र आदि संतति उत्पन्न करते हुए और सुख, दुःख, लाभ और अलाभ जो आ जाए, उसका सेवन करते हुए मुझमें चित्त लगाकर विचरते रहो।।२२।।

व्याख्यार्थ : सर्वत्र ही पुरुषार्थ सिद्ध करना यह गृहस्थका ही धर्म है, यों कहनेकेलिए दूसरे आश्रमोंका उपदेश नहीं करते हैं, अतः कहते हैं कि पुत्रादि सन्ततिका विस्तार करते हुए, सुख, दुःख, लाभ और हानि ये चार साध्य और साधनरूप प्रारब्धवश प्राप्त होवें तो उससे प्राप्त क्लेशका एक बार अनुभव कर लेना चाहिए. रोग निवृत्त हो जाकर पुनः आ जावे तो पहले अनुभव किए हुए दुःखके भयसे उसके निराकरणार्थ यत्न नहीं करना चाहिए, ऐसी शिक्षा देनेकेलिए दो बार 'प्राप्तं प्राप्तं' कहा है. 'च' पदसे यह सूचित किया है कि दुःखके मिटानेके अन्य साधन प्राप्त भी हो एवं सुख प्राप्त्यर्थ दूसरे साधन होवें तो भी उनका उपयोग नहीं करना चाहिए. दुःखादिके सहनमें उनका साधन यही है कि उनका चित्त मुझमें है, वे यों ही रटते हैं कि जो कुछ है वह मेरे तो कृष्ण ही हैं, (अशक्ये वा सुशक्ये सा सर्वथा शरणं हरिः) इस अच्छे सुख अथवा बुरे दुःखसे क्या? यों निश्चयकर जैसा भी अर्थ प्राप्त हो उसका अनुभव करते रहना चाहिए यों तात्पर्य है।।२२।।

आभासार्थ : यों करनेसे जो फल होगा वह साधन सहित कहते हैं:

उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः।
मय्यावेश्य मनः सम्यङ् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ।।२३।।

श्लोकार्थ : जो तुम देह आदि सब पदार्थोंसे उदासीन एवं आत्माराम होकर नियम पूर्वक रहोगे और मुझमें मन अच्छी तरह लगाओगे तो अन्तमें परब्रह्मरूप मुझको प्राप्त करोगे।।२३।।

व्याख्यार्थ : अपने धन बन्धु आदिमें तथा देहके धर्मादिमें राग द्वेष रहित होकर रहो अर्थात् इनमें न प्रेम रखो और न द्वेष रखो, ऐसी वृत्तिको उदासीन वृति कहते हैं. आप वैसे बनके रहो, केवल बहिर्मुखताका अभाव नहीं होना चाहिए किन्तु आत्मामें रमण भी चाहिए. इन दोनोंकी सिद्धिकेलिए साधन बताते हैं कि 'धृतव्रता' अर्थात् भगवान्का ही व्रत धारण करिए. इस प्रकार साधनोंसे जब तक जीवन है तब मुझमें मनको पूर्णरीतिसे प्रवेश कराके, अन्तमें अर्थात् मरण समयमें ब्रह्म स्वरूप मुझको पाओगे. मध्यमें देह नाशार्थ प्रयत्न होने पर भी देहमें बीज रहे, अतः देहान्तकी ही प्रतीक्षा करनी चाहिए, कार्यकी सिद्धि करनेवाला मेरा स्मरण ही करना शक्य है उससे मेरी ही प्राप्ति होगी, मैं ब्रह्म हूं जिसका फल मोक्ष ही है इस प्रकार फल और उसकी स्तुति दोनों कही है।।२३।।

आभासार्थ : इस प्रकार अभिमान रहित स्थिति, प्रेमभक्ति, निरंतर स्मरण और अंतमें मोक्ष देकर कृतार्थ किया, कृतार्थ हुए उनको लौकिक पुरस्कारकेलिए लौकिक परिचर्यासे संस्कृत करने लगे, यों 'इत्यादिश्य'से तीन श्लोकोंमें कहते हैं:

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्य नृपान् कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः ।
तेषां न्ययुङ्क्त पुरुषान् स्त्रियोमज्जनकर्मणि ।।२४।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि लोकनाथ भगवान् श्रीकृष्णने राजाओंको इस प्रकार आज्ञा कर उन्हें स्नान आदि करानेकेलिए कितनेक पुरुष व स्त्रियोंको आज्ञा दी।।२४।।

व्याख्यार्थ : क्योंकि श्रीकृष्ण सदानन्दने भक्तोंको सुखदान देनेकेलिए अवतार धारण किया है, साधन सम्पत्तिकेलिए कहते हैं कि लोकोंके ईश्वर हैं, पहले उन राजाओंके स्नान आदि कर्म करानेके वास्ते पुरुष और स्त्रियोंको लगाया अर्थात् आज्ञा दी. उनका श्रम अर्थात् थकावट दूर करना आदि कार्य पुरुष करा सकेंगे, मुखसे स्नान आदि स्त्रियों करा सकेगी इसलिए दोनोंको इस कार्यमें लगाया. दो प्रकारके कार्य हैं एक प्रकार वह जिसके करनेसे स्नान आदि करना

पड़े वह मज्जन कर्म, जिस कर्म करनेसे स्नानादि न करना पड़े वह अमज्जन कर्म है, जैसे कि बाल बनवाना, तेलकी मालिश आदि कर्मके अनन्तर स्नान करना पड़ता है अतः वह मज्जन कर्म हैं, तिलक आदि कर्म करने पर स्नान नहीं करना पड़ता है अतः वह अमज्जन कर्म है।।२४।।

सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत।
नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः ।।२५।।

श्लोकार्थ : हे भारत! राजाओंके योग्य वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दन लेपन आदिसे पूजन सहदेवसे कराया।।२५।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् वे राजा घर आए, तब जरासन्धके पुत्र सहदेवसे उनकी विधिवत् पूजा करवाई. 'हे भारत!' सम्बोधनसे बताया कि धर्म कर्ममें आपका विश्वास है. पूजाका प्रकार कहते हैं कि, राजाओंके योग्य जैसी पूजा होनी चाहिए वैसी करवाई. उत्कृष्ट कञ्चुक, पगंडी(पाग) आदि वस्त्रोंसे और कुण्डल आदि आभूषणोंसे माला और चन्दनके लेप आदिसे पूजा की।।२५।।

भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान् समलङ्कृतान्।
भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः ।।२६।।

श्लोकार्थ : अच्छी तरह स्नान किये हुए और सुन्दर आभूषण वस्त्रादि पहने हुए, माला चंदन आदिसे सुशोभित राजाओंको सुन्दर अन्नका भोजन कराया, अनन्तर राजाओंके योग्य ताम्बूल आदि दिए यों सत्कार किया।।२६।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् सुन्दर पक्वान्न आदि पदार्थोंसे भोजन कराया फिर शामको स्नान कराके वस्त्र आभूषणोंसे समलंकृत किया और अनेक प्रकारके भोग नृत्य आदिसे उनको प्रसन्न किया, राजाओंके भोगमें पहिले ताम्बूलका आदर है, उनके यहां अन्न वस्त्रादि तो साधारण हैं वह अवान्तर है, उसमें भी यह सर्व राजाओंके योग्य किया गया।।२६।।

आभासार्थ : भगवान्से संस्कृत उन राजाओंका वर्णन करते हैं. 'ते पूजिता' श्लोकमें:

ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः।
विरेजुर्मोचिताः क्लेशात्प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः ।।२७।।

श्लोकार्थ : मुक्तिदाता भगवान्ने उनका सत्कार किया, तब वे उज्वल कुण्डल धारण किये, क्लेशसे मुक्त हो वैसे शोभा देने लगे जैसे वर्षा ऋतुके अन्तमें

ग्रह शोभा देते हैं।।२७।।

व्याख्यार्थ : पहले अन्यद्वारा पूजित थे, तो भी वचनों और उत्तम पदार्थोंके दानोंसे मुकुन्दने फिर उनका पूजन किया. तब रत्नोंसे उज्वल कुण्डलोंको धारण करनेसे राज्यके लक्षणको प्राप्त किया अर्थात् राजा देखनेमें आए जिससे आगेसे भी विशेष शोभा देने लगे, उसमें भी कारण यह है कि क्लेशसे छूट गए. क्लेश भोगनेके अनन्तर फिर संस्कार होनेसे विशेष कान्ति अर्थात् शोभा होती है जिसमें दृष्टान्त देते हैं, वर्षाके अनन्तर जैसे शुक्र आदि ग्रह विशेष चमकने लगते हैं, वृष्टिसे और बादलोंकी गतिसे मध्यमें स्थित जो भू रेणु थे वे चले जाते हैं, इसलिए मलीन करनेवाले पदार्थोंका अभाव हो जानेसे ग्रह चमकने लगते हैं, इस प्रकार पुरुष भी भोगसे पापोंका नाश हो जाने पर संस्कारसे बाहर मलीनताका अभाव होनेसे और आभूषणोंसे बहुत उज्वल होते हैं।।२७।।

आभासार्थ : राजा लोग मनमें यों विचार रहे थे कि कदाचित् भगवान् हमको अपने साथ ले चलेंगे, इस शंकाका 'रथान्' श्लोकसे निवारण करते हैं:

रथान् सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान्।
प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत्।।२८।।

श्लोकार्थ : श्रेष्ठ घोड़ोंवाले, रत्न व सुवर्णसे शोभित रथों पर बैठकर मधुर वचनोंसे प्रसन्न कर राजाओंकी अपने देशको रवानगी की।।२८।।

व्याख्यार्थ : सबको रथोंमें बैठाया, रथोंमें उत्तम घोड़े जोड़े और रथोंको मणि तथा सुवर्ण आदिसे सुशोभित किया था, पश्चात् मधुर वाक्योंसे उन राजाओंको प्रसन्न कर, इसी प्रकार काया, वाणी और मनसे उनको सब तरह सुखीकर जिनके जो देश थे उन-उन देशोंमें उन-उनको भेजा, निरोधमें प्रत्यापत्ति आवश्यकी है किन्तु वह जब तक अपने घरमें रहे अन्यथा आधी की हुई मानी जायगी।।२८।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्से आदर पाए हुए राजाओंका स्वदेश गमनका वर्णन 'त एवं' श्लोकमें कहते हैं:

त एवं मोक्षिताः कृच्छ्रात् कृष्णेन सुमहात्मना।
ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः।।२९।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार जगत्के पति महात्मा श्रीकृष्णके छुड़ाए हुए कष्टसे मुक्त राजा लोग उनको और उनके चरित्रोंका ध्यान करते हुए अपने-अपने

देशोंको गए।।२९।।

व्याख्यार्थ : लोकमें यह परिपाटी है कि जो छोड़े जाते हैं, उनसे कुछ लेकर अथवा न लेकर केवल अलग किए जाते हैं, न कि इसी भांति सर्व प्रकारके सुखके साधन उनको देते हैं, ये तो भगवान्ने इस प्रकार छुड़ाये अर्थात् छुड़ानेके बाद सर्व प्रकारके सुखके साधन भी दिए, उसमें भी, बड़े क्लेशमें पड़े हुए थे वहांसे छुड़ाए, यदि थोड़ा विलम्ब हो जाता तो प्रमथनाथकेलिए नष्ट किए जाते थे. जिससे सदानन्द कृष्णद्वारा मोक्ष कराने(मुक्त किए हुए राजाओं)में मोचकके धर्मके प्रवेशसे, यों हुआ है यह तात्पर्य है. जो महात्मा होता है वह ही जब अपना लाभ सामनेवालेसे होगा ऐसा विचार त्याग शत्रुको छोड़ देते हैं, तो ये तो 'सुमहात्मा' हैं अर्थात् बड़े सच्चे महात्मा हैं, इसलिए ऐसे महान् सुन्दर आत्मा तो स्वतः सर्व दे दे यह उचित है. अतः उनका और भगवान्के किये हुए सन्मान आदिका ही ध्यान करते हुए गए, यों यह स्मरण करना इनको उचित ही है, क्योंकि भगवान् ही भरण करनेवाले हैं, इसलिए आवश्यक है, न कि इससे भी निष्क्रिय किए हैं यों जतानेकेलिए कहा है कि 'जगत् पति' हैं, जगत्के पति सबके हितैषी होनेसे किसीको भी अक्रिय नहीं बताते हैं।।२९।।

आभासार्थ : अपने घर गए तो घरवाले इनको देख, आश्चर्य करने लगे ऐसे अपने घरवालोंको 'जगदुः' श्लोकमें सारा हाल बताते हैं:

जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचेष्टितम्।
यथान्वशासद् भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ।।३०।।

श्लोकार्थ : वहां जाकर अपनी प्रजासे भगवान्का सर्व चरित्र कहा और भगवान्ने जो आज्ञा की थी वह आज्ञा आलस त्याग पालन की।।३०।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार ही महापुरुषोंका इच्छित होता है, इस कारणसे वे राजा निरभिमान होकर पालन करने लगे।।३०।।

आभासार्थ : इस प्रकार उन राजाओंकी जीवन्मुक्त अवस्थाका निरूपणकर, जरासन्धके वधका मुक्तिके उपयोगिपन कहकर, भक्ति और धर्मका उपयोगिपन कहनेकेलिए इन्द्रप्रस्थ लौटकर आनेका वर्णन 'जरासन्धं घातयित्वा' श्लोकसे पांच श्लोकोंमें कहते हैं:

जरासन्धं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः।
पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात्सहदेवेन पूजितः ।।३१।।

श्लोकार्थ : भीमसेनद्वारा जरासन्धका नाश कराके, सहदेवसे पूजित भीम और अर्जुनके साथ केशव जाने लगे।।३१।।

व्याख्यार्थ : भीमसेनको साधन बना कर उस साधनसे जरासन्धको मरवाया, ब्रह्मा और महादेव, दोनोंमेंसे एकने भी क्यों नहीं बचाया? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'केशव' स्वयं केशव हैं, ब्रह्मा और शिव दोनोंको मोक्ष देनेवाले होनेसे उपजीव्य हैं. पश्चात् किसी प्रकारका घाव जिनको नहीं हुआ है वैसे दोनों भ्राताओं(भीम और अर्जुन)के साथ और पिताके वधको स्मरण न कर सहदेवद्वारा पूजित केशवने इन्द्रप्रस्थकेलिए प्रस्थान किया. पूर्वकी तरह द्वेष छोड़कर प्रसन्नतासे रवाना हुए यों अर्थ है।।३१।।

आभासार्थ : इस प्रकार अच्छी तरह आकर दूरसे अपने आनेकी प्रसिद्धि करने लगे वह 'गत्वा ते' श्लोकमें कहते हैं:

गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शङ्खान् दध्मुर्जितारयः।
हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदां चासुखावहाः ।।३२।।

श्लोकार्थ : वहांसे खाण्डवप्रस्थ जाकर शत्रुको जीतकर आए हैं उसके सूचक शंखकी ध्वनि की, जिससे शत्रुओंको दुःख दिया और मित्रोंको आनन्दित किया।।३२।।

व्याख्यार्थ : इन्द्रप्रस्थके समीप, खाण्डवके दाह होनेके बाद वहां नगर बसाया है, भगवान् अतिशय कौतुक युक्त हो वहां जाकर इन्द्रप्रस्थमें मालूम हो जाए कि हम आए हैं इसलिए शंखोंको बजाये. 'पांचजन्यं हृषीकेशः' इस श्लोकमें कहे अनुसार बजाए. उत्साहसे बजाए क्योंकि शत्रुओंको जीतकर आए थे जिससे उत्साह था, उनको बजानेका प्रयोजन यह था कि अपने मित्रोंको इस ध्वनिसे हर्ष होगा और शत्रुओंको दुःख उत्पन्न करेंगे, बहुत कर रात्रिको आए थे।।३२।।

आभासार्थ : जिसकेलिए बजाए वह हुआ, यह कहते हैं:

तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः।
मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः ।।३३।।

श्लोकार्थ : इन्द्रप्रस्थके रहनेवालोंने यह शंखनाद सुनकर जान लिया कि जरासन्ध मर गया, उनका चित्त प्रसन्न हुआ और राजाओंके मनोरथ भी पूर्ण हुए।।३३।।

व्याख्यार्थ : सब इन्द्रप्रस्थवासी प्रसन्न चित्त वाले हो गए. शंखका शब्द

सुनते ही समझ गए कि जरासन्ध शान्त हो गया अर्थात् मर गया और राजा युधिष्ठिरका मनोरथ पूर्ण हो गया।।३३।।

आभासार्थ : इस प्रकार आनन्दित नगर वासियोंको नयनानन्द देनेकेलिए आ गए यह 'अभिवन्द्याथ' श्लोकमें कहते हैं:

अभिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः।
सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम्।।३४।।

श्लोकार्थ : भीम, अर्जुन और श्रीकृष्णने आकर युधिष्ठिरको प्रणामकर आपने जो कुछ किया वह सब राजाको सुनाया।।३४।।

व्याख्यार्थ : तीनोंने क्रमसे(प्रारम्भसे) लेकर सर्व वृत्तान्त सुनाया, भगवान् स्वयंने स्पष्टकर सुनाया, यद्यपि अर्जुनने जो किया वह स्पष्ट नहीं था तो भी शास्त्र युद्ध आदि आ पड़ने पर अर्जुनने ही रक्षा की थी यों जान लेना चाहिए, किये हुए कार्यका साधारण रीतिसे निरूपण होनेसे।।३४।।

आभासार्थ : इस प्रकार सुननेसे युधिष्ठिरकी भगवान्में बुद्धि हुई:

निशम्य धर्मराजस्तत्केशवेनानुकम्पितम्।
आनन्दाश्रुकलान् मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किञ्चन।।३५।।

श्लोकार्थ : भगवान्की कृपासे सब कुछ हुआ यह सुनकर धर्मराजके नेत्रोंसे आंसुओंकी धारा बहती रही अतः प्रेमके कारण राजा कुछ कह न सके।।३५।।

व्याख्यार्थ : ऐसा क्यों हुआ? धर्मराज अधिकारी हैं इसलिए हुआ. यह सब भगवान्ने कृपाकर किया है, यों समझा. मेरे भ्राताओंका यह पौरुष नहीं है. विशेष प्रेमके कारण नेत्रोंसे आंसू बहने लगे जिससे वाणी रुक गई अतः प्रशंसा अभिनन्दन आदि कुछ भी न कर सके।।३५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण, अध्याय ७० की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ७१

भगवान्‌की अग्र पूजा और शिशुपालका उद्धार

पञ्चविंशे निरुद्धस्य राज्ञो धर्मो निरूप्यते।
प्रतिबन्धविहीनस्य प्रेमगद्‌गदचेतसः ।।का.१।।

कारिकार्थ : उत्तरार्धके इस पच्चीसवें अध्यायमें, निरोध किये हुए, निरोध रहित और प्रेमसे गद्‌गद् चित्तवाले राजाका धर्म निरूपण किया जाता है।।१।।

आधिदैविकयज्ञोऽपि धर्मोऽत्र विनिरूप्यते।
तत्रापि बाधकं कृष्णो न्यवारयदितीर्यते ।।का.२।।

कारिकार्थ : इस धर्म(यज्ञरूप कर्म)में आधिदैविक यज्ञ(श्रीकृष्णकी पूजा)का भी निरूपण किया जाता है, उस आधिदैविक यज्ञमें अर्थात् श्रीकृष्णकी पूजामें भी विघ्न करनेवाले शिशुपालको श्रीकृष्णने दूर कर दिया अर्थात् नाश किया यह निरूपण है।।२।।

मोचनादेव राज्ञां हि तत्सेवाऽत्र निरूपिता।
ब्रह्मण्यत्वान्मागधस्य ब्राह्मणेष्वत्र संशयः ।।का.३।।

कारिकार्थ : जिन राजाओंको जरासन्धके बन्धनसे मुक्त किया था उन्होंने जो सेवा की, उसका भी वर्णन यहां कहा है. जरासन्ध ब्राह्मणोंका भक्त था जिससे ब्राह्मणोंमें यहां संशय होगा।।३।।

अतः सर्वेऽत्र ऋषयो निरूप्यन्ते स्वनामतः।
आधिदैविकयज्ञस्य सर्वोप्युत्कर्ष उच्यते।।का.४।।

कारिकार्थ : इस संशय निवृत्तिकेलिए समस्त ऋषियोंका नाम ले लेकर वर्णन किया है और यहां आधिदैविक यज्ञ(श्रीकृष्णकी पूजा)की सर्व प्रकारसे उत्कृष्टता कही जाती है।।४।।

आध्यात्मिकस्तु तच्छेषः प्रधानार्थो यतः परः ।।का.५।।

कारिकार्थ : आध्यात्मिक यज्ञ तो उसका शेष भाग है, कारण कि मुख्य प्रयोजनवाला दूसरा यज्ञ तो आधिदैविक यज्ञ ही है।।५।।

कारिकार्थ पूर्ण.

आभासार्थ : पूर्व अध्यायके अंतमें कहा है, कि युधिष्ठिर भक्तिसे

उत्पन्न आनन्दमें मग्न हो गया, अब वैसे राजाके मनोरथकी सिद्धिका वर्णन किया जाता है, प्रारम्भमें वह भक्त था, इसलिए प्रथम आज्ञापालन करनेसे, भक्त विरुद्ध कार्य करनेवाला हुआ था, अब उसका त्याग किया है जिसका पांच श्लोकोंमें वर्णन किया है, वहां दोषके परिहार करनेकेलिए 'एवं युधिष्ठिरो' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी प्रथम उद्यमका वर्णन करते हैं:

श्रीशुक उवाच

एवं युधिष्ठिरो राजा जरासन्धवधं विभोः ।
कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ।।१।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार युधिष्ठिर राजा, जरासन्धका वध और सर्व समर्थ प्रभु श्रीकृष्णका वह प्रभाव सुनकर प्रसन्न हुआ जिससे श्रीकृष्णको निम्न प्रकार कहने लगा।।१।।

व्याख्यार्थ : अपने धर्ममें विश्वासवाले बड़े युधिष्ठिरने भगवान्का अपने ऊपर किया हुआ उपकार सुनकर, भगवान्का माहात्म्य जाना. स्वामी श्रीकृष्णका अपने ऊपर भक्तिरूप प्रभाव जानकर, एवं नारदके मुखसे उनका निर्णय सुनकर अपनी कृतार्थता समझ गया, इससे प्रसन्न होकर, प्रथम किए हुए अपराधकी निवृत्तिकेलिए उन भगवान्के आगे कुछ कहने लगा ।।१।।

आभासार्थ : प्रथम भगवान्का माहात्म्य युधिष्ठिर कहता है:

युधिष्ठिर उवाच

ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकाः सहेश्वराः ।
वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम् ।।२।।

श्लोकार्थ : जो तीन लोकमें गुरु हैं और जो ईश्वर सहित सकल लोक हैं, वे सर्व जिनकी आज्ञाको मस्तक पर धारण करते हैं।।२।।

व्याख्यार्थ : तीन लोकमें गुरु अर्थात् उपदेश देनेवाले एवं आज्ञा करनेवाले, ब्रह्मादि देव अथवा वेदोक्त ऋषि और सर्व प्राणीमात्र अथवा भू आदिके अभिमानी देवता लोग इन्द्र आदि समेत, इस प्रकार वेद और लोकके परायण ये सर्व अधिकारी न होनेसे दुर्लभ जो भगवदाज्ञा उसको प्राप्त कर उसका आदर सहित पालन करते हैं ।।२।।

आभासार्थ : यदि यों होवे तो भी क्या ? इसके उत्तरमें कहते हैं:

स भवान् अरविन्दाक्षो दीनानाम् ईशमानिनाम् ।

धत्तेऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम् ।।३।।

श्लोकार्थ : वे आप, कमल नयन पुरुषोत्तम, दीन होकर भी, अपनेको ईश माननेवालोंकी आज्ञाका पालन करते हो, यह केवल अत्यन्त अनुकरण मात्र ही है।।३।।

व्याख्यार्थ : वे ही सर्वेश्वर पुरुषोत्तम आप हैं भक्तों पर दया करनेकेलिये कमल नेत्र बन दृष्टिसे ही भक्तोंको आनन्दरस देकर तृप्त करते हैं. वैसे आप जो दीन अर्थात् शोक करने योग्य हैं, उनमें भी अपनेको ईश माननेका दोष भरा पड़ा है ऐसोंकी आज्ञाका पालन करते हो ? यह कार्य तो कपट रूप मानुषी लीला प्रदर्शित करनेसे भी विशेष अनुकरण है।।३।।

आभासार्थ : हीनोंकी आज्ञानुसार आचरण करना अनुचित है यों सिद्ध कर भगवान् यों करते हैं वह भी अयोग्य है वैसे कहना भी अनुचित है इसलिए 'न ह्येकस्य' श्लोकमें कहता है कि यों करना भूमीकेलिए उचित ही है:

न ह्येकस्यादि्वतीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।
कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः ।।४।।

श्लोकार्थ : एक अद्वितीय, ब्रह्म परमात्माका तेज कर्मोंसे कम वा विशेष नहीं होता है, जैसे सूर्यका तेज न कम होता है और न बढ़ता है।।४।।

व्याख्यार्थ : जो आत्माएं बहुत हो तो गौण और मुख्य धर्मोंके आश्रयका शास्त्रोंमें निषेध हो, एक होने पर तो हलकेकी सेना महान् करे तो भी उसमें दोष वा विरोध नहीं है. जैसे शरीर एक होनेसे हस्त उच्च होते हुए भी अधम अंग पादकी प्रक्षालन(धोने)से सेवा करता है जिसमें न दोष है और न कोई शास्त्र विरोध है. इस प्रकार जगत्में भगवान्के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है, सब एक भगवान् ही हैं अतः यों करनेमें किसी प्रकार विरोध नहीं है. 'हि' शब्दसे युक्तिका निरूपण किया है पुनः यदि जहां द्वैत जैसा हो वहां एक दूसरेमें हीन भाव उत्पन्न होता है, अद्वितीय भगवान् ही सब ठिकाने जगत्में विराजते हैं इसलिए भगवान्में कोई दूषण नहीं हैं, इस कारणसे भगवान्केलिये 'अद्वितीयस्य' पद दिया है.

कार्य करनेकी प्रेरणा करनी और कार्य कराना यह जीवोंका धर्म है न कि शुद्ध ब्रह्मका, लीलासे दूसरेके धर्म स्वीकार करनेमें कौनसा उत्कर्ष वा अपकर्ष है ? यह भाव श्रीकृष्णको ब्रह्म कहकर प्रकट किया है.

सर्वको नियममें रखनेवाला भगवान् परमात्मा प्रेरक है अतः सबको ही

जैसे सुख प्राप्त हो वैसे ही प्रेरणा करते हैं, उसमें उत्कृष्ट(उत्तम) अथवा अपकृष्ट (हीन) क्या है? सबमें भगवान् ही अधिष्ठित हैं, इसलिए अन्य धर्मका सम्बन्ध होते हुए भी किसी प्रकार हानि नहीं है.

जैसे आकाशमें बादलोंके कारण अन्धकार और प्रकाश देखनेमें आता है वास्तवमें आकाशमें अन्धकार वा प्रकाश आदि धर्म नहीं हैं वैसे ही भगवान्में अनेक धर्म मात्र देखनेमें आते हैं. इस आशयको प्रकट करनेकेलिये 'परमात्मा' कहा है. इसलिए अपने कर्मोंसे कर्मरूप परम स्थितिको प्राप्त एवं निर्लेप परमात्माका तेज न बढता है और न घटता है, अलौकिक होनेसे दृष्टान्त देते हैं कि जैसे सूर्यका उच्च वा नीच स्थानमें किरणोंका सम्बन्ध होने पर भी सूर्यकी हानि नहीं होती है और सूर्यकी किरणोंका सर्व ग्रहोंसे सम्बन्ध हो जाने पर भी उसका उदय अथवा अस्त नहीं होता है ।।४।।

आभासार्थ : यदि यों है, तो भगवान् अपनेको केवल सर्वेश्वर ही क्यों मानते हैं ? हीन भाववाले क्यों नहीं मानते हैं ? यदि यों करें तो जीवोंकी भगवान्में हीन भावना होनेसे उनका नाश होगा यदि यों कहो तो चालू प्रसंगमें भी वैसा होगा इस शंकाके होने पर उसको मिटानेकेलिए 'न वै तेऽजित' श्लोकमें कहते हैं:

न वै तेऽजित! भक्तानां ममाहम् इति माधव!।
त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता ।।५।।

श्लोकार्थ : हे अजित ! हे माधव ! मेरा और मैं, तू और तेरी ऐसी पशु समान विकारवाली भेद बुद्धि आपके भक्तोंकी नहीं होती है।।५।।

व्याख्यार्थ : हे अजित! अर्थात् किसीने भी आपको जीतकर वशमें नहीं किया है, आपके भक्तोंको मेरा और मैं इस प्रकारका स्वाभिमान, कभी भी अपने उत्कर्षको दिखानेवाला नहीं होता है, पांच भौतिक देहवाले जीवोंकी बड़ाई तो लक्ष्मीकी की हुई होती है, उस लक्ष्मीके स्वामी तो आप हैं, जिससे आपमें अभिमान किसका होगा कहनेका यही भाव है.

आपके भक्तोंमें तीन प्रकारका अद्वैत(भावाद्वैत, क्रियाद्वैत, द्रव्याद्वैत) स्थिर रहता है जिससे उनको किसी पदार्थमें भेदकेलिए स्वत्व वा परत्व बुद्धि अथवा तू और तेरा इस प्रकारकी बुद्धि नहीं होती है. गीतामें कहे हुए "**यो यत् श्रद्धः स एव सः**" इस वाक्यानुसार जो जिसमें श्रद्धावाला होता है वह वैसा ही हो जाता है. अतः आपके भक्त आपके ही रूप हो जाते हैं जिससे उनको सदैव सर्वात्मभावका स्फुरण

होता रहता है न कि अनेकतावाली भेद बुद्धि जागृत होती है.

सकल जीवोंकी बुद्धि दोष युक्त है. भक्तोंमें क्या विशेषता है? जिसका उत्तर देते हैं कि अन्य जीवोंकी बुद्धि पशुओंके समान विकारवाली होनेसे भगवद्विमुख होती है वास्तवमें नानापन(प्रकारपन) है ही नहीं ।।५।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्के सर्वात्मपन धर्मके अनुसंधानसे अपना अपराध मिटा कर, निर्विघ्न होके, अपने अभीष्ट राजसूय यज्ञका प्रारंभ किया जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'इत्युक्त्वा' श्लोकमें करते हैं:

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा यज्ञिये काले वव्रे युक्तान्स ऋत्विजः ।
कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ।।६।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि, युधिष्ठिरने यों कहकर यज्ञ करनेके कालमें श्रीकृष्णका अनुमोदन प्राप्तकर ब्रह्मवादी ब्राह्मणोंका ऋत्विज रूपसे वरण किया ।।६।।

व्याख्यार्थ : कालकी प्रधानता है इसलिए कहा है, जिस समय यज्ञ करना चाहिए वह काल जब हुआ तब उस समयमें यज्ञ प्रारम्भ किया. राजसूय यज्ञ १२ दिनमें होता है, उसका काल माघ मास है अतः माघ मासमें ही प्रारम्भ किया. एक वर्षमें जो यज्ञ पूर्ण होते हैं उनके प्रारम्भका भी यही समय है. योग्य ऋत्विजों का वरण किया, वे कैसे योग्य थे उनका विश्लेषण करते हैं कि ये परम्परासे यज्ञ कर्म कराते आये हैं, उनमें ऐसा कोई दोष नहीं है जिससे वे यज्ञमें ऋत्विज न बन सकें और वृद्ध तथा विद्या और तपसे समृद्ध थे. यज्ञमें विघ्न भी नहीं होगा क्योंकि श्रीकृष्णने यज्ञ प्रारम्भ करनेका अनुमोदन किया है. 'पार्थ' कहनेसे यह सूचित किया है कि भगवान्की पूर्णरूपेण निश्चित सहायता प्राप्त है. 'ब्राह्मणान्' पद देकर यह बताया है कि सर्व यज्ञोंमें ब्राह्मण ही ऋत्विज हो सकते हैं. चाहे क्षत्रिय विद्या और तपस्यासे बड़े हों, तो भी यज्ञोंमें ऋत्विज नहीं हो सकते हैं. 'ब्रह्मवादी' पदसे यज्ञमें बैठे हुए ऋत्विजोंका उत्कर्ष बताया है ।।६।।

आभासार्थ : तीन श्लोकोमें, उन ब्राह्मणोंके नाम कहते हैं:

द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः ।
वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ।।७।।
विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः ।

पैलः पराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च ।।८।।

अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ।

वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः ।।९।।

श्लोकार्थः १.द्वैपायन २.भरद्वाज ३.सुमन्तु ४.गौतम ५.असित ६.वसिष्ठ ७.च्यवन ८.कण्व ९.मैत्रेय १०.कवष ११.त्रित।।७।।

श्लोकार्थ : १२.विश्वामित्र १३.वामदेव १४.सुमति १५.जैमिनी १६.क्रतु १७.पैल १८.पराशर १९.गर्ग और २०.वैशम्पायन।।८।।

श्लोकार्थ : २१.अथर्वा २२.कश्यप २३.धौम्य २४.राम २५.भार्गव २६.आसुरि २७.वीति होत्र २८.मधुच्छन्दा २९.वीरसेन ३०. अकृतव्रण।।९।।

व्याख्यार्थ : इस यज्ञमें द्वैपायनसे अकृतव्रण तक तीस ऋषि ही गिने हैं. जब कि यहां बहुत ब्राह्मणोंकी आवश्यकता है किन्तु उत्तम इतने ही मिले हैं जिनके नाम कहे हैं, उनमेंसे सत्रह ऋत्विज हैं. दश चमस[१] रखनेवाले हैं और तीन 'एकधन'[२]वाले हैं. इस प्रकार उत्कर्ष आदि भावको प्राप्त, दश दश अन्य भी उपलक्षण विधिसे अपने समान कहे हैं. प्रथम (७) श्लोकमें कहे हुए एकादश (११) ब्राह्मण ही ब्रह्मवेता थे. विश्वामित्रसे लेकर नव ब्राह्मण मध्यम थे, अथर्वसे लेकर अकृतव्रण तक नव वा दश सामान्य थे, राम और भार्गवको एक गिना जाय तो नव होते हैं, पृथक् गिननेसे दश होते ये सब महान् उपाख्यानवाले हैं।।७-९।।

१.यज्ञमें सोमपान करनेके 'चम्मच'को चमस कहते हैं.

२.यज्ञमें जलभर रखनेका जो कलश होता है उसको 'एकधन' कहते है.

आभासार्थ : केवल इतनेका ही यज्ञमें आह्वान नहीं किया था किन्तु दूसरे राजाओं तथा ब्राह्मणोंको भी बुलाया था वह 'उपहूत' श्लोकमें कहते हैं:

उपहूतास्तथा चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः ।

धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः ।।१०।।

श्लोकार्थ : वैसे ही दूसरे द्रोण, भीष्म, कृप आदि पुत्रोंके साथ धृतराष्ट्र और महान् बुद्धिमान् विदुरजीको भी आमन्त्रण देकर बुलाया था।।१०।।

व्याख्यार्थ : बान्धवोंमें श्रेष्ठ भीष्म आदि, द्रोण आदि गुरु, कृप आदि माननीयोंको भी आह्वान किया था तथा सबसे मित्रता की है यह जतानेकेलिये धृतराष्ट्र आदिको भी आमन्त्रित किया है. दुर्योधन आदि पुत्रोंके साथ धृतराष्ट्रको आमन्त्रण भेजा है चूंकि विदुर शुद्र योनि है तो भी महान् बुद्धिमान् है कारण कि

बीजका ही प्राधान्य होनेसे स्मार्त ज्ञान पूर्ण होनेसे उसका आह्वान करना उचित ही है।।१०।।

आभासार्थ : बहुत कहनेसे क्या ? जगत्में चार वर्ण हैं अतः चारों वर्णोंको बुलाया है यह 'ब्राह्मणाः' श्लोकमें कहते हैं:

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ।
तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ।।११।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों तथा अपनी स्त्रियों समेत सब राजा यज्ञके दर्शनकी इच्छासे वहां आए।।११।।

व्याख्यार्थ : यहां जो भी आए उनको यज्ञके दर्शनकी लालसा थी इस श्रद्धाके कारण वे सब अधिकारी हैं यह बताया है. केवल आह्वानवाले ही नहीं आए किन्तु अन्य सर्व भी श्रद्धासे आए. दूसरोंकी स्त्रियां तो आएंगी किन्तु राजाओंकी नहीं आएंगी इसलिए कहा है कि उनकी स्त्रियां भी आई हैं. 'नृप!' यह संबोधन आदर सूचक है।।११।।

ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः ।
कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयाञ्चक्रिरे नृपम् ।।१२।।

श्लोकार्थ : पश्चात् ब्राह्मणोंने यज्ञ भूमिको सुवर्णके हलसे शुद्ध कर, वहां वैदिक रीतिसे राजाको यज्ञमें दीक्षित किया।।१२।।

व्याख्यार्थ : राजसूय यज्ञकी इच्छा अग्निवाला ही कर सकता है यह भूमि भक्तिके विशेष दाह होनेसे भयभीत हुई, अतः वहां कहा है कि भूमिको जोत कर शुद्ध करना अनन्तर यज्ञ प्रारम्भ करना चाहिए, जहां देवोंका पूजन किया जाये. इसलिए ही बाह्मणोंने सोनेके हलमें छः अथवा द्वादश बैलोंसे भूमिको जोतकर शुद्ध किया और उसमें बीजोंको बोया, वहां ही वेदानुसार राजाको दीक्षा दी. 'दीक्षयांचक्रिरे' इस पदमें ''आम्'' प्रत्यय वैदिक है।।१२।।

आभासार्थ : नीचेके तीन श्लोकोंमें यज्ञकी समृद्धि आदि बताते हैं:

हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा ।
इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चिशिवसंयुताः ।।१३।।

श्लोकार्थ : पूर्व, जैसे वरुणके यज्ञमें सब उपकरण(पात्रादि सामान) सोनेके थे वैसे ही यहां भी थे, ब्रह्मा और शिव सहित इन्द्र आदि लोकपाल भी बुलाये गए थे।।१३।।

व्याख्यार्थ : 'किल' पदका आशय है कि यहां सर्व सामग्री निश्चयसे वरुणके यज्ञ जैसी सोनेकी थी जिसमें प्रमाण लोक ही है, क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष देखी थी, वरुणका दृष्टान्त इसलिए दिया है कि वह निधिका स्वामी है, किन्तु 'पुरा' पद कहकर यह भाव प्रकट किया है कि उसको(वरुणको) भी अब ऐसी सामग्री मिलनी दुर्लभ है, इसलिए युधिष्ठिरके यज्ञका सबसे उत्कर्ष है. अन्य तो आए होंगे किन्तु इन्द्र आदि लोकपाल और अन्य द्वीपोंमें रहनेवाले राजा लोग आदि तो नहीं आए होंगे ? इस शंकाके मिटानेकेलिए कहते हैं कि ब्रह्मा और शिव समेत उनको भी निमन्त्रित किया गया है।।१३।।

सगणाः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।
मुनयो यक्षरक्षांसि खगाः किन्नरचारणाः ।।१४।।

श्लोकार्थ : गणोंके साथ सिद्ध और गन्धर्व, विद्याधर, बड़े सर्प, मुनिगण, यक्ष तथा राक्षस, पक्षी, किन्नर एवं चारण भी बुलाए हैं।।१४।।

व्याख्यार्थ: 'सगणाः' पदका अर्थ सेवकों सहित देवगण अथवा आदित्य विश्वादि गणदेव और सिद्ध, गन्धर्व आदि, अधिकारी सप्तर्षिरूप मुनि, यक्ष, राक्षस कहकर यह बताया है, कि कुबेर पुलस्ति एवं विभीषण आदि पक्षियोंसे गरुड़ आदि पक्षी कहे हैं. किन्नर और चारण मी आमन्त्रित किये थे।।१४।।

राजानश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः ।
राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ।।१५।।

श्लोकार्थ : रानियों सहित राजाओंको भी बुलाया गया था, इस प्रकार आमन्त्रित सब पाण्डुके पुत्र राजा युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें आए थे।।१५।।

व्याख्यार्थ : अनन्तर अन्य द्वीपोंमें रहनेवाले राजाओंको बुलाया था. 'च' पदसे ब्राह्मण और वैश्योंका भी आह्वान किया था, न केवल राजाओंको, किन्तु जितनी भी राज महिषियां थीं उनको भी बुलाया था. जिस स्थानका मार्ग आने जानेमें कठिन था वहांसे भी राजसूय यज्ञ में आ गए. 'स्म' यह पद प्रमाणरूपमें दिया है. राजा युधिष्ठिर पाण्डुके पुत्र थे इसलिए वे महान् हैं वे यज्ञ कर रहे हैं वहां चलनेमें किसी प्रकारकी लज्जा नहीं है।।१५।।

आभासार्थ : सब बिना संशयके आ गए जिसका क्या कारण था ? इस पर कहते हैं कि वह कृष्ण भक्त हैं इसलिए निःसंशय आने लगे थे:

मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ।

अयाजयन् महाराजं याजका देववर्चसः ।।
राजसूयेन विधिवत् प्राचेतसमिवामराः ।।१६।।

श्लोकार्थ : उन्होंने यों माना कि महाराजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णचन्द्रका भक्त है, इसलिए इसका यह यज्ञ निर्विघ्न सरलतासे हो जाएगा, अतः इनको किसी प्रकार विस्मय न हुआ. जिस प्रकार देवोंने वरुणको यज्ञ कराया था उसी प्रकार देवों जैसे तेजस्वी ब्राह्मणोंने विधि अनुसार यह यज्ञ युधिष्ठिरद्वारा ही करवाया।।१६।।

व्याख्यार्थ : दूसरोंको यज्ञ करनेकेलिये देश आदिकी शुद्धि चाहिए वह उनकेलिए कठिन है किन्तु युधिष्ठिरको तो इस शुद्धिकेलिए किसी प्रकार श्रम नहीं हुआ, इस कारण विशेष समृद्धि देखकर किसीको अचम्भा न हुआ. पश्चात् यज्ञ करानेवाले ऋत्विजोंने महाराज युधिष्ठिरसे राजसूय यज्ञ कराया. ऋत्विजोंको 'देववर्चसः' विशेषण देकर यह बताया है कि इनमें यज्ञके स्वरूपको प्रकट करनेका सामर्थ्य है. 'विधिवत्' विधिके अनुसार, कहनेका यह आशय है कि इस यज्ञमें वही वस्तु लाई गई थी जो शास्त्रमें लिखी थी. उसके बदलेमें अन्य वस्तु लाकर कार्य नहीं चलाया था. पूर्वकी तरह ही यहां भी दृष्टान्त वरुणका दिया गया है जैसे देवोंने वरुणको यज्ञ कराया वैसे देव जैसे तेजस्वी ऋत्विजोंने महाराजा युधिष्ठिरको कराया है।।१६।।

सुत्येऽहन्यवनीपालो याजकान् सदसस्पतीन् ।
अपूजयन् महाभागान् यथावत् सुसमाहितः ।।१७।।

श्लोकार्थ : यज्ञमें जिस दिन सोम निकाला जाता है वह मुख्य दिन होता है अतः उस दिन राजाने सावधान हो, यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणोंका तथा अन्य आए हुए ब्राह्मणोंका दक्षिणा आदिसे पूजनादि सत्कार किया।।१७।।

व्याख्यार्थ : सोम निकालनेके मुख्य दिनमें जब दक्षिणा देनेका समय आया, तब महाराजाने यज्ञ करानेवाले ऋत्विजोंकी, सभासदोंकी और अन्य भी वहां जो भाग्यवान् थे उन सबकी जैसे आत्रेय पूजाकी विधि कही है वैसे ही क्रोध, लोभ आदि त्यागकर पूजा की, इस प्रकार महाराजाने जो पूजा की वह 'माध्यंदिनसवने दक्षिणा नीयन्ते'[१] इति 'यावन्तो वै सदस्यास्ते सर्वे दक्षिण्याः'[२] इस शास्त्रके वचनानुसार किया।।१७।।

१.मध्यान्ह समयमें सोम निकालनेके समय ऋत्विज दक्षिणा लेकर जाते हैं.

२.जितने सभासद हो वे सब दक्षिणा देनेके योग्य हैं.

आभासार्थ : आधिदैविककी पूजा ही मुख्य यज्ञ है इसलिए अब 'सदस्याग्र्यार्हणार्हं' १८ श्लोकसे 'ऋत्विग्भ्यः' ४७ श्लोक तकके श्लोकोमें यही विचार किया जाता है कि कौन पूजा करनेके योग्य है जिससे आधिदैविक यज्ञकी सिद्धि हो सके:

सदस्याग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः ।
नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात् सहदेवस्तदाब्रवीत् ।।१८।।

श्लोकार्थ : इस सभासदोंमेंसे कौन अग्र पूजाके योग्य है ? यह निर्णय करनेकेलिए सभासद विचार करने लगे, किन्तु इसका अंतिम निर्णय जब न कर सके तब सहदेव कहने लगा।।१८।।

व्याख्यार्थ : बहुत दक्षिणावाले यज्ञमें, सभासदोंमें अग्र पूजाके योग्य अनेक प्रसिद्ध हैं. जैसे कि ब्राह्मणोंमें उत्तम वह है, जो ब्रह्मको पहचानता है. इसलिए ब्रह्मज्ञ याज्ञवल्क्यको जनकके यज्ञमें एक सहस्र गौ दक्षिणामें दीं गई थीं. ब्राह्मणोंमें वही पूजनके योग्य होता है जो ब्रह्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्मको जाननेवाला हो, यों है, यदि यहां स्वरूपको धारणकर प्रकट परब्रह्म विद्यमान(मौजूद) न हो तो वैसी स्थितिमें, जीवोंके बीचमेंसे उस परब्रह्मको जाननेवाला महान् माना जाता है. जहां फिर जिनकी महिमा प्रकट ही है वैसे भगवान् स्वरूप धारणकर बिराजते हैं वहां पूर्व न्यायके अनुसार क्या अनुकल्प[१] ही किया जाय? अथवा भगवान्की अग्र पूजा की जाय? यदि अनुकल्पसे ही प्रारम्भ किया है तो अनुकल्पसे ही समाप्ति करनी चाहिए.

इस विषय पर सभासदोंके विचार पृथक् थे जिससे निर्णय न हो सका.

१.मत यह था कि प्रायः यज्ञोंमें ऋषिगण जब अनुकल्पसे ही कार्य पूर्ण करते हैं, तब यहां भी ब्रह्मज्ञोंमें जो किसी प्रकार श्रेष्ठ हो उसकी अनुकल्प विधि अनुसार पूजा कर लेनी चाहिए, इसलिए व्यास और वसिष्ठ ही पूजा योग्य हैं क्योंकि यज्ञोंमें सर्वत्र ये स्थित(मौजूद) रहते हैं.

२.दूसरोंका मत था कि जब मुख्य वस्तु विद्यमान हो तब अनुकल्पसे कार्य पूर्ण करना अन्याय है अतः भगवान् ही पूजाके योग्य हैं.

३.तीसरोंका मत था कि व्यासजीमें दोनों प्रकार मुख्यता है. भगवान्का ज्ञानावतार होनेसे ब्रह्म भी हैं और ब्रह्मज्ञ भी हैं तथा कुलवृद्ध एवं पितामह होनेसे यह ही

पूजा योग्य हैं.

४.चौथोंका मत था कि सर्व धर्मको जाननेवाले भीष्म उससे भी बड़े हैं अतः वह ही पूजाके योग्य हैं.

५. पांचवोंका मत था कि भीष्मके भी गुरु परशुराम हैं उनका पूजन होना चाहिए.

इस प्रकार सर्वत्र अनेक प्रकारकी युक्तियां दी जा सकती हैं. वहां विषयकी पूर्ण रीतिसे सिद्ध करनेवाला व्यभिचारी हेतु कोई नहीं है. ब्रह्मज्ञता, भगवत्व, मान्यत्व, श्रेष्ठत्व अथवा अन्य गुण और साक्षात् परब्रह्मत्व, सर्व कलाओंसे पूर्णता सच्चिदानन्द विग्रहपन भगवान् कृष्णके इत्यादि गुण कोई ही जानता है, अतः अंशपन सबमें समान होनेसे किसीकी भी, पहले श्रीकृष्णके पूजनमें सम्मति न हुई. सर्व सभासद विचार विमर्श करते हुए किसीको भी सर्वोत्कृष्ट उत्तम) न जान सके, उसमें कारण यह था कि उनको कोई हेतु निर्णय कारक नहीं मिला.

वहां भगवान् कृष्णमें ही साक्षात् पूर्ण परब्रह्मपन एवं सर्वदोष रहितपन पूजाका हेतु है यों माननेवाला सहदेव उस हेतुको सिद्ध करनेकेलिये बोलने लगा, कारण कि वह ज्ञानकलावतार एवं सर्वज्ञ था, उसकी आयु १२ वर्षकी ही थी, यों होते हुए भी बिना पूछनेके बोलनेकी इच्छा नहीं थी, इस विषय पर जिज्ञासाके कारण, सर्व ही पूछे हुए समझने चाहिए, तो भी भगवान्की प्रेरणासे कहने लगा।।१८।।

१.अनुकल्पका तात्पर्य है कि यदि मुख्य वस्तु न मिले तो उसके बदलेमें जिसमें वैसे स्वल्प भी गुण हों उस वस्तुसे कार्य किया जाय.

आभासार्थ : पहिले जिसको सिद्ध करना है वह विषय हेतु देकर 'अर्हति' श्लोकमें सिद्ध करता है:

सहदेव उवाच

अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान् सात्वतां पतिः।
एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः ।।१९।।

श्लोकार्थ : सहदेवने कहा कि वैष्णवोंके पति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अग्र पूजाके योग्य हैं क्योंकि देवता, देश, काल और धन आदि सर्व ये ही हैं और अच्युत हैं।।१९।।

व्याख्यार्थ : श्रीकृष्णकी पूजामें कारण देता है कि वे 'भगवान्' हैं. यदि

कोई कहे कि भगवान्पन तो व्यासादिमें भी है तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि वैष्णवोंके पति हैं व्यासादि वैष्णवोंके पति नहीं हैं, दूसरे जिनमें भगवत्पन है वे कार्यकेलिये भगवान्के अंश पुरुषके रचे हुए प्रपंचमें किसी एक देशके कार्यको सिद्ध करनेकेलिए किसी अंशसे अवतार लिए हुए हैं, श्रीकृष्ण तो वैष्णवोंके पति हैं अतः जो जीव इस कालगृह संसारमें आए हैं उनको लेनेकेलिए आए हैं. कालकी भी वंचनाकर कालगृहसे निकाल ले जायेंगे, क्योंकि आप पति हैं, अतः पतिपनकी मर्यादा रखनेकेलिये स्वयं पधारे हैं. कालसे जिनका सम्बन्ध है वे भगवान्की इच्छासे उनको नहीं पहचान सकते हैं. इसी कारणसे ही श्रीकृष्णका पूर्ण भगवत्व ही पूजाकेलिए अव्यभिचारी कारण है.

यों हो, तो भी प्रकरणानुसार ही विषयका निर्णय करना चाहिए यहां प्रकरण है, देवोंकी प्रीति अर्थात् देवोंको प्रसन्न करना, क्योंकि पहिले ही महाराजाने कहा है कि 'यक्ष्ये विभूतीः' आपकी विभूतियोंका पूजन करूंगा, जो वस्तु सेवकोंको देनी है, वह स्वामीको नहीं दी जाती है. यदि कहो कि लोग स्वामीके दर्शन (मौजुद) होते हुए भी सेवकोंको देते हैं, तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'एष वै देवताः सर्वाः' यह निश्चय सर्व देवरूप है, यदि सकल देवोंको प्रसन्न करनेकी इच्छा होवे तो देवताओंके वासके स्थानसे देवताओंका स्वरूप उत्तम है अतः जितने देवता हैं वे ब्रह्म जाननेवाले ब्राह्मणमें रहते हैं, जिनकी भगवान्में निष्प्रयोजन भक्ति है उनमें सर्व देव रहते हैं. इन वाक्योंमें आदर त्यागकर साक्षात् सर्वदेव स्वरूप भगवान्की ही पूजा करिए.

'अग्नि सर्वदेवरूप है' 'जल सर्वदेवरूप है' ऐसा जो उपाख्यानोंमें इनको सर्वदेवरूप कहा है वह गौणतासे कहा है, इसलिए इस प्रकारका उपचार नहीं हुआ है, यह जतानेकेलिए 'एष वै देवताः सर्वाः' इस मन्त्रमें 'वै' निश्चयवाचक पद दिया है. जैसा कि कहा है देव असुरोंके युद्ध में, देवता डरकर अग्निमें प्रविष्ट हुए इसलिए ही कहते हैं कि अग्नि सर्वदेवरूप है वैसे ही अग्नि देव भी जलमें प्रविष्ट हुआ, इस प्रकार किसी निमित्तसे ही सबका सर्वदेवरूपपन जो कहा है वह गौण ही है. स्वभावसे तो भगवान् ही सर्वरूप हैं. 'कदाचित्सर्वमात्मैव भवति' किसी समय आत्मा ही सब होता है, इस मतानुसार वे देव भी श्रीकृष्ण स्वरूपमें ही पूज्य हैं. 'इन्द्रादयो बाहवः' इन्द्र आदि देव भुजाएं हैं, इत्यादि प्रमाणसे आधिदैविक ही यज्ञका भाग लेनेवाले हैं. यों है, तो भी किस देशमें, किस कालमें, वहां प्रारम्भ

किया हुआ यज्ञ ऋषियोंके आधीन होनेसे उस देश और कालके अभिमानी देव ही प्रकरण वश पूजाके योग्य होते हैं. इस प्रकारकी शंकाका उत्तर देते हैं कि देश, काल, धन भी वही है. शंका करते हैं कि योग्यका सम्बन्ध योग्यसे ही होना चाहिए, धनादि पदार्थ प्राकृत हैं, वे साक्षात् अप्राकृत भगवान्को कैसे दिए जा सकते हैं? लोकमें शुद्र भी अपनी कन्या ब्राह्मण, गुरु वा स्वामीको नहीं देता है, किन्तु अधम शुद्रको ही देना चाहता है, आदि शब्दसे वस्त्र, आभूषण, गौ आदि कही जाती हैं।।१९।।

आभासार्थ : श्रीकृष्णमें ब्रह्मत्व है अर्थात् श्रीकृष्ण ब्रह्म है इसलिए इनकी ही अग्र पूजा करनी चाहिए, इस ब्रह्मत्वको 'यदात्मकमिदं विश्वं' श्लोकमें सिद्ध करता है:

यदात्मकम् इदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः ।।
अग्निराहुतियो मन्त्राः सांख्यं योगश्च यत्परः ।।२०।।

श्लोकार्थ: यह विश्व और यज्ञ जिस श्रीकृष्णके रूप हैं, अग्नि, आहुतियां एवं मन्त्र भी जिसके रूप हैं, सांख्य तथा योग भी जिसके परायण हैं।।२०।।

व्याख्यार्थ : यह विश्व इन(श्रीकृष्ण)का रूप है जिसमें यशोदा प्रमाण है. केवल विश्वकी आत्मा होनेसे ही श्रीकृष्णका ब्रह्मत्व नहीं है किन्तु वेदके अर्थ जो यज्ञ हैं इनके भी आत्मा ये ही हैं अर्थात् यज्ञ भी इनके रूप हैं, जिसमें वराह अवतार प्रमाण है. सर्व यज्ञोंका स्वरूप प्रकट करते हुए इस(वराह) रूपसे भगवान् प्रकट हुए. सब अग्निमें होमा जाता है, इससे अग्निकी प्रीति करनी चाहिए, इस मतके प्रकरणानुसार ही कहा है कि अग्नि भी यह ही हैं, अग्नि ही ब्रह्म होनेसे अग्नि पूजाके योग्य है, आहुतियां भी इनके ही रूप होनेसे पूजनीय हैं. प्रकरण वश मन्त्रका अभिमानी देवता पूज्या है इसलिए कहा मन्त्र भी इनके ही रूप हैं, तो भी शास्त्रके अनुसार जो महान् होवे वह ही महान् समझना चाहिए और उसकी पूजा करनी चाहिए, युक्तिसे कुछ नहीं करना चाहिए, इस प्रकारकी शंकाका उत्तर देते हैं कि 'सांख्य योगश्च यत्परः' सांख्य और योगका भी इनमें ही तात्पर्य है. वेद आदि जो पांच शास्त्र हैं वहां ब्रह्मत्व और यज्ञत्व सिद्ध हो जानेसे वेदका अर्थ सिद्ध हो गया. सांख्यका तात्पर्य इनमें इसीलिए है कि स्नेहसे सबका आत्मापन सिद्ध हुआ है, सब आत्मा है, इस सांख्य ज्ञानके कारण ही सब प्रिय लगता है. योगानुसार ध्यान योग्य मूर्ति भी ये ही हैं इसलिए कि आत्मा हैं, इसकेलिए ही इनमें

चित्तकी वृत्तिका निरोध योग कहा है. चित्तको आत्माके ही अधीन करें, इस प्रकार वाक्यसे तात्पर्य है. 'च' पदसे पशुपति मतका भी यहां ही(श्रीकृष्णमें ही) तात्पर्य है, जैसा कि स्कन्द पुराणमें महादेवजीने स्कन्दको कहा है कि 'परमो विष्णुरेवैकस्तज्ज्ञानं परमं मतम्. शास्त्राणां निर्णय–स्त्वेषस्तदन्यन्मोहनाय हि' एक विष्णु ही बड़ा है, उनका ज्ञान ही परम ज्ञान है शास्त्रोंका यह ही निर्णय है. अन्य प्रकार जो कुछ कहा है वह मोहित करनेकेलिए कहा गया है, वैष्णव सिद्धान्तमें तो इस विषयमें कोई सन्देह ही नहीं है. अतः सर्व शास्त्रोंका इन(श्रीकृष्ण)में ही तात्पर्य है, इस प्रकार अर्थ(तत्त्व) है।।२०।।

आभासार्थ : तो भी यदि श्रीकृष्णमें ब्रह्मके लक्षण नहीं हों तो वे ब्रह्म कैसे ? इसका उत्तर 'एक एवाद्वितीयो' श्लोकमें देता है:

एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।
आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः ।।२१।।

श्लोकार्थ : ये श्रीकृष्ण ही एक और अद्वितीय हैं तथा इस जगत्के आत्मा भी ये श्रीकृष्ण ही हैं, हे सभासदों ! आप ही अपने आश्रयरूप और अजन्मा ये ही जगत्को बनाते हैं, पालते हैं और लीन करते हैं।।२१।।

व्याख्यार्थ : वेदान्तोंमें(उपनिषदोंमें) ब्रह्म एक है एवं अद्वितीय है, इसी प्रकारका लक्षण कहीं कहा गया है, किसी निर्णय करनेवाले शास्त्रमें कहा है कि 'विश्वं ब्रह्म' विश्व ब्रह्म है इस कारणसे ही 'विश्व' यह पहला नाम है फिर अन्यत्र ''स आत्मानं स्वयमकुरुत'' इस श्रुतिमें कहा है कि उन्होंने अपनेको आप(आप ही विश्वरूप बने) ही किया. जो अपनेको आप ही अनेकरूप विश्व कर सकते हैं वे ही आत्मा ब्रह्म हैं और जो अपना आश्रय भी आप ही हैं, वह ब्रह्म है और जिससे ये प्राणीमात्र उत्पन्न होते हैं, इन और अन्य श्रुतियोंसे सिद्ध है कि सृष्टि और प्रलय करनेवाला ही ब्रह्म है, जो कि सर्वके अन्तर्यामी सर्वके प्रेरक वे ही ब्रह्म हैं, 'अन्तरो यमयति' इस श्रुतिके अनुसार जो अन्दर विराजमान हैं वे ही वश करते हैं अर्थात् सर्वके अन्तर्यामी भीतर ही बैठकर जो सबको प्रेरणा कर रहे हैं, वे ही ब्रह्म हैं. इसी भांति अनेक वाक्योंके आग्रहसे सर्व धर्मसे उत्पन्न जो कुछ है वह सर्व भगवान्में रहा हुआ है यों कहने लगा.

ये एक ही हैं, इस विषयमें महापुरुषोंकी दृष्टि ही प्रमाण है, क्योंकि वे ही सर्वत्र सर्वमें श्रीकृष्णका ही दर्शन कर रहे हैं, और वे ही अद्वितीय हैं, क्योंकि

''ज्योतींषि विष्णुः'' इस श्रुतिमें तारोंको भी विष्णु कहा है, इस तरह उन महापुरुषोंका अनुभव भी इस विषयमें प्रमाण है. वे अन्य होंगे ? इस शंकाके उत्तरमें कहता है कि 'असौ' वे ये ही हैं, जैसे कि कहा है 'सर्वेषामेव भूतानां पिता माता स माधवः, तमेव शरणं यात शरण्यं कौरवर्षभाः' यह श्लोक मार्कण्डेय पुराणका है, मार्कण्डेय ऋषिने दोनोंमें इनको ही देखा था, अतः कौरवोंको इस श्लोकमें यह उपदेश दिया है कि सब ही प्राणियोंके माता पिता वे माधव[१] ही हैं अतः हे कौरव श्रेष्ठों! उन शरण्यकी शरण लो और फिर 'ऐतदात्म्यमिदं जगत्' इस जगत्की आत्मा वे ही हैं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दुर्वासाने देखकर आरण्यक पर्वमें कहा कि ये ही सबकी आत्मा हैं अन्यथा इनके शाकके पत्ते खानेसे सब तृप्त कैसे हो जाएं? और विशेषमें ये ही अपने आपके ही आश्रय होकर आत्म स्वरूप जगत्को बनाते हैं, पालते हैं और लीन करते हैं किन्तु आप अजन्मे ही रहते हैं इसमें प्रमाण आप सभ्य हैं यह सम्बोधन सम्मति लेनेकेलिये दिया है।।२१।।

१.''स वै'' का तात्पर्य है जिसका दर्शन मैंने पर्णपुट(दोने)में किया है.

विविधानीह कर्माणि जनयन् यदवेक्षया।
ईहते यदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम्।।२२।।

श्लोकार्थ : ये ही भगवान् इस जगत्में अनेक प्रकारके कर्म उत्पन्न करते ही रहते हैं, उनकी ही कृपासे सब लोग अनेक प्रकारके शुभकर्मकर धर्मादि पुरुषार्थ सिद्धकर कल्याण प्राप्त करते हैं।।२२।।

व्याख्यार्थ : जो श्रीकृष्ण इस जगत्में अनेक कर्म उत्पन्न करते हुए विराजते हैं 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचम्' इस वाक्यके अनुसार अन्दर प्रवेश कर, जो मेरी वाणीको प्रेरणा करते हैं ये भगवान् ही सर्व कर्मोंको उत्पन्न करते हैं इसमें भी आप सभ्य होनेसे प्रमाण हैं. साक्षी तो ये ही हैं क्योंकि हम सब लोग जिनके सहारे सेवा कृपा दृष्टिसे ही धर्म आदि रूप कल्याण प्राप्त करनेकेलिए प्रयत्न कर सकते हैं, भगवान्की कृपा दृष्टिके बिना श्रेयकी सिद्धि नहीं हो सकती इस विषयमें हम ही प्रमाण हैं।।२२।।

तस्मात् कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम्।
एवं चेत् सर्वभूतानाम् आत्मनश्चार्हणं भवेत्।।२३।।

श्लोकार्थ : इसलिए महात्मा श्रीकृष्णचन्द्रको ही अग्र पूजा दीजिए यों करनेसे सब प्राणियोंकी और अपनी भी पूजा हो जाएगी।।२३।।

व्याख्यार्थ : भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण परब्रह्म हैं जिसमें किसी प्रकार अयोग्यपन नहीं है. सब प्रकारकी उपपत्तियां विद्यमान(मौजूद) हैं इसलिए इनकी ही पूजा कीजिए.

यों है तो भी हमारी अपेक्षा वे छोटे हैं, मामाके बेटे हैं वे दान कैसे लेंगे? इस शंकाको मिटाते हैं कि ये 'महान्' हैं क्योंकि उन्होंने अपनेमें विश्वरूपका दर्शन कराया है तथा 'माता पिता' हैं यों पहले कह आये हैं, इस वाक्यसे भी उनका महान्पन सिद्ध है, उनका अल्पत्व मोहके कारण ही हम लोग समझते हैं, अथवा हमको मोहमें फंसानेकेलिए अल्पत्व प्रकट करते हैं, अतः इनका पूजन साधारण नहीं करना किन्तु महान् पूजन करना चाहिए.

यों करने पर क्या विशेषता अथवा अलौकिक होगा? अतः जैसे व्यासादि ही कोई ऋषि पूजाके योग्य हो वैसे ही करना चाहिए, इसके उत्तरमें कहता है कि यदि यों किया जायेगा तो असमंजसता(दुविधा) होगी, क्योंकि यहां बहुत एक समान बैठे हैं, सबकी साथमें पूजन करना अशक्य है तो एककी पूजासे दूसरेका द्रोह(अपमान) होगा, इस प्रकार प्रत्यक्ष विरोध है और ''योऽन्यां देवतामुपास्ते''(दुसरे देवकी पूजा करते हैं) इस श्रुतिका भी विरोध होगा, अतः उसका यह अग्रपूजन किया जाय जिसके करनेसे सब प्रसन्न एवं तृप्त हों ऐसे तो ये श्रीकृष्ण ही हैं इस प्रकार यदि पूजा दान करनेमें आवे तो सर्वभूतोंका, अपना भी पूजन हो जाएगा।।२३।।

आभासार्थ : 'सर्वभूतात्मभूताय' श्लोकसे इसमें कारण बताता है:

सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने।
देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यम् इच्छता।।२४।।

श्लोकार्थ : जो मनुष्य दानका अनन्त फल चाहता हो उसको चाहिए कि सर्व प्राणीरूप और आत्मारूप हुए अन्य कुछ भी न देखनेवाले, शांत और पूर्ण स्वरूप इन श्रीकृष्णको ही पूजा दान देवें।।२४।।

व्याख्यार्थ : सर्व प्राणिरूप और आत्मरूप बने हुएको ही दान करना चाहिए, वेदव्यासको दान नहीं करना चाहिए इसलिए 'कृष्णाय' एक वचन देकर स्पष्ट कर दिया है कि कृष्णके सिवाय अन्य किसीको भी पूजा दान नहीं देना चाहिए.

यों होते हुए भी यदि अवतार धारणकर श्रीकृष्ण किसी समय अपनेको

अवच्छिन्न मान लें तो इस दोषके कारण, दान लेनेके योग्य न होंगे, इस प्रकारकी शंका होने पर यह दूसरा विशेषण 'अन्य कुछ भी नहीं देखते हैं' दिया है, अर्थात् सब मैं ही हूं, यों ही देखते हैं, प्रसंगके कारण दूसरा कोई भी दोष उनमें नहीं है क्योंकि शान्त और पूर्ण दो विशेषण दूसरे भी दिये हैं. जिसका तात्पर्य है कि शान्त होनेसे दानके पात्र हैं, पूर्ण होनेसे लोभीपन, और क्रोध ये दोष भी नहीं हैं. इस प्रकार जो निर्दोष और पूर्ण गुण वाले हैं उनमें दान अत्यन्त फलदायी होता है।।२४।।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत् तूष्णीं कृष्णानुभाववित्।
तच्छ्रुत्वा तुष्टुवः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः ।।२५।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णके प्रभावको जाननेवाले सहदेवने इनके वचन कहकर मौन धारण किया, ये वचन सुनकर सब प्रसन्न हुए और धन्य-धन्य कहकर प्रशंसा करने लगे।।२५।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार युधिष्ठिरको कहकर स्वयं कुछ उद्यम न कर चुप रह गये, नहीं तो स्वयं(खुद) पूजाकेलिए बलपूर्वक पूजाकी सामग्री सिद्ध करते, जिसमें(सामग्री सिद्ध न करने में) कारण कि श्रीकृष्णके प्रभावको जाननेवाले थे, भगवान् स्वयं यदि अग्रपूजा चाहते होंगे तो सबके हृदयमें वैसी ही प्रेरणा करेंगे, जिससे इच्छित कार्य सिद्ध हो जायगा, यहां भगवान्के धर्म प्रकट होते हैं, भगवान्की इच्छा क्या है? इसका निश्चय न जाननेसे मौन धारण की. पश्चात् भगवान्की इच्छासे उसके वाक्य सबको योग्य लगे(पसन्द आए). इसलिए कहते हैं कि वे वचन सुनकर सब ही कहने लगे कि इसके कहे हुए वचन युक्तियुक्त हैं, इसलिए सबने धन्य-धन्य कहा जिससे भगवान् एवं सहदेव प्रसन्न हुए. यहां देत्यांशोंने सहदेवके वचनोंकी स्तुति(प्रशंसा) नहीं की, यदि करते तो उनके नाशमें वह स्तुति रुकावट हो जाती अर्थात् वे मरते नहीं, उनके बचनेमें भगवान्की इच्छा भी नहीं थी, इसलिए ही जो दैत्यांश न थे, उत्तम ही थे उन्होंने स्तुति की।।२५।।

आभासार्थ : पश्चात् सबकी सम्मति जान, शाप आदिके भयको त्याग भगवान्की पूजाकेलिए युधिष्ठिर प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन 'श्रुत्वा द्विजेरितं', श्लोकमें वर्णन करते हैं:

श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम्।
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणय विह्वलः ।।२६।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मणोंके वचन सुन, सभासदोंका अभिप्राय जानकर, प्रसन्न तथा प्रेमसे विह्वल राजाने इन्द्रियोंके ईश भगवान्का पूजन किया।।२६।।

व्याख्यार्थ : वहां जो भी ब्राह्मण उपस्थित थे सबने सहदेवके बचनोंसे सम्मति दिखलाते हुए धन्य-धन्य कहा. उनके यह वचन सुन, आप राजा हैं अतः उनका आशय भी समझकर तदनुसार करने लगा, क्योंकि वहां वादियोंने कोई विवाद भी नहीं किया, जिससे राजा उनकी भी सम्मति जानकर, पश्चात् इन्द्रियोंके प्रेरक अन्तर्यामीकी, उनकी प्रेरणासे पूजा करने लगा. प्रसन्न हो पूजा करने लगा, इससे यह जताया है कि अन्तःकरणसे पूजा करने लगा न कि ढोंगसे दिखावा करने लगे, प्रेमसे विह्वलका भावार्थ है कि इन्द्रियोंसे भी पूजा की, शरीरसे तो (जो) कर रहे हैं वह सब देखते ही हैं।।२६।।

आभासार्थ : उनकी पूजाका प्रकार कहते हैं:

तत्पादाववनिज्यापः शिरसा लोकपावनीः।
सभार्यः सानुगामात्यः सकुटुम्बोऽवहन्मुदा।।२७।।

श्लोकार्थ : भगवान्के चरण धोकर जगत्को पवित्र करनेवाला यह जल, राजाने स्त्रियों, छोटे भाई, अमात्य और कुटुम्बके साथ आनन्द पूर्वक शिर पर चढ़ाया ।।२७।।

व्याख्यार्थ : चरणोंका जल शिर पर धारण करना श्रद्धाका बोधक है, यदि श्रद्धा न होवे तो दिया हुआ दान व्यर्थ है, अतः लोकोंको पवित्र करनेवाला चरणोंका जल स्वयंने स्त्रियों, छोटे भाई, सेवक, मन्त्री और कुटुम्ब सहित अपने-अपने शिर पर चढ़ाया, यों करनेसे सबकी श्रद्धा और सम्मति प्रदर्शित की है।।२७।।

आभासार्थ : पीताम्बर आदि वस्त्रोंसे पूजन कहते हैं:

वासोभिः पीतकोशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः।
अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत् समवेक्षितुम्।।२८।।

श्लोकार्थ : पीले रेश्मी वस्त्र और अमूल्य आभूषणोंसे जब पूजन किया, तब राजाके नेत्र आंसुओंसे भर गए जिस कारणसे वे देख भी नहीं सके।।२८।।

व्याख्यार्थ : श्रीकृष्ण पूजन करनेके योग्य थे, इसलिए उनका पीले रेशमी वस्त्रोंसे और अत्यन्त कीमती अलंकारोंसे पूजन किया. प्रसन्नता तो भीतर हृदयमें ही स्थित थी, भक्तिसे जब पूजन किया जाता है, उस समय अंगमें विकलता नहीं

होती है, इसलिए कहा है कि 'पूजयित्वा' अर्थात् पूजा करनेके अनन्तर जो प्रेमानन्द उत्पन्न हुआ उससे नेत्रोंमें जल भर गया जिस कारणसे युधिष्ठिर, अभिलषितके दर्शन भी न कर सका. जिसका अन्तः तात्पर्य यह है कि भगवान्के दर्शनके उपभोगसे वह व्यथित नहीं हुआ अर्थात् उसका आधिदैविक पूजन पूर्ण ही हुआ।।२८।।

आभासार्थ : यह आधिदैविक धर्म उत्तम है यह बतानेकेलिए सर्वने धन्यवाद दिया, यह 'इत्थं' श्लोकमें कहते हैं:

इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जनाः ।
नमो जयेति नेमुस्तं निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।।२९।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार मनुष्य, भगवान्का सत्कार हुआ देख हाथ जोड़ 'नमो जय' ऐसा शब्द उच्चारते हुए प्रणाम करने लगे, तब पुष्पोंकी वर्षा होने लगी।।२९।।

व्याख्यार्थ : ईर्ष्या बिना काया, वाणी और मनसे स्तुति की. 'हाथ जोड़े' यह कायाकी क्रिया की है, 'प्रणाम किया' यह मनकी क्रिया की है, 'नमो जय' यह वाणीकी क्रिया की है अर्थात् लोगोंने इस प्रकार काया, वाणी और मनकी क्रियासे बिना मत्सरके स्तुति की है न केवल पृथ्वी पर स्थित लोगोंने किन्तु देव लोकोंमें रहनेवालोंने भी पुष्प वृष्टि कर अपनेमें मात्सर्यका अभाव दिखाया एवं स्तुति करनेका भी प्रमाण दिया, यह भगवान्का सत्काररूप धर्म सबसे उत्तम हुआ है यह भी यों करनेसे बताया है।।२९।।

आभासार्थ : दैत्यांशने अभिनन्दन नहीं किया, किन्तु भगवान्की निन्दा कर शत्रुता प्रकट की. यह ही अर्थ(कार्य) भगवान्को इच्छित था, उनके यों करनेसे स्वयं ही अपनी मृत्युका कारण बना जिससे स्वयं भगवान्ने उसको मारा, भगवान् सर्वात्मा होनेसे उसकी भी आत्मा हैं अतः उसके भी भोगकेलिए बाधकांशका निराकरण कर दिए हुए सायुज्यका भी निरूपण करते हैं, वहां प्रथम भगवान्की अग्रपूजा देख दैत्यको क्षोभ हुआ, जिसका वर्णन 'इत्थं निशम्य' श्लोकमें करते हैं:

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठाद् उत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।
उत्क्षिप्य बाहुम् इदम् आह सदस्यमर्षी संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः ।।३०।।

श्लोकार्थ : दमघोषका पुत्र, शिशुपाल इस प्रकार, श्रीकृष्णके

गुणोत्कर्षके वचन सुनकर, अपने आसनसे उठा, भगवान्के गुण वर्णनसे क्रोधमें भर गया, भगवान्का महत्त्व न सह सकनेसे भुजा उठा, निर्भय हो सभाके मध्यमें भगवान्को निम्न प्रकारके अपशब्द सुनाने लगा।।३०।।

व्याख्यार्थ : सर्व लोगोंने जो भगवान्की अग्र पूजाका अनुमोदन किया और स्तुति की, उसको सुनकर, दूषित अहंकारकी जो लोकोंमें गर्जना उसका रूप 'दमघोष' था जिसका पुत्र यह शिशुपाल था. अतः बीज और योनिके दोषोंके कारण वह भी दुष्ट ही हुआ है, अपने आसनसे उठकर खड़े हो बोलने लगा, क्योंकि उसने समझा कि बैठकर बोलूंगा तो सब नहीं सुनेंगे, आसनसे उठनेका वास्तविक आशय यह था कि 'भगवान्ने अपने गुण जब प्रकट किये तो सिंहासनमें भी भगवान्के गुण प्रकट हुए,' जिससे वह उस सिंहासन पर बैठ न सका, उससे उसको उठना ही पड़ा क्योंकि वैसे आसन पर ऐसा दुष्ट बैठ नहीं सकता है, वह भगवान्के गुणश्रवणका अधिकारी ही नहीं था, जिससे गुणोंके सुननेसे आनन्दके स्थान पर उसको क्षोभ(दुःख) हुआ, इससे यह प्रमाणित होता है कि वह दैत्यांश है, जो भगवत्सम्बन्धी विषय सुनकर सहन नहीं करता है प्रत्युत सन्तप्त होता है और उसके विरुद्ध बोलने लगता है. यज्ञमें दैत्यका सम्बन्ध योग्य नहीं होनेसे भगवत्प्रेरणासे ही वह अयोग्य वचन कहने लगा, जो वैसे शब्द न बोले तो मारनेके योग्य न होता. देव, मनुष्य और पितर एक तरफ और असुर, राक्षस तथा पिशाच दूसरी तरफ 'अपाहता असुरा रक्षांसि पिशाचा वेदिषदः' इस मन्त्रलिंगसे सर्वदा असुरादि निराकरणके योग्य हैं. किन्तु यह दैत्यांश होते हुए भी बान्धव वेषधारी होनेसे प्रकट देखनेमें नहीं आता था इसलिए इसका वध कठिन था, उसकेलिए इतना कहा जाता है. हाथ ऊपर लम्बा कर बताया कि मेरी क्रियाशक्ति बलवान्(जबर्दस्त) है अतः सभामें निम्न ढंगसे बोलने लगा, सभामें इस तरह कहने लगा कि जिससे वहां बैठे हुए लोगोंको एवं भगवान्को कहे हुए अपशब्दोंका ज्ञान सबको हो जाय, सबको और भगवान्को बार-बार कठोर तथा अपशब्द सुनाता हुआ यह सिद्ध कर रहा था कि यह सबका शत्रु है. बोलते हुए डरता ही नहीं था ज्यों आया त्यों अनर्गल बोलने लगा जिससे अपना वध होना सबकेलिए अशक्य है यह सूचित करता था।।३०।।

आभासार्थ : वैसेने सबको जो उपालम्भ दिए अर्थात् जिस तरह सबकी निन्दा की, वे वचन 'ईशो' श्लोकमें कहते हैं:

शिशुपाल उवाच

ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ।

वृद्धानामपि यद्बुद्धिः बालवाक्यैर्विभिद्यते ।।३१।।

श्लोकार्थ : शिशुपाल कहने लगा कि काल और ईश अलंघ्य हैं यह श्रुति सत्य है क्योंकि समय बलसे वृद्धोंकी बुद्धि भी बालकोंके कहने पर बदल जाती है।।३१।।

व्याख्यार्थ : सभासद ही सभामें अच्छे और बुरेको विचारते हैं अतः उनको उपालम्भ(उल्हाना) देना उचित है, यहां जो दैत्यांश समीपमें स्थित हैं तो भी उसको नहीं निकालते हैं, यहां धर्मस्थानमें जो अयोग्य हो रहा है उसका कारण काल ही है, क्योंकि उसका स्वभाव दो प्रकारका है कभी धर्मको अंगीकार करता है अर्थात् कभी धर्ममें प्रवृति कराता है और कमी अधर्मको अंगीकार करता है अर्थात् कभी अधर्ममें प्रवृत्ति कराता है. कारण कि 'ईश' होनेसे सर्व समर्थ हैं, कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता है, इसलिए कालके माहत्म्यको बोलनेवाली श्रुति सच्ची है. 'स कालो यद्वशे लोकः' जिसके वशमें लोक है वह 'काल' है, तूने कोई कालका विपरीत धर्म देखा? इसके उत्तरमें कहता है कि हां, मैंने देखा. कैसे? जो मैंने देखा वह सब आप क्या नहीं देख रहे हैं कि कालने एक बालकके वचनोंसे वृद्धोंकी बुद्धि भी बदला दी है, दोनों प्रकार सभासद वृद्ध हैं यदि उनकी निन्दा करता है तो सहदेव अभी बालक है उसके कहनेसे कृष्णकी अग्रपूजामें सम्मति देकर वह कराई है, यदि स्तुति करता है तो यों अर्थ होता है कि शिशुपाल मांसका ढेर है उसमें कोई धर्मका कारण, इन्द्रिय वर्ग वा जीव नहीं है अतः यह राक्षसोंके योग्य है, कालका यह विपरीत गुण है जो ऐसे मांसके ढेरके कहनेसे वृद्धोंकी बुद्धि फिर जायगी. (तात्पर्य यह है कि शिशुपालके कहनेमें यद्यपि सहदेव बाल है इसलिए निन्दा देखनेमें आती है किन्तु शिशुपाल जो मांसका ढेर है यदि उसका कहना वृद्ध मान लें तो सहदेवका कहना योग्य होनेसे उसकी स्तुति हो जाती है उसका ही कहना योग्य समझ बूढोंने माना है परन्तु शिशुपालका नहीं) शिशुपाल अकेला ही सभामें, जचा त्यों विरुद्ध कहने लगा जिससे जताया है कि काल मेरे अनुकूल है, यह सभासदोंका दूसरा दोष है।।३१।।

आभासार्थ : फिर सभासद मेरे वचन सुने इसलिए उनकी 'यूयं पात्र' श्लोकसे स्तुति करता है:

यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषितम् ।
सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत् सम्मतोऽर्हणे ।।३२।।

श्लोकार्थ : हे सभासदों ! आप सब पात्रके जाननेवालोंमें उत्तम हैं, इस बालकका कहा मत मानों, भला यह कृष्ण अग्र पूजनके योग्य है? नहीं।।३२।।

व्याख्यार्थ : केवल विद्या वा तपस्यासे भी योग्यता प्राप्त नहीं होती है इस प्रकार अधिकारीके स्वरूपको जो जानते हैं उनमें श्रेष्ठ आप अधिकारीपनकी सूक्ष्मताको जाननेवाले हैं इसलिए बालका कहा हुआ अथवा मेरा कहा हुआ मत मानों, बालकके कहनेसे पात्रका निर्णय नहीं करना चाहिए, किन्तु आप अपनी बुद्धिसे ही निर्णय करो, क्योंकि आप सब ही ऐसे हैं जो सभामें प्रवृत्ति और निवृत्ति करानेके हेतु हैं यों कहना भी स्तुति ही है, अब सभासदोंने जो अनुचित कार्य किया, वह भाग कहता है कि 'कृष्ण' कृष्णकी पूजामें समीप रह सम्मति दिखाई यह अनुचित किया, कृष्ण यह नाम दुष्टके मुखसे निकलनेके कारण मलीनताके संयोगसे मलीन ही निकलता है, यही शिशुपालके कहनेका सार है, अर्थात् शिशुपाल स्वयं काला मलिन है अतः उसने कृष्ण शब्द भी उसी भावसे कहा है, यों अनुचित कार्य सभासद करेंगे तो यज्ञके कार्यमें विलम्ब होगा।।३२।।

आभासार्थ : आप भी क्षत्रिय हैं जिससे समीपवाला बांधव है, इससे समीप रहनेसे कौनसा दोष है ? इस प्रकारकी शंकाका उत्तर देता है:

तपोविद्याव्रतधरान् ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ।
परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् लोकपालैश्च पूजितान् ।।३३।।

श्लोकार्थ : तपस्या, विद्या और व्रतधारी, ज्ञानसे कल्मषोंको नाश किये हुए और लोकपालोंसे पूजित तथा ब्रह्मनिष्ठ परम ऋषियोंका अतिक्रमण कर कुलकलंक कैसे पूजा जाता है ? ।।३३।।

व्याख्यार्थ : श्रीकृष्णकी निन्दाके पक्षका जब समर्थन किया जाता है तब लोक प्रसिद्ध अर्थ ही लिया जाता है, पूजनके योग्य पात्रमें तपस्या और विद्या ये दो लक्षण होने चाहिए, वशिष्ठ स्मृतिमें कहा है कि ''**आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः**'' आचारोंसे जो हीन है उसको वेद भी पवित्र नहीं करते हैं, इससे व्रत अर्थात् नियममें रहनेवाला ही पूजनके योग्य है यों बताया है. विशेष क्या कहा जाय यहां तो भगवान्के व्रत पर्यन्त व्रत धारण करनेवाले यहां उपस्थित हैं, पात्रमें जो गुण चाहिए वे दिखाकर अब उनमें दोषोंका अभाव भी है यों दिखाता है,

'ज्ञानविध्वस्त कल्मषानिति' ज्ञानद्वारा सब दोष जिन्होंने भस्म कर दिए हैं जैसा कि गीतामें कहा है '**ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणी**' ज्ञानरूप अग्नि सर्व कर्मोंको नाश कर देती है अर्थात् सर्वकी अपेक्षा ज्ञान पापको मिटानेमें समर्थ है, इतना तो साधारण ब्राह्मणोंमें भी होता ही है, आप तो मन्त्रदृष्टा महान् ऋषि हैं यों कहकर बताया है कि तुम पूर्वकाण्ड(कर्मकाण्ड)के प्रवर्तक हो, फिर विशेषता यह है कि पूर्वकाण्डके प्रवर्तक होते हुए ब्रह्मनिष्ठ भी हो, अर्थात् उत्तर काण्डके प्रवर्तक भी आप ही हैं, इस कारणसे लोकमें मान पात्र हुए हो, यों बतानेकेलिए कहता है 'लोकपालैश्च पूजितान्' लोकपालोंको भी फल देनेमें समर्थ हो।।३३।।

सदसस्पतीनतिव्रज्य गोपालः कुलपांसनः।
यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति।।३४।।

श्लोकार्थः ऐसे योग्य लक्षणवाले सभाके स्वामी, बडे ऋषिरूप सभासदों का उल्लंघनकर, इन्द्रियोंके पोषक, कुलाधम जैसे कौआ यज्ञके चरुके समीप रहनेके भी योग्य नहीं है, वैसे यह भी पूजाके योग्य कैसे बन सकता है? ।।३४।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकारके सभाके स्वामियोंका उल्लंघन करना यह अतिक्रम दोष है, उनके समीपमें मेरी स्थिति योग्य नहीं है, किन्तु सभासदोंकी ही पूजनके समीप स्थिति योग्य है. जिसमें कारण अपने दूषण कहता है 'गोपालः' 'कुल पांसनः', १.इन्द्रियोंका पोषक हूं, २.कुलकलंक हूं, ३.कौए जैसा हूं अर्थात् जैसे कौआ यज्ञकी बलिके पास रहने अथवा लेने योग्य नहीं वैसे मैं भी हूं. इस प्रकार ये अपने ही दूषण प्रकट करता है, पांच गुण सभासदोंके कहे और तीन दोष अपने कहे, आचार्यश्री इसको स्पष्टकर समझाते हैं कि पृथ्वीकी पालना करनेवाला राजा यह दोष शिशुपालमें है, क्योंकि 'दश वेश्या समो नृपः' इस वाक्यके अनुसार राजा दश वेश्याके समान है, अतः पृथ्वीपालक क्षत्रियाधम शिशुपाल है, जिससे सारा चैद्यवंश निन्दाका पात्र हुआ है. वास्तविक वे राजा लोग तो सहस्रोंमें पंक्तिको पवित्र करनेवाले हैं, फिर जैसे कौआ यज्ञकी बलियोंके समीप रहनेके योग्य नहीं वैसे मैं भी पूजाके पास रहनेके योग्य नहीं हूं. कारण कि यदि कौआ यज्ञ बलिके ऊपरसे उड़े तो भी दोष है क्योंकि ऊपर उड़नेसे कौएकी समीपता हो जाती है वह उचित नहीं है, वह तो दूर रहकर ही बलिके लेनेके योग्य है. समीपमें रहनेके योग्य नहीं कारण कि कौएके सामीप्यसे बलिका नाश हो जाता है. वैसे मैं भी पूजाके समीप रहने योग्य कैसे बन सकता हूँ, श्रीकृष्णकी निन्दाके

पक्षमें 'गोपालः' 'कुल पांसनः'का भावार्थ यों है कि बचपनमें तो अन्यायी व्यवहार पश्चात् परस्त्रियोंका हरण आदि अपकीर्तिके कार्य किये हैं.

अन्य प्रकारसे भावार्थ प्रकट करते हैं 'काकः' पद न लेकर 'अकाकः' पद लेते हैं जिसका अर्थ करते हैं कि 'कम्' सुख 'अकम्' दुःख ये दोनों जिसमें नहीं वह अकाक है. सुख दुःख जिसको नहीं वैसे शुक आदि हैं, वे 'पुरोडाश' अर्थात् कर्म मार्गके पास नहीं रह सकते हैं. वैसे मैं भी पूजनके समीप नहीं रह सकता हूं.

'गोपालः' पदका भावार्थ कहते हैं कि जो वेद रक्षक है और कुल पवित्र करनेमें प्रवीणोंको अथवा कुल रक्षकोंको कन्धे पर चढ़ा कर ले जाते हैं वैसे श्रीकृष्ण गोपाल हैं, इस नामसे वास्तवमें भगवान्को सत्पुरुषोंके रक्षक कहा है अतः वैसे भगवान् भौतिक कर्मके अध्यक्षपनके योग्य नहीं हो सकते हैं, कितने ही इस प्रकार इन शब्दोंको भगवत्परायण लगाते हैं, वह भाव दोषयुक्त शब्द 'कुल पांसनः' होनेसे उपेक्षाके योग्य है।।३४।।

आभासार्थ : फिर अपनी निन्दा हो इसलिए कृष्णकी पूजा करनेमें दूसरा दूषण 'ययातिनः' श्लोकसे देता है:

ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम्।
वृथापानरतं शश्वत्सपर्यां कथमर्हति ।।३५।।

श्लोकार्थ : इनके कुलको ययातिने शाप दिया है और इनके कुलका सत्पुरुषोंने बहिष्कार किया है तथा यह कुल निरंतर मदिरा पीनेमें लगा रहता है ऐसे कुलमें उत्पन्न पूजनके योग्य कैसे हो सकता है।।३५।।

व्याख्यार्थ : ययातिने ४ पुत्रोंकी निन्दा की है केवल एक पूरुकी प्रशंसा की है, अथवा ययातिने इन पाण्डवोंके कुलको शाप दिया है क्योंकि पुत्रके यौवनसे माताके साथ सम्भोग हुआ है. वह जो परम्परासे दोषवान् है वह पवित्र कैसे हो सकता है? अतः इनके गृहमें उत्पन्न श्रीकृष्ण पूजाके योग्य कैसे हो सकता है? सत्पुरुषोंने इस दोषके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे इस कुलका बहिष्कार किया है और यह कुल सदैव मदिरा पानमें रत होनेसे निन्दित है, इस प्रकार यह साधारण दूषण है इसी कारणसे ययाति वंशमें उत्पन्न[१] हुआ कैसे पूजाके समीप आ सकता है।।३५।।

१.शिशुपाल भी ययातिके पुत्र यदुके वंशमें उत्पन्न हुआ है अतः वह पूजाके योग्य या

समीप भी आने योग्य नहीं है.

आभासार्थ : कुलकी निन्दाकर अब कुलमें उत्पन्न हुएकी 'वर्णाश्रम कुलापेतः' श्लोकसे निन्दा करता है:

वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः।
स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति ।।३६।।

श्लोकार्थ : वर्ण, आश्रम और कुलसे भ्रष्ट सर्व धर्मोंसे बहिष्कृत स्वच्छन्द आचरण करनेवाला, गुणोंसे हीन यह कृष्ण पूजाके योग्य कैसे हो सकता है? ।।३६।।

व्याख्यार्थ: 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र' चार वर्ण हैं और 'बह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास' चार आश्रम हैं एवं क्षत्रिय जाति कुल है, इन तीनोंसे भ्रष्ट(गिरे हुए) हैं, यद्यपि शिशुपालने ये वाक्य श्रीकृष्णकेलिए कहे हैं, किन्तु वाणी सरस्वती उससे सत्य कहलाती है क्योंकि भगवान् स्वयं ही वर्ण, आश्रम और कुलरूप हैं अतः वह भ्रष्ट हो नहीं सकते, किन्तु शिशुपाल स्वयं तीनोंसे भ्रष्ट है यही वाणीने सत्य कहा है क्योंकि शिशुपाल ही भगवान्से विमुख होनेके कारण सर्व धर्म बहिष्कृत है. भगवान् सर्व धर्मरूप होनेसे भ्रष्ट हो नहीं सकते. शिशुपाल ही स्वच्छन्द आचरण करनेवाला है जिससे अपने बान्धवोंसे व्यवहार ही नहीं रखता है यदि व्यवहार करते तो प्रेम ही करता. इस कारणसे ही गुणोंसे अर्थात् तपस्या आदिसे रहित है, जिससे पूजाके योग्य कैसे हो सकता है एवं समीप भी कैसे रह सकता है? कितने ही इस श्लोकका भावार्थ यों भी कहते हैं कि भगवान्को देह नहीं है अतः गुणातीतपन एवं वर्णाश्रम कुलपन उनमें है ही नहीं अथवा हो नहीं सकता है. इन्द्रियोंके न होनेसे कोई धर्म भी नहीं रह सकता है, अन्तःकरणके अभावसे स्वेच्छासे ही आचरण होता रहता है अतः तीनोंसे रहित, तीनोंसे लेने योग्य पूजा कैसे ग्रहण कर सकते हैं।।३६।।

आभासार्थ: कुल और स्वरूप की निन्दा कर व्यवहारकी निन्दा करता है:

ब्रह्मर्षिसेवितान्देशान्हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम्।
समुद्रं दुर्गम् आश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः ।।३७।।

श्लोकार्थ : ये यादव ब्रह्मर्षियोंसे सेवित देशोंको छोड़कर ब्रह्म तेज रहित मुद्रावाले दुर्ग(समुद्र)का आश्रयकर लुटेरे बन प्रजाको पीड़ा देते हैं।।३७।।

व्याख्यार्थ : आपमें कौनसा दोष है? इस शंकाका उत्तर देता है कि ये हम

ब्रह्मर्षियोंसे सेवित कुरुक्षेत्र आदि देशोंका विद्या आदि प्राप्त करनेकेलिए आश्रय न कर जिसमें ब्रह्मवर्चस आदि नहीं है ऐसे मुद्रावाले पाखण्डका आश्रयकर लुटेरें बन प्रजाओंको पीडा देते हैं.

दूसरे प्रकारसे भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि भगवान्की वहां समीपता है अतः उन देशोंकी स्तुति करता है, ये ऋषि ब्रह्मर्षियोंसे सेवित देशोंको अर्थात् ज्ञान कर्म आदि सहित देशोंका त्यागकर जिस समुद्रसे ब्रह्मका भी तेज बढ़ा है ऐसे समुद्ररूप दुर्गका आश्रय किया है, क्योंकि वहां चक्रपाणि भगवान् विराजते हैं उनका आश्रय प्राप्त हो गया है. जिससे इन्द्रियादि द्वारा किसी भी विषयका ग्रहण होना नष्ट हो गया है इससे वे साधु बन गए हैं क्योंकि बलिष्ठ इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको बांध लिया है, भगवान्के आश्रय लेनेसे ही आप कृतार्थ हो गए हैं, इस प्रकार उनकी स्तुति की है अन्य प्रकारसे समुद्रका अब्रह्मवर्चस् बताते हैं कि वह(समुद्र) एक प्रकारका गड्ढा है और उसको शाप मिला हुआ है अथवा 'सिन्धोस्तटं चन्द्रभागाम्' इस श्रीमद्भागवतके वाक्य अनुसार समुद्रके तटसे चन्द्रभागा नदीके तट तकके देशको शूद्र भोगेंगे, अतः वहां ब्रह्मतेजरहितोंकी स्थिति होनेसे वह ब्रह्मतेज हीन है, वस्तुतः भगवान्में मोहित शिशुपाल भगवान्ने जो गुण क्रीड़ाकेलिये ग्रहण नहीं किये हैं तो भी दूसरोंके गुणोंको भगवान्के गुण मान निन्दा करता है, इस प्रकार करनेका सार यह निकलता है कि अपनेको उलाहना देनेकी तरह भगवान्की वह निन्दा, महत्ता प्रकट करनेवाली स्तुति ही हो जाती है।।३७।।

आभासार्थ : पीछे जो हुआ वह 'एवमादीन्य' श्लोकमें कहता है:

श्रीशुक उवाच

एवम् आदीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः ।
नोवाच किञ्चिद् भगवान् यथा सिंहः शिवारुतम् ।।३८।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि उस क्षीण पुण्य शिशुपालने ऐसे बहुतसे बुरे वचन कहे किन्तु जैसे सिंह श्यारिनीका शब्द सुनकर नहीं गर्जता है वैसे ही भगवान् शांत रहे उनने कुछ नहीं कहा।।३८।।

व्याख्यार्थ : शिशुपालके भीतरसे पुण्य नष्ट हो गए थे, जिससे अमंगलका ही मनमें ध्यान कर रहा था, अतः 'यद्धि मनसा ध्यायति' इस वाक्यके अनुसार अमंगल ही बोलने लगा, तो भी भगवान् वे वचन सुनकर भी कुछ बोले नहीं

उसका बदला लेनेकेलिए शरीर अथवा वाणीसे कोई उपाय नहीं किया, कितने ही यों कहते हैं कि भगवान्ने जो मौन धारण कर कुछ नहीं किया, यह भी एक प्रकारका वध ही है, क्योंकि यह उसका तिरस्कार किया जो वधके ही समान है. 'वधानुकल्पः स्वद्रोहे' अपने द्रोह होने पर वध जैसा कार्य भी वध ही है. वास्तवमें तो उसके वाक्य धर्ममें बाध करनेवाले नहीं थे, भगवान्ने इसको कुबुद्धि जान इसकी उपेक्षा की है. वाणीके बाण जब लोहेके बाणोंसे भी कठोर होते हैं तब उनकी उपेक्षा कैसे की? इस शंकाको दृष्टान्त देकर मिटाता है कि जैसे जहां शृगालीका शब्द होता है वहां सिंह बोलता ही नहीं है, उसकी उपेक्षा ही करता है वैसे ही भगवान्ने भी किया, शृगालका शब्द समीप भी होता हो तो भी सिंहकी निन्दा करनेके अर्थवाला नहीं है. सिंह अपनी शक्तिके अभिमानसे यों ही समझता है कि यह शब्द सिंहका तो है ही नहीं कोई शृगाल शब्द करता है अथवा सिंह जैसा कोई शब्द करता है. 'सिंह' पदसे इसका अर्थ मारनेवाला वर्णके बदलनेसे (सिंह=हिंस, हिंसा करनेवाला) हो जाता है, इसको मैं मारूंगा यों कहनेसे क्या लाभ? अतः मौन धारण करना उत्तम है. उसने जो निन्दाके योग्य धर्म भगवान्में आरोपित किए वे तो उनमें हैं ही नहीं जिनसे भगवान्को दुःख हो वा उनके मर्म स्थानोंको चोट लगे, क्योंकि आप निन्दित विषयोंको ग्रहण भी नहीं करते हैं, जिससे निन्दा करनेवाले पर क्रोध करें, अतः ये वाक्य कहनेवाला भ्रान्त(भ्रममें पडा हुआ) है इसलिए उपेक्ष्य ही है।।३८।।

आभासार्थ: फिर दूसरे बहिर्मुख सभा छोड़ गए, क्योंकि शिशुपालके कहे हुए वचनोंमें भगवान्की निन्दा है, वह अपने विचारोंके विरुद्ध है, इसलिए सुनने योग्य नहीं, इसलिए शिशुपालको शाप देकर चले गए यों कहता है:

भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत् सभासदः।
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा।।३९।।

श्लोकार्थ : असह्य भगवान्की निन्दा सुनकर, सभासद, कानोंको बन्दकर क्रोधसे शिशुपालको शाप देते हुए सभासे बाहर चले गए।।३९।।

व्याख्यार्थ : वह(अपकर्ष अर्थात् तिरस्कारके वचन) तो कानोंको भी कठोर लगनेसे सहने योग्य नहीं हैं, ऐसी निन्दावाली सभामें जो सभासद बैठे थे वे अपने कान बन्दकर, शिशुपालको क्रोधसे शाप देते हुए चले गए।।३९।।

आभासार्थ : 'निन्दां भगवतः' श्लोकमें कहते हैं कि यों करना धर्म है:

निन्दां भगवतः श्रृण्वन् तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः स्वकृतात् च्युतः ।।४०।।

श्लोकार्थ : भगवान्की तथा भगवत्परायण मनुष्यकी निन्दा सुनता रहता है वहांसे बाहर नहीं होता है, वह भी पुण्यसे भ्रष्ट हो अधोगतिको प्राप्त होता है।।४०।।

व्याख्यार्थ : तिरस्कारके वचनोंको 'निन्दा' कहते हैं, जिस वाक्यसे भगवान्में अनादरकी प्रतीति होवे वह नहीं सुनना चाहिए, वैसे ही भगवद्भक्तके तिरस्कारकी जिस वाक्यसे प्रतीति हो वह भी नहीं सुनने चाहिए, चाहे वह मनुष्य साधारण भी हो तो भी जो वहांसे कान बन्द कर चला नहीं जाता है वह भी अपने पुण्योंसे गिरकर अर्थात् पुण्योंको क्षयकर अधोगतिको प्राप्त होता है. प्रत्येक यह ही प्रयत्न करता है कि भगवान्के उत्कर्षका ज्ञान होवे, यदि भगवान्का तिरस्कार हृदयमें आ जाये तो विपरीत गति हो जाती है. इस प्रकार अपने किए हुए धर्मका वृथा नाश हो जानेसे तथा विपरीत ज्ञान होनेसे स्वयं अधोगति प्राप्त करता है, जो अशक्त हैं उनके विषयमें यों कहा है. जो शक्त हैं उनकेलिए भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें प्रतिपादन किया है कि जिसमें शक्ति होवे वह निन्दारूप क्लेश करनेवाली दुष्ट जिह्वाको काट डाले, हो सके तो प्राणोंको भी त्याग दे, किन्तु भगवान्की निन्दा न सुने, यह धर्म है।।४०।।

आभासार्थ : पाण्डव तो मरने और मारनेकी शक्तिवाले थे, इसलिए वे उसको मारनेकेलिए प्रवृत्त हुए, यों 'ततः पाण्डुसुताः' श्लोकमें कहते हैं:

ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसृञ्जयाः।
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसया ।।४१।।

श्लोकार्थ : फिर पाण्डु पुत्र मत्स्य, कैकय, और सृञ्जय क्रोध कर शस्त्र उठाके शिशुपालको मारनेकी इच्छासे उठकर खड़े हो गए।।४१।।

व्याख्यार्थ : ये शूरवीर हैं यों जतानेकेलिए उनके पिताके नामसे बताए हैं, आरम्भमें ही क्रोध किया, नहीं तो मासीके पुत्र होनेसे उसके मारनेमें स्नेह रुकावट होता, विराट् वंशमें उत्पन्न 'मत्स्य' थे, भरतके पूर्वज 'कैकय' वैष्णव थे, द्रुपद वंशमें उत्पन्न हुए सृंजय थे, ये चारों ही शस्त्र उठाके खड़े हो गए, अपने मर जानेका उनको संशय ही नहीं था, इसलिए कहा है कि शिशुपालको मारनेकी इच्छासे शस्त्रसे खड़े हो गए।।४१।।

ततश्चेद्यस्त्वसम्भ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी।
भर्त्सयन् कृष्णपक्षीयान् राज्ञः सदसि भारत ।।४२।।

श्लोकार्थ : हे भारत ! तब शिशुपाल हाथमें ढाल तलवार लेकर निडर हो श्रीकृष्णके पक्षवालोंको सभामें झिड़की बताते हुए कहने लगा।।४२।।

व्याख्यार्थ : शिशुपाल भी क्रिया शक्तिमें सबसे अधिक था, इसलिए 'जो मारने आये उसको मारना ही चाहिए' इस नीति वाक्यके अनुसार उस(शिशुपाल)ने पाण्डवोंको मारनेकेलिए बिना भयके अर्थात् निडर हो हाथमें ढाल और तलवार ले ली. चैद्यने यों किया तब उसको दूसरोंने कहा कि तू यह कार्य अनुचित करता है, जिसके उत्तरमें उसने समझा कि ये भी श्रीकृष्णके पक्षवाले हैं अतः उनको झिड़की देते हुए साक्षात् वधके साधन ग्रहण किए और अपनी रक्षाके साधन भी लिए, राजाकी सभामें ऐसा बोला और किया. इससे यह बतलाया कि उसको ब्राह्मणके शापका भय नहीं था, 'हे भारत!' सम्बोधन परीक्षित्को विश्वास करानेकेलिए दिया है।।४२।।

आभासार्थ : पश्चात् भगवान्ने सोचा कि यह शिशुपाल पाण्डवोंसे बलवान् है और इसका पराक्रम निष्फल होनेवाला नहीं है, ये पाण्डव मेरेलिए प्रयत्न कर रहे हैं क्योंकि मेरे भक्त हैं, यह शिशुपाल मेरे भक्तोंका द्रोह करता है. शास्त्रोंमें कहा है कि जो भक्तका द्रोह करे उसका वध करना चाहिए जैसे कि 'भक्तद्रोहे वधः स्मृतः' इस शास्त्रानुसार भगवान् स्वयं शिशुपालके मारनेमें प्रवृत्त हुए, यह 'तावदुत्थाय' श्लोकमें वर्णन करते हैं:

तावदुत्थाय भगवान् स्वान् निवार्य स्वयं रुषा।
शिरःक्षुरान्तचक्रेण चिच्छेदापततो रिपोः ।।४३।।

श्लोकार्थ : जब तक शिशुपाल पाण्डवों पर प्रहार करे तब तक न रूककर आप उठकर खड़े हो गए और अपने भक्तोंको रोक लिया, फिर क्रोधसे छुरेके समान धारवाले चक्रसे दौड़कर आते हुए शत्रुका सिर काट डाला।।४३।।

व्याख्यार्थ : श्रीकृष्ण आप भगवान् होनेसे पूर्ण शक्ति सम्पन्न हैं, अतः अपने सेवकोंको रोककर स्वयं(खुद) शिशुपालके सिरको चक्रसे काट डाला.

वह भी आपका ही सेवक है तो उसका शिर कैसे काटा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'रुषा' क्रोध आनेसे. भगवान्को क्रोध क्यों हुआ? शिशुपालने अपने कार्यसे भगवद्भक्तोंमें क्रोध उत्पन्न किया. अतः भगवान्के क्रोध गुणने उसको

मारा, उसमें भी जिस स्थानसे ऐसी दुष्टवाणी निकली थी वह दोषवाला सिर ही काट डाला. अलौकिक भगवत्सामर्थ्यसे वह मारा गया, ऐसी शंकाकी निवृत्ति केलिए कहा है कि छुरेकी धारके समान तीक्ष्ण चक्रसे सिर काटा.

यों करनेसे लोकमें भगवान्का महात्म्य न बढ़ेगा, कार्य करनेके जो उत्कृष्ट साधन हैं, उनसे कार्य करने पर कार्यकर्ताका अपकर्ष नहीं होता है. शत्रु भक्तोंको मारनेकेलिए दौड़ता आ रहा था, यह उसका अपराध था, यह अपराध ही उसके मारे जानेका कारण बना।।४३।।

शब्दः कोलाहलोऽप्यासीत् शिशुपाले हते महान्।
तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ।।४४।।

श्लोकार्थ : शिशुपालके मरने पर महान् शब्द और कोलाहल हुआ और उसके अनुयायी राजा जो जीना चाहते थे वे भाग गए।।४४।।

व्याख्यार्थ : अनन्तर उसके वधसे महान् शब्द हुआ और सबने कोलाहल किया, शिशुपालके मरने पर, यों होनेका यह निमित्त कारण था और इसका मारना अनायास हुआ है यों कहा है. पश्चात् उसके पक्षवाले सब दैत्यांश अपने प्राण बचानेकेलिये युद्ध न कर यों ही भाग गये।।४४।।

आभासार्थ : इस प्रकार धर्मकेलिए उसके वधका निरूपण किया यदि वह न मरता, जीता रहता तो, मुक्त न होता, जिससे उसका स्थान स्मशान ही होता. उसके दोष परिहारकेलिए उसको मुक्ति कही जाती है:

चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवम् उपाविशत्।
पश्यतां सर्वभूतानाम् उल्केव भुवि खाच्च्युता ।।४५।।

श्लोकार्थ : आकाशसे गिरी अग्नि जैसे पृथ्वीमें समा जाती है वैसे ही प्राणियोंके देखते हुए शिशुपालकी देहसे उत्पन्न ज्योति वासुदेवमें प्रविष्ट हो गई।।४५।।

व्याख्यार्थ : हृदयमें स्थित 'जीव' नामकी प्रसिद्ध वह ज्योति जो भगवदिच्छासे सहज क्रियासे युक्त है, वह मोक्ष देनेवाले वासुदेवमें प्रविष्ट हो गई. वह भगवान्का चरण वैकुंठरूप है, 'पुनर्लोकाय अन्तिकं' भगवान्के समीप, इन शब्दोंसे व्यापिवैकुंठ ही कहा है. यदि उसमें प्रवेश कराना न होता तो, 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य' इस न्यायानुसार कीचड़में पैर डाल फिर धोना जैसे व्यर्थ है, वैसे ही यह भी होता, अर्थात् कृत्रिम वैकुंठसे निकालना व्यर्थ होता. इसकी दूसरी

तरह (जीव व्यापक) है. उपपत्ति न होनेसे ही, सुईके अग्रभाग समान जीव है यह पक्ष ही मुख्य है जो अंगीकार करना चाहिए .

शरीरके शेष सात्विक अंशसे उसने भगवान्में प्रवेश किया यह मत असंगत है क्योंकि वहां 'ज्योतिः' पद कहा है, अन्य स्थानों पर भी 'जीव'को तेजका प्रकार कहा है और वह जीव 'गृहीत्वैतानि संयाति' इन्द्रियोंको साथ लेकर जाता है. यों कहनेसे वह क्रिया भी करता है यह सिद्ध होता है . जीवका ऐसा ही रूप होता है जिसका वर्णन निबन्धमें किया है कि सब सभासदोंके देखते हुए, यह सायुज्यमें प्रमाण है और जीवके स्वरूपका भी निर्णय किया है, प्रवेश सबने न देखा, इसको समझानेकेलिए दृष्टान्त दिया है कि आकाशसे गिरी अग्नि(बिजली) जैसे पृथ्वीमें लीन हो जाती है वैसे वह भी हुआ।।४५।।

आभासार्थ : इस प्रकार शिशुपालका भगवान्में निःशंक प्रवेश कहकर, भगवान्की निन्दा करनेवालेको सायुज्य मुक्ति कैसे मिली ? इस शंकाका निवारण 'जन्मत्रया' श्लोकसे करते हैं:

जन्मत्रयानुगुणित–वैरसंरम्भया धिया।
ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ।।४६।।

श्लोकार्थ : तीन जन्मोंमे बार–बार होनेवाले वैरके कारण जो क्रोधवाली हुई बुद्धि उससे नित्य भगवान्का ही ध्यान कर रहा था जिससे भगवान्के स्वरूपको प्राप्त हुआ, कारण कि भाव ही जन्मका कारण है।।४६।।

व्याख्यार्थ : ब्राह्मण शापके कारण वैकुण्ठसे गिरे हुएका तीन जन्म, १.हिरण्यकशिपु, २.रावण और ३.शिशुपाल. इन तीनों जन्मोंमें बराबर जो वैर होता आया, जिससे अपकार और वध आदि जो हुए, उनसे उत्पन्न क्रोधवाली बुद्धिसे उन भगवान्का ही ध्यान करते हुए उनके स्वरूपको ही पाया. जैसे भमरी ध्यान करती तद्रूप हो जाती है वैसे ही इसने भी भगवान्का ध्यान करते हुए भगवान्से सायुज्य प्राप्त कर लिया. यदि यों ध्यान न करता, तो जीवभावमें रहते हुए तो जैसे जगत् भगवान्में स्थित है वैसे ही रहता, किन्तु सायुज्यको प्राप्त न करता, इस प्रकार सायुज्य प्राप्त करनेका कारण अर्थात् भगवदरूप हो जानेका कारण 'भाव' ही अर्थात् निरन्तर स्मरण ही है, जिस अर्थको सदैव स्मरण करता वही रूप होता है।।४६।।

आभासार्थ : इस प्रकार प्रसंगके कारण दोष निवृत्त और मोक्षका

निरूपणकर प्रारंभ किये हुए यज्ञके रहे हुए भागका वर्णन करते हैं:

ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात् ।
सर्वान्संपूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ।।४७।।

श्लोकार्थ : ऋत्विज और सभासदोंको बहुत दक्षिणा दी, विधिके अनुसार सबकी पूजा की, अनन्तर चक्रवर्ती राजाने अवभृथ(यज्ञान्त स्नान) किया।।४७।।

व्याख्यार्थ : अन्तमें ऋत्विजोंको दक्षिणा दी और जितने सदस्य थे उन सबको भी दक्षिणा दी. जितनी दक्षिणा वे चाहते थे उससे भी अधिक दक्षिणा दी. पश्चात् तीन प्रकारके तर्पणको कर, शीघ्र होनेवाले और दो दिन होनेवाले बलिदानको करनेके बाद, यज्ञके भागका भोग करनेवाले सब ही देवोंकी उनके स्थानों पर पूजा की, पश्चात् लौकिक पुरुषोंका भी दान मानसे सत्कार किया, इत्यादि यज्ञकी सर्व क्रिया पूर्णकर पश्चात् महाराजाने यज्ञान्त स्नान किया. यों करनेसे युधिष्ठिर चक्रवर्ती हुए 'चक्रवर्ती होना यह यज्ञका फल है' अर्थात् युधिष्ठिरको यज्ञका फल प्राप्त हो गया।।४७।।

आभासार्थ : इसी तरह यज्ञ फलीभूत हुआ यह कहकर कहते हैं कि यह सफलता भगवान्ने ही की है, इस प्रकार भगवान्के चरित्र कहकर विषयका उपसंहार करते हुए भगवान्के पधारनेका समाचार 'साधयित्वा' श्लोकसे कहते हैं:

साधयित्वा क्रतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
उवास कतिचिन् मासान् सुहृद्भिरभियाचितः ।।४८।।

श्लोकार्थ : महाराजाके यज्ञको सम्पूर्ण सिद्धकर योगेश्वरोंके ईश्वर कृष्ण मित्रोंके आग्रह पूर्वक विज्ञप्ति करने पर कुछ मास वहां विराजमान हुए।।४८।।

व्याख्यार्थ : राजाके राजसूय यज्ञको सफल कराकर, श्रीकृष्ण स्वयं फलरूप होते हुए भी आपने साधनके साधनरूप बनकर बहुत मोह उत्पन्न किया, जैसे कोई न जान सके वैसा योग साध कर वहां रहे, योगेश्वरोंके भी ईश्वरको कोई जान नहीं सकता है. योगकी गति जानी नहीं जाये ऐसी है, यों यज्ञकी सिद्धि हो गई तो भी वे पाण्डव मुझे पहचान नहीं सकेंगे, वैसा निश्चयकर, अज्ञानी मित्रोंने कौतुककेलिए यहां रहनेकी प्रार्थना की, अतः कितने ही मास भगवान् वहां विराजे।।४८।।

ततोऽनुज्ञाप्य राजानम् अनिच्छन्तमपीश्वरः ।

ययौ सभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ।।४९।।

श्लोकार्थ : पश्चात् भगवान् पधार जावें ऐसी इच्छा राजाकी नहीं थी तो भी उससे सम्मति लेकर, ईश्वर, देवकीके पुत्र, पत्नियों और मन्त्रियों सहित अपने नगर पधारे।।४९।।

व्याख्यार्थ: पश्चात् अन्य लीला करनेकेलिए, स्नेहके कारण जाने देनेकी इच्छावाला राजा न था तो भी, ईश्वर होनेसे अपनी स्वतन्त्रताका अवलम्बन कर राजासे सम्मति ले ली, जैसे इन्द्रप्रस्थ पधारे थे उसी तरह पत्नियों और अमात्यों(मन्त्रियों) सहित अपने नगरको पधारे.

भगवान्का कार्य तो कुछ भी सिद्ध न हुआ, बड़ी दबदबेसे किसलिए आये, किसलिए लौट गये? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि 'देवकी सुतः' देवकीके पुत्र हैं. भक्तों पर प्रेम होनेसे जैसे देवकीके पुत्र बने वैसे यह कार्य भी किया।।४९।।

आभासार्थ : 'वर्णितं तदुपाख्यानं' श्लोकसे विषयको सम्पूर्ण करते हैं:

वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात्पुनः पुनः ।।५०।।

श्लोकार्थ : वैकुण्ठवासी दो पार्षदोंका जन्म, ब्राह्मणशापसे बार-बार हुआ है, वह कथा तुझे बहुत विस्तारसे मैंने कही है।।५०।।

व्याख्यार्थ : यहां शिशुपालका स्वरूप पूर्ण रीतिसे नहीं कहा है, यों न कहनेसे कथा रसवाली नहीं हुई है? इस शंकाके उत्तरमें कहा है कि मैंने प्रथम ही वैकुण्ठ वासियोंका जन्म ब्राह्मण शापसे बार-बार हुआ है यह प्रसंग बहुत विस्तारसे तृतीय और सप्तम स्कन्धमें(शिशुपाल चरित्र) सुना दिया है।।५०।।

आभासार्थ : इस प्रकार यज्ञादि सत्कर्म करनेसे राजाके सर्व पाप नष्ट हो गए जिससे उसकी बहुत शोभा हुई, जिसका वर्णन करते हैं:

राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ।
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव ।।५१।।

श्लोकार्थ : राजसूय यज्ञके अवभृथ कर्ममें यज्ञान्त स्नान करनेसे राजाके सकल पाप नष्ट हो गए जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी सभामें वह इन्द्रके समान शोभा पाने लगा।।५१।।

व्याख्यार्थ : राजसूयके अवभृथ कर्ममें यज्ञान्त स्नान करनेसे राजाके सर्व

पाप क्षय हो गए, जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी सभामें वह शोभा पाने लगा. क्षत्रियोंसे जातिमें समान होते हुए भी और ब्राह्मणोंसे छोटा अर्थात् हलका होते हुए भी, सबसे अधिक शोभा पाने लगा जैसे इन्द्र सभामें शोभता है।।५१।।

आभासार्थ : अंग सहित पूर्ण हुए राजसूय यज्ञका फल कहकर, लौटकर जानेवाले राजाओंके प्रयाणका प्रकार 'राज्ञा' श्लोकमें बताते हैं:

राज्ञा सभाजिताः सर्वे सुरमानवखेचराः।
कृष्णं क्रतुं च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा।।५२।।

श्लोकार्थ : राजासे देवता, मनुष्य और आकाशमें विचरनेवाले सब सत्कार पाकर, श्रीकृष्णचन्द्र और यज्ञकी प्रशंसा करते हुए आनन्दपूर्वक अपने-अपने धाम पधारे।।५२।।

व्याख्यार्थ : देव आदि सब सात्त्विक, राजस और तामसका राजाने सत्कार किया, आधिदैविक, आध्यात्मिक दोनोंको प्रसन्न किया, उनमें अंश था और प्रसंगके कारण प्रसन्न किए हुए देवादि आनन्दसे अपने-अपने स्थानों पर गए।।५२।।

आभासार्थ : राजसूयका फल स्वराज्य और सर्वका संतोष किया वह वर्णनकर, अब पृथ्वीका भार हरण करना वह भी उसका ही प्रयोजन है जिसकी नीव वहां पड़ गई है, यह 'दुर्योधनमृते' श्लोकमें वर्णन करते हैं:

दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम्।
यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम्।।५३।।

श्लोकार्थ : पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिरकी इतनी समृद्धि बढ़ी देखकर दुर्योधन सहन न कर सका, क्योंकि कुरुकुलका रोगरूप, पापी, कलिरूप था।।५३।।

व्याख्यार्थ : दैत्यांश राजाओंको तो प्रथम ही निकाल दिया था, यह दुर्योधन निकटका बान्धव था, इसलिए छिपकर भीतर स्थित था, बान्धव था तो भी, जब युधिष्ठिरको यशका फल मिला जिससे उसकी शोभा समृद्धि आदि बढी, तब उसने(दुर्योधनने) अपना दोष(दुष्टता) प्रकट किया, पश्चात् मानभंग होनेसे दुःखी हुआ, क्योंकि वह पापरूप कलिका अवतार है. वैसा पापरूप कलिका अवतार धर्मराज युधिष्ठिरका बन्धु कैसे हो सका? जिसका समाधान करते हैं कि यह कुरुकुलमें रोगरूप है, ब्रह्मकल्पसे लेकर अब तक कुरुवंशमें जो पाप हुआ वह ही इकट्ठा होकर दुर्योधनरूपसे प्रकट हुआ है, इस कारण से, उसका बन्धुपन और

पापपन विरुद्ध नहीं है. प्राणियोंका रोग होना सहज धर्म है, अन्नादि भोजनकी और धातुकी विषमतासे नित्य होता ही है, वह कदाचित् बढ़ जाता है तब रोग कहलाता है, वैसे यह पापरूप भी समझना चाहिए. इस पापके जग जानेका क्या कारण है? जिसके उत्तरमें कहते हैं, कि जैसे शरीरमें जब रोग होता है तब वह रोग गरिष्ठ भोजनको सहन नहीं कर सकता है अर्थात् पचा तो सकता नहीं है किन्तु स्वयं विशेष बढता है, वैसे ही यह अधर्म अर्थात् पापरूप, रोगरूप दुर्योधन, युधिष्ठिरकी सम्पत्ति आदि धर्मरूप भोजनको सहन नहीं कर सका, किन्तु विशेष हानि करनेकेलिए उद्यत हुआ, इसलिए कुरुकुलका 'रोग' इसको कहा है।।५३।।

आभासार्थ : इस उपाख्यान श्रवणका फल कहते हैं:

य इदं कीर्तयेद् विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम्।
राज्ञां मोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते।।५४।।

श्लोकार्थ : जो मनुष्य विष्णुके, चैद्य वध आदि, राजाओंको कैदसे छुड़ाना और यज्ञ कर्मका कीर्तन करता है वह सर्व पापोंसे छूट जाता है।।५४।।

व्याख्यार्थ : इस चरित्रका नित्य पाठ कें, क्यों नित्य पाठ करें? इस शंकाका समाधान करते हैं कि 'विष्णोः कर्म' यह चरित्र भगवान् विष्णुकी लीला है. यह आप कैसे करते हो? यह तो राजाका किया हुआ राजसूय यज्ञरूप कर्म है, भगवान्की लीला कैसे है? जिसका उत्तर देते है कि शिशुपाल वध आदिसे लेकर जो कर्म हुए हैं वे सर्व कर्म भगवान्के ही कर्म(लीला) हैं. तब तो वही सुनना चाहिए, जिसके उत्तरमें ही श्लोकके उत्तरार्द्धमें 'राज्ञां मोक्ष वितानं च' कहा है, कि राजाओंको कैदसे छुडाने और यज्ञका भी श्रवण करना चाहिए. ये तीन कर्म तामस, राजस और सात्विक होनेसे तीन प्रकारके हैं इनके श्रवण तथा कीर्तन करनेसे मनुष्य सर्व पापोंसे छूट जाता है, अर्थात् उसके सर्व पाप क्षय हो जाते हैं, इसके श्रवणादिके फलको निरूपण करते हुए, उस धर्मकी उत्तमता कहते हैं. जैसे स्वरूपसे उत्तमपनका वर्णन है वैसे ही दृष्टफलका साधन होनेसे भी इसका माहात्म्य है, यों फलकी उक्ति है।।५४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण, अध्याय ७१ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ७२

राजसूय यज्ञकी पूर्ति और दुर्योधनका अपमान

षड्विंशे राजसूयस्य भूभारहरणे यथा।
कारणत्वं तदर्थं हि मानभङ्गो निरूप्यते।।का.१।।

कारिकार्थ : जिस तरह राजसूय यज्ञ, पृथ्वीके भारहरण करनेमें कारण बनता है उसी तरह दुर्योधनके मानभंगमें यज्ञ कारण है, इसको जतानेकेलिए ही उत्तरार्धके इस २६वें अध्यायमें दुर्योधनके मानभंगका निरूपण किया जाता है।।१।।

यथान्यद् भगवत्कर्म मुख्यं कंसवधादिकम्।
राजसूयकृतिस्तद्वत् भूभारहृतिकारणम्।।का.२।।

कारिकार्थ : जैसे भगवान्का कंसवध आदि कर्म भूमिके भारहरण करनेमें मुख्य कारण है, वैसे ही राजसूय यज्ञ भी भूभार हरनेमें मुख्य कारण है।।२।।

स्वातन्त्र्ये तु हरेरत्र गौणतेति निरूपणम्।
हरेः कथायां तस्यात्र न युक्तम् इति निश्चयः।।का.३।।

कारिकार्थ : यदि भूभार हरण करनेमें 'राजसूय' यज्ञ स्वतन्त्र कारण माना जाए, तो हरि गौण बन जाएंगे, इस प्रकार हरिकी कथामें हरिको गौण बनाना उचित नहीं, यों निश्चय होता है।।३।।

लौकिक्येव समृद्धिर्हि तस्याभिमतिकारणम्।
अतः सैवात्र पूर्वोक्ताद् अधिका वर्ण्यते स्फुटा।।का.४।।

कारिकार्थ : उसके(युधिष्ठिरके) आदरके कारण लौकिकी ही समृद्धि है. इस कारणसे प्रथम कही हुई समृद्धिसे भी अधिक समृद्धि स्पष्ट वर्णन की जाती है।।४।।

तस्माद् भाषा लौकिकीयं भावाद् अङ्गं न सर्वथा।
न विरोधस्ततः पूर्वैर्नाग्रिमैरपि वाचकैः।।का.५।।

कारिकार्थ : इस कारणसे यह भाषा लौकिकीभाषा है, शेष भगवान् तो प्रेमके कारण आधीन होते हैं, न कि समृद्धिके कारण आधीन होते हैं. पहले कहे हुए वाक्य, अथवा अब जो कहे जाएंगे, उन वाक्योंमें किसी प्रकारसे भगवान्के स्वातन्त्र्यमें विरोध नहीं है।।५।।

आभासार्थ : इस प्रकार पूर्व अध्यायमें कहा है, कि पापरूप दुर्योधनके सिवाय सबको निकाल दिया था. इस विषयमें राजा 'अजातशत्रो' इन दो श्लोकोंमें सर्व कथा विस्तार पूर्वक पूछता है, स्वयं तो सब सावधान होकर सुनता है, यह जतानेकेलिए प्रथम 'सार्ध' श्लोकसे पूर्व कथाको कहते हैं :

राजोवाच

अजातशत्रोस्तां दृष्ट्वा राजसूयमहोदयाम्[१] ।
सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मनन्नृदेवा ये समागताः ।।१।।
दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः ऋषयः सुराः ।
इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम् ।।२।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन् ! राजसूय यज्ञसे बहुत वृद्धिको प्राप्त युधिष्ठिरकी समुद्धिको देखकर, दुर्योधनके सिवाय, मनुष्य, देव, राजा, ऋषि और देव जो भी आए थे, वे सब प्रसन्न हुए, यों क्यों हुआ वह बतलाइये।।१-२।।

व्याख्यार्थ : युधिष्ठिरका नाम 'अजातशत्रु' कहकर यह बताया है कि दुर्योधनको इसके साथ शत्रुता करनेका कोई कारण नहीं था. युधिष्ठिरके पास उस अलौकिक समृद्धिको[१] जिस समृद्धिकी राजसूय यज्ञके कारण बहुत वृद्धि हुई है उसको देखकर सबको आनन्द प्राप्त हुआ. पुल्लिङ्ग पाठ लेनेसे अर्थ यों करना होगा, कि राजसूय यज्ञका महान् उदय सबको आनन्ददायी हुआ. हे ब्रह्मन्! सम्बोधनसे यह कहा कि श्रीशुकदेवजी ब्रह्मवादी हैं, अतः उनके वचन कभी झूठे नहीं होते हैं. पहले जो मनुष्य और देव, यों कहा जिससे सात्त्विक तथा राजस बताये. राजा ऋषि और देव ये तीन प्रकार जो कहे वे लोकान्तर(दूसरे लोकमें) स्थित कहे हैं, वे भी वहां प्रसन्न हुए. 'इति श्रुतं', यों सुना है. इस 'श्रुत' पदके भावसे ही लोकान्तरस्थ कहा ह. यह जो सबने सुना है वह भी आपसे ही सुना है. भगवन्! सम्बोधन देकर उनकी(शुकदेवजीकी) प्रशंसा, ज्ञानके कारण की है, दुर्योधन युधिष्ठिरका बान्धव था फिर भी उसको आनन्द क्यों नहीं हुआ. उसको सन्तोष नहीं हुआ, इसका कारण बतलाइये।।१-२।।

१.श्लोकमें 'राजसूयमहोदयाम्' स्त्रीलिङ्ग है इसको भले पुल्लिंग लेओ.

आभासार्थ : पितामहस्य श्लोकसे लौकिक सम्पत्ति बताते हैं :

श्रीशुक उवाच

पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः ।

बान्धवा परिचर्यायां तस्यासन्प्रेमबन्धनाः ।।३।।

श्लोकार्थ : तुम्हारे पितामह(दादा) महात्मा युधिष्ठिरके यज्ञमें प्रेमसे बंधे हुए बांधव सर्व प्रकारकी सेवा प्रेमसे करने लगे।।३।।

व्याख्यार्थ : पितामह 'दादा' शब्द सुननेसे सम्बन्धके कारण परीक्षितको श्रवणमें विशेष उत्साह हुआ. जिसका निरूपण करते हैं. 'महात्मा' विशेषण देकर उसका प्रभाव सिद्ध किया है, जिससे उसकी अर्थात् उसके प्रारम्भ किए हुए कार्य(यज्ञ)की सेवामें अन्य संकोच नहीं करते थे, इससे ही बान्धव उसकी सेवामें लग गये. यज्ञमें बहुत कार्य होते हैं, सबको अपना अपना कार्य बांट दिया, तदनुसार वे सेवा करने लगे, यह सामान्यरूपसे कहते हैं।।३।।

आभासार्थ : 'भीमो महानसाध्यक्ष' श्लोकसे विशेष निरूपण करते हैं :

भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः ।
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ।।४।।

श्लोकार्थ : भीमसेन पाकालय(रसोईघर)का, सुयोधन कोषाध्यक्ष (खजानची), सहदेव पूजाकार्यका अधिकारी और नकुल सामग्री इकट्ठी करनेवाला हुआ।।४।।

व्याख्यार्थ : जिसकी जिस कार्य करनेमें प्रीति हो उसको उस कार्यमें ही लगाना चाहिए, जैसा कि भीमकी भोजनमें प्रीति थी, इसलिए उसको पाकशालाका कार्य दिया गया. दुर्योधनको कोषाध्यक्ष किया गया क्योंकि उसके हस्तमें पद्मका चिह्न था, जिससे वह जिस द्रव्यका स्पर्श करता था, वह अखुट हो जाता, इसलिए धनका अध्यक्ष इसको बनाया गया. सहदेव ज्ञानवान् था, इसलिए ब्राह्मणादिकी पूजाके कार्यमें उसको लगाया गया. नकुल अश्विनीकुमारोंका पुत्र था. जिससे पदार्थोंके गुण और दोषोंकी परीक्षा करनेमें निपुण था. इसलिए द्रव्य इकट्ठे करने तथा उनकी परीक्षा करनेके कार्यमें इसको नियुक्त किया गया।।४।।

सतां शुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने ।
परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महात्मनः ।।५।।

श्लोकार्थ : महान् आत्मा युधिष्ठिरके यज्ञमें अर्जुन सत्पुरुषोंकी सेवा करने लगा, श्रीकृष्ण उनके पाद प्रक्षालन(धोने)की सेवामें तत्पर हुए, परोसनेका कार्य द्रौपदी करने लगीं, दानका कार्य दानी कर्णने सम्भाल लिया।।५।।

व्याख्यार्थ : वृद्धोंकी सेवा करनेसे, अर्जुनको सेवाकार्य किस प्रकार

करना, यह अनुभव था इसलिए उसको सेवाका कार्य दिया गया. भगवान्को पाद-प्रक्षालन(पैर धोने)की ऐसी सेवा दी गई, जिससे दुर्योधनको श्रीकृष्ण सबसे उत्तम देखनेमें न आवे, क्योंकि इस सेवाके भाव या तत्त्वको न जाननेसे दुर्योधन कृष्णको साधारण समझने लगा. युधिष्ठिरको सबसे उत्तम जाना, भगवान् तो ब्रह्मण्य हैं, जिस कार्यसे ब्राह्मण प्रसन्न होवे वही कार्य पसन्द करनेवाले हैं, अतः उनको इस कार्यमें लगाया गया. भृगु परीक्षाके समय भगवान्ने इस दीनताको प्रकट करनेसे अपनेको सब देवोंसे उत्तम सिद्ध किया, यह कहा जाएगा. परोसनेके कार्यमें द्रोपदीको नियुक्त किया, क्योंकि वह अमृत हस्ता थी. अर्थात् जिस भक्ष्य आदिको स्पर्श करे वह अमृत सम हो जाता था. कर्ण उदार था, इसलिए उसको दानाध्यक्ष बनाया. 'महात्मनः' युधिष्ठिरको विशेषण देनेका भाव यह है कि कर्ण कितना भी दान देवे तो भी राजाको प्रसन्नता ही होती।।५।।

युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः।
बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च सन्तर्दनादयः ।।६।।

श्लोकार्थ : सात्यकि, विकर्ण, हार्दिक्य, विदुर आदि भूरि आदि बाह्लीकके पुत्र और जो सन्तर्दन आदि बान्धव थे।।६।।

व्याख्यार्थ : विषमता न होवे इसलिए सात्यकि आदि सबको पृथक् पृथक् कार्योंके अधिकारी बनाया. सात्यकिको युयुधान कहा है और वह यादव था, तो भी अर्जुनका शिष्य था. विकर्ण आदि भी बान्धव थे. बाह्लीक शन्तनुका भाई था, उसके पुत्र भूरीश्रवा आदि थे. सन्तर्दन आदि गोत्रमें उत्पन्न हुए थे सर्वका कथन इसलिए है कि इन सबोंका युधिष्ठिरकेलिए आदर है।।६।।

निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा।
प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकर्षवः ।।७।।

श्लोकार्थ : हे महाराजा ! वे सब अपने अपने नियुक्त किये बड़े यज्ञ सम्बन्धी अनेक कामोंमें राजाको प्रसन्न करनेकी इच्छासे लग गये थे।।७।।

व्याख्यार्थ : यह राजसूय यज्ञ महान् यज्ञ है, इसलिए इसमें बुलाने, भेजने, वस्तु लानी आदि बहुत कार्य थे. इसलिए सब अलग-अलग कार्योंमें नियुक्त होकर अपना-अपना कार्य करते थे. राजसूय महान् धर्मकार्य होनेसे उसके करनेवालेका मन प्रसन्न हो, इस वास्ते सब, कार्यमें प्रवृत्त हुए. इस प्रकार यज्ञके प्रारम्भ होते ही सब बान्धव उनके कार्यमें तत्पर हो गए, जिससे युधिष्ठिरका

महान् आदर हुआ है, यह प्रकट देखनेमें आ रहा था।।७।।

आभासार्थ : अन्तमें तो बहुत आदर हुआ यों कहनेकेलिए 'ऋत्विक् सदस्य' श्लोकमें बीचमें हुए वैदिक आदरका वर्णन करते हैं :

ऋत्विक्–सदस्य–बहुवित्सु सुहृत्तमेषु स्विष्टेषु सूनृतसमर्हण–दक्षिणाभिः ।
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ।।८।।

श्लोकार्थ : ऋत्विज्, सभासद, बड़े ज्ञानी और उत्तम स्नेहीयोंका मधुर वाणी पूजन तथा दक्षिणा आदिसे सत्कार हो जानेके बाद शिशुपाल भगवान्के चरणमें प्रविष्ट हुआ, इसके अनन्तर यमुनाजीमें यज्ञान्त स्नान किया।।८।।

व्याख्यार्थ : ऋत्विज्, सभासद और बड़े ज्ञानियोंको शास्त्रमें कहे अनुसार दान देकर तृप्त किया, उत्तम स्नेहियोंका देवोंकी तरह पूजनकर, लौकिक दान देके उनकी इच्छा पूर्ण की. मधुर वाणीसे सर्वको प्रसन्न किया. शरीरसे पूजन किया, द्रव्यसे दक्षिणाका कार्य पूर्ण किया. इस प्रकार कार्य करनेसे मानसिक आदर समझमें आ जाता है, इस प्रकार मित्रोंको प्रसन्नकर, शत्रुओंका भी नाशके बहानेसे हित ही किया, जिसका वर्णन करते हैं कि शिशुपालने भगवान्के चरणमें प्रवेश किया. इसके अनन्तर यमुनाजीमें यज्ञान्त स्नान किया. अवभृथमें लौकिक उत्सव होता है. 'द्युनदी' देवरूप होनेसे यमुनाजी ही है. यह भी सूर्य मण्डलसे ही आई है अथवा वैदिक विरोध[१] न होनेसे गंगामें स्नान करनेकेलिए गए इससे अलोकिक सामर्थ्य प्रकट किया है।।८।।

१.वैदिक विधि अर्थात् यज्ञकी दीक्षा लेनेवालेको तदनुसार ही कार्य विधि करनी चाहिए यों होते हुए भी गंगाजलमें शोभती तुलसीमिश्रित, श्रीकृष्णचरणरज विशेष होनेसे जाना अनुचित नहीं है, भगवन्मार्गका अनुसरण करनेसे वेदका विराध नहीं रहता है.

आभासार्थ : वहां मृदंग आदि बाजे बजने लगे यों 'मृदंगशंख' श्लोकसे कहते हैं :

मृदङ्गशङ्खपणवधुन्धुर्यानकगोमुखाः ।
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे ।।९।।

श्लोकार्थ : उस अवभृथ स्नानके उत्सवमें मृदंग, शंख, पणव, धुन्धुरी, आनक और गौमुख आदि विचित्र बाजे बज रहे थे।।९।।

व्याख्यार्थ : बाजे प्रसिद्ध थे तो भी लौकिक उत्कर्ष दिखानेकेलिए उनका वर्णन किया है।।९।।

आभासार्थ : अवभृथके कारणका आश्रय लेकर जो लौकिक उत्सव हुआ उसके सर्व कार्यका 'नर्तक्यो ननृतुः' श्लोकमें वर्णन करते हैं :

नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः ।
वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत् ।।१०।।

श्लोकार्थ : प्रसन्न हुई नटनियां नृत्य करती थीं, तथा गानेवाले यूथके यूथ गाते थे और वीणा बंशी और तलका ऊंचा शब्द होता था. उनका वह नाद आकाशको छूता था।।१०।।

व्याख्यार्थ : उत्सवमें आसक्त होनेसे (नटनियां) प्रसन्न हुई थीं, यूथके यूथ मिलकर वीणा, बंशी और तलका ताल अथवा हस्तका ताल ऐसा जोरसे होने लगा जो आकाशको छूने लगा ऐसी लौकिक उक्ति है।।१०।।

आभासार्थ : इस प्रकार बाहर निकलते समय, हुए कोलाहलका वर्णन कर सब राजा युधिष्ठिरके साथ निकले, वह प्रकार 'चित्रध्वज' श्लोकसे कहते हैं:

चित्रध्वजपताकाग्रैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः ।
स्वलंकृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः ।।११।।

श्लोकार्थ : श्रेष्ठ रंग बिरंगी ध्वजाओं और पताकाओं सहित, सुसज्जित उत्तम हस्तियों, रथ, अश्व और सैनिकोंके साथ, सुवर्ण मालाधारी राजा बाहर निकले।।११।।

व्याख्यार्थ: ध्वजाएं, गरुड़ आदिकी चिह्नोंवाली थीं, जिनके ऊपर विजयके वाक्य लिखे थे, वैसी पताकाएं थीं, ध्वजा और पताकाएं रंग बिरंगी होनेसे देखनेवालोंके अचम्भेका हेतु बन गई थीं. इनमें जो आगे लगी हुई वे उत्तम थीं. हस्ती, रथ और घोड़े तथा सैनिक ये सब अच्छी तरह सुसज्जित थे. राजाके जो चार अंग होते हैं वे सब श्रृंगारे हुए थे यों कहा, सोनेके अलंकारोंको धारण किये हुए राजा भी उनके साथ बाहर निकले।।११।।

यदु–सृञ्जय–काम्बोज–कुरु–केकय–कोसलाः ।
कम्पयन्तो भुवं सैन्यैः यजमानपुरःसराः ।।१२।।

श्लोकार्थ : यदु, सृञ्जय, काम्बोज, कुरु, कैकय और कौशलवंशके क्षत्रिय भूमिको कम्पित करते हुए सैन्य यजमानको आगेकर बाहर निकले।।१२।।

व्याख्यार्थ : यदु, सृञ्जय आदि भी क्षत्रिय जातिके अवान्तर भेद हैं. अपने अपने कुलका उनको अभिमान था. तो भी युधिष्ठिरके साथ निकले,

जिससे महाराजाका उत्कर्ष प्रकट होता था, वे सब क्षत्रिय अपनी अपनी सेवासे पृथ्वीको कम्पित करते थे. इन सब राजाओंके आगे 'युधिष्ठिर' था।।१२।।

आभासार्थ : इस प्रकार जो लौकिकके परायण थे, उनका राजाके साथ निकलना कहकर अब 'सदस्य' श्लोकसे अलौकिकोंका भी युधिष्ठिरके साथमें निकलनेका वर्णन करते हैं :

सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा।
देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ।।१३।।

श्लोकार्थ : सभासद, ऋत्विज् और श्रेष्ठ ब्राह्मण वेदका तुमुल घोष करते हुए राजाके साथ चलने लगे और देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व भी पुष्पोंकी वर्षाके साथ स्तुति करते हुए ऊपर आकाशमार्गसे साथ चले।।१३।।

व्याख्यार्थ : तीन प्रकारके ब्राह्मण (सभासद, ऋत्विज् और श्रेष्ठ ब्राह्मण) वेद ध्वनि करते हुए बाहर निकले. वेद ध्वनिका घोष ऐसा महान् हुआ जो साथमें वाद्योंकी ध्वनि होती थी तो भी यह वेद मंत्रोंका घोष स्पष्ट सुननेमें आता था, मानों वाद्योंसे भी निकट हो रहा है. उस अलौकिक पंक्तिमें देवोंका भी आगमन हुआ जिसका वर्णन करते हैं कि देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व आकाशमार्गसे चलते हुए पुष्पवृष्टि करते थे और स्तुति भी कर रहे थे।।१३।।

आभासार्थ : पश्चात् कामकी कलाओंसे जानेवालोंके 'स्वलंकृता' श्लोकसे उत्सवका वर्णन करते हैं :

स्वलंकृता नरा नार्यो गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः।
विलिम्पन्तो मिथो हृष्टाः विजह्रुर्विविधै रसैः ।।१४।।

श्लोकार्थ : नगरके नर तथा नारी चन्दन, माला, आभूषण और वस्त्रोंसे सिंगारकर सुसज्जित होके अनेक प्रकारके रसोंसे लेपन करते हुए और सिंचन करते हुए विहार करने लगे।।१४।।

व्याख्यार्थ : गन्ध आदि सुगन्धित पदार्थोंसे सिंगारे हुए, अनेक प्रकारके रसोंसे लेप करते हुए नर और नारियां काम कलाओंसे विहार करते हुए आनन्द पा रहे थे. जिस स्त्रीका विहार जिस स्त्रीके साथ योग्य था वह उससे ही करती. एवं पुरुष भी परस्पर योग्यताके अनुसार विहार करते थे. यह ही विचारपूर्वक निर्णय है।।१४।।

आभासार्थ : 'तैलगोरस' श्लोकसे साधारण स्त्रियों(वेश्याओं)का पृथक्

प्रकारसे विहार कहते हैं :

तैल–गोरस–गन्धोद–हरिद्रा–सान्द्र–कुङ्कुमैः ।
पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः ।।१५।।

श्लोकार्थ : तेल, दही, सुगन्धी जल, हल्दी और सघन(गाढ़ी) केसर, इन पदार्थोंसे पुरुष, वेश्याओंको लेप करते थे और वेश्याएं पुरुषोंको लेप करती थीं, इस प्रकार इनका विहार होता था।।१५।।

व्याख्यार्थ : यह पूर्वार्ध देहली पर धरे हुए दीपकके समान है, पुरुष अर्थात् वेश्यागामी पुरुषोंने रसोंसे वेश्याओंको लिप्त की थी तथा वेश्याओंने पुरुषोंको लिप्त किया था. 'वारयोषित' पदका अर्थ करते हैं कि वरोंका समूह वार,(बहुत पुरुषों)की स्त्रियां, वे स्त्रियां 'वारयोषित' कही जाती हैं, यह भाषा लौकिकभाषा है, इस कारणसे धर्मके अर्थात् यज्ञके कार्यमें इस प्रकारके वर्णनसे कोई दोष नहीं है।।१५।।

आभासार्थ : अनन्तर रानियोंके निर्गमनके समयका विहार 'गुप्ता नृभिः' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

गुप्ता नृभिर्निरगमन् उपलब्धुम् ऐतद् देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः ।
ता मातुलेयसखिभिः परिषिच्यमानाः सव्रीडहासविकसद् वदना विरेजुः ।।१६।।

श्लोकार्थ : इस उत्सवको देखनेकेलिए जैसे देवांगनाएं विमानोंमें बैठकर आई थीं, वैसे ही योद्धाओंसे रक्षित रानियां भी देखनेकेलिए बाहर निकली, मामाके पुत्र तथा सखियोंसे भिगोई जाती लज्जायुक्त हास्यसे विकसित मुखवाली वे शोभा पा रही थीं।।१६।।

व्याख्यार्थ : शस्त्रधारी पैदल सैनिकोंसे रक्षित राजपत्नियां अवभृथ कर्मका उत्सव देखनेकेलिए पालकियोंमें बैठ बाहर आईं. पालकियोंकी और इनकी उत्तमता दृष्टान्तसे कहते हैं, जैसे उत्तम विमानोंमें देवस्त्रियां आकाशमें निकली वैसे ये राजरानियां भी पालकियोंमें निकलीं. उनके भी लेपन आदिका वर्णन करते हैं. मामाके पुत्रों और प्रणयवालोंसे रसों द्वारा सिंचित होती थीं, अथवा मामाके पुत्र ही प्रणयवाले थे.

मामाके पुत्र भगवान्के सखाओंसे सिंचित होती थी, ऐसा अर्थ उचित नहीं है. यहां सर्व राजाओंकी स्त्रियोंकी बात है. मामाका पुत्र कहनेसे उनके मामाके पुत्र समझे जायेंगे, उनके पतिके मामाके पुत्र नहीं समझे जायेंगे. आगेके

श्लोकमें जो देवर और प्रणयवालोंको ये शब्द कहे हैं उनसे विरोध होगा. यदि यह अनुचित अर्थ किया जाएगा तो मामाके पुत्रकी कन्यासे विवाह करने पर, बड़े भाईकी पत्नीके छोटे भाई देवर और मामाके पुत्र बन जाते हैं. मामाके पुत्र शब्दसे बुआके पुत्रकी भी सूचना हुई है. सखियोंको देवरोंके साथ हंसीसे विनोद करना लौकिक है. सर्व देशोंमें प्रसिद्ध है, उसका निषेध नहीं है. जैसे राजभोग्य पदार्थ सर्वके उपयोगमें आ सकते हैं, वैसे ही स्त्रियोंसे भी बाहरकी हंसी आदि विनोद सम्बन्धी कर सकते हैं. मामाके पुत्र पद कहनेसे यह सूचित किया है कि यह विवाह धर्मानुसार नहीं है जो कन्यायें धर्मानुसार विवाह करती हैं, वे सुतराम् पतिव्रतायें हो जाती हैं. अतः उनका दूसरोंके साथ हंसी आदि विलास नहीं हो सकते हैं. इससे यह मामाके पुत्रों और प्रणयवालोंसे मिश्रित यह बराबर कहा है तो भी रक्षकोंसे आवेष्टित थीं और लज्जा युक्त हास्यके कारण प्रफुल्ल मुखवाली थीं. जिससे प्रथम कही हुई स्त्रियोंसे उत्तम है. सिंचन जलके मध्यमें होता है न कि मार्गमें. वहां जलमें जैसे कमल खिलते हैं, वैसे ये भी सुशोभित हो रही थीं।।१६।।

आभासार्थ : उन्होंने भी देवर और साथवालियों पर सिंचन किया, वह 'ता देवरानुत' श्लोकसे कहते हैं :

ता देवरानुत सखीन् सिषिचुर्दृतीभिः क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ।
औत्सुक्यमुक्तकबराश्च्यवमानमाल्याः क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः ।।१७।।

श्लोकार्थ : वे अपने देवर और प्रणयवालोंको पिचकारियोंसे अथवा चमड़ेकी डोलचियोंसे भिगो रही थीं. जिससे उस समय उनके वस्त्र भी भीग गये थे. उसीसे उनके सब अंग कुच(स्तन), ऊरु और मध्य भाग साफ देखनेमें आते थे, तथा उत्सुकतासे चोटी शिथिल हो जानेसे पुष्प बिखर रहे थे, उस समय उनका यह विहार देखकर कामीजनोंके मन क्षोभ पाते थे।।१७।।

व्याख्यार्थ : वे ही मामाके पुत्र देवर प्रणयवाले उनसे भिन्न थे यों बतानेकेलिए 'उत' पद दिया है. 'दृतयः' बांसकी या चमड़ेकी बनी हुई पिचकारियोंसे अथवा छोटी डोलचियोंसे उनको भीगोती थीं और आप भी भीगे हुए वस्त्रोंवाली थी तथा वे कपड़े बहुत महीन थे, जिनसे इनके अवयव साफ देखनेमें आते थे. रसोत्पादक स्थान भी दिखते थे, यों बतानेकेलिए उनके नाम कहते हैं, स्तन, जंघा और नाभिका भाग ये शृंगाररसके स्थान हैं, 'मध्य' पदसे नाभिका भाग कहा है. क्रीडाकी उत्सुकतासे जिनकी चोटी शिथिल(ढ़ीली) पड़

गई थी, जिससे पुष्प बिखर रहे थे. उनके दर्शनसे कामका आविर्भाव होता था. इसलिए उस प्रकारसे उनकी विशेषता कही है. अब उनको देखना, कामदोष उत्पन्न करनेवाला है, इसकी व्यवस्था 'मलधियां' पदसे करते हैं कि जिनका अन्तःकरण मलीन है, अर्थात् जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंको जीता नहीं है, उन मलीन बुद्धिवालोंमें ही कामोत्पत्ति होने लगी, शेष जिनकी बुद्धि मलीन नहीं है, इन्द्रियां जीती हुई हैं, उनमें कामदोष उत्पन्न नहीं होता है. अतः इस चरित्रके कीर्तन श्रवण आदिमें कोई दोष नहीं है यह सिद्ध किया है. 'रुचिरैः' पदसे यह आशय दिखाया है कि इनकी यह क्रीड़ा शुद्ध प्रेमकी थी न कि रसाभास कामकी थी।।१७।।

आभासार्थ : युधिष्ठिरका बाहर निकलनेका वर्णन करते हैं :

स सम्राड् रथम् आरूढः सदश्वं रुक्ममालिनम्।
व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ।।१८।।

श्लोकार्थ : जिस समय वे चक्रवर्ती राजा युधिष्ठिर उत्तम घोड़ोसे युक्त सुवर्णकी मालाओंवाले रथ पर अपनी स्त्रियोंके साथ चढ़े, उस अवसरमें ऐसे शोभित थे कि मानों क्रियाओंके साथ यज्ञराज शोभा दे रहा है।।१८।।

व्याख्यार्थ : उसी यज्ञकर्मसे ही युधिष्ठिरने साम्राज्य प्राप्त किया था, जिससे वे चक्रवर्ती हुए. सुन्दर अश्व जिस रथमें जुड़े हैं, सुवर्णकी मालाओंसे चारों तरफ सुसज्जित रथमें पहलेसे विलक्षण दिखती अपनी स्त्रियोंसे विराजमान हुए, तब वे ऐसे अलौकिक शोभावान् हुए, मानो यज्ञराज अपनी क्रियाओंसे शोभा पा रहा है. यों कहनेसे यद्यपि प्रकरणसे लौकिकता दिखती हैं, तो भी उसका परिहार कर अलौकिकता दिखाई है. यज्ञराजका प्रत्यक्ष दर्शन भी योगसे उत्पन्न दैवी दृष्टिसे होता है, प्रकट दशामें तो सकल नित्य क्रियाओंसे जो ऋत्विज् क्रियाएं करते हैं उनके स्पष्ट दर्शन होते हैं।।१८।।

पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते तमृत्विजः।
आचान्तं स्नापयांचक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ।।१९।।

श्लोकार्थ : पत्नीसंयाज(याग) और अवभृथ सम्बन्धी कर्म कराके आचमन लेनेके अनन्तर उन ऋत्विजोंने युधिष्ठिरको कृष्णाके साथ गंगामें स्नान कराया।।१९।।

व्याख्यार्थ : इस समय पृथक् पृथक् शाखाओंमें प्रकारभेदसे यज्ञ होते हैं, इसी तरह पत्नीसंयाज पर्यन्त याग क्रियाके नमुने हैं अथवा एक हजार प्रकारके

याग प्रचलित हैं. उस पक्षानुसार जो द्रव्य बढ़ते हैं उन द्रव्योंसे पत्नीसंयाज(याग) स्वतन्त्र प्रकारसे पृथक् ही किये जाते हैं. अवभृथ सम्बन्धी यज्ञमें जो कर्म कहे हैं, उनसे किये जाते हैं, वे ही ऋत्विज् आचमन तक कर्म करानेके बाद, युधिष्ठिरको अभिषेककी विधिके अनुसार स्नान कराने लगे. अभिषेकसे रानी ही मुख्य कही है. बिना रानीके अकेले राजाका अभिषेक नहीं होता है, इसलिए 'कृष्णया सह' कहा है. 'गंगायां' पद कहनेसे यह कहा है कि गंगाजलमें भीतर नहाते हुए भीतर अभिषेक होता है।।१९।।

देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम्।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवाः ।।२०।।

श्लोकार्थ : मनुष्योंके नगाड़ोंके साथ देवताओंके नगाड़े भी बजने लगे, देव, ऋषि और पितृगण तथा मनुष्य, पुष्प वर्षा करने लगे।।२०।।

व्याख्यार्थ : उसके यज्ञकी कृतिपूर्णता एवं सुन्दरतामें सम्मति सर्वने दी यह जतानेकेलिए ही उस समय देवोंने नगाड़े बजाये, मनुष्योंके नगाड़े तो लौकिक है, जिस समय बजने चाहिये उस समय मनुष्योंने बजाये तो देवोंने भी साथ ही बजाये, यों करनेसे देव भी इच्छानुसारी हुए. यह जतानेके वास्ते साथ बजानेको कहा है. देवपन सम्पादन करनेसे भी राजसूय महान् है यों बतानेकेलिए देवादि सर्वने पुष्पोंकी वर्षाएं की है।।२०।।

सस्नुस्तत्र ततः वर्णाश्रमयुता जनाः।
महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ।। २१।।

श्लोकार्थ : अनन्तर वहां सर्व वर्णाश्रमवाले मनुष्योंने स्नान किया जिस स्नानसे महापापी भी शीघ्र ही पापसे छूट जाता है।।२१।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् राजाके समीप ही सर्वने स्नान किया, श्लोकमें 'वर्णाश्रमयुता-जनाः' वर्ण और आश्रम धर्म पालनेवाले मनुष्योंने स्नान किया. यों कहनेका भावार्थ यह है कि यज्ञमें अधर्मी और पाखण्डी जनोंने प्रवेश ही नहीं किया था. यज्ञान्त स्नान करनेका महात्म्य कहते हैं कि महान् पापी भी स्नान करनेसे शीघ्र ही पापसे छूट जाता है, चाहे उसने अचानक आकर सम्मति लेकर केवल स्नान किया हो।।२१।।

आभासार्थ : पश्चात् राजाके लौकिक उत्कर्ष दिखानेकेलिए शृंगार करनेका 'अथ राजाऽहते' श्लोकमें वर्णन करते हैं :

अथ राजाऽहते क्षौमे परिधाय स्वलंकृतः ।
ऋत्विक्सदस्यब्रह्मादीनानर्चाभरणाम्बरैः ।।२२।।

श्लोकार्थ : पश्चात् राजा नये दो वस्त्र धारणकर, उत्तम अलंकारोसे अलंकृत हुआ. अनन्तर ऋत्विज्, सभासद और ब्राह्मण आदि सर्वका आभरण तथा वस्त्रोंसे सत्कार किया।।२२।।

व्याख्यार्थ : इतना समय अर्थात् यज्ञकी दीक्षा लेकर जब तक यज्ञान्त स्नान कर्म पूर्ण किया तब तक राजाने अलंकार आदि धारण करना शास्त्राज्ञानुसार छोड़ दिये थे. इसलिए राजा अलंकार रहित था. अब यज्ञका सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जानेके अनन्तर राजाने दो रेशमी वस्त्र पहने और सुन्दर अलंकार धारण किए, रेशमी वस्त्र सौम्य है अर्थात् ये वस्त्र चन्द्रमाने मानो वरदानमें दिए हैं, इसलिए रेश्मी वस्त्र पहने है. राजाने स्वयं कपड़े पहन अलंकार धारणकर, अनन्तर ऋत्विज्, सभासद आदिको भी अपने समान वस्त्र और अलंकारोंसे अलंकृत किया।।२२।।

बन्धुज्ञातिनृपान् मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः ।
अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ।।२३।।

श्लोकार्थ : भगवत्परायण राजाने बांधवों, सम्बन्धियों, राजाओं, मित्रों, स्नेहियों और अन्योंकी बार बार सर्व प्रकार पूजा की।।२३।।

व्याख्यार्थ : यज्ञ कर्ममें आए हुए बान्धव, सम्बन्धी, नृपति, मित्र, स्नेही और अन्य इन सबोंकी सर्व प्रकारसे पूजा की. इस पूजामें काल नियामक नहीं था, किन्तु पूजा करनेवाले नियामक थे. पूजा करनेवाले कालका विचार नकर, बार बार विधिपूर्वक पूजा करने लगे, न कि लौकिक प्रकारसे पूजा की. इससे यों बताया है कि राजाके द्वारा जो भी यज्ञ सम्बन्धी कार्य किसीके भी हस्तसे हो किन्तु वह विधिपूर्वक ही होता था. 'अन्योंका कार्य भले लौकिक होता हो'.

यज्ञमें विहित यज्ञके अंगभूत थोड़े ही होते हैं तो फिर राजाने सर्वकी पूजा कैसे की, इसके उत्तरमें कहा है कि 'नारायणपर' नारायणके परायण होनेसे उसका आशय भगवान्की पूजा करनेका था, किन्तु भगवान् परायण होनेसे उसकी दृष्टि ऐसी थी कि वे सर्व भगवद्रूप हैं, अतः श्रद्धासे सबकी पूजा की, राजा होनेसे पूजाकेलिए धनादिकी कमी नहीं थी।।२३।।

आभासार्थ : राजाने जिनका पूजन किया उनकी शोभाका वर्णन 'सर्वे

जनाः' श्लोकमें करते हैं :

सर्वे जनाः सुरुचो मणि–कुण्डल–स्रगुष्णीषकशुक–दुकूल–महार्ध्यहाराः ।
नार्यश्च कुण्डल–युगालकवृन्दपुष्ट–वक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः ।।२४।।

श्लोकार्थ : सब पुरुष मणियोंके कुण्डल, माला, पगड़ी, जामा, रेशमी वस्त्र व अमूल्य हार धारण किये हुए देवताओंके समान देदीप्यमान् हो रहे थे. स्त्रीयां भी कुण्डल युगल व अलंकारोसे सुशोभित मुख हो, सुवर्णकी मेखलासे शोभायमान् लगती थीं।।२४।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार यज्ञके सर्व कर्मके पूर्ण हो जानेसे भीतरके और बाहरके दोष दूर हुए. इच्छाके पूर्ण होनेसे और आभरण धारण करनेकी कान्तिसे देव समान तेजस्वी देखनेमें आए, ऐसा देखनेमें हेतु मणियोंसे जड़ित कुण्डल मालाएं, पगड़ी, कंचुक(जामा), रेशमी वस्त्र(गलेमें पहननेका दुपट्टा अथवा कमरमें बांधनेका वस्त्र), अमूल्य हार धारण किए हुए पुरुष शोभते थे.

इसी प्रकार 'च'से प्रकट होता है कि स्त्रियां भी श्रृंगारसे सुसज्जित कुण्डलोंकी जोड़ीसे तथा लटकती हुई केशोंकी लटोंसे जिनके मुखोंकी शोभा बढ़ रही है, ऐसी स्त्रियां सोनेकी मेखला(कंदोरे)से विशेष शोभित हो रहीं थीं, यहां तक लौकिक शोभा कही है।।२४।।

आभासार्थ : अब भिन्न क्रमसे आए हुए सभासदोंके जानेका प्रकार 'अथर्त्विजो' श्लोकमें कहते हैं :

अथर्त्विजो महाशालाः सदस्या ब्रह्मवादिनः ।
ब्रह्म–क्षत्रिय–विट्–शूद्रा राजानो ये समागताः ।।२५।।

श्लोकार्थ : हे नृप ! अनन्तर श्रोत्रिय, ऋत्विज् और ब्रह्मवादी सदस्य एवं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा भूपगण आए थे. (वे तथा और २६वे श्लोकमें दिए गए हैं) ।।२५।।

व्याख्यार्थ : आगे दुर्योधनके मानके नाशका वर्णन करना है, अतः सब लौटकर जावे, वहां तक वर्णन किया है. कारण कि, यज्ञके बीचमें किसी भी अंशसे न्यूनता(कमी) हो तो दुष्टोंको सन्तोष होवे, यों न होवे तो मत्सरता सबल न होवे इसलिए ही लौट जाने तक वर्णन है. 'महाशाला' पदसे यह बताया है कि वहां जो ऋत्विज् हुए थे वे सब श्रोत्रिय विद्वान् थे, जो सभासद तो ब्रह्मवादी होनेसे सर्वज्ञ थे, इस प्रकार दोनों ऋत्विज् और सभासदोंमें जो धर्म चाहिए वे धर्म उनमें

विद्यमान थे. दूसरे ब्राह्मण आदि जो भी आए थे, उनका आना आवश्यक था, इसलिए कहा है कि 'ये समागताः', जो आये, पदसे उनकी आवश्यकता कही है।।२५।।

आभासार्थ : इसी प्रकारसे जो देव आदि आए उनके लौटनेका प्रकार 'देवर्षि' श्लोकसे कहते हैं :

देवर्षिपितृभूतानि लोकपालाः सहानुगाः।
पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप ।।२६।।

श्लोकार्थ : देव, ऋषि, पितर, प्राणियों और सेवकों सहित लोकपाल राजासे सत्कार पाकर उससे(राजासे) आज्ञा लेकर अपने-अपने धामको गए।।२६।।

व्याख्यार्थ : वे सब (२५-२६ श्लोकमें कहे हुए) पूजे हुए प्रेमसे अपने अपने धामको लौट गये. 'नृप!' यह सम्बोधन समाप्तिमें सन्तोषकेलिये दिया है।।२६।।

आभासार्थ : उसका मानस और कायिक सत्कार कहकर, अब 'हरिदासस्य' श्लोकमें वाणीसे किये गए सत्कारका वर्णन करते हैं :

हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम्।
नैवातृप्यन्प्रशंसन्तः पिबन्मर्त्योऽमृतं यथा ।।२७।।

श्लोकार्थ : जिस तरह मनुष्य अमृत पीते हुए तृप्त नहीं होता है, वैसे ही हरिके दास, राजर्षिके राजसूय यज्ञकी विशेष प्रशंसा करते हुए तृप्त नहीं हुए।।२७।।

व्याख्यार्थ : राजा युधिष्ठिर अपने राजधर्ममें आसक्त था. अतः प्रमाण बलसे पुष्ट था. जिससे राजर्षि हुआ. इसी प्रकार भगवान्के दास होनेसे भक्तिमें आसक्त था, जिससे हरिदास कहलाए. अतः प्रमेयबलसे पुष्ट था, यों होते हुए भी महान् यज्ञ राजसूय यज्ञ किया, जिससे भी राजाका महान् उदय हुआ. अतः एवं प्रशंसा करते हुए वे तृप्त ही न हुए. यदि दूसरेकी इच्छासे किसीकी स्तुति की जाती है, तो उसकी इच्छा पूर्ति होने पर स्तुति बन्द की जाती है. यह तो अपने मनः सन्तोषकेलिए की जाती है, इसलिए निरन्तर प्रशंसा कर रहे थे, तृप्ति होती ही नहीं, ज्यों-ज्यों स्तुति करते, त्यों-त्यों प्रतिक्षण आनन्द आ रहा था, जिससे स्तुतिकेलिए रुचि बढती जाती थी, जिसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे मनुष्य मरणको

मिटानेवाले स्वादिष्ट अमृतको पीते हुए तृप्त नहीं होता है, वैसे ये भी तृप्त नहीं हुए. अनुभव करते समय अर्थात् पीते समय स्वादिष्ट लगनेसे तृप्ति न होनेसे छोड़ा नहीं जाता है और पीनेके बाद मरण मिटानेवाला होनेसे त्यागा नहीं जाता है. इसी प्रकार यहां भी प्रशंसामें आसक्ति होनेसे वर्णन करते ही रहते हैं क्योंकि 'योयच्छ्रद्धः स एव सः' इस प्रमाणानुसार वे समझते थे कि यह प्रशंसा हमको राजाके समान बना देगी, इसलिए प्रशंसाका त्याग न करना यह उचित ही है।।२७।।

आभासार्थ : अपने बांधवोंसे विशेष व्यवहार करना चाहिए, साधारणों जैसा व्यवहार करनेसे शोभा नहीं, अतः साधारणोंको विदाकर बांधवोंको रोक रखा, जिसका वर्णन 'ततो युधिष्ठिरो' श्लोकमें करते हैं :

ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान्।
प्रेम्णा निवासयामास कृष्णं च त्यागकातरः ।।२८।।

श्लोकार्थ : बांधवोंको रवाना करनेसे दुःखी राजा युधिष्ठिरने अपने मित्र, सम्बन्धी और बान्धवोंको तथा श्रीकृष्णको जानेसे रोक अपने पास प्रेम पूर्वक ठहराया।।२८।।

व्याख्यार्थ : आगे अनर्थ होगा क्योंकि भगवान्की ऐसी ही इच्छा थी. 'सुहृद मित्र सम्बन्धिनः' जिनसे कन्या लेन देनका सम्बन्ध हो सके वे 'बान्धवाः' गोत्र वाले इनको अपने यहां ठहराया. 'प्रेम्णा' शब्द कहनेका भावार्थ यह है कि यज्ञके समय अपने बान्धवादि सब सेवा कार्यमें लगे हुए थे, जिससे वे सुखपूर्वक भोजनादि न कर पाये थे, अतः सब कोलाहलके शान्त हो जानेसे अब स्नेहसे साथ बैठकर, भोजनादि करेंगे इसलिए प्रेमपूर्वक इनको जानेसे रोका था और श्रीकृष्णको पृथक् पृथक् कहा जिसमें भी विशेष प्रयोजन था, छुट्टी देनेसे राजाको संताप होता था, इस वाक्यसे समझा जाता है कि राजाने इनको बहुत समय अपने पास ठहराया था।।२८।।

आभासार्थ : सब बन्धुगण तो विशेष कार्य न होनेसे वहां ठहर गए, भगवान्को तो अन्य कार्य भी है, उनकी कदाचित् स्थिति न हो सके इस शंकाका उत्तर 'भगवानेव' श्लोकमें कहते हैं :

भगवानेव तत्राङ्ग न्यवासीत् तत्प्रियंकरः।
प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम् ।।२९।।

श्लोकार्थ : हे महाराज ! भगवान् यादव वीरोंको और साम्ब आदिको कुशस्थली(द्वारका) भेजकर, आप ही उसका(युधिष्ठिरका) प्रिय करनेवाले होने से, वहां ही बिराजे।।२९।।

व्याख्यार्थ : हे अंग(राजन्) यह सम्बोधन देकर श्रीशुकदेवजीने राजाको सूचित किया है कि मैं तुमसे वंचना नहीं करता हूं अर्थात् जो वास्तविक है, वही कहता हूं, वहां ही रहे. 'एव' शब्दसे यह कहा कि भगवान् अकेले नहीं रहे किन्तु स्त्री सहित रहे, अन्य कार्योंकी पूर्तिकेलिए अपने प्रतिनिधि रूपसे दूसरोंको भेज दिया. भगवान्की उपस्थितिमें रक्षा और विलास दोनों द्वारकामें हो सके, उनकी अनुपस्थितिमें एकसे दो कार्य न हो सकेंगे, अतः रक्षाकेलिए यदुवीर और विलासार्थ साम्बादि दोनोंको भेजा. वहां ऐसा क्या है? जो रक्षा आवश्यक होनेसे यदुवीरोंको भेजा, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि यह स्थान स्वभावमें भयका है, क्योंकि यहां कुश दैत्य होनेसे सदैव उसका उपद्रव होता रहता है।।२९।।

आभासार्थ : यज्ञ आदिमें, मध्यमें और अन्तमें जो चाहता था वह राजा को प्राप्त हुआ इसलिए 'इत्थं राजा' श्लोकमें राजाके कार्यका उपसंहार करते हैं :

इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम्।
सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद् गतज्वरः ।।३०।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णकी सहायतासे मनोरथ रूप महान् सदुस्तर समुन्द्रको पारकर, निश्चिंत हुआ।।३०।।

व्याख्यार्थ : 'राजा' कहनेका यह भाव प्रकट किया है कि अपने धर्मका पूर्ण रीतिसे पालन करता था. 'धर्मसुतः' धर्मराजका पुत्र होनेसे उसके बीजकी शुद्धि नहीं थी. मनोरथ ही महान् समुद्र था. महान् समुद्र कहनेका भाव यह है कि जैसे समुद्रमें अनेक मगरमच्छ आदि दुःख देनेवाले रहते हैं वैसे ही मनोरथोंमें भी अनेक प्रकारके प्रतिबन्धक (जरासंध आदि) थे. इस कारणसे ही उनसे अपनी सामर्थ्यसे अथवा भ्राता आदिके सामर्थ्यसे पार होना अति कठिन था. किन्तु श्रीकृष्णकी सहायतासे उन प्रतिबन्धोंको नष्टकर, अपने मनोरथ पूर्ण किये, जिससे निश्चिन्त हुआ. जैसे वैष्णव धर्मका पालन करनेसे मनुष्य चिन्ता आदिको समुद्रमें फेंककर निश्चिन्त हो जाता है, वैसे युधिष्ठिर भी श्रीकृष्णके आश्रयसे निश्चिन्त हुआ।।३०।।

आभासार्थ : इसके अनन्तर भूमिके भारको हरण करनेवाला भगवान्का

चरित्र वर्णन करनेकेलिए 'एकदा' श्लोकमें दुर्योधनके मानभंगको कहते हैं :

एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् ।
अतप्यद् राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः ।।३१।।

श्लोकार्थ : एक दिन श्रीकृष्णमें आसक्त चित्तवाले उस युधिष्ठिरके अन्तःपुरमें समृद्धि और राजसूयकी महत्ता देख, दुर्योधन दुःखी होने लगा।।३१।।

व्याख्यार्थ : कौरवोंमें बड़े भीष्म आदि तो घर गए, जिन्होंने यज्ञमें कार्य किए थे, वे ही ठहरे थे, उनमें दुर्योधन भी था अतः वह ठहर गया था. दुर्योधनका यज्ञके कार्यमें लगे होनेसे और उसके(यज्ञके) ही आवेशसे पहले मात्सर्य उत्पन्न न हुआ. यज्ञ कार्यकी समाप्तिके बाद स्वाभाविक दोष उद्भव होनेसे, मत्सरता पैदा हुई, क्यों उत्पन्न हुई? वह बताते हैं कि उसके(राजा युधिष्ठिरके) अन्तःपुरमें स्त्रीरूप और धन समृद्धि देख तथा राजसूय यज्ञसे वैदिक उत्कर्ष भी देख दुर्योधन सहन न कर सका, जिससे दुःखी होने लगा. विशेषमें राजाको श्रीकृष्णमें ही आत्मा लगी होनेसे उसका भक्तोत्तमत्व जानकर भी दुःखी हुआ, दुर्योधन यों देख दुःखी क्यों हुआ? जिसको कहते है कि दुर्योधन अपनेको युधिष्ठिरके समान समझता था किन्तु ऊपर कही हुई तीन सम्पत्तिमेंसे एक भी अपने पास न होनेसे शोकमें तपने लगा।।३१।।

आभासार्थ : वहां जो धनकी समृद्धि देखी उनका वर्णन 'यस्मिन् नरेन्द्र' श्लोकमें करते हैं :

यस्मिन् नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मीः नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः ।
ताभिः पतीन् द्रुपदराजसुतोपतस्थे यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ।।३२।।

श्लोकार्थ : महाराजा युधिष्ठिरके अन्तःपुरमें भगवान्की बनाई हुई, राजाओंकी, उत्तम दैत्योंकी तथा उत्तम देवोंकी अनेक प्रकारकी सम्पत्तियां शोभा दे रही थी. उन सम्पदाओंसे द्रौपदी अपने पतियोंकी सेवा करती थी. उसे देख द्रौपदीमें आसक्त चित्तवाले दुर्योधनका मन डोल गया और जलने लगा।।३२।।

व्याख्यार्थ : 'नरेन्द्राः' मानवोंके राजा, उनकी सम्पत्ति, मानुषी सम्पत्ति कही जाती है. 'दितिजेन्द्राः' दैत्योंमें उत्तम, दैत्य राज्योंकी सम्पदा आसुरी है, वह माया प्रचुर होती है. 'सुरेन्द्र' देवताओंमें श्रेष्ठ, उनकी सम्पत्ति अलौकिकी तथा विचित्र होती है. वे सब ही अनेक भांतिकी राजाके अन्तःपुरमें शोभा दे रही थी. 'किल' पदसे बताया है कि यों कहा हुआ प्रमाण है, अर्थात् सत्य है. ऊपर कही

हुई सम्पदायें जिनकी कही हुई हैं, उनसे मनुष्यके पास कैसे आई? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'विश्वसृजोपक्लृप्ता' ये जो सम्पदायें दुर्योधनने देखी वे सब विश्वको बनानेवाले भगवान्ने स्वयं बनाई है, यों कहनेसे यह समझाया है कि राजा, उत्तम दैत्य और उत्तम देवोंकी सम्पत्तिसे भी ये उत्कृष्ट हैं. उन समृद्धियोंसे द्रुपदराजकी कन्या द्रौपदी, अपने पतिकी सेवा करती थी. यों होनेसे क्या? इसके उत्तरमें कहते हैं कि ऐसी समृद्धि शोभा और द्रोपदीकी पति सेवा आदि देख दुर्योधनका मन उसमें(द्रौपदीमें) आसक्त हो गया और यों मनमें विचारने लगा कि जैसे द्रौपदीका भोग पांच कर रहे हैं, वैसा मैं करूं, क्योंकि मैं भी कुरुराज हूं, मेरे पास भी उत्तम सर्व पदार्थ हैं. इस प्रकार कामसन्तप्त होनेसे बहुत दुःखी हुआ।।३२।।

आभासार्थ : इस प्रकार आदि और अन्तवाले दो दोष वर्णन किये, अब मोहका वर्णन 'यस्मिंस्तदा' श्लोकमें करनेकेलिए भगवत्सम्बन्धी लीला कहते हैं : **यस्मिंस्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् । मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोणहारं श्रीमन्मुखं चपलकुण्डलकुन्तलाढ्यम् ।।३३।।**

श्लोकार्थ : जहां उस समय नितंबके भारसे धीरे धीरे झमकते झांझरोंसे शोभित चरणोंवाली सुन्दर स्तनोंकी केशरसे लाल हुए हारोंको धारण की हुई सुन्दर मुखवाली, चञ्चल कुण्डल और केशपास युक्त मधुपति(भगवान्)की सहस्र (हजार) रानियां देख, दुर्योधन दुःखी हुआ।।३३।।

व्याख्यार्थ : उस समय, अर्थात् जब दोपदीको देखा. उस समय कोटि कन्दर्परूप मोहित करनेवाले भगवान्की सहस्र(हजार) रानियां देख, (दुर्योधन दुःखी हुआ) जैसे रानियां मोह उत्पन्न करनेवाली हैं, वैसे ही भगवान् भी मोहक हैं. क्योंकि एक तो आप कामपूरक होनेसे मोहक हैं और अनेक स्त्रियोंवाले होनेसे भी आपमें मोहता होती है. अब भगवान्की रानियोंको मोह होनेके कारण बताते हैं: १.नितम्बके भारसे धीरे-धीरे झंकार करती हुई झरोखोंसे शोभित चरणोंवाली थीं, झांझरका दर्शन और उसकी ध्वनि मोह करनेवाली है. छाती पर अति उत्तम जो स्तनों पर विशेष प्रकारसे चर्चित चन्दन था उसका निरूपण किया, वह कुंकुम मकरिका(काम दानी तालके पत्रोंका वस्त्र)के पत्रके मध्यमें था. अर्थात् अति सूक्ष्म वस्त्र होनेसे उसकी आड़ रस उत्पन्न करती थी, क्योंकि वह आड़ देखनेमें रुकावट नहीं करती थी, इससे यह वर्णन मोहित करनेकेलिए ही किया है. उस कुंकुमसे यों दिखता था कि यह लाल हुआ हार मानों कमलपत्रोंका बना हुआ है,

उसके मध्यमें रानियोंके मुख ऐसी शोभा दे रहे थे, काममें संलग्न होनेसे अथवा भावार्थ चलायमान कुण्डल और केशोंवाली वे रानियां थीं.

अथवा 'मध्ये सुचारु' पदको पृथक् समझकर, यों अर्थ करना चाहिए कि प्रान्त(किनारे) पर चलनेवाली स्त्रियोंके मध्यमें जो स्त्रियां रुक्मिणी आदि थीं वे अति उत्कृष्ट थीं।।३३।।

आभासार्थ : इस प्रकार स्त्रियोंको मोहका कारण कहकर, राजाका किया मोहका हेतु सिद्धकर, दैत्यने स्थानसे किया हुआ मोहका कारण 'सभायां' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट्।
वृतोनुगैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा।।३४।।

श्लोकार्थ : किसी समय चक्रवर्ती धर्म-पुत्र युधिष्ठिर मयकी बनाई हुई सभामें अपने छोटे भ्राताओंकी सेवाके और अपने नेत्र श्रीकृष्णके साथ (बैठे) थे।।३४।।

व्याख्यार्थ : मयने यह सभा विशेषतया इस वास्ते बनाई थी. किसी समय यों कहनेका भावार्थ यह है कि बनानेके समय कालका रूप भी वैसा ही था. युधिष्ठिरको 'धर्मसुत' विशेषण देकर यह सूचित किया है कि वह अधर्मका नाश करेंगे. 'अधिराट्' चक्रवर्ती कहकर बताया है कि इसमें अधर्मका नाश करनेका सामर्थ्य है. सेवक और बान्धव साथ थे, जिससे बताया कि क्रियामय सहायक साथमें थे. अब अपना चक्षुरूप श्रीकृष्ण साथ थे, यों कहनेसे सिद्ध किया है कि युधिष्ठिरको इससे ज्ञान और क्रियारूप दोनों सहायता श्रीकृष्णसे प्राप्त थी, इससे यह सूचित किया है कि, दुर्योधनसे भी, भगवान्का किया हुआ सन्मान विशेष था, जिससे भगवान् जो करे वही प्रमाण है।।३४।।

आभासार्थ : दुर्योधनको दिखानेकेलिए 'आसीनः' श्लोकसे युधिष्ठिर की विशेष प्रकारसे सिंहासन स्थितिका वर्णन करते हैं :

आसीनः काञ्चने साक्षादासने भगवानिव।
पारमेष्ठ्यश्रिया पुष्टः स्तूयमानश्च बन्धुभिः।। ३५।।

श्लोकार्थ : चक्रवर्तीकी सम्पत्तिसे पुष्ट और बांधव जिसकी स्तुति कर रहे हैं, वैसे महाराजा युधिष्ठिर सुवर्णके बने हुए साक्षात् आसन पर भगवान्की तरह बैठे थे।।३५।।

व्याख्यार्थ : सबसे उत्कृष्टता प्राप्तकर, भगवान्‌की तरह सोनेके बने हुए सिंहासन पर बैठ गए. 'साक्षात् आसने' कहनेका भाव यह है कि भगवान्‌ने आसनकी आधिदैविकी शक्ति इसमें ही स्थापित की है. यज्ञका फल, जो चक्रवर्तीकी श्री है, उससे पुष्ट था. बान्धव स्तुति कर रहे थे, इन विशेषणोंसे सिद्ध है कि महाराजा युधिष्ठिरका सबसे विशेष मान हुआ है।।३५।।

आभासार्थ : 'तत्र दुर्योधनो' श्लोकमें कहते हैं कि उस समय वहां दुर्योधन आया :

तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप।
किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन्रुषा।।३६।।

श्लोकार्थ : हे नृप ! भ्राताओंसे घिरा हुआ अभिमानी दुर्योधन, मुकुट और माला धारण किये खड्ग हाथमें लेकर, क्रोधसे अपमान करता हुआ सभामें प्रविष्ट हुआ।।३६।।

व्याख्यार्थ : युधिष्ठिरकी समृद्धि आदि देखकर दुर्योधनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह मुझे सेवक बनानेकेलिए वा इन्द्रियोंको पीड़ा देनेकेलिए यहां ठहरा रहा है, इस प्रकार विचार होनेसे भ्राताओंके साथ यह निश्चय कर आया कि युधिष्ठिरकी संमति न मिले तो भी, उससे युद्ध करूंगा. इसी कारण जहां तहां सबका अपमान करता हुआ, मुकुट और माला धारणकर, मानो प्रायः किसीको मारनेकेलिए हाथमें तलवार ले, भीतर सभामें आया. उस समय क्रोधसे पूर्ण था, जिससे लौकिक न्यायानुसार वह देख नहीं सकता था क्योंकि क्रोधसे मनुष्यकी आंखो पर अन्धकार छा जाता है, जिससे उस समय देख नहीं सकता है।।३६।।

आभासार्थ : रोषान्ध होनेसे उसको सभाके पदार्थोंमें भ्रम उत्पन्न हुआ यह 'स्थलेऽभ्यगृह्णाद्वस्त्र' श्लोकमें कहते हैं :

स्थलेऽभ्यगृह्णाद् वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत्।
जले च स्थलवद् भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः।।३७।।

श्लोकार्थ : वहां वह क्रोधी 'मय'की मायासे, ऐसा मोहित हो गया, कि जहां स्थल था वहां जल समझकर, वस्त्रोंको समेटने लगा और जहां जल था वहां स्थल समझकर जलमें गिर पड़ा।।३७।।

व्याख्यार्थ : मयने वहां सभा कांचकी धातुसे ऐसी बनाई थी, जहां जलमें

थल देखनेमें आवे, पर थल हो वहां जलकी भ्रान्ति हो. दुर्योधन क्रोधमें तो था ही, इससे भी जहां स्थल था वहां जल समझकर अपने वस्त्रोंके पल्लोंको ऊपर इसलिए समेटने लगा कि जलमें भीग न जाय. इतना ही नहीं किन्तु उस स्थानको नीचा स्थान समझकर, जैसे मनुष्य जलमें प्रवेश करता है, उसी तरह प्रवेश करनेसे स्थल पर भी गिर पड़ा. इसी प्रकार, जलको स्थल समझ, वहां जाने लगा, तो वह नीचा स्थान और जलमय होनेसे वस्त्र सहित उसमें भी गिर पड़ा. क्रोधान्ध होनेसे भी विशेष भ्रम उत्पन्न होनेसे स्थलमें जल और जलमें स्थल समझने लगा. मयकी मायासे भी विमोहित हुआ, जो दुष्ट अभिमानी होता है एवं क्रोधसे उस देशमें प्रवेश करता है, उसको भ्रम ही होता है. कोई माया जो देवतारूप होती है, मयने उस सभामें वह माया स्थापित की थी, जिससे मायासे मोहितको पदार्थ विरुद्ध देखनेमें आते थे।।३७।।

आभासार्थ : अनन्तर जो हुआ वह 'जहास' श्लोकमें कहते हैं :

जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे।
निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः ।।३८।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! जलमें थल, थलमें जलके भ्रमसे जो दुर्योधनकी दशा हुई उसको देख, भीमसेन, स्त्रियां और दूसरे भूपति हंसने लगे. यद्यपि युधिष्ठिरने बहुत रोका था किन्तु श्रीकृष्णके अनुमोदनसे हंसकर, उसकी हंसी कर डाली।।३८।।

व्याख्यार्थ : उसको अन्धक समान देखकर भीमसेन उससे स्वभावके कारण सहज विरुद्ध है, वह स्वभावसे सब स्त्रियां, जो दुर्योधनके सम्बन्धी नहीं थीं वे दूसरे भूपति भी हंसने लगे अर्थात् हंसनेसे उसकी हंसी की. यदि कहो कि राजसभामें यों किस पर भी हंसना उचित नहीं है, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि आप ही अनुचित समझकर, नहीं हंसे, इसका क्या कहा जाय? किन्तु राजाने रोका कि हंसो मत, तो भी रुके नहीं क्योंकि श्रीकृष्णने दोनों प्रकार हंसी करनेका अनुमोदन किया. १.अन्तर्यामीरूपसे हंसनेकी प्रेरणा की. २.बाहर साक्षात् अनुमोदन किया. इसलिए ही इतना उद्यम किया गया है।।३८।।

आभासार्थ : इसके बाद जो कुछ हुआ वह कहते हैं :

स व्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन्निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ।
हाहेति शब्दः सुमहान् अभूत् सताम् अजातशत्रुर्विमना इवाभवत् ।।

बभूव तूष्णीं भगवान् भूवो भरं समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद् दृशा ।।३९।।

श्लोकार्थ : वह दुर्योधन लज्जित हो मुख नीचा कर, क्रोधसे जलता हुआ, सभासे निकलकर चुपचाप हस्तिनापुर चला गया. उस समय सत्पुरुषोंने बडा हाहाकार शब्द किया और युधिष्ठिर उदाससे हो गए. जिनकी दृष्टिसे यह सब फिरता रहता है वे श्रीकृष्ण तो शांत ही बैठे रहे, क्योंकि उनको पृथ्वीका भार उतारना था इसलिए ही यह खेल रचा था।।३९।।

व्याख्यार्थ : दुर्योधन बाहरसे नीचे मुखवाला हुआ, पश्चात् अपमानके कारण अत्यन्त क्रोधित हुआ. उस क्रोधसे जलता हुआ, भीमको बिना धमकाए और राजासे आज्ञा भी न लेकर चुपचाप हस्तिनापुर गया. यमुना पारकर, चला गया. अनन्तर यह महान् बंधु इस प्रकार अपमानित हो रुष्ट होकर चला गया, जिससे प्राणी मात्र पर दया करनेवाले सत्पुरुषोंने जोरसे हाहाकार शब्द किया. राजा तो किसीको शत्रु नहीं समझता है, इसलिए उदाससे हो गये. पूर्ण उदास न हुआ. क्योंकि भगवान्ने यों हास्यादिसे इसका अपमान कराया है, इसमें कुछ रहस्य होगा, यों मनमें समझा था. भगवान् न हंसे और न विषाद किया इसलिए कहा है कि मौन करके बैठे थे, कारण कि यदि दुर्योधनको बुलाकर, उसका सम्मान आदि किया जाएगा तो पृथ्वीके भारका हरण नहीं होगा. यदि उसको मारा जाय तो पाण्डवोंका अहंकार नष्ट नहीं होगा, अतः भगवान् सर्वसम होनेसे, शान्त रहे, क्योंकि पृथ्वीका भार कैसे उतरेगा? जिसका उत्तर देते हैं कि जिस कारणसे भगवान् ज्ञानदृष्टिसे ज्ञानके साथ ही भ्रमण करते हैं इसलिए साध्य और साधन भावको प्रत्यक्ष आप देख रहे हैं, कि किस साधनसे कौनसा साध्य सिद्ध होगा, वैसे ही करते हैं. 'स्म' शब्दसे यह बताया है कि इसकी लोक और वेदमें प्रसिद्धि है यही इसमें प्रमाण है।।३९।।

आभासार्थ : जो अब तक हुआ उसकी समाप्ति करते हैं :

एतत्तेऽभिहितं राजन् यत्पृष्टोऽहमिह त्वया।
दुर्योधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ ।।४०।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! महान् यज्ञ राजसूयमें दुर्योधनका दुष्टपन जो आपने पूछा वह आपको कह दिया।।४०।।

व्याख्यार्थ : हे राजन्! यह महान् सम्बोधन, श्रीशुकदेवजीने स्नेहके कारण कहा है. यह चरित्र निरोध प्रकरणमें उपयोगी नहीं है, तो भी, आपने पूछा है

इसलिए कहना पड़ा है. तुमने मानभंगका कारण पूछा, वह हेतु दुर्योधनका अभिमान है. जिससे वह दुरात्मा बन गया है. वह अभिमान राजसूय यज्ञमें आनेवालेको करना उचित नहीं है. धर्मकेलिए आया हुआ अभिमान नहीं करता है उसमें भी यह महान क्रतु है, अतः इसमें तो दीन होकर जाना ही उचित है, यों अर्थ है।।४०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण, अध्याय ७२ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ७३

शाल्वके साथ यादवोंका युद्ध

सात्त्विकानां निरोधस्तु षड्भिरेवं निरूपितः।
साधनांशः फलांशस्तु षड्भिरग्रे निरूप्यते।।का.१।।

कारिकार्थ : सात्त्विकोंके निरोधका साधनांश, छः अध्यायोंसे वर्णन किया है, आगे छः अध्यायोंसे फलांशका निरूपण करते हैं।।१।।

फलं तु त्रिविधं प्रोक्तं शत्रुनाशो यशस्तथा।
अलौकिकी तथा संपद् द्वाभ्यां द्वाभ्यां निरूप्यते।।का.२।।

कारिकार्थ : फल तीन प्रकारका है १. शत्रुनाश, २. यश, ३. अलौकिकी सम्पत्ति, ये दो दो अध्यायोंसे कहते हैं।।२।।

बन्धूनां च तथांशस्य मित्रस्येति पृथक् पृथक्।
बन्धूनां कृष्णसद्भावान्नान्यत्रेच्छा कथञ्चन।।का.३।।

कारिकार्थ : बांधवोंको उनके शत्रुओंका नाश और अंश(बलभद्रको) यश तथा मित्रको अलौकिक सम्पत्ति इस प्रकार पृथक् पृथक् फल दो दो अध्यायोंमें कहा है. बांधवोंका श्रीकृष्णमें सद्भाव है, इसलिए दूसरी किसी प्रकारकी इच्छा नहीं करते हैं।।३।।

सहागतस्य त्वंशस्य कीर्त्तिरेवेप्सिता भुवि।
मित्रस्य लक्ष्मीवैमुख्यात् संपत्तिर्वाञ्छिता क्वचित्।।का.४।।

कारिकार्थ : साथमें आए हुए अंशको तो पृथ्वी पर यश फैले यही इच्छित है. मित्रके पास लक्ष्मी नहीं है, वह कभी(स्त्रीके कहनेसे) उसकी इच्छा करता है।।४।।

परोक्षे दारदृष्टो हि मित्रत्वमुपयाति हि।
अत्रादौ द्वारकास्थानां बन्धूनां च तथा क्वचित्।।का.५।।
अनिवार्यं दुःखमुक्तं द्वितीयेन निवार्यते।

कारिकार्थ : परोक्षमें दारदर्शक[१] मित्र होता है, प्रथम द्वारकामें रहे हुए बांधवोंको किसी समय किसीसे मिट नहीं सके ऐसा दुःख हुआ, उस दुःखका दूसरे अध्यायमें निवारण करते हैं।।५।।

१. स्त्री(लक्ष्मी) बतलानेवाले, अतः भगवान्ने सान्निध्यमें प्रत्यक्ष कुछ नहीं दिया

परोक्षमें ही लक्ष्मी आदि सम्पत्ति दी, अतः भगवान् सुदामाके मित्र सिद्ध हुए.

सप्तविंशे तथाध्याये यादवानां महद्भयम् ।।का.६।।

महादेवादिपुष्टेभ्यः शाल्वादिभ्यो निरूप्यते ।

कारिकार्थ : इस उत्तरार्धके २७वें अध्याय और प्रारंभसे ७६वें अध्यायमें यादवोंका महादेव आदिकी आराधनासे पुष्ट हुए शाल्व आदिसे महान् भय उत्पन्न होता है।।६।।

अप्रत्याख्येयता सिद्ध्यै प्रद्युम्नाय जयो महान् ।।का.७।।

निरूपितः समस्तानां यतः स्यात्तु महद्भयम् ।

कारिकार्थ : प्रद्युम्नका कोई भी अपमान करनेमें समर्थ नहीं है इसकी सिद्धि करनेकेलिए इस अध्यायमें प्रद्युम्नकी महान् जय हुई, कही है, जिससे सबको महान् भय हुआ यह निरूपण है।।७।।

कारिकार्थ समप्त.

आभासार्थ : स्वतन्त्ररूपसे फलप्रकरण श्रीशुकदेवजी प्रारंभ करते हैं :

श्रीशुक उवाच

अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं महत् ।

क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि हे राजन्! अब और भी क्रीडार्थ नर शरीरधारी श्रीकृष्ण भगवान्का अद्भुत चरित्र जो शाल्वको मारनेका कहता हूं, वह सुनो।।१।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकारका भय उत्पन्न हो, तब ही निरुद्ध भक्तोंकी भगवान्में आसक्ति होती है, यह श्रीकृष्णका चरित्र उत्तम है, इसलिए श्रवण करनेके वास्ते विशेष प्रकारसे प्रेरणा करते हैं कि दूसरा भी श्रीकृष्णका चरित्र सुनो, क्योंकि यह चरित्र अद्भुत है. इस चरित्रसे भगवान्के बहुत अद्भुत कर्म प्रकट होंगे. अद्भुत उसे कहते हैं, कि जो कर्म एककेलिए प्रारम्भ किया जाता है, किन्तु उसका फल दूसरेको मिलता है, इसलिए वह विश्व ही भगवान्का अद्भुत चरित्र है यों भगवच्छास्त्र कहता है. धर्मकेलिए प्रयत्न करते हुए अधर्म करता है. अर्थकेलिए अनर्थ करता है. इस प्रकार अन्य पुरुषार्थोंमें भी होता है, बहुत कहनेसे क्या? सुखकेलिए प्रयत्न करता हुआ दुःख पाता है, सर्व आश्रम आदि जो धर्म भगवान्के अनुसन्धान रहित हैं, उनमें इसी तरह समझना चाहिए. यहां भी

भगवान्के अनुभवरूप फलको साधनपनसे जानते हैं, वैसे ही सब भगवत्सम्बन्धी पदार्थको साधनरूप मानते हैं, भगवद् भक्तोंको यह रहस्य सदैव ध्यानमें रखना चाहिए.

यद्यपि भगवान्के सर्व चरित्र अद्भुत हैं, तो भी यह महान् अद्भुत हैं. इसका अद्भुतपन सिद्ध करते हैं. 'क्रीडा नरशरीरस्य' क्रीडाकेलिए वहां मनुष्य शरीर धारण किया है. जहां क्रीडाकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि, 'नराणां' मनुष्यका 'कम' सुख ही नरक है. अतः नरकमें क्रीड़ा अर्थात् आनन्द हो नहीं सकता है, वैसा शरीर क्रीड़ाकेलिये धारण करना महती अद्भुतता है. वह कौनसा चरित्र है इस आकांक्षाके होने पर बताते हैं कि 'यथा सौभपतिर्हतः' जैसे सौभपतिको मारा. 'सौभ' शब्दसे मायिकपुर कहा है, जिसका पति शाल्व है, वह यदि प्रयत्न न करता, तो दुर्योधनकी तरह कितने ही समय तक जीता रहता किन्तु यह तो शीघ्र ही मारा गया।।१।।

आभासार्थ : शाल्वके मारनेकी कथा कहते हैं:

शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः।
यदुभिर्निर्जितः संख्ये जरासन्धादयस्तथा।।२।।

श्लोकार्थ : शिशुपालका मित्र शाल्व, रुक्मिणीके विवाहमें आया था, वहां यादवोंसे जो युद्ध हुआ, उसमें शाल्व और जरासन्ध आदि सब हार गए।।२।।

व्याख्यार्थ : शाल्वकी शिशुपालके साथ शपथ(सौगन्ध) पूर्वक मित्रता थी. शाल्व शिशुपालके मित्रपनसे प्रसिद्ध था, इस कारणसे रुक्मिणीका विवाह जब होनेवाला था तब वहां आया था. उस समय हुए युद्धमें यादवोंसे हार गया. न केवल शाल्व हारा, किन्तु जरासन्ध आदि उसके साथी भी यादवोंसे हार गए।।२।।

आभासार्थ : इस प्रकार जब सब, यादवोंसे हार गए, तब सर्वका हित चाहनेवाले शाल्वने यादवोंको मारनेका विचार किया, जिसका वर्णन 'शाल्वः प्रतिज्ञां' श्लोकमें करते हैं :

शाल्वः प्रतिज्ञामकरोच्छृण्वतां सर्वभूभुजाम्।
अयादवीं क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत।।३।।

श्लोकार्थ : सब राजाओंके सुनते हुए शाल्वने प्रतिज्ञा की कि यह पृथ्वी बिन यादवोंवाली करूंगा अर्थात् यादवमात्र नाश करूंगा. मेरा पराक्रम देखिए।।३।।

व्याख्यार्थ : अनन्तर यादवोंके नाशकी सिद्धिकेलिए शाल्वने प्रतिज्ञा की, वह प्रतिज्ञा, छिपकर नहीं की, किन्तु सब राजाओंके सुनते हुए की, जिससे यह सूचित किया है कि मेरे पर कितना भी दुःख आ पड़ेगा तो भी यह प्रतिज्ञा पूर्ण करूंगा. अब प्रतिज्ञा कहता है, कि यह पृथ्वी यादवों मात्रसे शून्य करूंगा अर्थात् पृथ्वी पर यादवोंका बीज भी नहीं छोडूंगा, जिससे फिर यह कुल बढ सके. क्या ऐसा ब्राह्मणोंके शापके भांति करेगा? तो कहता है कि नहीं, अपने पुरुषार्थसे करूंगा. आप वह मेरा पराक्रम प्रत्यक्ष देखिए।।३।।

आभासार्थ : राजाओंको अपनी प्रतिज्ञा सुनानेके बाद अन्योंको भी सुनाता है :

इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम्।
आराधयामास नृपः पांसुमुष्टिं सकृद्ग्रसन्।।४।।

श्लोकार्थ : हे महाराज! वह मूर्ख इस तरह सबके सामने अपनी प्रतिज्ञा सुनाकर केवल धूलकी एक मुट्ठी फाकता हुआ महादेवजीकी आराधना करने लगा।।४।।

व्याख्यार्थ : वह मूर्ख, वह कार्य करने लगा जो होनेवाला ही नहीं है, क्योंकि यह भूमि यादवों पर ही जीवित रह सकती है. यदि यादव ही न रहेंगे तो पृथ्वी अपना स्वरूप कैसे प्राप्त कर सकेगी, तो भी, मूर्खताके कारण प्रतिज्ञाकर असमर्थ देवकी आराधना करने लगा, कारण कि, वह देव असमर्थ इसलिए हैं, कि पशुओंका स्वामी है. जिसमें भी प्रभु हैं, न कि अन्तर्यामी हैं. यदि यों है तो पुरुषोत्तम वा अन्तर्यामीकी आराधना क्यों नहीं की? जिसका उत्तर देते हैं कि यदि उनकी भक्ति करे तो भक्त वा ज्ञानी बन जावे, तो सृष्टि उत्पन्न करने और संहार करनेकी शक्ति विश्वामित्रकी तरह आ जावे. किन्तु वह विशेष समय आराधना करनेसे सिद्ध होनेवाली है, यों समझ, शीघ्र प्रसन्न होनेवाले पशुपतिकी आराधना करने लगा. जिसका कारण यह है, कि स्वयं पशु है, इसलिए पशुपतिकी आराधना ही इसको इष्ट लगी. अब आराधनाका प्रकार कहते हैं कि एक ही बार (हाथ)की मुट्ठी धुलकी मुखमें डालकर आराधना करने लगा. शाल्व भगवान्से विमुख था, इसलिए उसकी विपरीत ही बुद्धि थी जिससे अपने मुंहमें अपने हाथसे धूलि डालने लगा।।४।।

आभासार्थ : बादमें जो कुछ हुआ वह 'संवत्सरान्ते' श्लोकमें कहते हैं :

संवत्सरान्ते भगवान् आशुतोष उमापतिः ।
वरेण छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम् ।।५।।

श्लोकार्थ : शीघ्र प्रसन्न होनेवाले भगवान् पार्वतीपति एक वर्षके अन्त होने पर शरण आए हुए शाल्वको वरदानसे सन्तुष्ट किया अर्थात् कहा कि वर मांग।।५।।

व्याख्यार्थ : महादेवने एक वर्ष बाद कहा, कि वर मांग. इतना समय महादेवने विलम्ब क्यों किया, जिसको स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं, कि महादेव कालके सेवक हैं. काल संवत्सररूप है. शाल्व दुष्ट है. भगवान्के साथ तो विरोध करता है और हमको प्रार्थना करता है. इस विषयमें भगवान्का क्या अभिप्राय है, वर देना चाहिए या नहीं, इसका पता नहीं पड़ता है, क्योंकि भगवान् अद्भुतकर्मा हैं, इसलिए ही महादेव एक वर्ष शान्त रहे. जो संवत्सर ही इस शाल्वको मार दे तो स्वामी हितकर्ता संवत्सरसे ही कार्य सिद्ध हो जाय. जो संवत्सर क्लेश भुगतानेकेलिए ही इसको जीवित रखेगा, तो मैं भी क्लेश देनेकेलिए ही वर दूंगा, यों विचारकर एक वर्ष पर्यन्त मौन धारण कर बैठे.

वर्षके बाद भी क्यों न मौन धारण की? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'आशुतोषः', यों तो आप शीघ्र प्रसन्न होनेवाले हैं, किसीका स्वल्प भी दुःख सहन नहीं कर सकते हैं. परम दयालु हैं, तो भी, यह शाल्व अयोग्य स्थान पर प्रयत्न करता है, इसलिए ही इतना विलम्ब किया है. तो भी यह स्वामिका द्रोह कर रहा है इसलिए इसकी अपेक्षा ही करनी चाहिए थी, क्यों वर दिया? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'उमापति', मैं उमाका पति हूँ. उसने तपस्या की थी तो भी मैंने उसकी उपेक्षा कर दी किन्तु वह(उमा) तपस्यासे पुष्ट होकर मेरे गले पड़ी, वैसे ही यह भी होगा, इस प्रकार विचारकर विघ्नकेलिए ही उसको कहा कि वर मांग. इसमें ऐसा कौनसा गुण था अथवा इसने कौनसा ऐसा धर्म किया था, जिससे इसको वरसे संतुष्ट किया? भगवान्से विमुख होनेके कारण तपस्या तो है ही नहीं. जो नारकी व रोगी होते हैं वे तपस्या तो करते ही नहीं किन्तु उनको वैसा ही कर्मका अनुभव होता है. (होना चाहिए) इस कारणसे यह उपेक्षा करनेके ही योग्य होना चाहिए, इसका उत्तर देते हैं कि 'शरणमागतं' तपस्या आदि कोई गुण इसमें नहीं है, किन्तु शरण आया है, शरण आएकी उपेक्षा करना दोष है. इस दोषके भयसे कहा कि वर मांग।।५।।

आभासार्थ : पश्चात् उसके अन्तर्यामीने ही उसकी बुद्धि नाश की,

जिससे उसने जो मांगा वह 'देवासुरमनुष्याणां' श्लोकमें कहा है :

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम्।।६।।

श्लोकार्थ : उसने वर मांगा कि देवता, दैत्य, मनुष्य, गन्धर्व, उरग व राक्षस, ये जिसको तोड़ न सके और स्वेच्छासे चलनेवाला और यादवोंको डरानेवाला विमान मुझे मिले।।६।।

व्याख्यार्थ : देव, असुर और मनुष्य इनमें तीन गुण प्रधान हैं और गन्धर्व उरग तथा राक्षस इनमें मिश्रगुण प्रधान हैं. इस प्रकार मांगनेसे सब सगुण जीव ही कहे. इन सबोंसे टूटे नहीं और मेरी इच्छानुसार चलनेवाला और मेरे आधीन हो यदि वैसा नहीं होगा तो समुद्रकी भांति मेरा कोई अर्थ सिद्ध नहीं होगा, अतः वैसा विमान मांगा जो मेरे सब तरह आधीन हो और उनसे टूटे नहीं. अनन्तर और मांगता है कि जिनकेलिए इतना कष्ट किया उनके वास्ते कुछ मांगना चाहिए इसलिए इस विमानमें अन्य भी गुण होना चाहिए. वह गुण यह होवे कि इससे यादवोंको भय उत्पन्न हो अर्थात् इसको देखकर वे भयभीत हो जावे।।६।।

आभासार्थ : महादेवने समझ लिया, कि इसने जो कुछ मांगा है उसमेंसे कोई भगवान्को बाध्य करनेवाला नहीं है, इसलिए उसका मांगा हुआ वर देना स्वीकार कर लिया. केवल वरदानसे बना हुआ तो नित्य हो जाएगा, अतः यह विमान बना हुआ होना चाहिए क्योंकि, जो बनेगा वह अनित्य होगा, इसलिए महादेवने मयको विमान बनानेकी आज्ञा दी, यह 'तथेति' श्लोकमें कहते हैं :

तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरंजयः।
पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्सौभमयस्मयम्।।७।।

श्लोकार्थ : 'तथास्तु' यों हो, ऐसा कहकर महादेवने शत्रुओंके पुरोंको जीतनेवाले मय दैत्यको आज्ञा दी, आज्ञानुसार मयने लोहेका 'सौभ' नामक पुर बनाकर शाल्वको दिया।।७।।

व्याख्यार्थ : शिवकी आज्ञा पाकर मयने पुर(विमान) बनाके शाल्वको दिया. मय दैत्य यह जानता है, कि यह विमान शत्रुओंके पुरको जीत सकेगा अथवा यह नहीं जीत सकेगा, इससे मय ऐसा बनाएगा जो जीता न जाय, अतः वैसा अजय पुर बनाकर शाल्वको दिया. कैसा और किससे बनाया, इससे नाम स्वरूपका वर्णन करते हैं कि 'सौभमयस्मयम्' जिसका प्रकाश उत्तम है वह

'सुभाः' उनका सम्बन्धी पुर(विमान) 'सौभ' कहलाता है. उत्तम लोहेसे निर्मित मजबूत था।।७।।

आभासार्थ : इस प्रकार कृतार्थ होके अनन्तर शाल्व युद्धकेलिए द्वारका आया, जिसका वर्णन 'स लब्ध्वा' श्लोकमें करते हैं :

स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधामदुरासदम्।
ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन्।।८।।

श्लोकार्थ : अन्धकारका धाम, दुष्प्राप्य, इच्छापूर्वक चलनेवाला विमान पाकर, वह शाल्व यादवकृत वैरका स्मरण करता हुआ द्वारका आया।।८।।

व्याख्यार्थ : 'कामगम्' इच्छा करते ही इच्छित देशमें पहुंचानेवाला अन्धकारका धाम, जिससे वह देखनेमें न आनेवाला कोई भी उसको प्राप्त कर न सके, इस प्रकारके वर प्राप्त करनेका फल भगवान्से विरोध ही है, वैसा विमान प्राप्तकर द्वारका आया, मार्गमें यादवकृत वैर, रुक्मिणीका हरण एवं शिशुपालवध आदि स्मरण करता हुआ द्वारका पहुंचा।।८।।

आभासार्थ : अनन्तर वैरसे जो कुछ किया वह कहते हैं :

निरुध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ।
पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः।।९।।

श्लोकार्थ : हे भरत श्रेष्ठ! शाल्व बड़ी सेना ले, चारों तरफसे पुरीको घेर, बाग और बगीचे तोड़ने लगा।।९।।

व्याख्यार्थ : उसको वरसे तो केवल सौभ विमान प्राप्त हुआ था, सेना तो उसके पास सहज थी और वह भी अधिक थी, अत: तब जिस सेनाने पुरीको घेर कर बाग बगीचे सब तोड डाले।।९।।

आभासार्थ : पश्चात् दुर्गके बीचमें भी उपद्रव किये, जिसका वर्णन 'सगोपुराणि द्वाराणि' श्लोकसे करते हैं :

सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः।
विहारान्सविमानग्रान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः।।१०।।

श्लोकार्थ : गोपुर, दरवाजे, महल, अटारियां व उनकी भींतें तथा क्रीड़ास्थल आदिको तोड़नेकेलिए और मनुष्योंको दुःख देनेकेलिए शस्त्रोंकी वर्षा बरसाने लगा।।१०।।

व्याख्यार्थ : (सेनाके लोग) बाहरके बड़े द्वार सहित द्वारोंको लक्ष्यकर,

शस्त्र-वृष्टि करने लगे, कितने कहते हैं तोड़ने लगे, महल अटारियां और महलोंमें जो भीतोंमें छिद्र आदि थे, उन स्थानों पर जहां खडे थे, वहांसे ही पत्थर फेंकने लगे. 'तोलिका' पदका भावार्थ है शोभाके स्थान जहां जालीकी तरह-तरहके छिद्र बने(निकले) हों और विश्रामके स्थान इन सबोंको तोड़नेकेलिए वहांसे पाषाण फेंकते थे तथा स्थित पुरुषोंको पीड़ा देनेकेलिए शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे यह तो साधारण युद्ध है।।१०।।

आभासार्थ : 'शिला द्रुमा' श्लोकसे दैत्य युद्धका वर्णन करते हैं :

शिलाद्रुमाश्चाशनयः सर्पाः प्रासारशर्कराः।
प्रचण्डश्चक्रवातोभूद् रजसाच्छादिता दिशः ।।११।।

श्लोकार्थ : शिला, वृक्ष, बिजली, सर्प और कांकड़ी आदि बरसने लगे, तेज बवण्डर उठने लगे, रजसे दिशाएं छा गईं।।११।।

व्याख्यार्थ : नगरके बाहरके बागसे पाषाण और वृक्ष उखाड़कर अन्दर नगरके भीतर फेंकते थे. बिजलियां भी अन्दर फेंकते थे. वर प्राप्तिसे एवम् असुर मायासे बिजलियां भी उसके आधीन थीं, वैसे सर्प और छोटी कांकडी तथा छोटे-छोटे पत्थरोंकी वर्षा करने लगे. पाषाण और वृक्ष तामस हैं, बिजली सात्विक है, सर्प और कांकड़ियां राजस हैं, यों तीन प्रकार कहनेसे सब प्रकार कह दिये हैं. पीछे कृत्रिम कहते हैं कि 'प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूत्' यह भ्रम पैदा करनेवाला है, अतः पृथक् कहा है. धूलिमिश्रित वायुसे दिशायें छा गईं, इस प्रकार महलोंमें और उनके मध्यभागोंमें रहनेवालोंके क्रियाके नाशका तथा ज्ञानके नाशका कार्य किया।।११।।

आभासार्थ : उनके उपद्रवसे जो फल निकला वह कहते हैं :

इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम्।
नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथामही ।।१२।।

श्लोकार्थ : हे महाराज! इस प्रकार अधम सौभसे बहुत पीड़ित श्रीकृष्णकी पुरी जैसे त्रिपुरासुरसे पृथ्वी दुःखी हुई, वैसे ही यह पुरी भी दुःखी हुई, कहीं भी सुख न रहा।।१२।।

व्याख्यार्थ : श्रीकृष्णकी बहुत कोमल नगरी पीड़ाके योग्य नहीं थी. तो भी अधम सौभने उसको पीड़ित किया, जिससे उसको सुख नहीं हुआ. निरोध होनेसे यह वर्णन भक्तिमार्गके विरुद्ध नहीं है. हे राजन्! यह सम्बोधन

विश्वासकेलिए है, कितनी, कैसी पीड़ा हुई उसकी सीमाका दृष्टान्त द्वारा वर्णन करते हैं कि 'त्रिपुरेण यथा मही' त्रिपुरासुरने जैसे पृथ्वीको दुःखी किया वैसे ही शाल्वने श्रीकृष्णकी पुरीको पीड़ित किया।।१२।।

आभासार्थ : महादेवके प्रसन्नतार्थ उसका उत्कर्ष कहकर अब दिखाते हैं जिसके सर्व उपाय निकम्मे हो जाते हैं वह ही भगवत्परायण होता है, इसलिए दूसरे उपायको हटानेकेलिए 'प्रद्युम्नो' श्लोकमें प्रद्युम्नादिकोंने रक्षा करनेकेलिए युद्ध किया, जिसका वर्णन करते हैं :

प्रद्युम्नो भगवान् वीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः।
मा भैष्टेत्यभ्ययाद्वीरो रथारूढो महायशाः ।।१३।।

श्लोकार्थ : भगवान् प्रद्युम्न अपनी प्रजाको पीड़ित देखकर बोले कि तुम मत डरो, बादमें महान् यशस्वी वीर रथमें बैठ, निकट आ गए।।१३।।

व्याख्यार्थ : सबसे पहले युद्धमें प्रद्युम्नके जानेका कारण यह है, कि प्रद्युम्न भगवान् हैं, अतः उनको सौभके स्वरूपका पूर्ण ज्ञान था, कि यह कौन है किस तरह इसका नाश होगा? इन्होंने देखा कि जो प्रजा पीड़ित हो रही है, वह अपनी है. इसकी पीड़ासे रक्षा करनी चाहिए. ऐसी पहले मनमें इच्छा हुई अनन्तर उसका वाणीसे प्रकाश करते हुए कहा कि डरो मत, बादमें रथमें बैठकर युद्धके स्थान पर पहुंच गए।।१३।।

सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः।
हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ ।।१४।।

श्लोकार्थ : सात्यकि और चारुदेष्ण तथा साम्ब और भ्राताओंके साथ अक्रूर हार्दिक्य और भानुविन्द, गद, शुक और सारण।।१४।।

व्याख्यार्थ : सात्यकि, प्रद्युम्नका भ्राता चारुदेष्ण, भ्राताओंके साथ अक्रूर, हार्दिक्य आदि यादव, गद आदि भाई, शुक और सारण दूत थे, परन्तु श्रीकृष्णके भाई थे।।१४।।

अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः।
निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः ।।१५।।

श्लोकार्थ : ऊपर १४वें श्लोकमें कहे हुए योद्धाओंके सिवाय जो और थे उनका वर्णन करते हुए कहते हैं कि दूसरे, बड़े धनुषोंको धारण करनेवाले, यादव भी और रथोंकी सेनाकी रक्षा करनेवालोंके भी सेनापति कवच धारणकर

रथ, हस्ती, घोड़े और सैनिकोंसे रक्षित हो बाहर निकले।।१५।।

व्याख्यार्थ : और दूसरे धनुर्धारी यादव, रथोंकी सेनाके रक्षकोंके भी सेनापति कवच धारणकर रथ आदिसे घिरे हुए बाहर निकले. फलप्रकरण होनेसे लौकिकी भाषा है. फल सर्वत्र अनुभवसे सिद्ध होनेके कारण लौकिक ही है इसलिए आप ही साधन लेकर युद्ध करनेके वास्ते बाहर निकले, यों स्वत: ही प्रतिकारकेलिए प्रवृत्ति हुई, उसको भगवान् रोकेंगे. यह लौकिकी भाषा होनेसे जो प्रथम कहे हैं उनसे विरोध नहीं है. बलदेवजी द्वारकामें विराजते थे तो भी उनने इस सौभकी उपेक्षा की, क्योंकि इसको महादेवसे प्रेरणा मिली है. यों समझ, उनने इसकी उपेक्षा(परवाह) नहीं की. कितने ही यों कहते हैं, कि वे कहीं अन्यत्र गये थे।।१५।।

आभासार्थ : पश्चात् दोनोंकी वीरता प्रसिद्ध करनेकेलिए युद्धका वर्णन 'ततः प्रववृते' श्लोकसे करते हैं :

ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह।
यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ।।१६।।

श्लोकार्थ : बादमें जैसे असुरोंका देवोंसे रोमांच करनेवाला महान् संग्राम हुआ, वैसे ही शाल्वोंका यादवोंके साथ घोर युद्ध हुआ।।१६।।

व्याख्यार्थ : 'शाल्वानां' शाल्व एक है फिर बहुवचन क्यों कहा, जिसका भावार्थ समझाते हैं कि दो न्याय होते हैं, एक प्राणभृत न्याय, दूसरा प्रधान व्यपदेश न्याय. बलके पोषक प्राण बहुवचनमें दिया जाता है. इसी मुख्य पुरुषका नाम भी आदरार्थ बहुवचनमें दिया जाता है, अतः शाल्वको बहुवचनमें कहा है. दोनों तरफवालोंकी युद्धमें दृढता कहते हैं, जैसे असुरोंका देवोंसे महान् संग्राम हुआ जिससे रोमांच खड़े हो जाते थे, वैसे ही इनकी भी भारी लड़ाई होने लगी।।१६।।

आभासार्थ : उन्होंने मायासे जो भय दिखाया, उसको प्रद्युम्नने निराकरण कर दिया, जिसका वर्णन 'ताश्च सौभपते' श्लोकमें करते हैं :

ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः।
क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ।।१७।।

श्लोकार्थ : जैसे सूर्य रात्रिके अन्धकारका क्षणमात्रमें नाश कर देता है, वैसे ही रुक्मिणीके पुत्र प्रद्युम्नने दिव्य अस्त्रोंसे क्षणमें सौभपतिकी मायाका नाश किया।।१७।।

व्याख्यार्थ : दिव्य अस्त्र, आग्नेय, नारायण और पाशुपत आदि हैं, इनमेंसे किसीसे भी मूलमें छेदन करनेसे पहले लौकिक युद्ध करते थे, किन्तु इससे सन्तोष न हुआ क्योंकि 'रुक्मिणी-सुत' रुक्मिणीके पुत्र हैं, वे इतना विलम्ब सह न सके, अतः जैसे सूर्य, क्षणमें रात्रिके अन्धकारको मिटा देता है, वैसे ही इसने भी क्षणमें सौभपतिकी मायाका बिना परिश्रमके नाश कर दिया।।१७।।

आभासार्थ : पश्चात् विशेष युद्धका 'विव्याध' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

विव्याध पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ।
शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः ।।१८।।

श्लोकार्थ : शाल्वके सेनापतिको, सुवर्णके पंखवाले, लोहेके फलवाले और छोटी छोटी सन्धिवाले पच्चीस बाणोंसे वेधा।।१८।।

व्याख्यार्थ : शाल्वके सेनापतिको पच्चीस बाणोंसे वेधा. पच्चीस बाणोंसे वेधनेका भावार्थ यह था, कि पच्चीस तत्त्वात्मक वे सब शाल्व थे, उन सबको सर्वभावसे वेधना था. जिन बाणोंसे वेधा उन बाणोंके सोनेके पंख थे, क्योंकि सोनेके पंखोंके कारण वे बाण प्रत्यंचासे शीघ्र निकल आते थे. लोहेके फलवाले होनेसे उत्तम प्रकारसे शत्रुको बींध सकते थे, बाण बीचमें छोटी-छोटी गांठवाले थे।।१८।।

शतेनाताडयच्छाल्वमेकैकेनास्य सैनिकान् ।
दशभिर्दशभिर्नेतॄन् वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ।।१९।।

श्लोकार्थ : शाल्व पर एक सौ बाण, उसके प्रत्येक सैनिकको एक-एक बाण, सारथियोंको दश-दश बाण, वाहनोंको तीन-तीन बाण लगाए।।१९।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् एक सौ बाणोंसे शाल्व पर प्रहार किया, एक-एक बाणसे प्रत्येक सैनिक पर, दश-दश बाणोंसे सारथियों पर, तीन-तीन बाणोंसे घोडों पर प्रहार किया।।१९।।

आभासार्थ : इस प्रकार एकने सर्व पर प्रहार किया, यह अति आश्चर्य कारक होनेसे शत्रुओंने भी इसकी स्तुति की, जिसका वर्णन 'तत्तस्य' श्लोकमें करते हैं :

तत्तस्य चाद्भुतं कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।
दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ।।२०।।

श्लोकार्थ : महात्मा प्रद्युम्नका यह अद्भुत कर्म देखकर अपनी और

शत्रुकी सेनाके सब सैनिक उनकी स्तुति(प्रशंसा) करने लगे।।२०।।

व्याख्यार्थ : प्रद्युम्नका यह कर्म अद्‌भुत, अर्थात् आश्चर्यकारक था. प्रद्युम्नने यह आश्चर्य जैसा कार्य, मंत्रशक्तिसे अथवा पितृ शक्तिसे किया होगा जिसकेलिये कहते हैं कि वे स्वयं महान् आत्मा है, जिससे अपनी ही शक्तिसे किया है, इसलिए ही आश्चर्य है. अतः ऐसा आश्चर्यकारक चरित्र देखकर अपनी सेना और शत्रुकी सेनाके सैनिकोंने स्तुति(प्रशंसा) की।।२०।।

आभासार्थ : पश्चात् शाल्व स्वयं युद्ध करेगा, यों कहनेकेलिए उसके स्वरूपका वर्णन 'बहुरूपैक' श्लोकसे करते हैं :

बहुरूपैकरूपं तद् दृश्यते न च दृश्यते।
मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत्।।२१।।

श्लोकार्थ : मयका बनाया हुआ यह मायामय विमान कभी तो अनेक रूप देखनेमें आता, कभी एक रूप देखनेमें आता, तो कभी लोप हो जाता है, इस कारणसे शत्रुओंसे भी अतर्क्य हुआ है।।२१।।

व्याख्यार्थ : वह विमान कभी अनेक रूप दृष्टि गोचर होता था, कभी एक रूप हो जाता कभी लुप्त हो जाता, इससे प्रमाण और प्रमेयकी विलक्षणता बताई है, इसमें कारण कि वह विमान मायामय है, तब तो दिव्यास्त्रसे नाश होगा, इसलिए कहा है कि मयका बनाया हुआ है.

तब इनके समान दूसरे इसके नाशका उपाय सूक्ष्मदृष्टिसे जाना होगा, इसके उत्तरमें कहते हैं कि दूसरे तो इसका विचार भी नहीं कर सकते हैं।।२१।।

आभासार्थ : उसका स्थान भी जाननेमें नहीं आता था, यह 'क्वचिद् भूमौ' श्लोकमें बताते हैं :

क्वचिद्‌भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित्।
अलातचक्रवद्‌भ्राम्यत्सौभं तद्दुरवस्थितम्।।२२।।

श्लोकार्थ : वह विमान कभी तो पृथ्वी पर, कभी आकाशमें, कभी पर्वतके शिखर पर और कभी जलमें अलात चक्रके समान भ्रमण कर रहा था, जिससे उसकी व्यवस्थाका ठिकाना लगाना बहुत कठिन हो गया।।२२।।

व्याख्यार्थ : निशान देखकर बादमें शस्त्रका प्रयोग किया जाता है, वह निशान स्थिर चाहे चर हो, चरमें निशानकी भूमि जानी जा सकती है. इसका तो सब अशक्य है, क्योंकि क्षणमात्रमें विरुद्ध देशोंमें पहुंच जाता है. जैसे आकाश

और भूमिमें बहुत अन्तराय है. इसी तरह पर्वतके शिखर और जलके बीचमें विशेष अन्तराय है फिर वह अलात चक्रकी भांति फिरता है, जिससे जहां नहीं है वहां भी देखनेमें आता है, वैसेके निराकरणार्थ शस्त्रका प्रयोग करना भी अशक्य है, यदि यों है तो, किसी मंत्र आदिसे इसका विनाश हो सकता हो तो उसके प्रतिकारसे इसका नाश करना चाहिए, इस पर कहते हैं कि वह सौभ स्वभावसे ही अस्थिर है।।२२।।

आभासार्थ : इसी तरह सौभका माहात्म्य कहकर 'यत्र यत्र' श्लोकसे कहते हैं कि ऐसेका भी नाश यादव कर सकते हैं :

यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः ।
शाल्वस्ततस्ततोमुञ्चन् शरान्सात्वतयूथपाः ।।२३।।

श्लोकार्थ : सौभ और सैनिकों सहित शाल्व जहां भी दिखता, वहां यादवोंके सेनापति बाणोंको फेंकते थे।।२३।।

व्याख्यार्थ : उपलक्षणविधिसे भी, वह शाल्व, सौभविमान और अपने सैनिकोंके साथ जहां भी देखनेमें आ जाता तो वहां यादवोंके सेनापति बाणोंको फेंकते थे. 'ततः' शब्दसे यह सूचित होता है कि जहां बाण फेंकते, उस स्थानसे शाल्व दूसरे स्थान पर चला जाता. यदि वहां होते तो 'ततः' न कहकर 'तत्र तत्र' यों कहते थे।।२३।।

आभासार्थ : इस प्रकार सर्वत्र बाणोंके फेंकनेसे सूक्ष्म स्थल भी बाणोंसे व्याप्त हो जाता, जिससे शाल्वके सौभ सहित सैनिक पीड़ित हुए, जिसका वर्णन 'शरैरग्न्यर्क' श्लोकसे करते हैं :

शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैः आशीविषदुरासदैः ।
पाट्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत् परेरितैः ।।२४।।

श्लोकार्थ : अग्नि और सूर्यके समान स्पर्शवाले सर्प, जैसे दुःसह, शत्रुओंके चलाये हुए तीरोंसे जब उसके सैनिक पीडायमान हुए, तब शाल्व घबरा गया।।२४।।

व्याख्यार्थ : वे तीर ऐसे थे जिनका स्पर्श अग्नि व सूर्यके समान था. परिणाममें सर्पोंके समान थे, अर्थात् जैसे सर्प नाश कर देते हैं, वैसे ही ये भी नष्ट करनेवाले हैं, फिर इनसे प्राप्त फलको रोकनेका कोई उपाय भी नहीं है, ऐसे शरोंसे शाल्वके सौभ और सैनिक पीड़ित होने लगे, जिससे शाल्व घबरा गया.

ऐसी दशामें वहांसे भाग जाना अथवा उनको प्रार्थना करनी चाहिए, इसका उत्तर देते हैं कि ये बाण शत्रुओंके फेंके हुए हैं. उनसे मरना अथवा शत्रुओं पर विजय पाना ही उपाय है, अन्य नहीं, इसलिए ही शाल्व मोहको प्राप्त हुआ अर्थात् घबरा गया।।२४।।

आभासार्थ : इस प्रकार यादवोंके पुरुषार्थका वर्णनकर, अब शाल्वके सैनिकोंकी भी उनसे समानता दिखानेकेलिए उनका पौरुष 'शाल्वानीकपशस्त्रौघैः' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

शाल्वानीकपशस्त्रौघैः वृष्णिवीरा भृशार्दिताः।
न तत्यजु रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ।।२५।।

श्लोकार्थ : शाल्वके सेनापतियोंके शस्त्र समूहोंसे यादवोंके वीर बहुत पीड़ित हुए तो भी अपने रणस्थानका त्याग नहीं किया क्योंकि उनको दोनों लोकोंको जीतनेकी इच्छा थी।।२५।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि यादव वीर, शाल्वके सेनापतियोंके शस्त्रसमूहोंसे पीड़ित हुए तो भी अपने-अपने युद्धस्थानसे हटे नहीं, वहां ही डटे रहे. इससे यों समझा जाता है कि प्रत्येकके युद्धका स्थान निश्चित था, वहां ही हर एक लड़ते रहे, पीड़ित होते हुए भी स्थान न छोड़नेका कारण यह था कि यादवोंको दोनों लोकोंको जीतनेकी इच्छा थी, अर्थात् जीत होगी तो इस लोकमें यश होगा और युद्धमें मरने पर परलोकमें स्वर्ग प्राप्ति होगी, इस प्रकार हम दोनों लोक जीत लेंगे।।२५।।

आभासार्थ : यों साधारण युद्ध कहकर, अब मुख्य युद्ध कहते हैं :

शाल्वामात्यो द्युमान्नाम प्रद्युम्नं प्राक् प्रपीडितः।
आसाद्य गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद् बली ।।२६।।

श्लोकार्थ : पहले प्रद्युम्नसे पीड़ित 'द्युमान्' नामवाले शाल्वके बली अमात्यने लोहेकी गदासे, प्रद्युम्न पर प्रहारकर, गर्जना की।।२६।।

व्याख्यार्थ : 'अमात्य' अर्थात् मुख्य मंत्री जो शाल्वके समान था. जिसका नाम 'द्युमान्' था, कान्तिवाला था. पहले प्रद्युम्नसे पीड़ित होता हुआ निकट आकर, काले लोहेसे बनी अथवा मूज नाम घाससे बन्धी हुई गदासे प्रद्युम्न पर प्रहार किया, बादमें गर्जना की कि मैंने प्रद्युम्नको जीत लिया, जीत लिया क्योंकि बलवान् था. गदा युद्धमें बल ही प्रधान है, उससे प्रद्युम्नको विशेष पीड़ा

हुई. यह सूचित किया।।२६।।

आभासार्थ : पश्चात् जो हुआ यह 'तं द्युमद्गदया' श्लोकमें कहते हैं :

तं द्युमद्गदया शीर्णवक्षस्थलमरिन्दमम्।
अपोवाह रणात्सूतो धर्मविद्दारुकात्मजः ।।२७।।

श्लोकार्थ : शत्रुका दमन करनेवाले उसका(प्रद्युम्नका) गदासे वक्षःस्थल विदारित हो गया, तब धर्म जाननेवाला दारुकका पुत्र सूत उसको युद्ध भूमिसे दूर ले गया।।२७।।

व्याख्यार्थ : प्रद्युम्नके शरीरको ही विशेष पीड़ा हुई, जो कुछ यहां प्रद्युम्नका अनादर है, वह सब महादेवजीके सम्मानकेलिए ही है. प्रसिद्ध द्युमान्की गदासे जिसका वक्षःस्थल विदीर्ण हो गया है, किन्तु वह(प्रद्युम्न) स्वभावसे द्रढ था, यह 'अरिंदम'[१] विशेषणसे सूचित किया है. उस समय उसका 'सूत'(सारथी) उसको युद्ध स्थानसे दूर ले गया, दूर ले जानेसे शत्रुका पक्षपाती दीखता है ऐसी शंकाका निवारण 'दारुकात्मज' और 'धर्मविद्' दो विशेषणोंसे करते हैं. दारुकका पुत्र था इसलिए शत्रु पक्षवाला नहीं था. यह स्पष्ट किया है और उसको भयसे ले गया यों भी नहीं है किन्तु धर्मको जाननेवाला था इसलिए ले गया था, क्योंकि शास्त्रमें कहा है कि सारथी ऐसी हालतमें दूर ले जावे।।२७।।

१. शत्रुओंका दमन करनेवाला वीर था.

आभासार्थ : अनन्तर क्या हुआ यह 'लब्धसंज्ञो' श्लोकसे कहते हैं :

लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत्।
अहो असाध्विदं सूत यद्रणान्मेऽपसर्पणम् ।।२८।।

श्लोकार्थ : दो घड़ीके अनन्तर प्रद्युम्न सचेत हुआ, तब सारथीको कहने लगा कि हे सूत तुमने अच्छा कार्य नहीं किया, जो मुझे रणभूमिसे यहां दूर ले आया।।२८।।

व्याख्यार्थ : प्रद्युम्न दो घड़ी मूर्च्छित रहे बादमें सचेत हो गए क्योंकि एक तो रुक्मिणीके पुत्र थे और मामा आदिके पक्षपाती थे, इस कारणसे भगवान्का अनुग्रह हुआ, जिससे दो घडी ही मूर्च्छा हुई. साथमें श्रीकृष्णके पुत्र थे, सचेत होते ही अपने आगे सूतको देखा, रणसे भाग आना पसन्द न होनेसे सारथीको कहने लगे कि 'अहो' यह शब्द तिरस्कार सूचक है. रणसे मुझे दूर ले आना बहुत बुरा है कारण कि इससे सर्वत्र निन्दा होगी. सूत! यह सम्बोधन इस वास्ते दिया है कि तुम

इस बातको जानते हो।।२८।।

आभासार्थ : लोकमें देखा जाता है कि शूरवीर भी रणसे भाग जाते हैं. इसके उत्तरमें कहते हैं :

न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः।
विना मां क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकल्मषम्।।२९।।

श्लोकार्थ : आज तक यादवोंके कुलमें ऐसा कोई नहीं हुआ है जो रणसे भाग आया हो केवल मैं ही ऐसा कायरचित्त हुआ हूं. यह कलंक सूतने ही मुझे लगाया है।।२९।।

व्याख्यार्थ : यदुकुलका कोई पुरुष कोई युद्ध भूमिसे भाग आया था, यह आगे कभी नहीं सुना है. युद्धमें मर जाना अथवा विजय प्राप्त करना, तीसरा पक्ष ही नहीं. यदि आज भी हुआ तो यह व्याप्ति भी नष्ट हुई इस शंकाका उत्तर देते हैं कि कायरचित्त मैं ही अकेला ऐसा यदुकुलमें हुआ हूं, वह भी सूतके कारणसे हुआ हूं, सूत डरपोक है वह भी आज ही जाननेमें आया है, इसलिए मैं कलंकित हुआ हूं।।२९।।

आभासार्थ : इतना कहनेसे क्या प्रयोजन? इस प्रकारकी शंकाका समाधान 'किं नु वक्ष्ये' श्लोकमें करते हैं :

किं नु वक्ष्येऽभिसंगम्य पितरौ रामकेशवौ।
युद्धाद्धर्म्यादपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम्।।३०।।

श्लोकार्थ : पिता राम-कृष्णसे मिलूंगा तब क्या कह सकूंगा, जब वे पूछेंगे तब युद्धमेंसे भागकर आया हुआ मैं, अपनी सामर्थ्यके विषयमें क्या बोल सकूंगा?।।३०।।

व्याख्यार्थ : पिता राम-कृष्णके पास जाकर क्या कहूंगा. 'नु' शब्द यहां अनुमान अर्थमें दिया है, जिसका आशय है, क्या कहूंगा? अर्थात् कहनेका कोई ढंग ही नहीं दिखता है. 'वक्षः स्थल' पर प्रहार हुआ है यह दिखा देना, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि धर्मयुद्धसे तो मैं भाग आया हूं. उससे भाग निकलना अधर्म है क्योंकि यह युद्ध वह है, जिसमें धर्मका उल्लंघन नहीं करना है, मैंने तो वहांसे भाग कर अधर्म किया है. यदि यों है तो मौन धारण कर लेना, कुछ बोलना ही नहीं, इस पर कहते हैं कि यदि वे पूछें तो अपनी अशक्ति कह देना, यों कहते हो तो, मुझसे अपना असामर्थ्य बताना बन न सकेगा।।३०।।

आभासार्थ : यदि यह दोष सारथीका है, यों कह दूं तो कदाचित् पिताजी इसको मान जाय किन्तु हास्य स्वभाववाली भौजाईयां तो नहीं मानेगी, यह 'व्यक्तं मे' श्लोकमें कहते हैं :

व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः ।
क्लैब्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे ।।३१।।

श्लोकार्थ : मेरी भौजाईयां हंसती हंसती मुझे कहेंगी कि हे वीर! दूसरोंके साथ युद्ध करते हुए आपमें क्लीबता(नपुंसकता) कैसे आ गई।।३१।।

व्याख्यार्थ : उपाय कहने पर भी विपरीत समझकर, हंसने लगेंगी, क्योंकि भौजाईयां कुलवती स्त्रियां हैं और हास्य करती हुई इस प्रकार कहेगी कि है वीर! दूसरोंसे लड़ते हुए नपुंसकता कैसे कैसे तुममें आई, यों 'कथं कथं'(कैसे कैसे) दो बार श्रवणमें आदर व प्रेम प्रकट करनेकेलिए कहा है, बलकी हानि कहनेमें भी उपहास ही करेंगी।।३१।।

आभासार्थ : इस प्रकार उपालम्भ(ताना) प्राप्त सूत उत्तर देता है :

सारथिरुवाच

धर्मं विजानतायुष्मन्कृतमेतन्मया विभो ।
सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद् रथिनं सारथिं रथी ।।३२।।

श्लोकार्थ : सारथीने कहा कि हे आयुष्मान्! हे विभो! मैंने तो मेरा धर्म जानकर यह काम किया है क्योंकि सारथीका धर्म है कि जब रथी संकटमें पड़े, उस समय सारथी उसको उस संकटसे बचावे।।३२।।

व्याख्यार्थ : धर्मका स्वरूप, उत्तरार्धमें कहना चाहिए, यदि कहो कि मृत्यु भले हो जाती किन्तु रणसे दूर बाहर नहीं लाना चाहिए था. जिसके उत्तरमें कहता है कि आयुष्मन्! अभी आपकी आयु है, यदि उपेक्षा की जाती तो मुझे महान् दोष लगता, अतः आयु और धर्मको जाननेवाले मैंने यों किया है. अब धर्म कहता है, 'सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेत्' सूत संकटमें पड़े हुए रथीकी रक्षा करे, यों कहनेका यह भी भावार्थ है कि सूत कहता है कि यदि मेरी भी ऐसी दशा हो तो आपको भी इस तरह मेरी रक्षा करनी चाहिए।।३२।।

आभासार्थ : यह तूने कहांसे जाना? इस शंकाका उत्तर 'एतद् विदित्वा' श्लोकमें देता है :

एतद् विदित्वा तु भवान् मयापोवाहितो रणात् ।

उपस्पृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः ।।३३।।

श्लोकार्थ : यह जानकर मैं आपको युद्धसे हटा ले आया हूं. आपको शत्रुके हाथसे गदा लगी, जिससे आप पीड़ित होके मुर्च्छित हो गए, तब मैं आपको युद्धसे बाहर ले आया।।३३।।

व्याख्यार्थ : 'तु' शब्दसे सारथी अपनी अज्ञताका निवारण करता है अर्थात् मैंने आपको युद्धसे अज्ञानतासे नहीं हटाया है किन्तु धर्म जानकर आपको रणभूमिसे बाहर ले आया हूं. मुझे क्या हुआ जो ले आया? जिसका उत्तर देता है कि शत्रुने गदासे आपके हृदयको चीर डाला, जिससे आप मूर्च्छित हो गए. इस प्रकारका संकट आप पर आया देख, धर्म और कीर्तिके विरोधमें धर्मकी ही रक्षा करनी चाहिए, अतः मैंने धर्मकी रक्षा करना ही सिद्धान्त(निर्णय) जानकर आपको रणसे बाहर लाया।।३३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण, अध्याय ७३ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ७४

शाल्व उद्धार

अष्टाविंशेतिपीडायां भगवत्स्मरणे कृते।
तद्दुःखवारणं कृष्णश्चकारेति निरूप्यते।।का.१।।

कारिकार्थ : दशम स्कन्ध भागवतके उत्तरार्धके इस २८वें अध्यायमें सात्त्विक साधन प्रकरणके ७वें अध्यायमें यों कहनेमें आया है कि जब यादव अति पीड़ित हुए तब उन्होंने श्रीकृष्णका स्मरण किया, जिससे उनको श्रीकृष्णने दुःखसे छुड़ाया।।१।।

द्युमतोपि वधं कृष्णश्चेत्कुर्यात्स्वयमागतः।
तदा प्रद्युम्नदुःखस्य न निवृत्तिर्भवेत् क्वचित्।।का.२।।

कारिकार्थ : यदि श्रीकृष्ण पधारकर, स्वयं द्युमान्का वध करते तो, प्रद्युम्नका यश न होता जिससे प्रद्युम्नका दुःख कभी भी मिटता नहीं।।२।।

अतः प्रद्युम्नहस्तेन मारणं तस्य रूप्यते।
भक्तानां दुःखदानं तु न युक्तमिति वै हरिः।।का.३।।

कारिकार्थ : इस कारणसे ही द्युमान्का वध प्रद्युम्नके हाथसे हुएका वर्णन भी कहा है, भक्तोंको दुःख प्राप्त हो, यह भगवान्को योग्य देखनेमें न आवे।।३।।

मतान्तरेणाशक्यत्वं बोधयामास वाक्यतः।
अन्यथा श्रीशुको लीलां तादृशीं नैव वर्णयेत्।।का.४।।

कारिकार्थ : अतः भगवान् मतान्तरसे अपनी[१] अशक्ति दूसरोंके वाक्यसे कहते हैं, अन्यथा श्रीशुकदेवजी वैसी लीलाका[२] वर्णन ही नहीं करते।।४।।

१. बलभद्र रूपसे शाल्वको जीतनेकी अशक्यता.

२. यह लीला अंशावतारकी है, इसलिए केवल निरोध सिद्धिकेलिए ही इस लीलाका वर्णन है, भगवान् सर्व समर्थ हैं, उनसे कोई भी कार्य सिद्ध न हो सके वह असम्भव है. इसी तरह जब सबके यह कार्य(दुःख निवृत्ति) अशक्य हो जाता है, तब भगवान्की ही शरण लेनी चाहिए, ऐसी बुद्धि होती है जिससे निरोध सिद्ध होता है.

तादृग्लीलान्तरमिव वर्णितां वा न दूषयेत्।
एवं सिद्धान्तमज्ञात्वा लोको भ्राम्यति सर्वथा।।का.५।।

कारिकार्थ : और वैसी ही वर्णित अन्य लीलाओंका खण्डन करते इसी तरह वैसे सिद्धान्तको न जाननेसे लोक सर्व प्रकार भ्रममें पड़ जाते हैं।।५।।

कल्पान्तरे तथा चक्रे सूक्ष्मांशस्यावतारतः।

निरोधे यदि नो ब्रूयात् सिद्धान्तो हि विरुध्यते।।का.६।।

कारिकार्थ : अन्य कल्पमें सूक्ष्म अंशसे लिए हुए अवतारसे यों किया होगा, यह चरित्र यदि यहां(निरोधमें) न कहें तो सिद्धान्तमें विरोध हो जाय, इससे यहां श्रीशुकदेवजीने परमत भाषा कही है।।६।।

शास्त्रार्थे दोषनाशाय निराकरणमुच्यते।

अतः स्कन्धार्थशास्त्रार्थौ पक्षाभ्यामिह रूपितौ।।का.७।।

कारिकार्थ : दोष दूर करनेकेलिए शास्त्रार्थमें उसका निराकरण किया गया है, इससे यहां दो पक्षोंसे स्कन्धका अर्थ और शास्त्रका अर्थ कहा है।।७।।

कारिकार्थ समाप्त

आभासार्थ : पूर्व अध्यायके अन्तमें द्युमान् द्वारा प्रद्युम्नका पतन होनेसे उसको पश्चात्ताप हुआ जिसका वर्णन किया, अनन्तर प्रद्युम्न द्युमान्के वधकेलिए प्रवृत्त हुआ वह 'स तूपस्पृश्य' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं :

श्रीशुक उवाच

स तूपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्मुकः।

नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम्।।१।।

श्लोकार्थ : प्रद्युम्नने तो आचमनकर, कवच पहन, धनुष धारण कर सारथीको कहा कि मुझे वीर द्युमान्के पास ले चल।।१।।

व्याख्यार्थ : मूर्च्छाके बाद जलका स्पर्श अर्थात् आचमन करना चाहिए जिससे 'आचमन' किया. कितने ही 'सलिलोपस्पर्शनम्'का भावार्थ बताते हैं कि प्रद्युम्नने मूर्च्छाके पश्चात् स्नान किया, यों करनेके बाद, नारायणकवच पढकर अथवा लौकिक प्रकारसे कवच धारण किया, पश्चात् धनुष धारण किया, कवच धारण किया यों कहनेसे यह स्पष्ट किया कि प्रद्युम्न पहले अपनी वीरताके अभिमानसे बिना कवच धारण किये युद्धमें गए थे. इस अभिमानके कारण ही, इनके अहंकारका नाश होवे, इसलिए इनकी पराजय भी हुई. पश्चात् सूतको कहने लगे कि मुझे द्युमान्के पास ले चल, उस शत्रुकी प्रशंसा करते हैं कि वह वीर है।।१।।

आभासार्थ : द्युमान्को तो वञ्चनासे तथा लज्जासे अथवा कोलाहलसे मारा, इस कारणसे अर्थात् यों करनेसे दोष न लगे, जिसकेलिए कहा है :

विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः।

प्रतिहृत्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ।।२।।

श्लोकार्थ : अपनी सेनाका संहार करनेवाले द्युमान्को रोककर (खोजकर) प्रद्युम्नने हंसते हुए उसको आठ बाण लगाए(मारे)।।२।।

व्याख्यार्थ : जो अपनी सेनाका नाश करे वह मारनेके ही योग्य है, तो भी कोलाहलसे उसको मारा, क्योंकि 'रुक्मिणीके पुत्र है'. 'प्रतिहृत्य' सेनामें छिपा हुआ था वहांसे ढूंढकर ही हल्ला करते हुए, आठ बाणोंसे वेधा. उसके साथ जो युद्ध सामग्री थी उसका भी नाश किया, नाशके समय आप हंस रहे थे, जिसका भाव यह था कि द्युमान्का बल अब देखने योग्य है कि कैसा वीर है? ।।३।।

आभासार्थ : आठ बाण लगानेका वर्णन करते हैं :

चतुर्भिश्चतुरो वाहान्सूतमेकेन चाहनत् ।
द्वाभ्यां धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः ।।३।।

श्लोकार्थ : चार बाणोंसे चार घोड़े व एक बाणसे सारथी मारा, एकसे धनुष, एकसे ध्वजा और एकसे उसका सिर काटा।।३।।

व्याख्यार्थ : आठवें बाणसे द्युमान्का सिर काट टाला, जिन घोड़ों पर चढ़कर लड़ते थे उनका चार बाणोंसे नाश किया, जो सारथी प्रेरक था, उसको एक बाणसे मार डाला, जिस धनुषसे लड़ता था उसको भी एक बाणसे नष्ट किया, जिस ध्वजासे प्रतिष्ठा प्राप्त की थी उस ध्वजाको एक ही बाणसे काट डाला।।३।।

आभासार्थ : प्रधानके मरने पर शेष उसकी सेनाको दूसरे भी मारने लगे यह 'गदसात्यकि' श्लोकसे कहते हैं :

गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् ।
पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे संछिन्नकन्धराः ।।४।।

श्लोकार्थ : गद, सात्यकि, व साम्ब आदि ज्यों ज्यों सौभपतिकी सेनाको मारते हैं त्यों त्यों वे सब सिर कटकर समुद्रमें गिरते थे।।४।।

व्याख्यार्थ : गदासे प्रद्युम्नके ऊपर प्रहार हुआ था, इसलिए प्रद्युम्न अपने बलसे शत्रुकी सेनाको मारने लगे, वीरता और बल गदामें ही रहा हुआ है, बादमें सौभके सैनिक युद्धकेलिए आकाशमें आ गए, किन्तु पराजयके डरसे भागने लगे तो भी उनके सैनिकोंके सिर धड़से अलग होके समुद्रमें गिरने लगे।।४।।

आभासार्थ : भगवान्के आनेकी प्रतिक्षाकेलिए बिना जय अथवा पराजयके यादव और शाल्वोंके युद्धकी अनुवृत्ति 'एवं यदूनां' श्लोकमें कहते हैं :

एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम्।
युद्धं त्रिणवरात्रं तद् अभूत्तुमुलमुल्बणम्।।५।।

श्लोकार्थ : इसी तरह यादव और शाल्वके सैनिक परस्पर हनन करते हुए सत्ताईस दिन तक, कोलाहलवाला घोर तुमुल युद्ध करने लगे।।५।।

व्याख्यार्थ : परस्पर हनन करते थे, इन शब्दोंसे यह सूचित किया है कि दोनों समान थे. 'त्रिणवरात्रं'का अर्थ है सत्ताईस दिन तक. 'तुमुल' पदका भाव है कि 'भीषण'. 'उल्बण'का अर्थ है 'क्रूर'. तात्पर्य यह है कि सत्ताईस दिन तक दोनों परस्पर हनन करते हुए क्रूर और भीषण युद्ध करने लगे।।५।।

आभासार्थ : इसी भांति मिट न सके ऐसे कष्टको प्राप्त यादवोंका महान् दुःख निरूपणकर, यों ऐसे समयमें भी भगवान् उपेक्षा करें वह योग्य नहीं है, ऐसे दोषारोपणके परिहार्थ दूसरा मत 'इन्द्रप्रस्थं' श्लोकसे प्रारंभ करते हैं :

श्रीशुक उवाच
इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना।
राजसूयेथ निर्वृत्ते शिशुपाले च संस्थिते।।६।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्ण तो युधिष्ठिरके बुलानेसे इन्द्रप्रस्थ पधारे थे, पश्चात् राजसूय यज्ञ पूर्ण हुआ और शिशुपाल भी मारा गया, अनन्तर।।६।।

व्याख्यार्थ : दूसरे मतमें, पहले कहे हुए नियमानुसार इन्द्रप्रस्थ जाते और वहांसे लौटते समय भी वैसा आडम्बर नहीं है, इसलिए वहांकी कथाको कहते हैं. युधिष्ठिरने बुलाए तब आप इन्द्रप्रस्थ एकाकी गए, पीछे बलभद्रको भी बुलाया. उस समय दुर्योधनका मानभंग न हुआ था? होनेवाला हो तो भी अन्य प्रकारसे होगा, अतः बलभद्रका वहां होना भी दोषकारक नहीं है. पश्चात् राजसूय यज्ञ दूसरे प्रकारसे पूर्ण हुआ और शिशुपाल भी मरा, जिसके अनन्तर,– दूसरे श्लोकसे अन्वय है।।६।।

कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम्।
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन्द्वारवतीं ययौ।।७।।

श्लोकार्थ : वृद्ध कौरवोंसे मुनियों और पुत्रों सहित बुआ पृथासे आज्ञा लेकर, अति भयानक उत्पात देखते हुए, द्वारका पधारे।।७।।

व्याख्यार्थ : वृद्ध कौरवोंसे आज्ञा लेकर, पुत्रों सहित पृथासे पूछकर, द्वारकामें अस्वस्थता बतानेवाले अति भयानक अपशकुनोंको देखते हुए द्वारका

गए ।।७।।

आभासार्थ : जाते हुए मध्यमें हुई चिंताका वर्णन करते हैं :

आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसंगतः ।

राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्यु पुरीं मम ।।८।।

श्लोकार्थ : जाते हुए मनमें कहने लगे कि मैं बड़े भाईके साथ यहां आ गया, निश्चय हैं कि, शिशुपालके पक्षवाले, मेरी पुरीको नाश करते होंगे।।८।।

व्याख्यार्थ : पहले मैं यहां इन्द्रप्रस्थमें आ गया हूँ, पश्चात् बलभद्र भी आ गए, तो उनसे मिलकर यहां ही रह गया, अथवा साथ ही आना हुआ है. रक्षणकेलिए अवतार धारण करनेवाले दोनों भी द्वारकामें विद्यमान नहीं हैं, अतः चैद्य(शिशुपाल)के पक्षवाले क्षत्रिय राजा लोग जो दैत्य हैं, वे निश्चय मेरी पुरीका नाश करते होंगे।।८।।

निमित्तदर्शनं चिन्ताभङ्गश्चेति निरूप्यते ।

मतान्तरे दोषभावं मोहका वर्णयन्ति हि ।।का.१।।

कारिकार्थ : अपशकुन देखना, चिन्ता और भंग अर्थात् नगरीका नाश निरूपण किया है, कारण कि मोह उत्पन्न करनेवाले दूसरोंके मनमें दोष है, यों वर्णन करते हैं।।१।।

आभासार्थ : बादमें जो हुआ वह 'वीक्ष्य तत्कदनं' श्लोकमें कहते हैं :

वीक्ष्य तत्कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् ।

सौभं च शाल्वराजं च दारुकं प्राह केशवः ।।९।।

श्लोकार्थ : अपनी सेनाका नाश, सौभ और शाल्वको देख, नगरीकी रक्षाका प्रबन्ध कर, केशवने दारुक सारथीको कहा।।९।।

व्याख्यार्थ : दिन रात्रि अपने सैनिकोंको युद्धसे होता दुःख देख, नगरीकी रक्षार्थ बलभद्रको कहकर, जैसे किसी प्रकार भी कथाके अनुवाद करनेसे, यहां, बलभद्रको रक्षणकेलिए नहीं कहा है, यह दोष और सारथिको रथ ले जानेको कहा जिससे पहले नगरके रक्षणकी क्रियाका उल्लंघनरूप दोष नहीं है. सौभ और शाल्वराजको देखकर श्रीकृष्णने अपने सारथिको कहा. जब श्रीकृष्ण आप सर्व प्रकार समर्थ हैं तब सारथिको प्रेरणा करें, वह योग्य नहीं है. इस शंकाका समाधान करनेकेलिए इनका नाम यहां 'केशव' कहा है, जिसका भावार्थ है कि जैसे ब्रह्मा और शिवको प्रेरणा करते हैं, वैसे इसको भी प्रेरणा की है।।९।।

आभासार्थ : उस कल्पमें सारथि प्राकृत था इसलिए 'रथं प्रापय' श्लोकमें सूतको सूचित करते हैं :

रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै ।
संभ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ।।१०।।

श्लोकार्थ : हे सूत ! मेरे रथको शीघ्र ही शाल्वके पास ले चल, तू किसी प्रकार डर मत, यह सौभराट् मायावी है।।१०।।

व्याख्यार्थ : 'संभ्रमः' अर्थात् भय, तुझे (भय) नहीं करना चाहिए तात्पर्य यह है कि तू डर मत, क्योंकि यह सौभराट्(सौभ विमानमें प्रकाशमान्) शाल्व मायावी है. मायावी विशेषणसे उसकी स्तुति की है, जब प्रेरणा की तब दारुक मूढ था, प्रेरणाके अनन्तर मूढता निवृत्त हो गई।।१०।।

इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ।
विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ।।११।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार आज्ञा होते ही, रथमें बैठकर दारुकने रथ चलाया. यादवों और शाल्वके पक्षवालोंने गरुड़को युद्ध भूमिमें प्रवेश करता हुआ देखा।।११।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार भगवान्की आज्ञा पाया हुआ दारुक कहने लगा कि जैसी आपने आज्ञा की है वैसा ही करूंगा. यों कहकर, निडर होकर रथ चलानेमें प्रवृत्त हुआ. रथमें अच्छी तरह बैठा क्योंकि इसका नाम है 'दारुक' जिसका अर्थ है, 'दारु' काष्ठका 'क' सुखरूप अथवा शिरोरूप वह है, जिसका तात्पर्य है कि इसकी इच्छानुसार ही काष्ठ(रथ) चलता है, अतः रथ बहुत तेज चला, जिससे रेत उड़ी, उस रेतसे रथ आच्छादित हो गया, इस कारणसे रथको कोई देख न सका, अपने और शत्रुके सैनिकोंने केवल गरुड़को ही प्रविष्ट होते देखा।।११।।

आभासार्थ : पश्चात् शाल्वने ही श्रीकृष्णको देखा, यों कहते हैं :

शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः ।
प्राहिणोत्कृष्णसूताय शक्तिं भीमरवां मृधे ।।१२।।

श्लोकार्थ : जिसकी बहुत सेना नष्ट हो गई है, ऐसे शाल्वने श्रीकृष्णको देख, श्रीकृष्णके सूत पर भयंकर शब्द करनेवाली लड़ाईमें ही अपनी शक्ति चलाई।।१२।।

व्याख्यार्थ : शाल्व अपनी बहुत सेनाके नाशसे और निरन्तर युद्ध चलनेसे दुःखी था, सूत भी आज्ञानुसार शीघ्र रथको ले आया, इस कारणसे सारथि पर क्रोध आ जानेसे, उस पर भयंकर ध्वनिवाली शक्ति फेंकी, जिस समय शक्ति फेंकी उस समय शाल्व सावधान था क्योंकि युद्धमें खड़ा था।।१२।।

आभासार्थ : पश्चात् उस शक्तिका भगवान्ने निराकरण किया, यह 'तामापतन्तीं' श्लोकमें कहते हैं :

तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा।
भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत्।।१३।।

श्लोकार्थ : उल्काके समान वेगसे आती हुई एवं दिशाओंको प्रकाशित करती हुई, उस शक्तिको श्रीकृष्णने आकाशमें होते हुए ही बाणोंसे सैंकडो टुकड़े कर डाले।।१३।।

व्याख्यार्थ : 'महोल्कामिव' पदसे उसके स्वरूपका वर्णन किया है कि, जिसके देखनेसे भी भय उत्पन्न होता है ऐसी भयानक थी. 'रंहसा आपतन्तीम्' पदसे यह सूचित किया है कि वह ऐसे भयंकर(जबरदस्त) वेगसे आ रही थी, जिसका कोई भी प्रतीकार न हो सके. 'भासयन्तीं दिशः' सकल दिशाओंको प्रकाशित करनेके गुणसे जिसका माहात्म्य प्रकट किया है और इसका फल भी अवश्य होगा यह भी सूचना दी, ऐसा जानकर भगवान्ने बहुत ही बाणोंसे वहां ही (आकाशमें ही) उसके सैकड़ों टुकड़े कर डाले।।१३।।

आभासार्थ : पश्चात् प्रहार करनेवाले पर भी प्रहार किया, यों कहते हैं :

तं च षोडशभिर्विद्ध्वा बाणैः सौभं च खे भ्रमत्।
अविध्यच्छरसंदोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः।।१४।।

श्लोकार्थ : सोलह बाणोंसे शाल्वको वेध डाला, आकाशमें घूमते हुए सौभ विमानको बाणोंसे ऐसे वेधित किया, जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे आकाशको वेधित करता है।।१४।।

व्याख्यार्थ : शाल्वके आठ अंगोमेंसे एक एक अंगको दो दो बाणोंसे वेध डाला और आकाशमें फिरते हुए सौभको भी शाल्वके रक्षाके अभावमें उसको भी बहुत बाणोंसे नीचेसे तथा ऊपरसे छेद डाला. दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे आकाशको वेधित करता है, यों कहने (इस दृष्टान्त)से यह बताया कि जैसे आकाशको पीड़ा नहीं होती है, वैसे सौभको भी पीड़ा नहीं हुई,

सौभको पीड़ा न हुई यह महादेवकी प्रशंसा है।।१४।।

आभासार्थ : अनन्तर सौभ पर आक्रमण देख, महादेवकी भक्तिसे शाल्वने भी आक्रमण किया, जिसका वर्णन 'शाल्वः' श्लोकमें करते हैं :

शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः।
बिभेद न्यपतद्धस्ताच्छार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् ।।१५।।

श्लोकार्थ : शाल्वने तो शार्ङ्ग धनुषधारी शौरिके शार्ङ्ग सहित सव्य हस्तको वेध डाला, जिससे शार्ङ्ग हस्तसे गिर गया, यह अद्‌भुत लीला हुई।।१५।।

व्याख्यार्थ : 'तु' पद देनेका आशय यह है कि इसमें जो कहा गया है, वह सिद्धान्त नहीं है, आयुध सहित सव्य हस्त वेध डाला, कारण कि शार्ङ्ग धनुषवाला इस नामसे आप प्रसिद्ध हैं. इस प्रकार प्रसिद्धिका कारण जो शार्ङ्ग धनुष है उसके साथ शौरि(बहुत पराक्रमी)का भी हस्तमेंसे शार्ङ्ग धनुष गिरनेसे निराकरण किया, यह केवल महादेवकी स्तुतिकेलिए कहा है।।१५।।

हाहाकारो महानासीद् भूतानां तत्र पश्यताम्।
विनद्य सौभराडुच्चैः इदम् आह जनार्दनम् ।।१६।।

श्लोकार्थ : वहां जो देख रहे थे उन्होंने महान् हाहाकार शब्द किया, उसी समय शाल्व बड़ी ऊंची गर्जनाकर भगवान्‌से यों कहने लगा।।१६।।

व्याख्यार्थ : 'तत्र' वहां, पराक्रम सहित, वहां जो प्राणी देख रहे थे, उन्होंने महान् हाहाकार शब्द किया, क्योंकि पहले ऐसा कभी नहीं हुआ है, इस प्रकार कायासे किया निराकरण कहकर, अब वाणीसे पराजय करता हुआ प्रबल ध्वनिसे कहता है कि मैं जीत गया, जीत गया. पश्चात् सौभमें विराजमान शाल्व, अविद्या नाश करनेवालेको निम्न दो श्लोकोंसे यों कहने लगा।।१६।।

आभासार्थ : शाल्व भ्रान्त होकर दो श्लोकोंमें यह कहने लगा :

शाल्व उवाच

यत् त्वया मूढ नः सख्युः भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम्।
प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा ।।१७।।

श्लोकार्थ : हे मूर्ख[1] ! मेरे भाई व सखा शिशुपालकी स्त्रीको हमारे देखते हर ले गया, और सभाके बीच असावधान बैठे हुए हमारे मित्रको तुमने मारा।।१७।।

व्याख्यार्थ : शाल्व वचन कहते हैं कि 'अमूढ' यों पदच्छेद करना

चाहिए, आपके भ्राता तथा हमारे मित्र शिशुपालकी, अथवा हमारे भातृरूप शिशुपालकी भार्या(स्त्री)को, शान्त, हम लोगोंके देखते हुए हरण कर गये, इससे यह बताया है कि आपका शौर्य साधारण शौर्यसे विशेष है, यों कहना एक प्रकार स्तुति ही है, न केवल उसकी भार्याका अपहरण किया किन्तु उसको भी अपना बना लिया, वह भी शक्तिशाली था, जिससे आपने सभाके मध्यमें उसको मार डाला, किन्तु युद्धमें नहीं मारा है, अतः समझा जाता है कि वह सखा था, इस कारणको बतानेकेलिए फिर कहा है।।१७।।

१. वास्तवमें हे अमूढ ! हे ज्ञानी !

आभासार्थ : पश्चात् 'तं त्वाद्य' श्लोकमें अपना कर्तव्य कहते हैं :

तं त्वाद्य निशितैर्बाणैः अपराजितमानिनम् ।
नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ।।१८।।

श्लोकार्थ : अजितपनका अभिमान करनेवाले, यदि मेरे सामने खड़े रहे तो आज ही मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे तुझे वहां पहुंचा दूंगा जहांसे फिर लौट न सकोगे।।१८।।

व्याख्यार्थ : इस श्लोकमें अपना कर्तव्य कहते हुए जो 'बाणैः' पदका 'निशितैः' विशेषण दिया है, वह अपना पौरुष प्रकट करनेकेलिए है।।१८।।

आभासार्थ : भगवान् तो, शाल्वने जो वाणीसे प्रहार किया है, उसका 'वृथा त्वं कत्थसे' श्लोकमें कहे वाक्यसे निवारण करते हैं :

श्रीभगवानुवाच
वृथा त्वं कत्थसे मन्द! न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् ।
पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ।।१९।।

श्लोकार्थ : श्रीभगवान्ने कहा कि हे मन्द ! तू वृथा बकवाद कर रहा है, निकट जो काल खड़ा है, उसको नहीं देख सकता है, शूरवीर बहुत बकते नहीं हैं, अपना पराक्रम दिखलाते हैं।।१९।।

व्याख्यार्थ : तुमने जो कुछ विषय कहा वह बाधित है, अर्थात् होनेवाला नहीं है, इसलिए तू मन्द है, अपितु(बल्कि) जो तू कह रहा है उससे विपरीत होनेवाला है, जिसको तू मूर्ख होनेसे देख नहीं सकता है, शीघ्र ही मुझसे तेरी मृत्यु होनेवाली है. यों कहना भी उचित नहीं है क्योंकि जय वा पराजयकी व्यवस्था नहीं है. शूरवीरोंको अपनी प्रशंसा करनी योग्य नहीं है यों कहकर उसको उपदेश करते

हैं कि 'पौरुषं दर्शयन्ति स्म' पुरुष शरीरका बल अथवा अपनी शरीरकी शक्ति प्रकट कर दिखाते हैं. क्योंकि क्षत्रिय, शरीरबलसे ही शूर कहलाते हैं, ब्राह्मणोंका बल वाणीमें है, इसलिए उसका इसमें समावेश नहीं किया है।।१९।।

आभासार्थ : यों कहकर भगवान् अपना कहना सत्य करनेकेलिए अपना पौरुष दिखाने लगे, जिसका वर्णन 'इत्युक्त्वा' श्लोकमें करते हैं :

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा भगवान् शाल्वं गदया भीमवेगया।
ताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक् ।।
गदायां संनिवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत ।।२०।।

श्लोकार्थ : यों कहकर, भगवान्ने क्रोधित हो, भीम वेगवाली गदासे शाल्वके हंसलियों पर प्रहार किया, जिससे वह लोहू उगलता हुआ कांपने लगा, गदा पीछे लौट गई तब शाल्व अन्तर्धान हो गया।।२०।।

व्याख्यार्थ : क्योंकि भगवान् सर्व प्रकार शक्तिवाले हैं, 'भयंकर वेगवाली' इस विशेषणसे इससे अलौकिकताका निराकरण किया. 'जत्रौ'का अर्थ कण्ठमालाकी अस्थियां अर्थात् हंसलियां. 'संरब्धः' क्रोधसे अथवा क्रियाके आवेश मात्रसे वैसी गदाका हंसलियों पर प्रहार किया, जिससे वह शाल्व लोहू उगलता हुआ कांपने लगा, पश्चात् उसको लोहूसे लाल हुआ देख अपना कार्य सिद्ध हो गया समझ गदा लौट आई, उसके लौट जाने पर शाल्वने सोचा कि इसीसे बच गया हूं तो क्या? फिर दूसरे प्रकारसे मरूंगा, यह निश्चय जानकर, असुर होनेसे भगवद्रूप मायाको प्रार्थना करनेकेलिए अन्तर्धान हो गया. 'तु' इस शब्दसे यह आशय प्रकट होता है कि महादेव अब इसका पक्ष नहीं लेते हैं।।२०।।

आभासार्थ : पश्चात् भगवद्रूप मायाका कार्य कहते हैं :

ततो मुहूर्त आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम्।
देवक्या प्रहितोस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ।।२१।।

श्लोकार्थ : पश्चात्, दो घड़ीके बाद एक पुरुषने आकर, भगवान्को सिरसे प्रणाम कर, रोते हुए कहा कि मुझे देवकीने भेजा है।।२१।।

व्याख्यार्थ : एक मुहूर्तके बाद कोई पुरुष आया, यह मनसे किया हुआ निराकरण है, शाल्वने भगवद्रूप मायाको मनसे एक पुरुषकी प्रार्थना की, भगवान् तो कर्ता हैं, जिससे उसके मनसे भी वह ही कोई प्रतिमा(मूर्ति) प्रादुर्भूत हो गई,

वह पुरुष मायिक था, तो भी भगवदीय होनेसे भगवान्के पास आने पर भी उसका नाश न हुआ. उसने अच्युत भगवान्, जो कभी मोहको प्राप्त नहीं होते हैं, उनको मोहित करनेकेलिए कहा कि मुझे देवकीने भेजा है, यों बताकर फिर भगवान्को प्रणाम कर, रोता हुआ निम्न वचन कहने लगा. उसका रोना इसलिए था कि भगवान् समझें कि यह देवकीका अन्तरंग सेवक है।।२१।।

आभासार्थ : इस श्लोकमें उस पुरुषने जो कहा वह कहते हैं :

कृष्ण! कृष्ण! महाबाहो! पिता ते पितृवत्सल।
बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथा पशुः ।।२२।।

श्लोकार्थ : हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाबाहु ! हे पितृवत्सल ! कसाई जैसे पशुको ले जाता है, वैसे शाल्व आपके पिताको बांधकर ले गया है।।२२।।

व्याख्यार्थ : कृष्ण! कृष्ण! दो बार दुःख प्रकट करनेकेलिए कहा है. हे महाभुज! विशेषणसे यह कहा कि आपमें पूर्ण क्रियाशक्तिका सामर्थ्य है, आपके पिताको शाल्व बान्ध कर ले गया है. आप पितृवत्सल हैं यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि अपने मानका ज्ञान होवे, बान्ध कर ले गया है, इससे बताया है कि शाल्वने बहुत अपमान किया है, ले गया है तो क्या? स्वतः छोड़ देगा, ऐसा कृष्णके मनमें आवे तो उसके निराकरणकेलिए कहा कि कसाईकी तरह बान्धकर ले गया है, जिसका भावार्थ है, कसाई मारनेकेलिए ले जाता है, वैसे यह भी मारनेकेलिए ले गया है, अतः छोड़ देगा, यों मत विचारो।।२२।।

आभासार्थ : यों देखनेमें आया कि भगवान्की पराजय हुई है, जिसका वर्णन 'निशम्य' श्लोकमें करते हैं :

निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः।
विमनस्को घृणी स्नेहाद् बभाषे प्राकृतो यथा ।।२३।।

श्लोकार्थ : यह अप्रिय वचन सुनकर, मनुष्य प्रकृतिको प्राप्त, दयालु भगवान्, मनमें उदास हो, प्राकृतकी भांति स्नेहसे कहने लगे।।२३।।

व्याख्यार्थ : उस समय भगवान्ने मनुष्य स्वभावको अंगीकार किया. पश्चात् मनुष्य स्वभावके कारण उदास और पिता पर दयालु, भगवान्, स्नेहके कारण, २४वें श्लोकमें वर्णित शब्द कहने लगे।।२३।।

आभासार्थ : 'पहला रूप मन है, दूसरा अंतिम रूप वाणी है' इस श्रुतिके अनुसार तथा उसका यजुष् ही सिर है, इस श्रुतिके अनुसार, मानस पुरुष, शब्द

प्रकृतिवाला होनेसे, जब तक शोकके शब्द बाहर नहीं निकाले जाते हैं, तब तक मनकी पीड़ा पूर्ण (नाश) नहीं होती है, इसलिए भगवान्के कहे हुए वचन 'कथं राम' श्लोकमें कहते हैं :

कथं रामम् असम्भ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरैः ।
शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान् विधिः ।।२४।।

श्लोकार्थ : जिसको सुर और असुर जीत नहीं सकते ऐसे सावधान रामको जीतकर तुच्छ शाल्व, मेरे पिताको कैसे ले गया? प्रारब्ध बलवान् है।।२४।।

व्याख्यार्थ : रामको रक्षाकेलिए वहां रख आए थे, वहां वह बहुत सावधान भी थे, क्योंकि सावधान रहनेका समय है, वैसे रामको जीतकर आना तो अशक्य है कारण कि देव और दैत्य भी जिसको नहीं जीत सकते, उसको यह क्या जीत सकेगा? यह शाल्व सबसे उत्तम है, इसलिए जीता होगा, जिसका उत्तर देते हैं कि यह तो एक तुच्छ मनुष्य है, वह जीत नहीं सकता है. वह मेरे पिताको कैसे ले गया? कदाचित् शाल्वको दैवने साथ दिया है, तब ले जा सका है, अतः नित्य इच्छावाला दैव ही बलवान् है।।२४।।

आभासार्थ : केवल ले गया, इतना ही होता तो वो मनके क्लेशमें सन्देह हो जाता, किन्तु यहां तो दूसरा भी अनिष्ट हुआ, जिसका वर्णन 'इति ब्रुवाणे' श्लोकमें करते हैं :

इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः ।
वसुदेवम् इवानीय कृष्णं चेदम् उवाच सः ।।२५।।

श्लोकार्थ : भगवान् यों कह ही रहे थे कि इतनेमें वसुदेव जैसा पुरुष लेकर शाल्व आकर उपस्थित हुआ और वह श्रीकृष्णको २६वें श्लोकमें कहे हुए वचन कहने लगा।।२५।।

व्याख्यार्थ : 'प्रत्युपस्थितः' श्रीकृष्णके सामने (शाल्व) आकर खड़ा हुआ, अपने साथ बनावटी वसुदेव जैसा कोई पुरुष भी लाया था, उसने श्रीकृष्णको नीचे श्लोकमें कहे हुए शब्द कहे।।२५।।

आभासार्थ : 'एष ते जनिता' श्लोकमें उसके वचन हैं :

एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि ।
वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत्पाहि बालिश ।।२६।।

श्लोकार्थ : हे बालिश ! तेरा जन्मदाता यह पिता है, जिसकेलिए तू जीता है, उसको तेरे देखते हुए अभी मार डालूंगा, जो शक्ति होवे तो इसको बचा ले।।२६।।

व्याख्यार्थ : शाल्व मायारूप भगवान् होनेसे उसकी यों बोलनेमें प्रवृत्ति हो सकी. मूल श्लोकमें वास्तविक तो कहा कि वह पुरुष आपका 'अजनिता' (जन्मदाता नहीं) और 'अतात'(पिता नहीं) है. यद्यपि श्रीकृष्णकी भूभार हरणकेलिए वास्तविक स्थिति है और वह किया भी है, तो भी शाल्व मानता है कि पिताके वास्ते स्थिति है. यद्यपि लोकमें दूसरोंकी स्थिति बहुत कार्योंके करनेके वास्ते होती है, किन्तु पितृभक्तकेलिए पिताकी स्नेहसे सेवा करनेकेलिए ही होती है, इसलिए प्रकृत विषयमें पिताके भक्तको, पिताको दुःखी देखकर अधिक क्लेश होता है और उसको दुःखसे छूड़ानेका प्रयत्न करना पड़ता है, इस प्रकार आरोप न्यायसे पितृभक्तत्व कहकर यह बताया कि स्वयं श्रीकृष्णको पीड़ा देनेमें असक्त होनेसे स्वयं ही दुःखी होगा, इसी तरह विशेष दुःख देनेकेलिए फिर वाणीसे कहने लगा कि मैं इसको 'मारूंगा'. यदि यह मेरी प्रतिज्ञा असत्य करनेकी शक्ति हो तो, इसकी रक्षा करो. शाल्वने अपनी बुद्धिके अनुसार 'बालिश!' सम्बोधन दिया है, जिसका भावार्थ है कि आपने बालिका भी कल्याण ही किया था, क्योंकि आप शत्रुका भी कल्याण करनेवाले हैं, अतः जैसे उसको मारकर उसका हित किया, वैसे मेरा भी हित करो. यों प्रार्थना की है. यह मतान्तर भाषा है अतः यहां पदोंका अर्थ इच्छित नहीं है, जिससे पदोंका अर्थ अन्य प्रकारसे नहीं किया गया है।।२६।।

आभासार्थ : अर्थके अन्तरको वर्णन करते हैं :

एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः।
उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत्।।२७।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार मायावी शाल्वने भगवान्का तिरस्कारकर, खड्गसे वसुदेवजीका सिर काट डाला, उसको लेकर आकाशमें स्थित सौभमें जाके बैठा।।२७।।

व्याख्यार्थ : 'निर्भर्त्स्य' इस पदका तात्पर्य है कि सामनेवालेका तिरस्कार करना अर्थात् उसका अभिमान उतारना, शाल्वने ऊपर कहे हुए शब्दोंसे श्रीकृष्णका तिरस्कार किया, ऐसा करनेकी शक्ति इसमें कैसे आई? इस शंकाको

'मायावी' पदसे मिटाता है अर्थात् मायाके कारण शक्ति आई है. ''मायेत्यसुराः'' इस श्रुतिके अनुसार असुरोंका भगवान् माया है. ''**तं यथा यथोपासते तद्धैतान् भूत्वाऽवति**'' उस मायारूप भगवान्की जिस जिस भावनासे उपासना की जाती है, वह(मायारूप भगवान्) वैसा होकर, उस उपासककी रक्षा करता है, इस श्रुतिके अनुसार, इस प्रसंगमें भगवान् ही भगवान्से क्रीड़ा कर रहे हैं, इसलिए किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है, अतः भगवान्(मायारूप भगवान्)के आवेशसे लीला दिखानेवालेकी तरह वसुदेवका सिर तलवारसे काटकर फिर वह जोड़ा न जावे इसलिए आकाशमें स्थित 'सौभ' जो उसका मूल आश्रय था उसमें शाल्वने प्रवेश किया।।२७।।

ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः स्वबोध आस्ते स्वजनानुषङ्गतः ।
महानुभावस्तदबुध्यदासुरीं मायां स शाल्वप्रसृतां मयोदिताम् ।।२८।।

श्लोकार्थ : भगवान् तो स्वतः सिद्ध ज्ञानवान् हैं, तो भी कुछ देर तक स्वजन स्नेहसे मनुष्य स्वभावमें मग्न रहे, बादमें स्वतः भगवान्ने समझ लिया कि, यह तो मयकी दी हुई माया शाल्वने चलाई है।।२८।।

व्याख्यार्थ : यह मानुषी प्रकृतिकी लीला केवल एक मुहूर्त ही की है, तीसरे मुहूर्तमें इस विषयका विचार करते हुए शान्त रहे. बलदेवजीने वसुदेवकी रक्षा नहीं की यह शंका भी इससे मिटा दी. इसके बाद केवल एक मुहूर्त प्रवृत्तिमें मग्न होके, उस मानुषी प्रकृतिका त्यागकर अन्य द्वारा ज्ञान प्राप्त न होते हुए भी स्वतः स्वयं सब समझ गए, क्योंकि अपनी ज्ञानशक्ति, जिसको मुहूर्तमात्र तिरोहित किया था, उसको पुनः स्वयं प्रकट किया, जिससे समस्त ज्ञान हो गया.

पहले कहा है कि स्वजनोंके सम्बन्धके कारण प्रकृतिमें मग्न हुए और यहां कहा कि स्वतः ज्ञान उद्भूत हुआ, यों होनेमें(स्वतः ज्ञान उत्पन्न होनेमें) क्रियासे पृथक् होनेवाले ज्ञानका सम्बन्ध है, अथवा 'अस्वजनानुषंगतः' पदच्छेद करनेसे अर्थ होगा कि भगवान्को अपने जनोंमें प्रेम नहीं था, इसलिए मोहका अभाव था, जिससे जाननेमें अपना ज्ञान स्वतः प्रादुर्भूत हो गया.

उपदेशके बिना ज्ञान निष्ठा कैसे हुई? इस शंकाका 'महानुभावः' विशेषणसे निराकरण करते हैं कि भगवान् महा प्रभाववाले हैं, अतः आपने आसुरी मायाको जान लिया. यह माया मेरा ही रूपान्तर (दूसरा रूप) है, कारण कि जब आत्माको जाननेकी इच्छा होती है, तब ही आत्माका ज्ञान होता है, यों

कहनेसे ज्ञात होता है कि उस कल्पमें भी भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध ब्रह्म ही थे. भगवान् अज्ञत्व आदि लीला सब अवतारोंमें दिखाते हैं, अतः किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है, परन्तु भागवतके उपक्रम अर्थात् आरम्भमें श्रीकृष्ण इस प्रकारके नहीं हैं, यों यहां भी उनको साधारण 'देव' कहनेवालोंका दोष आगे कहा जाएगा, वह माया कहांसे उत्पन्न हुई? किसमें रही? ये दो बातें कहते हैं कि 'मय'से उत्पन्न हुई और 'शाल्व'में रही।।२८।।

१. शाल्वके अन्तर्धान होनेके बाद एक मुहूर्तमें एक पुरुष आया. दूसरे मुहूर्तमें शाल्वने मायाका दिखाऊ दिखाया और तीसरे मुहूर्तमें विचार करते हुए शान्त रहे.

आभासार्थ : ज्ञानशक्ति प्रकट होते ही माया रूप लीन हो गया, जिससे उसके कार्य भी समाप्त हो गए, यह 'न तत्र दूतं' श्लोकमें कहते हैं :

न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं प्रबुद्ध आजौ समपश्यद् अच्युतः ।
स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं सौभस्थमालोक्य निहन्तुम् उद्यतः ।।२९।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार ज्ञानशक्ति प्रकट करते हो. जैसे जागृत पुरुष स्वप्नके पदार्थोंको नहीं देखता है, वैसे वहां युद्धमें भगवान्ने, न तो दूतको देखा और न पिताके शरीरको देखा, केवल सौभ विमानमें बैठकर आकाशमें घूमते हुए शाल्वको देखा, अनन्तर उस शत्रुको मारनेकी तैयारी की।।२९।।

व्याख्यार्थ : इससे भी यही सिद्ध होता है, कि श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं. यदि भगवान् न होते तो मायिक पदार्थोंके नष्ट हो जानेमें कोई दूसरा कारण ही नहीं था. दूत और पिताका शरीर पहले देखे हुए दोनोंको, ज्ञान प्रकट करते ही युद्ध स्थान पर न देखा, क्योंकि ये 'अच्युत' ही थे, केवल रूपान्तर था, वैसे ही जतानेकेलिए कहते हैं कि यह गूढ अर्थ है, उसको समझानेके वास्ते दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे कि, स्वप्न भी देखनेवाला स्वयं ही होता है, किन्तु रूपान्तर दूसरे रूपमें होता है. जब वह पुनः स्वप्नस्थ रूप त्याग, दूसरा असली रूप लेते हैं, तो वह स्वप्नवाला स्वरूप देखनेमें नहीं आता है. यह योग्य ही है. 'च' पदसे, मायासे जो मनःकल्पित रूप होते हैं उनको भी ग्रहण किया है. पश्चात् आकाशमें फिरते हुए सौभमें स्थित शत्रुको देख, उसको यदि मारा जाय तो पाप लगेगा. महादेव तथा भगवान्ने अब इसकी उपेक्षा की है, अतः इसका कोई रक्षक नहीं है, जिससे श्रीकृष्णने इसके मारनेका उद्यम किया, यह पूर्वपक्ष है।।२९।।

आभासार्थ : 'एवमिति' श्लोकसे लेकर सिद्धान्त कहते हैं :

एवं वदन्ति राजर्षे मुनयःकेचनान्विताः।
यत् स्ववाचो विरुध्येरन् नूनं ते न स्मरन्त्युत ।।३०।।

श्लोकार्थ : हे राजर्षि ! मुनि लोग यों कहते हैं, कितने ही इनमें ऐसे भी हैं जो योग्य कहते हैं. प्रायः ऐसे हैं जिनके कहे हुए वाक्योंमें विरोध होता है. किन्तु हमने वहां क्या कहा है और यहां क्या कहते हैं, इसका स्मरण व ध्यान ही नहीं रहता है।।३०।।

व्याख्यार्थ : यह पूर्वपक्ष है. इसको युक्तिसे सिद्ध करना ही है. प्रमाणके बाध होनेसे भी यह पूर्वपक्ष सिद्ध होता है. इस प्रकार मुनि लोग कहते हैं, अर्थात् मुनि लोग जो कुछ कहते हैं वह ज्ञान मनन करनेसे उत्पन्न होता है. उसके अनुमानसे अपने सिद्धान्त कहते हैं. किन्तु यदि वह सिद्धान्त, मूल शास्त्रोंसे विरुद्ध हो तो, वह ऋषियोंका ज्ञान वा सिद्धान्त, प्रमाण नहीं है. इस प्रकार शास्त्रकी मर्यादा है. क्योंकि जिन शास्त्रोंके ऊपर उनका आधार है, उनसे विरुद्ध है, जैसे प्रमाणोंमें(शास्त्रोंमें) कहे हुए धर्मके कारण ही ऋषियोंको ज्ञान हुआ है. उस ज्ञानसे विरुद्ध सिद्धान्त कहनेवाले, सांख्यादि मत, इसलिए ही अमान्य है, अतः भगवान्की प्रभावशाली कृपाके बिना अर्थात् प्रमेयबलके बिना आर्षज्ञान (ऋषिको सत्य ज्ञान) नहीं होता है, इस कारणसे ऋषियोंके ज्ञानसे भगवान्में दोष देखना वैसा है, जैसा माताका व्यभिचार देखना, सर्वथा असत्य है, जिससे वह उपेक्षाके योग्य ही है. तो भी जो निर्लज्ज है और मूलभूत भगवान्में दोष देखते हैं, उन पर श्रीशुकदेवजी उपहास करते हुए कहते हैं कि 'मुनयः वदन्ति' यदि 'ऋषयः' पद हो तो वह भी वैसे ही है. राजर्षे! यह सम्बोधन देनेसे, अपने पक्ष और अन्यके पक्षमें आसक्तिवालों पर विश्वास और उपहास किया है. इनमेंसे कितने ही योग्य कहनेवाले हैं. सबको असत्य कहनेवालोंसे आधेको असत्य बनानेवाले ठीक हैं. क्योंकि वे इस प्रकार कहकर शेष जो रह जाते हैं, उनका अपनी तरफ आकर्षण करते हैं. 'अथवा नान्विता' यों पदच्छेद करनेसे सबका निराकरण हो जाता है. उपहासमें युक्ति कहते हैं, जो अपनी वाणीमें विरोध होता है, इन शब्दोंसे, उपहासमें तर्क दिया है, वे योगबलसे अन्य कल्पकी व्यवस्था कहते हैं? अथवा इस समयकी भगवान्की व्यवस्था कहते हैं. यदि प्रथम योगबलसे कहता है तो इससे हमारी कोई हानि नहीं है, अबकी भगवान्की स्थिति कहता होवे तो श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं. इसलिए शास्त्रोंके पर्यालोचन पूर्वक ही उसके योग्य

ही धर्म कहने चाहिए, इससे विरुद्ध कहनेसे वे शास्त्र विरुद्ध होनेसे, उनको वास्तविक पूर्वापरका अनुसन्धान नहीं रहता है. वैसे ऋषिज्ञानसे और प्रथमका स्मरण भी अप्रमाण ही है. सर्व अवतारोंमें अवतारके गुण होते हैं, नहीं तो वसुदेवका सुत होना आदि गुण झूठे होनेसे नहीं कहने चाहिए।।३०।।

आभासार्थ : इस कारणसे अवतार लेनेवाले भगवान्के दोषोंका वर्णन करनेमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है, यह वर्णन करते हैं :

क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसंभवाः।
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यसुरेडितः ।।३१।।

श्लोकार्थ : शोक, मोह, स्नेह और भय ये सब अज्ञानी मनुष्योंको ही होते हैं, वे कहां? और जिनमें ज्ञान-विज्ञान व ऐश्वर्य सब इडित हैं एवं जो देवोंसे भी प्रशंशित हुए हैं, वे श्रीकृष्ण कहां? ।।३१।।

व्याख्यार्थ : यह अवतार, अन्य अवतारोंकी तरह किसी अंशसे अथवा अज्ञानशक्ति सहित प्रकट हुआ है, यों नहीं है, किन्तु साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम पूर्ण शक्तिमान्का ही अवतार है. कारण कि, इस हीनभावके सुननेसे भक्तोंमें भगवान्केलिए उत्कर्षभावका अभाव होगा. उस हीनभावमें भी पिताकेलिए शोक और मोह, मायिक शरीरमें पितृत्व बुद्धि एवं उसमें स्नेह कहना सर्वथा अनुचित है. 'वा' शब्द अनादरमें है, मेरे पिताको कैसे ले गया? विधि बलवान् है, ऐसे उसके समर्थक वचन कहने योग्य नहीं है, ऐसा आप किस कारणसे कहते हो कि यों कहना अनुचित है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अज्ञ सम्भवः' ये गुण अज्ञानियोंमें उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये गुण अज्ञानमेंसे उत्पन्न होते हैं, अतः जिनके अन्तःकरणोंको अज्ञानने घेर लिया है, वैसे चैतन्योंमें ये गुण प्रकटते हैं. प्रकृत प्रसंगमें भी यों ही है अर्थात् श्रीकृष्णके चैतन्यको भी अज्ञानने घेर लिया है, यों समझिये, इसके उत्तरमें कहा है कि यों नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण तो अखण्डित विज्ञान, और ऐश्वर्यवान् हैं, जिससे ये तीन ही सर्व कालमें आपमें सिद्ध है, सर्व प्रकारकी लीला करते हुए भी आपका विज्ञान अखण्डित रहता है, जिससे आत्मस्वरूपका अनुभव, सर्व वस्तुओंका ज्ञान, पूतनाके प्राणोंको पयके साथ पान करना आदि लीलाका स्मरण सदैव रहता है. बचपनमें सबमें अज्ञान रहता है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, वह भी जिनमें नहीं है, तब इस समय जबकि मनुष्य भी समझ सकते हैं तो आपमें अज्ञान कैसे हो सकता है? यदि कहो कि लोगोंको ऐसा ज्ञान

दिया जाता है तो यह कहना भी उचित नहीं है, भगवान्में तो लोगोंसे बिलकुल विशेष असीम ऐश्वर्य बुद्धि है, यों लोग भी जानते हैं, क्योंकि आपकी प्रतिक्षण देवता स्तुति कर रहे हैं, यह स्तुति तो केवल उपलक्षण मात्र है. पारिजात वृक्षको स्वर्गसे ले आना, गोवर्द्धन पर्वतको सात दिन तक हस्त पर उठाना, कालिय नागको वशमें लाना आदि भगवान्के चरित्र तो पामरोंको भी अपना माहात्म्य बतानेवाले है, अतः इस अवतारमें किसी भी अंशमें अज्ञान आदि कहना सर्व प्रकार असत्य ही है।।३१।।

आभासार्थ : और विशेष, यदि इस अवतारमें कोई भी अंश अज्ञानसे किया हुआ होता अथवा केवल दिखाऊ(बनावटी) होता, तो यह अवतार ही नहीं कहा जाता, इस अवतारका प्रयोजन तो मुक्तिदान[१] ही है, दूसरे तो गौण है, यदि मोक्षकेलिए न होता तो, काम क्रोध आदिसे भजन करने पर भी मोक्ष न देते. 'भक्तियोग विधानार्थं' भक्तियोगको सत्य सिद्ध करनेकेलिए इस मतानुसार भी माहात्म्यज्ञानके विघटक (नाशकारक) होनेसे यह चरित्र असमंजस है[२], इस अभिप्रायसे 'यत्पादसेवोर्जित' श्लोक कहते हैं:

यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्यया हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।
लभन्त आत्मानम् अनन्तम् ईश्वरं कुतो नु मोहः परम् अस्य सद्गतेः ।।३२।।

श्लोकार्थ : जिनके चरणोंकी सेवासे, वृद्धिंगत आत्मविद्यासे सत्पुरुष, अनादि कालसे प्राप्त देहात्मवादकी अविद्याको नाश करते हैं, जिससे अनन्त ईश्वर आत्मस्वरूप श्रीकृष्णको प्राप्त करते हैं, वे सर्वोत्कृष्ट, शरणागतोंकी गतिरूप श्रीकृष्ण मोहमें फंसे, यह सम्भव ही नहीं है ।।३२।।

व्याख्यार्थ : जिस (श्रीकृष्ण)की सेवासे आत्मविद्या बढकर दृढ़ होती है, ब्रह्मवेत्ताओंकी चरणसेवासे आत्मविद्या उत्पन्न होती है, फिर वह भगवान्की चरणसेवासे बढ़कर दृढ होती है, जैसे बीजभाव और देह भावमें बहुत भेद है, वैसे ही गुरुसे प्राप्त ज्ञानमें और भगवान्से प्राप्त ज्ञानमें भी बहुत भेद है, क्योंकि गुरुप्राप्त ज्ञान दृढ नहीं होता है, जब तक भगवत्कृपासे वह बढ़कर दृढ़ नहीं होता है, यह भी भेद है. भगवच्चरणोंकी सेवा करनेवालोंका मोह नष्ट होकर ज्ञान, पूर्णरूपसे पुष्ट होता है, तथा जिससे गुरुका भी मोह नष्ट होता है, वहां भगवान्में मोह होना, कैसे संभव हो सकता है? और विशेष उनमें केवल ज्ञान ही उत्पन्न होता है यों नहीं है, किन्तु उस ज्ञानसे, वे अनादि देहात्मवाद[३] अज्ञानका नाश करते

हैं, अर्थात् जीवको आत्मस्वरूपका जो अनादि सत्य ज्ञान था वह अविद्यासे नष्ट होकर देह ही आत्मा है, ऐसा अज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उस अज्ञानमें अविद्याके कारण आग्रह हो जाता है, वह अविद्याकृत झूठा आग्रह नष्ट होकर आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इतना ही नहीं किन्तु ज्ञानानन्तर आत्मरूप भगवान्को भी प्राप्त कर लेते हैं.

अपनी आत्मा तो प्राप्त ही है इसमें कोनसी विशेषता हुई? यदि यों कहते हो तो, इसका समाधान यह है कि, जो आत्मा आप प्राप्त ही है कहते हो वह तब ऐश्वर्य और अनन्ततावाली नहीं थी उसमें उस समय ऐश्वर्य और अनन्तता तिरोहित थी अब भगवान्में सायुज्य होनेसे उसमें ऐश्वर्य और अनन्तता आदि गुण प्रकट हुए है, यही विशेषता है. इसलिए ही 'अनन्तमीश्वरं' विशेषण कहे हैं. असीम ऐश्वर्य आत्मामें[४] ही है, अतः जब जीवरूप आत्मा उस परमात्मामें सायुज्य प्राप्त करता है तब वह भी वैसा हो जाता है, सर्व वादी इस प्रकार ही मानते हैं. किन्हींके मतमें यह परिच्छेद(सीमा) अविद्या कल्पित है. दोनों मतोंके अनुसार जब सायुज्य प्राप्त होता है, तब ही विशिष्टात्मा(परमात्मा)की प्राप्ति होती है, एक ही जन्ममें केवल चरणसेवा करनेसे एवं जो कामादि सायुज्य प्राप्तिमें बाधक हैं, उनसे भी, अविद्याका नाश करनेवाला ज्ञान और ज्ञानमार्गानुसार कोटि जन्मोंसे प्राप्त होनेवाला सायुज्य शीघ्र ही कैसे प्राप्त हो जाता है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि, जैसे अन्य शास्त्रोंमें कहे हुए साधनोंसे ज्ञान प्राप्त होगा, उसकी उपेक्षा की जाती है, वैसे ही इस अवतारमें मुनियोंने जो अज्ञान आदिका वर्णन किया है, वह भी उपेक्षाके योग्य है.

दिखानेकेलिए अथवा शिव भक्तकी महिमा कहनेके वास्ते यों लीला करते होंगे? इस पर कहते हैं कि 'परमस्य सद्गतेः' ये उत्तम सत्पुरुषोंके फलरूप हैं, कालादिसे भी जो पर(उत्तम) भगवान् हैं, उनके आगे महादेव और उसके भक्तका अनुरोध(आग्रह वा प्रेरणा) क्या वस्तु है? जो सत्पुरुषोंकी गति है वे मोहके प्रवर्तक कैसे होंगे? जो सत्पुरुष हो मोह नहीं दिखाते हैं अर्थात् मोहको प्राप्त नहीं होते हैं, तो जो सत्पुरुषोंकी गति है वे मोह कैसे दिखावेंगे? दूसरे अवतारोंमें भी, मेरे भक्तोंकी पूजा विशेष अधिक है, यों दिखानेकेलिए ही भक्तोंके साथ लीला करनेमें ही पराजय आदिका वर्णन है, अतः प्रकृत प्रसंगमें अर्थात् श्रीकृष्णमें मोह होनेका कोई भी कारण नहीं है, इसलिए 'नु' पदसे कहा है कि निश्चयसे

श्रीकृष्णमें कैसे मोह होगा? अर्थात् मोह नहीं है।।३२।।

१. १०।२९।४४ भी देखो ''नृणां निःश्रेयसार्थाय'' इस वाक्यानुसार.

२. दुविधामें डालनेवाला है.

३. देह ही आत्मा है, इस प्रकारके अज्ञानको. ४. परमात्मामें, न कि जीवरूप आत्मामें.

आभासार्थ : तब यहां शाल्वके युद्धमें क्या हुआ? इसकी आकांक्षामें 'तं शस्त्रपूगैः' श्लोकमें कहते हैं :

तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः ।
विध्वाच्छिनद् वर्म धनुः शिरोमणिं सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ।।३३।।

श्लोकार्थ : अमोघ पराक्रमवाले भगवान्ने अनेक शस्त्रोंसे प्रहार करते हुए, शाल्वको अपने सामर्थ्यसे बाणोंसे वेधकर, उसके कवच, धनुष व मस्तकके मणिको काटकर, शत्रुके सौभ विमानको भी गदासे तोड़ डाला।।३३।।

व्याख्यार्थ : इस विषयमें पृथक् पृथक् मत कहते हैं:

(१) कितने ही कहते हैं कि श्रीकृष्णने मोह दिखाया, वहांसे लेकर सब असत्य है, किन्तु भगवान् तो घरमें ही विराजते थे, वहां शाल्वने शस्त्रोंसे भगवान् पर प्रहार किया, तब भगवान्ने उसको मारा.

(२) दूसरे कहते हैं कि इन्द्रप्रस्थसे आकर ही देखा कि अपनी सेना पर शस्त्रोंसे शत्रु प्रहार कर रहे हैं, उसी समय उसको मार डाला.

(३) तीसरे कहते हैं कि भगवान्की भुजाका वेध हुआ आदि वैसा मोहका प्रदर्शन भगवान्ने किया है.

भगवान्में मोह ही निषिद्ध है, न कि अन्य कुछ निषिद्ध है (मोहका प्रदर्शन जो कहा है वह सिद्धान्तके विरुद्ध है) पश्चात् मोहका अभाव ही कहा है. फिर आकर शस्त्रोंसे प्रहार करनेवाले शाल्वको मारा, यह मतान्तर होनेसे दूसरे कल्पमें सब ही यथार्थ हैं. भगवान्के सम्बन्धमें तो समस्त प्रकरणमें कहे हुए मोहका निषेध है क्योंकि सिद्धान्तसे विरोध है. २८वें दिन केवल स्वयं भगवान्ने आकर शाल्वको मारा है, एक पक्ष यह भी है कि भगवान्ने पत्नीके साथ आकर शाल्वको मारा है.

अनेक प्रकारके एवं विभिन्न जातिवाले शस्त्रोंके समूहोसे प्रहार करनेवाले शाल्वको, शौरिने तीन बाणोंसे वींधकर, उन बाणोंसे ही उसके कवच, धनुष और सिरके मणिको तोड़ डाला. अनन्तर दुसरें बाणोंसे सौभ और शाल्वको वेध डाला,

पश्चात् बाणोंके प्रहारोंसे समीप लाये हुए सौभको और भी गदा सी पीड़ा की, अर्थात् टुकडे कर दिये. 'ह' शब्द आश्चर्य प्रदर्शनार्थ दिया है।।३३।।

आभासार्थ : पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'तत्कृष्ण' श्लोकमें कहते हैं :

तत्कृष्णहस्तेरितया विघूर्णितं पपात तोये गदया सहस्रधा ।
विसृज्य तद्भूतलमास्थितो गदामुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद्द्रुतम् ।।३४।।

श्लोकार्थ : भगवान्के हस्तसे प्रेरित गदासे वह विमान अनेक प्रकारसे चूर्णित होकर जलमें गिर पड़ा, तब शाल्व विमान छोड़, पृथ्वी पर खड़ा हो गदा ले शीघ्र भगवान्के पास आया।।३४।।

व्याख्यार्थ : पहले तो श्रीकृष्ण स्वयं कालरूप, फिर आपकी पूर्ण क्रिया शक्तिरूप श्रीहस्त, जिससे प्रेरित जो गदा थी, उस गदाके प्रतापसे सौभके आध्यात्मिक आदि रक्षक निवृत्त हो गये, इसलिए वह सौभ घूमता हुआ अनेक टुकडे होकर जलमें पडा. 'गदया' शब्द पहले कहे हुएका केवल अनुवाद है. सौभके जो टुकडे हुए, वे तो प्रहारसे ही हुए थे. वह गदा पुन: भगवान्के हस्तमें आ गई. अनन्तर शाल्व, सौभको छोड, स्वयं पृथ्वी पर खडा होकर गदा ले भ्रान्त हुआ. अच्युतके पास शीघ्र आ गया. ये तो अच्युत हैं, इनके पास गदा लेकर आना व पराक्रमसे आना दोनों व्यर्थ हैं।।३४।।

आभासार्थ : पश्चात् जो हुआ वह 'आधावतः' श्लोकसे कहते हैं :

आधावतः सगदं तस्य बाहुं भल्लेन छित्वाथ रथाङ्गमद्भुतम् ।
वधाय शाल्वस्य लयार्कसन्निभं बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः ।।३५।।

श्लोकार्थ : दौड़ते आते हुए शाल्वका गदा सहित हस्त, भालेसे काटकर पश्चात् उसके वधकेलिए, प्रलयकालके सूर्यके समान सुदर्शन चक्र धारण करते हुए भगवान्, सूर्य सहित उदयाचलके समान, शोभा देने लगे।।३५।।

व्याख्यार्थ : भालेसे शाल्वका हस्त इसलिए काट डाला कि उसकी क्रियाशक्ति उससे पृथक् हो जावे, पश्चात् उसको चक्रसे मोक्ष देना था, इसलिए सुदर्शन चक्र धारण किया. वह अद्भुत चक्र, प्रलयके सूर्यके समान चमक रहा था, अत: उसके दर्शनसे ही मृत्यु भय उत्पन्न हो जाता, ऐसे चक्रको धारण करते हुए भगवान् शोभित होने लगे, जैसे प्रात: समय होते ही सबको सुख प्राप्त होता है, वैसे ही अब सबको महान् आनन्द प्राप्त हुआ, इसलिए कहा कि 'सार्क इवोदयाचलः' सूर्य सहित उदयाचल जैसे सुखद है वैसे यह भी सुखद हुए. भगवान्

चक्रको धारणकर कुछ समय ठहर गये, जिसका कारण यह है कि भगवान् कहने लगे कि कोई भी महादेव आदि देव इसका रक्षक होवे तो अब बचानेकेलिये सामने आ जावें।।३५।।

जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः ।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ।।३६।।

श्लोकार्थ : इन्द्रने जैसे वज्रसे वृत्रका सिर काट डाला, वैसे भगवान्ने अनेक माया करनेवाले शाल्वका किरीट और कुण्डल सहित सिर उस चक्रसे उड़ा दिया, उस समय उसके पक्षवालोंने बहुत हाहाकार शब्द किये।।३६।।

व्याख्यार्थ : यों कुछ समय ठहरनेके बाद भी शाल्वका कोई रक्षक नहीं आया, तब भगवान्ने उस चक्रसे ही उसका सिर काट डाला. उससे ही इसका सिर इसलिए काटा कि भगवान्ने यह चक्र इसका सिर काटनेकेलिये ही धारण किया था. कारण कि इसको मोक्ष देना था. चक्रसे सिर कटनेसे इसका मोक्ष होनेवाला था, अत: यह चक्र दूसरोंकेलिये धारण नहीं किया था और मोक्ष करनेके कारण दूसरें शस्त्रसे भी सिर नहीं काटा. यद्यपि वह इतना तुच्छ था कि इसका सिर अन्य शस्त्रसे भी कट सकता था, शाल्वके कुण्डलोमें सर्व देव स्थित थे और पुरलक्षणवाली मोहमाया इसमें थी, ऐसे होते हुए भी ऐसे शाल्वका वध करनेका कारण उसको दु:खसे छुडाकर मोक्षानन्द देना था, क्योंकि आप 'हरि' सर्व दु:खहर्ता हैं, और विशेष यह भी है कि यदि यह जीवित होता तो सबको उपद्रव अर्थात् दु:खी करता. कैसे मारा? जिसमें दृष्टान्त दे, समझाते हैं कि जैसे इन्द्रने वृत्रका सिर काटा था वैसे भगवान्ने इसका सिर काटा, उस समय उसके मनुष्योंने हा हा शब्द कहे।।३६।।

आभासार्थ : इससे भी युद्ध समाप्त न हुआ, यह 'तस्मिन्निपतिते' श्लोकमें कहते हैं :

तस्मिन्निपतिते पापे सौभे च गदया हते ।
नेदुर्दुन्दुभयो राजन् दिवि देवगणेरिताः ।।
सखीनामपचितिं कुर्वन्दन्तवक्त्र रुषाभ्यगात् ।।३७।।

श्लोकार्थ : हे महाराज ! इस पापी शाल्वके मरने और सौभ विमानके गदासे टूट जाने पर, आकाशमें देवताओंके दुन्दुभि बजने लगे, फिर मित्रोंका बदला लेनेकेलिए, क्रोध करता हुआ दन्तवक्त्र आया।।३७।।

व्याख्यार्थ : भगवान् जो भी कर्म करते हैं, उसमें उनको किसी प्रकारका क्लेश नहीं होता है. आपने उस(शाल्व)को मारा नहीं, वह तो पापसे नष्ट हुआ. पापके कारण उसको सायुज्यकी प्राप्ति नहीं हुई. सौभका वध इसलिए पृथक् किया हुआ कहा है कि यदि सौभका गदासे पृथक् नाश न किया होता तो कदाचित् उस मायावीमें कोई अन्य रह गया हो तो वह फिर उसमें प्रवेशकर पुन: युद्ध करे, इसलिए मुख्य शाल्वके बाद भी उसका नाश अलग किया हुआ कहा है.

पहले मरे हुए मित्रोंका बदला लेनेकेलिये क्रोधसे दन्तवक्त्र शीघ्र युद्ध करनेकेलिये भगवान्के सामने उपस्थित हुआ.

दन्तवक्त्रने यों विचारा कि भगवान् शाल्वादिसे युद्ध करते हुए थक गये होंगे, अत: मेरी जीत शीघ्र हो जायगी, इस आशासे ही शीघ्र आया।।३७।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध), सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण, अध्याय ७४ की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण.

सात्विक साधन प्रकरण
समाप्त.